प्रसाद का जीवन-दर्शन
कला और कृतित्व

सम्पादक
महावीर अधिकारी

१९५५
आत्माराम एण्ड संस
प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता
कश्मीरी गेट
दिल्ली-६

रामलाल पुरी
आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

मूल्य आठ रुपये

मुद्रक
अमरजीतसिंह नलवा
साग[illegible] प्रेस
काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

भूमिका

"प्रसाद का जीवन-दर्शन, कला और कृतित्व" पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है। इस ग्रन्थ के प्रस्तुतीकरण में मेरा काम केवल एक ऋत्विज का ही है। श्री जयशंकर प्रसाद अपने स्वयं में एक महान् व्यक्तित्व थे। इस महामहिम स्वरूप के अनुरूप उनका साहित्य भी विराट है। लेकिन इस स्वरुप का साहित्यिक निदर्शन आज तक नहीं हो सका। प्रसाद-साहित्य के मूल्यांकन का जो उचित समय था—उस समय हिन्दी के नियामक आलोचक साहित्य के उद्देश्य सम्बन्धी जटिल समस्या को सुलझाने में लगे हुए थे समस्या थी कि साहित्य जीवन के लिए है या केवल कला के लिए। उसकी प्रेरणा हमारे नित्य के जीवन-चक्र की गति ...नता में है, उसकी आशा-निराशा, आकांक्षा-विडम्बना, पीड़ा, कुण्ठा जैसी भावनाओं में है या साहित्य के वे शाश्वत मूल्यमान में जो चिर-पुरातन और चिर-नवीन हैं; साहित्य अपने स्रष्टा के जीवन-कालीन युग का प्रतिबिम्ब है या निस्सीम और नेष्काल है। एक लम्बी अवधि तक यह वाद-विवाद चलता रहा, दोनों पक्षों के पास अपने-अपने तर्क थे और इन विवादों से चाहे सम्पूर्ण सत्य का उद्घाटन न हुआ हो—जैसा कि बहुधा विवाद से होता नहीं—तथापि साहित्य के तरुण अध्येताओं के समक्ष साहित्य के एक समग्र रूप का उदय अवश्य हुआ। इन विरोधी निष्कर्षों के प्रकाश में आज हम यह कह सकते हैं कि साहित्य सामयिक भी है, शाश्वत भी है, जीवन्त-यथार्थ का प्रतिबिम्ब भी है और वर्तमान से आगे की सम्भावनाओं का उद्बोधन भी, बहुजन हिताय भी है, और एक क्षुद्र जूही की कली की कसक का महाकाव्य भी। वह निमिष का भी है और कल्प का भी। प्रसाद जी को लेकर दोनों पक्षों ने जो थोड़ा-बहुत लिखा, वह उनके महामहिम स्वरूप को प्रतिष्ठित नहीं करता। न साहित्य की समग्र मूर्ति की स्थापना करता है। आज के साहित्यकार को यह सुविदित है कि साहित्य के अपने मान है, उन्हें राज-नीति, समाज शास्त्र, मनोविज्ञान के सहारे से सर्वजन संवेद्य बनाना हितकर भले ही हो, वह इनमें से किसी का मातहत नहीं है। इकाई में समष्टि और समष्टि में इकाई के दर्शन जो करा सके वही साहित्य महान् है। वही साहित्य युग-धर्म का निर्वाह करता है और यही साहित्य का सनातन धर्म है।

उपर्युक्त पुरानी बात को फिर से ताजा करने का एक मात्र उद्देश्य यही है कि यह बताया जा सके कि जयशंकर प्रसाद साहित्य की इसी समग्र मूर्ति के निर्माता थे। उनका साहित्य उनके समकालीन जीवन का प्रतिबिम्ब भी है और समूची बीसवीं सदी के बौद्धिक संघर्षों की पूर्व सूचना देने वाला भी। लियो टाल्सटाय,

रवीन्द्रनाथ ठाकुर और रोम्याँ रोलाँ ने साहित्य की जो मानववादी परम्परा स्थापित की 'प्रसाद' में वह परम्परा अपनी नियताप्ति को प्राप्त हुई और गोर्की जैसे कान्तदर्शी साहित्यकारों ने जीवन की जो ज्वलन्त ज्योति जगाकर साहित्य के परम्परागत नायकों को जिस तरह समाप्त किया और धरती के पुत्रों को जिस तरह साहित्य में प्रतिष्ठा-मण्डित किया, ये दोनों परम्पराएँ 'प्रसाद' के साहित्य में अनजाने ही उतर आईं। हृदय और बुद्धि, अनुभूति और ज्ञान दोनों का वैसा समाहार उनके साहित्य में हुआ, जैसा जीवन की सम्पूर्णता के लिए अपरिहार्य है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर को छोड़कर उनकी जैसी प्रौढ़ और सूक्ष्म प्रतिभा का साहित्यकार और दिखाई नहीं देता, महात्मा बुद्ध और गांधी की अहिंसा आज के क्षत-विक्षत संसार के लिए जितनी आवश्यक है, 'प्रसाद' की बुद्धि और हृदय दोनों के समान अनुपात से बनी मानव-संस्कृति की साहित्यिक वकालत भी उससे कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

"प्रसाद का जीवन-दर्शन, कला और कृतित्व" में 'प्रसाद' का वही समग्र रूप पाठकों के सामने प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है। प्रश्न यह है कि प्रसाद-साहित्य के अध्ययन को वैज्ञानिक संगति देने का काम ऐसे सङ्कलनों से हो सकेगा? इस सम्बन्ध में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का एक पत्र उद्धृत करना मैं अपना धर्म समझता हूँ जिसमें उन्होंने इसी प्रश्न के लौकिक स्वरूप को प्रस्तुत किया है। "सिद्धान्ततः मैं आपकी इस योजना के पक्ष में नहीं हूँ। यदि 'प्रसाद' जी पर इस विषय का कोई ग्रन्थ नहीं लिखा गया तो उसे लिखने या लिखाने की चेष्टा करनी चाहिए। अनेक लेखों का संकलन करने में विवेचन की एकात्मता समाप्त हो जाती है। 'मुंडे-मुंडे मतिभिन्ना' का नज्जारा दिखाई देने लगता है। कभी-कभी परस्पर विरोधी दृष्टियाँ और विचार भी संकलन में स्थान पा जाते हैं, जिससे पाठक और भी कठिनाई में पड़ जाते हैं। ग्रन्थ में प्रवाह नहीं रह पाता। अन्विति भी नहीं रह जाती। हिन्दी में इस बीच ऐसे कुछ सङ्कलन और तैयार किये गये हैं। उन सब में यह त्रुटियाँ मौजूद हैं। मूल लेखकों के वाजिब स्वार्थों को भी धक्का लगता है। बाजारी सङ्कलनों से हाथ चला जाता है, जिससे मौलिक पुस्तकों का विक्रय कम हो जाता है। हिन्दी में मौलिक कृतियों की यूँ ही कमी है; फिर यदि उनकी बिक्री भी मार दी जाय, तो मौलिक ग्रन्थ लिखने की प्रवृत्ति ही निर्मूल हो जायगी।" आचार्यप्रवर श्री नन्ददुलारे की उक्त चेतावनी अत्यन्त उचित और सार्थक है। इसकी सार्थकता को स्वीकार करने के बावजूद भी हमने यह ग्रन्थ प्रस्तुत करने की धृष्टता की है। उसके पक्ष में हमें केवल यही कहना है कि प्रसाद-साहित्य के सर्वांगीण अध्ययन की ओर अभी उचित ध्यान दिया नहीं गया है। साहित्य की गहराई में पैठकर रत्न खोज लेने वाले डाक्टर जान्सन या रामचन्द्र शुक्ल जैसे, जीवन खपा देने वाले अध्येता अभी हिन्दी में जल्दी से जन्म लेने वाले नहीं। दूसरे

यह भी बताया जाय कि प्रसाद पर कौन-कौन से विश्वविद्यालय खोज-ग्रन्थ प्रस्तुत कर रहे हैं—जबकि प्रसाद-साहित्य की निद्वंद्व क्लासिकता सर्वसम्मत है।

जीवन-दर्शन, युग-धर्म का निर्वाह, युग-सत्य का निदर्शन, और वर्तमान के जीवन्त यथार्थ की पृष्ठभूमि पर भावी की सम्भावना को प्रस्तुत करना और इन समस्त निष्कर्षों का सही उतरना—ये बातें साहित्य के चरम उत्कर्ष के द्योतक हैं। प्रसाद की करुणा समूची मानवता की करुणा है. उनके साहित्य-सरोवर में स्नान करके हमारा मन संवेदन की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अनुभूति के प्रति सजग हो उठता है। प्रसाद के साहित्य को विश्वविद्यालयों के आचार्य खोज का विषय नही स्वीकार करते जबकि पुराने लोगों के विषय में बार-बार एक ही बात दोहराकर शुकाचार्य अवश्य पैदा करते चले जायेंगे, इस ग्रन्थ को प्रस्तुत करके हम यह प्रकट करना चाहते हैं कि प्रसाद-साहित्य के कितने पहलू हैं, उनकी पृष्ठभूमि कितनी विराट है और उसमें कितना सम्बल है। उनके साहित्य का मूल्यांकन करने के लिए दो या पाँच वर्षों की खोज पर्याप्त नही है। जो एक व्यक्ति यह कार्य हाथ में लेगा उसे पूरा जीवन खपा देना होगा। इसलिए ग्रन्थ का प्रकाशन मौलिक अध्ययन प्रस्तुत करने वालों के रास्ते को रोकेगा नहीं। दूसरे बात यह भी है कि ऊँचे खोज-ग्रन्थों की सार्थकता जिस वर्ग के लिए होती है—यह ग्रन्थ उस वर्ग से पृथक् वर्ग के लिए है। यह ग्रन्थ तो प्रसाद-साहित्य के अध्ययन के लिए नई दिशाओं के द्वार खोलने वाला ऐसा ग्रन्थ है जिससे साहित्य-मन्दिर में उपयुक्त स्थान न पा सकने वाली साहित्य-मूर्ति पर अनेक सर्च-लाइटो द्वारा प्रकाश डाला गया है। इस ग्रन्थ में विरोधाभास युक्त विचार भी नही हैं। एक ही वस्तु को देखने की दो दृष्टियाँ जरूर हैं। ये दो दृष्टियाँ वही हैं—जिनकी चर्चा प्रारम्भ में की गई है। लेकिन ये दोनो दृष्टियाँ अध्ययन-अध्यापन की व्यापकता का बोध कराती हैं और पाठक को स्वतन्त्र दृष्टि से सम्पन्न करती हैं।

इस साहित्य में व्यक्ति और साहित्य दोनो हैं। इसमें संस्मरण हैं, प्रसाद की अपनी मान्यताएँ हैं और यह भी कि उन मान्यताओं से अपने साहित्य-धर्म का उन्होंने किस प्रकार निर्वाह किया है। 'जातीय महाकवि प्रसाद" में आचार्य मुन्शीराम शर्मा ने उनके उदात्त राष्ट्रीय स्वरूप का प्रेरक चित्र प्रस्तुत किया है।

इस संग्रह के सभी लेखक अपने विषयो के धुरंधर विद्वान् हैं—लेकिन विषय की अनेकता होने पर भी हमने उनका संकलन ऐसी सावधानी से करने का प्रयत्न किया है—कि प्रस्तुतकर्ताओं की अनेकरूपता ने एक विराट इकाई का रूप धारण कर लिया है। इस कार्य में हमें कितनी सफलता मिली है—यह जानना तो प्रसाद-साहित्य के अध्येताओं का ही काम है। हाँ, इस ग्रन्थ के प्रकाशन में थोड़ा विलम्ब होने से समस्त

रचनाएँ उनके मूल-लेखकों को नहीं दिखाई जा सकीं, तथापि हमने भरसक प्रयत्न किया है कि मूल के साथ अधिक से अधिक न्याय हो। हमें विश्वास है कि ग्रन्थ के प्रकाशन में त्रुटियाँ नहीं हैं तथापि जो रह गई हैं—उनकी सूचना मिलने पर उनका परिष्कार हम करेंगे।

जिन महान् साहित्यकारों की लेखनी के प्रसाद से इस ग्रन्थ का कलेवर अलंकृत हुआ, उनकी उदारता, सद्भावना और धैर्य के प्रति मैं नमित हूँ।

अपने मित्र श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन' का भी मैं आभारी हूँ—जिनके सुझाव और सहयोग इस ग्रन्थ को प्रस्तुत करने में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए।

नई दिल्ली
१५ अप्रैल, १६५५

महावीर अधिकारी

विषय-सूची

प्रथम खण्ड : संस्मरण

द्वितीय खण्ड : जीवन-दर्शन

तृतीय खण्ड : कृतियाँ

चतुर्थ खण्ड : कला

(समालोचनात्मक अध्ययन)

पञ्चम खण्ड : विशेष अध्ययन

प्रसाद का जीवन-दर्शन
कला और कृतित्व

प्रथम खण्ड

संस्मरण

१

प्रसाद जी के कुछ संस्मरण

[डॉक्टर मोतीचन्द झा]

पाठकों को शायद यह जानकर आश्चर्य होगा कि न तो मैं कवि हूँ, न साहित्यकार हूँ और न समालोचक हूँ। मैं केवल एक रूखा-सूखा ऐतिहासिक और भारतीय-कला और संस्कृति का प्रेमी हूँ। प्रसाद जी ने एक बार हँसी में मुझ से कहा था कि भाई, तीन पुश्त का अपना रोजगार क्यों छोड़ रहे हो? मैंने उन्हें जवाब दिया—'प्रसाद जी पुरखा इतना कमा गये हैं कि दो-चार पुश्त बिना कविता के काम चल ही जा सकता है।' वे हँसकर चुप हो गये। पर इतिहास का गद्यमय जीवन बिताते हुए भी न मालूम क्या बात है कि हिन्दी के कई बड़े साहित्यकार मुझ पर कृपा करते हैं। मुझे इस बात पर कभी-कभी नाज़ होता है कि प्रसाद जी मुझसे स्नेह करते थे और उनके चले जाने पर भी राष्ट्रकवि गुप्त जी का स्नेह बराबर मिलता रहता है। इन महानुभावों के साथ मेरा सम्बन्ध साहित्यिक न होकर निजी था और है और शायद इसीलिए साहित्यिक गुबार और उठापोहों से अलग खड़े रहकर उन्हें देख सका हूँ और पास से उनके जीवन की उन मधुर भावनाओं का थोड़ा रस ले सका हूँ, जो उनके काव्यों में आप्लावित हैं।

पहली भेंट

यों तो लड़कपन से ही 'प्रसाद' जी का नाम सुन रखा था। थोड़ी-बहुत उनकी कवितायें भी पढ़ लेता था और उनके नाटकों का भी कभी-कभी मजा ले लेता था। बहुत बार सोचा करता था कि प्रसाद जी कैसे होंगे, उनकी चाल-ढाल क्या होगी, उनका बरताव क्या होगा, पर अपने स्कूल के दिनों में उनके पास जाने की मुझे कभी हिम्मत नहीं हुई। हिन्दू यूनिवर्सिटी के हिन्दी-पर्वों के अवसर पर उन्हें देख लिया करता था, फिर भी आगे बढ़कर उनसे रफ्त-ज़फ्त बढ़ाने की हिम्मत नहीं होती थी। कौन जाने भाई बड़े कवि और लेखक हैं, हिन्दी वाले उनका लोहा मानते हैं, अगर तुम उनके दरबार में घुसने

की कोशिश करते हो, तो किस बूते पर। पहले कुछ लिखो-पढ़ो फिर पढ़-चढ़कर हाथ मारने की सोचना। यही बातें मैं सोचा करता था। पर भाग्य कुछ अच्छे थे। १६२० की बात है। राय कृष्णदास के यहाँ शायद कुछ काम था और उस अवसर पर था जलपान और गाना-बजाना। बनारस में राजनीतिक तूफान जोरों का चल रहा था। मैं भी उसमें, जो कुछ मुझसे हो सका, योग दे रहा था। 'रणभेरी' लिखने की खटपट और स्वयंसेवकों के लिए सीधा-सामान इकट्ठा करने के काम से फुरसत पाकर मैंने सोचा, चलो, राय साहब के यहाँ हो आऊँ। रामघाट पहुँचा तो देखा कि साहित्यिकों की भीड़ लगी थी और प्रसन्न-वदन प्रसाद जी सब की बातों का मजा ले रहे थे। उधर बढ़ने से मैं कुछ झिझका। पर राय साहब ने मुझे पकड़कर प्रसाद जी के सामने हाजिर कर दिया और बोले 'जयशंकरजी, मैं तुमसे मोतीचन्द की बात करता था, लो अब इन्हें सँभालो।' प्रसाद जी ने हँसकर मुझे अपनी ओर बुलाया और बोले, 'भाई मैं तुम्हारे चाचा के साथ का पढ़ा हूँ, फिर भी न तुम कभी मुझसे मिलते हो न मेरी सुधि ही लेते हो। राजनीतिक चक्कर तो ठीक ही है, पर अपने बुजुर्गों का भी तो ख्याल रखना चाहिए।' न मालूम उनकी बात में क्या जादू था कि मेरी सारी झिझक दूर हो गई। उसी दिन मैं उनसे कुछ ऐसा घुल-मिल गया कि उनका स्नेह मुझ पर अन्त समय तक बना रहा। कुछ दिनों के बाद तो राय साहब यदि मुझे गुप्त जी या प्रसाद जी के साथ देखते तो कहते, 'भाई, जवानों की पूछ है, अब तो मैंने तुम दोनों को त्याग दिया।'

उस दिन के बाद जब भी मुझे अवकाश मिलता, मैं या तो प्रसाद जी की दूकान पर जा धमकता था या उनके घर पर। उनका दरबार हमेशा मेरे लिए खुला रहता था। मुझे अच्छी तरह से याद है कि दूकान पर जाते ही प्रसाद जी तमोली को आवाज़ देते थे, 'खूब अच्छे पान बनाना' और फिर पान और सुरती जमाने के बाद हम दोनों तरह-तरह की नई-पुरानी कहानी कहने लग जाते थे। मुझे यह याद नहीं कि दूकान पर प्रसाद जी ने मुझसे कभी अपनी कविताओं अथवा नाटकों के बारे में बातचीत की हो। वहाँ तो संस्कृत साहित्य के महोवों से लेकर बनारस की कजरी, लावनी, पूरबी, कवियों की बैठकों और गुंडों की बातें होती थीं। प्रसाद जी असली शहराती थे और शहर की नस-नस का उन्हें पूरी तौर से पता था। बनारस और आसपास के लोकगीतों और उनके ढंग से कहने वालों का जितना उन्हें पता था, शायद दूसरे और किसी को नहीं था। प्रसाद जी आगे बढ़ती हुई दुनिया के विरोधी नहीं थे, पर आमोद-प्रमोद के नये साधनों के सामने जब वे पुरानी कलाओं और शिल्पों को मरते हुए देखते थे तो वे दुखी हो उठते थे। एक समय उन्होंने मुझसे कहा, 'मेरे बचपन में शायद ही ऐसा कोई त्योहार होता हो, जिसमें बनारस की रंगीनियत देखने में न आती रही हो। आजकल की कजरी तो तुम सुनते ही होगे। अपने ढंग की ठीक ही हैं, पर मुझे नउनियों और महेवना की याद आती है। जब

नउनियाँ अपनी बनाई कजरी गाती हुई लोलारक छठ पर निकलती थी, तो दस-पाँच हजार आदमी उसके पीछे हो लेते थे, इतनी आकर्षक थी उसकी आवाज, और सहेचना की कजरी इतनी मीठी होती थी कि मैं क्या बताऊँ। उसमें करुणा और शृंगार का इतना मधुर मेल होता था कि मेरी आँखों से आँसू निकल पड़ता था।' भारतेन्दु-कालीन अक्खड़ साहित्यिकों की सुनी-सुनाई बातें भी प्रसाद जी को बहुत-सी याद थीं। प्रसाद जी भारतेन्दु के भक्त थे और मुझे बराबर समझाया करते थे कि—'वे ठेठ बनारसी थे।' भारतेन्दु के गद्य की व्याकरण की कई लोगों ने शिकायत की थी और उसमें दोष ढूँढ़े थे, पर प्रसाद जी कहते थे 'देखा इन पण्डितों को, केवल अक्षर के पीछे मरे जाते हैं, किसमें शक्ति है कि हिन्दी गद्य में एक ऐसा तेज और शोखी पैदा कर सके। हिन्दी की व्याकरण तो उस समय बन रही थी, फिर भारतेन्दु कैसे दोष के भागी हो सकते हैं?'

सुरुचि-सम्पन्न प्रसाद जी

जो प्रसाद जी से परिचित थे वे जानते थे कि 'प्रसाद' जी जोगी न होकर भोगी थे। अच्छे साफ-सुथरे कपड़े, इत्र, फूल-माला और बहुत अच्छा भोजन उन्हें प्रिय था। इत्रों के बारे में तो उनकी जानकारी बहुत बढ़कर थी। मैं थोड़ा-बहुत इत्र का शौकीन तो हूँ, पर पारखी नहीं। प्रसाद जी के साथ बैठकर इत्रों के बारे में भी मैंने बहुत-कुछ सीखा। बनारस के सुप्रसिद्ध रईस और कला-पारखी स्वर्गीय रायकृष्ण जी साहब, जिन्हें हम सब स्नेह से 'आखिरी मुग़ल' कहते थे और प्रसाद जी में जब तेल फुलेल की बात छिड़ जाती थी तो कौन कह सकता था कि प्रसाद जी कन्नौज के एक बड़े व्यौपारी न होकर हिन्दी के सुप्रसिद्ध लेखक हैं। प्रसाद जी की कविता में एक विचित्र संगीत मिलता है। चाहे उनका मतलब समझने में भले ही कठिनाई पड़े। कविता लहरी में संगीत का यह अपूर्व उछाल प्रसाद जी के संगीत-प्रेम का द्योतक है। मुझे प्रसाद जी के साथ बहुत बार गाना-बजाना सुनने का अवसर पड़ा है। इस बात में उनकी रुचि बड़ी ही परिष्कृत थी। नौसिखुओं की टें-टें से उन्हें काफ़ी नफ़रत थी और कहीं अगर ऐसा मौका पड़ता तो एक तरफ से-तो टें-टें जारी रहती थी और दूसरी ओर प्रसाद की खुली हँसी और बातचीत जारी हो जाती थी। पर जहाँ कहीं भी अच्छा संगीत होता था मैंने प्रसाद जी को उसे बड़ी ही तन्मयता से सुनते देखा है। मुझे यह तो ठीक-ठीक पता नहीं कि उन्होंने बचपन में संगीत की शिक्षा पाई थी या नहीं, पर जहाँ उनकी दूकान थी वहाँ तो दिन-रात संगीत का ही दौरा रहता था। शास्त्रीय संगीत प्रसाद जी पसन्द करते थे पर साथ ही संगीत में व्यर्थ की भौं-भौं को वे नापसन्द करते थे। उनका बराबर यह मत था कि मधुरता, भाव और एक तरह का दर्द, यही संगीत को आकर्षक बनाते हैं। और अच्छा भोजन! इसमें तो प्रसाद जी का कोई सानी नहीं रखता था। आप कहेंगे कि दमआलू और तरह-तरह के अच्छे भोजन से छायावादी कविता का क्या ताल्लुक? प्रियतम के मिलने के लिए रामसहैयों

और रूखा-सूखा अन्न ही काफ़ी है। पर प्रसाद की कला की व्याख्या दूसरी ही थी और वह थी जीवन के प्रत्येक अंग में एक तरह की सुचारुता लाना। भोजन और वस्त्र चाहे थोड़े ही हों, प्रसाद जी उसी तरह सँवरते थे, जैसे अपनी कविता या कहानी को। राय साहब के यहाँ कभी-कभी पाक-शास्त्र पर बात छिड़ जाती थी, तो प्रसाद जी पाक-दर्शन पर भी अपना खासा मन्तव्य देते थे।

ब्रजभाषा और प्रसाद

आजकल के हिन्दी के कवि बहुधा अपनी कला को हद के बाहर प्रायः देख ही नहीं सकते। संस्कृत और ब्रजभाषा साहित्य से तो उन्हें मतलब ही नहीं होता, पर प्रसाद जी इस जड़ता के घोर विरोधी थे। मुझे अनेक अवसर मिले हैं, जब घण्टों तक मैंने प्रसाद जी से संस्कृत और ब्रजभाषा की कविताएँ सुनी हैं। संस्कृत और ब्रजभाषा की वे ही कविताएँ उन्हें प्रिय थीं जो सामने एक तसवीर-सी खड़ी कर देती हों और जिनमें रीतिकाल की कोरी कामुकता न होकर भाव हों और कहने का अनोखा ढंग हो। कालिदास के सुन्दर श्लोकों तथा देव, सेनापति और पद्माकर के पद्यों को अनेक बार पढ़ते मैंने उन्हें सुना है। तुलसीदास जी के प्रति उनकी आस्था थी, पर प्रेमभक्ती की तारीफ़ से वे जल्दी ऊब जाते थे। एक बार एक सज्जन गोस्वामी जी की अश्रृंगारिकता की दोहाई देते चले जा रहे थे और सबसे इस बात की बाजी लगाने को तैयार थे कि कोई गोसाईं जी में अश्लीलता निकाल दे। प्रसाद जी सुन रहे थे। हँसकर धीमे से बोले—और पण्डित जी, 'उमगि नदी अंबुधि पहँ आयी' में क्या है? सब लोग खिलखिला पड़े और राय साहब बोले, 'है छटा बनारसी'।

मैं पहले ही कह चुका हूँ कि मैं कवि नहीं हूँ, पर कविता सुनने और समझने की प्रवृत्ति मुझ में बहुत दिनों से रही है और आज भी है, शायद इसी प्रवृत्ति से लाचार होकर मैं प्रसाद जी को बहुत बार तंग करता था। उनसे कविताओं का गूढ़ार्थ समझने की कोशिश करता या और कभी-कभी बहस भी कर बैठता था। बाद में तो प्रसाद जी का स्नेह मुझ पर इतना बढ़ गया कि वे स्वयं अगर कोई गीत लिखते तो मुझे सुनाते। प्रसाद जी की 'कामायनी' का बहुत-सा अंश मैंने स्वयं उनसे सुना है और अनेक स्थल जो मेरी समझ के बाहर थे, उनके बारे में जानने की चेष्टा की। 'कामायनी' को जैसे-जैसे प्रगति होती जाती थी वैसे ही वैसे प्रसाद जी का स्वास्थ्य जवाब देता जाता था। उनकी विषादमय भंगिमा देखकर मेरा तो दिल बैठा जाता था। कुछ आर्थिक कष्ट तथा साहित्यिक जगत में उनको लेकर बहस-मुबाहसे उन्हें संतप्त किये रहते थे, फिर भी उनकी स्वाभाविक हँसी ने शायद ही कभी उनका साथ छोड़ा हो। प्रसाद जी साहित्यिक तो थे ही, इतिहास के प्रति और विशेषकर प्राचीन भारतीय इतिहास के प्रति उनकी अभिरुचि थी। मैंने प्रसाद जी से कई बार हिन्दी में अच्छे ऐतिहासिक फ़िल्मों की कमी की चर्चा

की, और चाहा कि अगर हो सके तो कोई अच्छी कहानी लिखें, जिसे उतरवाने का मैं प्रबन्ध करूँ। मैं उस समय ताजा-ताजा लंदन से लौटा था और सोचता था कि भारतीय कला के लिए क्या कर डालूँ? यह उतावली मेरी भूल थी। यह प्रसाद जी जानते थे फिर भी वे मेरा दिल दुखाना नहीं चाहते थे। उन्होंने कहा—'भाई, बम्बई जाकर प्रेमचन्द जी को जो मज़ा मिला यह तुम जानते हो, फिर भी कोशिश करूँगा।' प्रसाद जी को पुष्यमित्र शुंग की कथा पसंद थी। उनका विचार था कि गिरते हुए बौद्ध धर्म के विरुद्ध पुष्यमित्र ने वैदिक धर्म का झंडा खड़ा किया। डिमिट्रियस को पाटलिपुत्र से खदेड़ने के लिए गजवटा के साथ कलिंगराज का प्रस्थान भी उन्हें काफ़ी नाटकीय लगता था। जहाँ तक मुझसे प्रसाद जी से बातचीत हुई वे इस कहानी का सम्बन्ध पाटलिपुत्र, काशी और उज्जयिनी से रखना चाहते थे। कहानी शुरू भी हुई पर अधूरी ही रह गई और प्रसाद जी चले गये। मुझे पूरा विश्वास है कि अगर कहानी पूरी पढ़ पाती, तो हिन्दी साहित्य को एक अपूर्व देन होती।

अन्तिम भेंट

प्रसाद जी से मेरी अन्तिम भेंट १९३७ में हुई जब मैं काशी छोड़कर बम्बई के लिए रवाना हो रहा था। क्षय बहुत आगे बढ़ चुका था। हम लोगों के हजार प्रार्थना करने पर भी उन्हें पहाड़ जाना चाहिए था; अथवा और कोई दूसरा इलाज कराना, पर वे न माने। उस दिन का दृश्य मुझे कभी नहीं भूलने का। मैं और राय साहब साथ थे। प्रसाद जी पलँग पर पड़े थे बिलकुल सफेद होकर। हम लोगों को देखकर मुस्करा दिये। उस दिन प्रसाद जी की आँखों में एक दूरी-सी देखी, जो अमंगल की सूचक थी। 'प्रसाद' जी धीमे-धीमे बोले—'कामायनी छप गई। वाचस्पति पाठक पाँच प्रति लाये हैं। इसमें एक तुम्हारी भी है। मैंने हस्ताक्षर कर दिया है। तुम बाहर जा रहे हो ठीक है, खूब मजे में रहो। मेरा तो अब कुछ भरोसा नहीं।' हम सब लोगों की आँखों से आँसू निकल पड़े, मैं तो फौरन कमरे के बाहर निकल आया। इस भेंट के कुछ ही दिन बाद प्रसाद जी चले गये, पर उनके अनेक संस्मरण अब भी रह-रहकर दिमाग़ में घूम जाते हैं और याद दिलाते हैं भवभूति के वाक्य की—तेहि नो दिवसा गताः।

२

प्रसाद की याद

[श्री रायकृष्णदास]

प्रसाद जी के पूर्वज मूलतः जौनपुर के निवासी थे। वहाँ वे शक्कर के प्रतिष्ठित व्यापारी थे। यों वे लोग जाति के कान्यकुब्ज-हलवाई-वैश्य हैं; किन्तु कन्नौज से कब जौनपुर आ बसे, इसकी ठीक स्मृति नहीं। मध्य-युग से लेकर अठारहवीं शती तक जौनपुर बहुत समृद्ध और धनपूर्ण नगर था। उसी बीच कभी ये लोग वहाँ बसे होंगे। अठारहवीं शती के अन्त अथवा उन्नीसवीं शती के आरम्भ में इस वंश की एक शाखा काशी में चली आई और उसने सुर्ती-तम्बाकू का काम शुरू किया। यह काम खूब उन्नत हुआ और तभी उस शाखा का लोक-नाम 'सुँघनी-साव' पड़ा।

उन दिनों तम्बाकू अपने विभिन्न सेवनीय रूपों में खूब प्रचार पर थी। सत्रहवीं शती के अन्त तक तम्बाकू का प्रचार बहुत रुद्ध गति से हुआ, किन्तु अठारहवीं शती के विलासमय युग में उसे खुल खेलने का सुयोग प्राप्त हुआ। अमीर-रईसों में पीने की मीठी तम्बाकू और जनता में खैनी तथा कड़वी तम्बाकू के रूप में वह खूब प्रसारित हुई; और पण्डित-वर्ग यद्यपि हुक्के से वंचित ही रहा, फिर भी खैनी के साथ-साथ सुँघनी के रूप में मस्तिष्क को सचेत और जागरूक बनाने के लिए उसका नाम खींचने लगा। तम्बाकू की जो बहुतेरी विरुदावली विद्वद्वर्ग ने तैयार कर डाली थी उसमें से एक, इस प्रचार और त्रिविध सेवन का अच्छा चित्रण करती है—

> क्वचिद्वक्त्रा, क्वचित्हुक्का, क्वचिन्नासाग्रगामिनी।
> इयं त्रिपथगा गंगा पुनाति भुवनत्रयम्॥

काशी, उन दिनों, एक ओर रईसों और दूसरी ओर पण्डितों का केन्द्र थी। प्रसाद-कुल की उस शाखा ने जहाँ पीने और खाने की उत्तमोत्तम तम्बाकू तैयार की, वहाँ पण्डितों और विद्यार्थियों में वह निःशुल्क सुँघनी का भी वितरण करने लगी। 'सुँघनी-साव' का नामकरण सम्भवतः उसी ग्रहीतावर्ग का किया हुआ है। सुँघनी बटने की यह प्रथा अब भी उनकी दूकान पर जारी है, यद्यपि पण्डितों और विद्यार्थियों में सुँघनी का प्रचार नाम-शेष रह गया है, सिगरेट चोरी-छुप्पा वे भले ही पी लें!

देश-विदेश-व्यापी इस व्यापार से वह शाखा बहुत ही समृद्ध हुई; किन्तु कुछ ही दिनों में ऋण, मुकदमेबाजी और प्राणिनाश से वह उच्छिन्न-प्राय हो गई; और उसका स्थान प्रसाद जी के पूर्वजों ने—जो उस शाखा के सपिंड थे—ले लिया। आरम्भिक उन्नीसवीं शती में यह शाखा भी बहुत ही समृद्ध हुई। व्यापार का यह हाल था कि दो

हाथों क्या, चार हाथों से भी रुपया बटोरना असम्भव था। चौक से नारियली टोले में घुसते ही प्रसाद जी की दूकान है; वहाँ यह हाल रहता कि बिक्री के घण्टों में गली से आना-जाना रुक जाता।

जहाँ व्यापार इतना समुन्नत था, वहाँ उदारता भी यथेष्ट थी। सुँघनी बटने का पुराना क्रम तो जारी था ही; साधु-सन्तों को कम्बल, रंगे हुए काठ के लाल तूँबे दिये जाते तथा और भी अनेक प्रकार के सदाव्रत चला करते। इसके सिवा घर पर पण्डितों, कवियों, गुणी-गवैयों, वैद्यों-यांत्रिकों, पहलवानों इत्यादि का निरन्तर जमघट लगा रहता और उन सबका आदर सत्कार किया जाता। इस प्रकार के बहुकुल समुदाय से बराबर घिरे रहने और उनका प्रतिपालन करने के कारण यह आवश्यक हुआ कि प्रसाद जी के पिता-पितामह में उनकी परख की क्षमता भी हो। फलतः वे लोग इस सम्बन्ध में अपनी योग्यता उत्तरोत्तर समुन्नत करते गये।

यों, तम्बाकू के व्यापार में, ऊँचे दर्जे की पीने और खानेवाली तम्बाकू तथा सुँघनी तैयार करने के लिए, काफी सुरुचि, कारीगरी और विवेक की आवश्यकता होती है। खमीरा और किमाम इत्यादि बनाने के लिए अपेक्षित सुगन्ध और उनके द्रव्य सम्मिश्रण में बहुत ही उत्कृष्ट निर्माणात्मक कौशल अपेक्षित होता है। वस्तुतः तम्बाकू के विभिन्न रूपों का एक सफल निर्माता—एक वास्तविक कलाकार होता है। प्रसाद जी के कुल में यह विशेषता पूर्ण मात्रा में विद्यमान थी, एवं इसी कारण उनके सामान का इतना दिगन्तव्यापी प्रचार हुआ था और उनकी दूकान की इतनी ख्याति हुई थी। यही सुरुचि और प्रतिभा जब गुण की परख और गुणग्राहकता की ओर प्रवृत्त हुई तो वहाँ भी उसका चमत्कार ज्यों का त्यों बना रहा, अपितु उस वातावरण के सम्बन्ध से कुछ निखरा ही। उनके रहन-सहन में भी उस सुरुचि की छाप थी। अच्छे खाने-पहनने का यथेष्ट शौक़ था। इसी प्रकार अच्छे शरीर बनाने की भी बेहद लगन थी। प्रसाद जी के पिता पाँच-छः भाई थे। सभी कसरत-कुश्ती-बाज थे। प्रसाद जी के पिता की शरीर-संपत्ति तो बहुत ही अच्छी थी, बल भी पर्याप्त था।

घर का सारा कामकाज वही देखते। शेष भाई तो उनके भरोसे मस्त-मौला थे—आरामतलबी और रुपया उलीचना उनका काम था। अपने एक चचा का हाल प्रसाद जी सुनाया करते कि उनकी भंग पाँच-सात रुपये रोज़ की—अनार के रस में—छनती। मज़ा यह कि उस भंग में अफ़ीम भी घोली जाती!

ऐसे रज-गज और विविधा के वातावरण में प्रसाद जी का जीवन पनपा। देश में उस समय जितने प्रकार के भी 'टाइप' हो सकते थे, सबका कुछ न कुछ परिचय प्रसाद जी को घर-बैठे मिलता। सीमाप्रान्त के सामान बेचनेवाले मुग़ल और छुरी आदि बेचनेवाली या नावर-ईरानी स्त्रियों से—जिन्हें कहीं दुर्रानी या धारवाली आदि कहते हैं—लेकर

नेपाल-भूटान के कस्तूरी बेचनेवालों तक, तथा ज्योतिषी-पंडितों से लेकर पाखंडी और कापालिक तक, कौन ऐसा वर्ग या फिर्का था जिसकी उस रंगमंच पर अवतारणा न होती रही हो! इस प्रकार के विविध पात्रों की यदि ब्योरेवार तालिका बनाई जाय तो वह कई सौ की संख्या छू लेगी। इन लोगों से सम्बन्धित कितनी ही मनोरंजक चित्र-विचित्र एवं मार्के की घटनाएँ प्रसाद जी की हृदय-पाटी पर अंकित होती जातीं। निदान, 'देखी-सुनी बहु लोक की बातें' प्रसाद जी के लिए घर बैठे जन्म-सिद्ध थीं।

इस काल की एक घटना याद आ रही है, जो इस कारण उल्लेखनीय है कि प्रसाद जी के विश्वास-निर्माण में उसका भी भाग है—

प्रसाद जी के जन्म से पहले उनके कई भाई शैशव में ही चले गये थे। अतः प्रसाद जी की आयु-कामना के लिए झारखंड के गोला-गोकर्णनाथ-महादेव की मन्नत मान दी गई थी कि जब वह बारह बरस के होंगे तब उनका मुंडन वहीं किया जायगा। इसी सम्बन्ध में उनकी नाक भी बीच से छेद दी गई थी और उसमें बुलाक पहना दी गई थी; वह पुकारे भी जाते—'झारखंडी'। यों बड़ी-बड़ी लटों और बुलाक से, देखने में, वह बालिका जान पड़ते। कभी-कभी उनकी माता उन्हें घाँघरी भी पहना दिया करतीं। एक दिन इसी वेश में वह घूम रहे थे और उनके यहाँ एक सामुद्रिक-वेत्ता आये हुए थे। प्रसाद जी के एक चाचा ने उन्हें थाहने के लिए कहा कि तनिक इस बालिका की हस्तरेखा और लक्षण तो देखिए। दैवज्ञ महाशय की विद्या यह लक्ष्य न कर सकी कि वह बालक हैं—और उन्हें लड़की मानकर ही वह भविष्य-कथन कर चली। जब यह कथन पूरा हुआ तो प्रसाद जी के चाचा ने उनकी घाँघरी अलग कर दी और तब ज्योतिषी महाशय को अपनी कचाई जान पड़ी तथा लोगों में विशेष कौतूहल हुआ। किन्तु प्रसाद जी पर इस घटना का स्थायी प्रभाव पड़ा। ज्योतिष का खोखलापन उन्हें भास गया, जो आजीवन बना रहा। उन्होंने सिद्धान्त बना लिया था—यदि ज्योतिष सत्य हो, तो भी मन के लिए बड़ा घातक है; हमारी वर्तमान चिन्ताएँ ही कौन कम हैं जो हम भविष्य को जानकर उसके लिए मरें-पचें।

एक ओर तो यह सौ-रंगी दुनिया, दूसरी ओर धर्म का कर्मठ, जटिल, अवरुद्ध—किन्तु दार्शनिक वातावरण। यह कुल कट्टर शैव था, जिसके एकाध सदस्य तो ऐसे थे जो इतर देवता का नाम सुनते ही कान बन्द कर लेते। परन्तु इसी के साथ भगवान् शंकर को परात्पर और देवाधिदेव मानने के कारण उन साम्प्रदायिक सिद्धान्तों के दार्शनिक तत्त्व का भी विचार हुआ करता। काशी-जैसी विद्यापीठ में बसने के कारण संस्कृत की ओर भी इस कुल की अभिरुचि थी और उसमें उपयोग्य गति भी थी। काश्मीर और दक्षिण-भारत में शैव आगम पर बहुत-कुछ लिखा गया है और उत्कृष्ट वाङ्मय प्रस्तुत हुआ है, जिसे हम सगुण अद्वैतवाद कह सकते हैं। इसमें कश्मीरकों का प्रत्यभिज्ञान-दर्शन

बहुत ही पुष्ट और प्रबल है। प्रसाद-कुल की दार्शनिक विचारधारा मुख्यतः इसी परम्परा में थी।

उन लोगों की शिवोपासना का बहिरंग बहुत क्रिया-कलाप-पूर्ण और धूमधामी था। दो बड़े-बड़े शिवालय थे जिनमें से एक तो प्रसाद जी के घर के सामने ही एक छोटी-सी वाटिका में है। इसमें नित्य विधिवत् षोडशोपचार शिवपूजन, समय-समय पर रुद्री-पाठ, हवन, ब्राह्मण-भोजन और प्रतिवर्ष शिवरात्रि का महोत्सव हुआ करता जिसमें रात्रि-जागरण तथा नाच-गान भी होता। ये उत्सव-पर्व सब रईसी ठाट के रहते। उन लोगों को शिव का परम इष्ट था जिससे उनका जीवन ओत-प्रोत था। इसी का प्रतीक हम इस कुल के नामों में पाते हैं।

प्रसाद जी जिस समय होश सँभाल रहे थे उस समय अस्तंगत भारतेन्दु का चाँदना साहित्य-गगन पर भली भाँति बना हुआ था। उनके कालवाले, उनके सहकारी एवं उनके अनुवर्ती कितने ही साहित्यिक उनके मार्ग पर चल रहे थे। इस सम्बन्ध का अन्य उल्लेख तो हम ऊपर कर आये हैं, यहाँ मुख्यतः हम उनकी ब्रजभाषावली पद्यमय रचना की चर्चा कर रहे हैं। काशी के 'हनुमान', 'रसीले', 'बेनीद्विज', रामकृष्ण वर्मा आदि उन्हीं के समय से ब्रजभाषा की रचनाएँ करते आ रहे थे। 'रत्नाकर' ने उनके समय में लिखना आरम्भ कर दिया था, किशोरीलाल गोस्वामी भी तभी से कविता लिखने लगे थे।

उन्नीसवीं शती के अन्तिम दशक में काशी में एक धूमधामी कवि-समाज स्थापित हुआ था, जिसके प्रतिपालक काशी के वल्लभ-मार्गीय गोपाल-मंदिरवाले गोस्वामी श्री जीवनलाल थे, जो कला-प्रेमी, उत्कृष्ट मृदङ्गवादक और भावुक काव्य-रसिक थे। उन्हीं की गुण-ग्राहकता से देश-विदेश के कितने ही कवि इस कवि-समाज में भाग लिया करते। समस्यापूर्ति ही इस समाज की मुख्य 'एक्टिविटी' थी। यदि हम कहें कि 'रत्नाकर' की प्रतिभा यहीं चमकी और यहीं उनके 'उद्धवशतक' की नींव पड़ी, तो गलत न होगा।

पर्दत कवि-सम्मेलन भी हुआ करते। फलतः वातावरण ब्रजभाषा-कविता से संपृक्त था। कोई ऐसा साहित्यिक न था जिसे दस-बीस नये-पुराने कवित्त न याद हों अथवा जो कवित्त-रचना में टाँग न अड़ाता हो। ऊपर जिन कवियों का उल्लेख हुआ है, उनमें रसीले, हनुमान और बेनीद्विज, प्रसाद जी के पिता के दरबार में आने-जानेवाले थे।

प्रसाद जी के मुहल्ले—गोवर्धन सराय—में और उसके आसपास कई प्रतिष्ठित कायस्थ-कुल रहते थे, जिनमें फारसी और उर्दू के साहित्य की खासी चर्चा रहती। उनके कतिपय सदस्य तो उर्दू की कविता भी करते। इन परिवारों का प्रसाद जी के घराने से घनिष्ठ संपर्क था। इस कारण प्रसाद जी को बचपन से उर्दू-कविता की चाशनी भी चखने को मिला करती।

: प्रसाद जी जब पढ़ने योग्य हुए तो उनका शिक्षा-क्रम उनके पिता ने ऐसा रखा कि उन्हें संस्कृत, हिन्दी और उर्दू की अच्छी योग्यता हो जाय तथा साहित्यिक रुचि भी उद्बुद्ध हो जाय। उन्होंने अपने आरम्भिक सबक स्वर्गीय मोहनलाल गुप्त से, जो थोड़ी-बहुत कविता भी करते थे, लिये। उन दिनों गुप्त जी अपने कठोर शासन एवं लड़कों को हिन्दी तथा संस्कृत के आरम्भिक पाठों में दक्ष करने के लिए बहुत प्रसिद्ध थे। वहाँ भारतेन्दु जी के भ्रातुष्पुत्र स्वर्गीय ब्रजचन्द्र जी, जो असमय में न चल बसे होते तो अच्छी साहित्यिक ख्याति प्राप्त करते, उनके सहपाठी थे। श्री लक्ष्मीनारायण सिंह 'ईश' भी, जिनका हाल में ही स्वर्गवास हुआ है, वहीं उनके सहपाठी थे। प्रसाद जी इस छोटी-सी पाठशाला को सदा अपना आरम्भिक सरस्वती-पीठ कहा करते। इसमें एक चोज भी था। वह मकान केदारनाथ पाठक के श्वसुर का था, जो पीछे पाठक जी को मिल गया था, क्योंकि उनकी पत्नी 'सरस्वती देवी' अपने पिता की अकेली सन्तान थीं। सो, आरम्भिक सरस्वती-पीठ के श्लेष से प्रसाद जी उनको अक्सर छेड़ते, जिसे पाठक जी बड़े अभिनय के साथ ग्रहण करते।

संस्कृत और उर्दू में क्रमशः प्रसाद जी की अच्छी गति होती गई। इन भाषाओं के सैकड़ों सुभाषित उन्हें याद कराये गये और कितने ही उन्होंने स्वयं याद किये, जिनका वयस्क होने पर बातचीत में वह बड़े मौके से उपयोग किया करते। हिन्दी के भी कितने ही छन्द, कवित्त, दोहे, पद इत्यादि उन्हें कण्ठस्थ हो गये। साथ ही, उनकी स्कूलवाली अंग्रेजी पढ़ाई भी चल रही थी। कसरत-कुश्ती में भी वह भली भाँति लगा दिये गये और उन्होंने खूब शरीर बनाया।

किन्तु, असमय में ही उनके जीवन की इस चर्या में व्यवच्छेद उपस्थित हुआ। उनके पिता और चाचा-ताउओं का देहान्त हो गया। भाई साहब का जमाना आया; घर में मुकदमेबाजी शुरू हुई और भाई साहब का शाहाना खर्च भी। थोड़े दिनों में भाई साहब भी चल बसे। इस तरह पुराना साज-समाज और धन-वैभव गन्धर्व नगर की भाँति ओझल हो गया। साथ ही, प्रसाद जी के पढ़ने-लिखने की भी इतिश्री हो गई।

भाई साहब के स्वभाव आदि का परिचय आरम्भ में ही दिया जा चुका है। उनके जमाने की, जब कौटुम्बिक हिस्से का मुकदमा चल रहा था, एक घटना उल्लेखनीय है। उन दिनों मंत्र-प्रयोग पर लोगों को बहुत विश्वास था। सो, प्रसाद जी के भाई साहब पर भी दूसरे फरीक की ओर से बड़े आयोजन के साथ मारण-प्रयोग प्रारम्भ हुआ। संयोग की बात कि जिस मकान में यह प्रयोग हो रहा था और रात-भर 'शम्भुरत्नं मारय-मारय, भक्षय-भक्षय स्वाहा' की आहुतियाँ पड़ रही थीं, उसके मालिक का नाम भी शंभुरत्न था, जो पेशे से दर्जी था! एक रात दूकान बढ़ाकर जो वह घर आया तो यह अमंगल और भयावनी

शब्दावली उसे सुन पड़ी और वह अपनी मज्जा तक सिहर उठा। उसने आव देखा न ताव—सीधे उस अनुष्ठान-गृह में घुस गया और वहाँ के सारे उपस्करण का विध्वंस कर डाला। उन अनुष्ठानी ब्राह्मणों को भी उसने उसी दम घर से निकाल बाहर किया और तब—कुछ शान्त होने पर—उसकी समझ में यह बात आई कि वह प्रयोग प्रसाद जी के भाई साहब के मारणार्थ हो रहा था। वह उनका कपड़ा सिया करता, अतः उनसे सुपरिचित था। दूसरे दिन प्रातःकाल उसने जाकर उन्हें यह समाचार सुनाया और संभवतः घर ले जाकर उस विध्वस्त अभिचार को दिखाया भी। प्रसाद जी के नियतिवाद में इस घटना की भी छाप थी। वह प्रायः कहा करते कि भाई साहब को उस मारण-प्रयोग से मरना नहीं था, तभी वह खण्डित हो गया; यदि उनकी मृत्यु उसी हीले बदी होती तो, वह पूरा उतर जाता।

निदान, अनुभवहीन प्रसाद के सामने उस समय जो दुनिया आई उसमें था मुक़दमा, कर्ज़, रहने की विशाल हवेली का एक अधबना अंश और अविवाहित स्वयं थे। इसके पहले, भाई साहब के समय में ही, वह भाव-जगत् में प्रविष्ट हो चुके थे। कोई चौदह-पन्द्रह वर्ष की अवस्था से ही उन्होंने ब्रजभाषा की रचना आरम्भ कर दी थी। उनके बालसखा और सहपाठी 'ईश' जी और उनमें रचनाओं की तथा अच्छे-अच्छे कवित्त याद करने की होड़-सी लगी रहती। यह सब भाई साहब से छिपा-छिपाकर होता, क्योंकि अपने लिए वह चाहे जैसे रहे हों, प्रसाद जी के लिए यही चाहते कि यह एक ज़िम्मेदार व्यापारी हों और घर का कामकाज सँभालें। वंश के परम्परागत नियमानुसार वह नित्य कुछ घंटों के लिए दूकान की गद्दी पर बैठने के लिए भी भेजे जाते। किन्तु भाई साहब को क्या मालूम था कि वहाँ बैठकर वह कवित्त लिखा करते हैं।

उस समय रीतिकालीन कविता समस्या-पूर्ति के घेरे में टिमटिमा रही थी। रचयिता कोई अच्छी-सी या विलक्षण, साथ ही ज़ोरदार उक्ति समस्या-रूप में सामने रख लेते और उसको सजाने या चरितार्थ करने के लिए साढ़े तीन या पौने चार चरणों का निर्माण करते। ऐसे निर्माण में यह विशेषता अपेक्षित होती कि मज़मून अनूठा हो और रचना-चमत्कार उत्तरोत्तर बढ़ाता हुआ समस्या तक आकर चूड़ान्त को पहुँच जाय एवं उसकी अन्वर्थ-पूर्ति कर दे। दूकान पर बैठे-बैठे प्रसाद जी इसी उधेड़बुन में संलग्न रहते।

वहाँ इस प्रकार का कुछ समाज भी जुट जाता। 'ईश' जी तो पहुँचते ही, एकाध और कवि भी आ जाते। इनमें एक महाशय थे—रामानन्द। आप उर्दू में सवैये और घनाक्षरी कहा करते। ये छन्द बड़े चुटीले होते। आप एक वारवनिता पर मुग्ध थे! प्रसाद जी की दूकान के पास ही उसका कोठा था। नित्य संध्या को आप उस कोठे के सामने आ जमते और अपनी मन-भावती को अपनी रचना सुनाते रहते, बीच-बीच में गाँजे का

दम भी लगाये जाते। इन रचनाओं में भाव तो होते ही, भाषा भी बड़ी चलती हुई और पुर-असर होती जिससे वहाँ सुननेवालों का ठट्ट लग जाता। प्रसाद जी सुननेवालों अक्सर अपनी दूकान पर भी बैठा लिया करते। ये रचनाएँ जहाँ एक ओर प्रसाद जी को रस प्रदान करतीं वहाँ दूसरी ओर उन्हें अच्छी-अच्छी उक्ति लिखने के लिए उद्दीपन का काम भी देतीं।

किन्तु यह प्रवृत्ति भाई साहब से बहुत दिनों तक छिपी न रही। जब पता चला तो एक दिन अचानक वह दूकान पर पहुँचे और पाया कि प्रसाद जी ने कामकाज तो ऐसा-ही-वैसा देखा है, हाँ, गद्दे-तले सैकड़ों कवित्त लिखकर छिपा रखे हैं।...... उस दिन से प्रसाद जी का यह क्रम समाप्त हो गया; किन्तु उनमें का कृती ज्यों का त्यों बना रहा।

भाई साहब के न रहने पर एक ओर तो कठोर उत्तरदायित्व, दूसरी ओर उनमें कृती का—'बलात् नियोजन'। घर का यद्यपि बहुत-कुछ नष्ट हो चुका था, फिर भी जितना बच रहा था, वही क्या कम था?......यदि उतना भी बचाया जा सके, तो जिसने 'गई सो बीति बहार' नहीं देखी, उसकी निगाह में सब कुछ था। इधर प्रतिभा खिलती-खिलती रुक गई थी, वह प्रतिपल उत्फुल्ल होना चाहती थी। किन्तु, प्रसाद जी भगोड़े न थे। यद्यपि घर सँभालने में मन रत्ती भर न जमता, तो भी, उन्होंने दोनों ही रखावों पर बड़े ठाट और दृढ़ता से पाँव जमाये।

इस समय हिन्दी-संसार विकास के जिस मौसम पर पहुँचा था, उसकी झलक हमें ऊपर मिल चुकी है। यहाँ हमने यह देखा कि स्वयं प्रसाद जी किस क्षेत्र में पनपे और विकसे। ये दो पक्ष उस साँचे के दोनों भाग हैं, जिसमें प्रसाद जी आगे चलकर ढले, जैसा हम यथास्थान देखेंगे।

३

साहित्यकार प्रसाद

[श्री वाचस्पति पाठक]

प्रसाद जी की याद आते ही एक हँसता हुआ चेहरा सामने आ जाता है। वह चेहरा चमकता हुआ गौरवपूर्ण है। अत्यन्त पान खाने पर भी दाँतों की पंक्ति झलमला रही है और उनकी यह मुस्कराहट मिलने वालों को अपना तो बना ही लेती है। एक बार देखने पर इसे कौन भूल सका है!

प्रसाद जी का रूप मोहक था। वह धोती, कुरता और सिर पर खूब चिपकी हुई दुपलिया टोपी पहनकर बाहर निकलते थे। हाथ में छड़ी नहीं तो छाता तो होना ही चाहिए। साथ में अगर दो-चार आदमी नहीं हैं, तो जरूर आगे-पीछे कहीं एक अनुचर उनका अनुसरण कर रहा है। शायद अकेले निकलना उन्हें पसन्द नहीं था।

आप सुबह से रात तक, जब भी उनके पास जाइए, भेंट हो सकती थी। कोई व्यवधान, कोई बहाना या काम-काज में दिक्कत पड़ने की बात भी कोई हो सकती है, यह समझने का मौका ही वहाँ नहीं। आप नये मिलने वाले हैं, या पुराने मित्र हैं, कोई बात नहीं—आप खुले हृदय से बात सुनिए, कीजिए और चलते समय आप पाएँगे जैसे एक पुराने मिलने वाले से मिलकर जा रहे हैं।

मेरी बात से आप भ्रम में न पड़ियेगा। प्रसाद जी के खुले हुए स्वभाव में एक मर्यादा रही है। इसीलिए उन्हें अशिष्टता से चिढ़ भी थी। वह आत्मसम्मान की मर्यादा को समझते रहे हैं, इसी से दूसरों का सम्मान उन्हें प्रिय रहा है। एक बार किसी प्रसंग में उन्होंने मुझे कहा था कि दूसरों का सम्मान करना अपने संस्कार के कारण ही होता है। असंस्कारी व्यक्ति से ही दूसरों का सम्मान नहीं बन पड़ता।

अपने सिद्धान्त की बलि वह बड़े-से-बड़े व्यक्तित्व के सामने भी नहीं कर पाते थे। सभी जानते हैं कि आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के विचारों से मेल न मिल सकने के कारण उन्होंने 'सरस्वती' में नहीं लिखा और अपने पुत्र श्री रत्नशंकर को, जो उस समय थियोसाफिकल स्कूल में पढ़ रहे थे, वहाँ से इसलिए हटा लिया कि श्री कृष्णमूर्ति वहाँ एक अवतार माने जाते थे और उनके वहाँ आने पर वहाँ के लड़कों द्वारा उनकी पूजा कराई गई थी। प्रसाद जी की दृष्टि में मनुष्य की पूजा मनुष्यों के द्वारा मनुष्य को अधम बनाने वाली थी। उनके मन का बनारस में दूसरा स्कूल भी नहीं था। श्री रत्नशंकर की पढ़ाई खतम हो गई, पर वह यह मूल्य देकर लड़के की पढ़ाई आगे नहीं चलाना चाहते थे।

आत्मविश्वास की मात्रा उनमें भरपूर थी। साहित्य के क्षेत्र में अनेक नवीन उपकरणों के साथ वह अवतीर्ण हुए। उन सबके प्रति पहले-पहल वैसी उपेक्षा दिखाई गई, बल्कि भर्त्सना की गई उससे साधारण आत्मबली नष्ट हो जाता। उनके मन में अपनी रचनाओं के प्रति पूर्ण आस्था थी और एक दिन समग्र हिन्दी-संसार ने उनके मान की प्रतिष्ठा की। सबसे अधिक कटु आलोचना उनके नाटकों की हुई थी। एक आलोचक ने पहले पत्रों में फिर पुस्तकाकार उनके नाटकों की आलोचना छपवाई थी। उसे देखकर जहाँ मैं, भाई विनोदशंकर व्यास या अन्य मित्र उत्तेजित हो उठते थे, वहाँ प्रसाद जी उसका बहुत ही आनन्द उठाते थे। मुझे कुछ ऐसा स्मरण है कि व्यास जी ने उस आलोचना की एक तीखी प्रत्यालोचना लिखी थी। उसे लेकर वह प्रसाद जी के पास आए और उनके सामने रखकर उसे देख लेने का आग्रह उन्होंने किया। प्रसाद जी दो-चार मिनट टालते रहे, फिर उसे फाड़कर जमीन पर फेंककर हँसते हुए बोले—"मेरे नाटकों को किसी के टेक लगाने की जरूरत नहीं। वे अपने बल पर ही खड़े रहेंगे। और, आप तो मेरे इतने निकट के हैं कि आपका लिखना अशोभनीय होगा।" इस निर्णय के बाद फिर उनके किसी अपने मित्र द्वारा उसका विरोध नहीं हो सकता था।

प्रसाद जी के नाटक रंगमंच के योग्य नहीं हैं, यह एक निर्विवाद धारणा हिन्दी के आलोचकों में रही है। लोग लिखते, बोलते, कहते रहे हैं, पर क्या प्रसाद जी इसे मानते रहे हैं? नहीं! और उनके सभी नाटक नागरिकों द्वारा समय-समय पर खेले गये। 'चन्द्रगुप्त' ऐसा बड़ा नाटक भी थोड़ी-सी तैयारी के बाद ही बनारस में खेला गया। उसकी बड़ी धाक जमी, बनारस के लोगों ने रंगमंच पर वैसा प्रभावशाली नाटक तब तक नहीं देखा था। विरोधी विचारधारा के अनेक आलोचक चकित होकर उस खेले जाने वाले नाटक को देख रहे थे। आज भी श्री सर्वदानन्द वर्मा द्वारा किया गया शकटार का तथा नाणक्य अथवा चन्द्रगुप्त का अभिनय लोगों को भूला नहीं है। 'राज्यश्री', 'विशाख', 'अजातशत्रु' तथा 'स्कन्दगुप्त' नाटक भी समय-समय पर खेले गये हैं। प्रसाद जी के विश्वास को उन पुरुषार्थी लोगों ने बलवान बनाया था। वह यह मानते थे कि अभिनयकर्ता सुविधा के लिए नाटक में कुछ हेर-फेर कर सकते हैं। और सुझाव देने पर वह स्वतः भी वैसा कर देने को तत्पर हो जाते, फिर इस विज्ञान के युग में रंगमंच पर सभी कुछ उतारा जा सकता है यह भी नाटककार प्रसाद जी समझते थे।

यों उनके साहित्य के प्रति कोई कैसा भी मत रखता हो, उससे प्रसाद जी किंचित नहीं प्रभावित होते थे। उनके बुरे-से बुरे आलोचक उनके व्यक्तित्व के सम्पर्क में आकर उनके परम प्रशंसक बन गये हैं। प्रेमचन्द जी की चर्चा ऐसे प्रसंग में की जा सकती है। प्रसाद जी के साहित्य की उन्होंने कटु आलोचना की थी, पर आगे चलकर उन्होंने इनके साहित्य के प्रति अपना आदर प्रकट किया था और दोनों में जीवनपर्यन्त अटूट सम्बन्ध

बना रहा। इसका एक सबसे बड़ा कारण तो मैं यही समझता रहा कि वह अपने मन का प्रचार तो करते नहीं थे, पर साहित्य की दूसरी धाराओं का अवगाहन वह पूरे मनोयोग से कर पाते थे। मैंने उन्हें स्वर्गीय कवि गोस्वामी किशोरीदास जी, लाला भगवानदीन जी तथा रत्नाकर जी के सम्पर्क में पुरानी धारा की कविताओं का आनन्द उठाते देखा है, जब कि इन लोगों के लिए प्रसाद-स्कूल की चीज रस से हीन और सिर में दर्द पैदा करने वाली जान पड़ती थी। इसी तरह विचारधाराओं और विभिन्न चरित्रों के प्रति भी अपना अध्ययन का दृष्टिकोण बना लेना प्रसाद जी के लिए सरल होता था। सच बात तो यह है कि सामने पड़ने वाली प्रत्येक चीज के सौन्दर्य को वह प्रत्यक्ष कर लेते थे—उससे रस ग्रहण कर लेना उनके स्वभाव को सिद्ध था। यही कारण था कि जितने भी भिन्न प्रकार के लोग उनके सम्पर्क में आते थे उन लोगों के अनुकूल वातावरण में वह उनसे मिल पाते थे।

अपने शैव और उदार घराने के कारण बनारस के सभी नागरिक उनसे परिचित थे। उनका सम्मान राह चलते 'जय, जय, शंकर' अथवा 'हर हर महादेव' के अभिवादन से होता था, जो वस्तुतः बनारस में काशीराज के सम्मान का प्रतीक था। अत्यन्त विस्तृत परिचय का क्षेत्र होने पर भी उनके वास्तविक मित्रों की संख्या परिमित थी। अपने कौटुम्बिक साहचर्य के कारण जिन लोगों से उनकी पुरानी मित्रता थी, उन्हें छोड़कर काशी के सभी योग्य साहित्यकारों से उनका अच्छा सम्बन्ध था। बाबू श्यामसुन्दर दास जी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, श्री रामचन्द्र वर्मा, लाला जी, हरिऔध जी आदि सभी नागरी प्रचारिणी सभा में तथा बाहर मिलते-जुलते रहते, पर रायकृष्णदास जी, पण्डित केशवप्रसाद मिश्र और प्रायः काशी आने वाले राष्ट्रकवि गुप्त जी से उनकी अन्तरंग चर्चा होती थी। पण्डित विनोदशंकर व्यास के प्रति उनके मन में एक ममत्व की भावना थी, जिसके कारण व्यास जी से सुख-दुःख के भाव उन्होंने पाए थे। बाहर से आए और काशी में रहने वाले साहित्यिकों में पण्डित रूपनारायण पाण्डेय, श्री शिवपूजन सहाय, श्री गोविन्दवल्लभ पन्त, पण्डित विश्वम्भरनाथ जिज्जा, उग्र जी, सुमन जी, पण्डित लक्ष्मीनारायण मिश्र, बेनीपुरी जी, पण्डित नन्ददुलारे वाजपेयी, द्विज जी, डाक्टर राजेन्द्र शर्मा आदि सभी उनके आत्मीय से ही थे।

प्रसाद जी का अध्ययन विस्तृत था। उसमें प्रतिदिन कुछ-न-कुछ और जुड़ता ही था। सुबह उठकर वह नियमतः उपनिषद् का पाठ करते थे। उनके लिखने का भी यही समय था। संस्कृत साहित्य का सम्यक् अध्ययन उन्होंने किया था। कोई विषय उनसे छूटा नहीं था। बातचीत में इसकी छटा प्रायः सुनने को मिलती थी। उनसे वैद्यक और ज्योतिष तथा तन्त्र और मन्त्र के भी उद्धरण जब सुनने को मिलते तब सिवाय चकित रहने के और हम सब क्या करते! क्योंकि हम लोग एकाध विषय ही नहीं साध पाते थे, दूसरे

की ओर मन ले जाना जीवन का अपव्यय ही जान पड़ता था। एक दिन किसी शास्त्रीय विषय की चर्चा हो रही थी, तभी रुककर प्रसाद जी से कहा कि आपको बहुत कुछ याद है पर आप शीतलाष्टक के कुछ श्लोक सुनाएँ तो मैं जानूँ। आप सच मानें, उन्होंने परीक्षार्थी का-सा भाव मुँह पर लाकर उसके आठों श्लोक सुना दिए। संस्कृत के बाद पाश्चात्य साहित्य का अनुशीलन भी उनका प्रिय विषय था। इतिहास के ग्रन्थों में उनका बहुत मन लगता था। इतिहास पर काम करना भी उनको भाता था। चन्द्रगुप्त, चाणक्य, कालिदास अथवा इन्द्र विषयक उनके निबन्ध अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। आश्चर्य की बात तो यह है कि ये अपने विषय पर सर्वप्रथम लिखी गवेषणाएँ हैं।

प्रसाद जी अपने मित्रों में अपनी सूझ-बूझ, मौलिकता और प्रत्युत्पन्नमति होने के कारण अपना एक विशेष स्थान रखते थे। प्रसाद जी के इन गुणों के कारण मित्रजनों को जहाँ अनेक लाभ थे, वहाँ उन मित्रों के चूकते ही उनकी दुर्गति भी खूब बनती थी। कभी-कभी तो जान-बूझकर प्रसाद जी को छेड़कर आनन्द लेना भी लोगों को भाता था। प्रसिद्ध कलाविद् राय कृष्णदास जी प्रसाद जी से मिलने पर बिना छेड़छाड़ किए नहीं रह पाते थे। प्रसाद जी के 'चन्द्रगुप्त' नाटक लिखे जाने के बाद उस नाटक के चाणक्य के चरित्र की महानता से कदाचित रायसाहब ऐसे प्रभावित हुए कि उसके बाद प्रसाद जी से मिलने पर उन्होंने, "आइए चाणक्य जी!" कहकर उनका स्वागत किया। पर प्रसाद जी चूकने वाले नहीं थे, उन्होंने तुरन्त जवाब दिया—"तुम्हारे राक्षस बनने पर मुझे चाणक्य बनना ही पड़ा है।" और साथ ही दोनों मित्र खिलखिलाकर हँस पड़े। सुन्दर जवाब देने का एक उदाहरण और। प्रसाद जी रोज शाम को नारियल वाली गली की अपनी दूकान के सामने एक चबूतरे पर बैठते थे। बहुत से लोग सुविधा के कारण वहीं मिलने आ जाते थे। वहाँ अच्छी जमघट जम जाती थी। श्री रामचन्द्र वर्मा के एक अभिन्न मित्र डाक्टर साहब कहे जाने वाले व्यक्ति थे। वह बहुत ही खुशमिजाज और छेड़छाड़ करने के आदी थे। एक दिन घूमने निकलने पर उन्हें कहीं किसी लड़के की गिरी-पड़ी पतंग मिल गई। उसे लिए हुए वह नारियल वाली गली की दूकान पर आ गए। प्रसाद जी और कई दूसरे लोग वहाँ बैठे थे। डाक्टर साहब चुपचाप उस पतंग को प्रसाद जी की आँखों पर रखकर आगे बढ़े। उन्होंने बनाना चाहा—लड़के हो, लो पतंग खेलो। पर प्रसाद जी को बनाना सरल नहीं था। उनके बढ़ते ही उन्होंने रोका—"डाक्टर! डाक्टर!!" डाक्टर लौट आए। प्रसाद जी ने उनको अपने समीप करके कहा—"मैं दूसरे की उड़ाई हुई नहीं उड़ाता, इसे ले जाओ।" और डाक्टर को अपनी चीज ले जानी पड़ी। उन्हें यहाँ से अच्छा उत्तर मिल गया था। हँसते, बोलते आनन्दपूर्ण जीवन बिताना प्रसाद जी को प्रिय था।

एक बार एक पत्रकार ने हिन्दी के कुछ लेखकों को महाकवि रवीन्द्रनाथ टाकुर से मिलाने का प्रबन्ध किया। प्रेमचन्द जी को भी उन्होंने बुलाया था। एक दिन प्रेमचन्द जी

ने प्रसाद जी से आकर कहा कि भाई, ऐसा निमन्त्रण आया है, आपकी क्या सम्मति है ? जाऊँ या न जाऊँ ? प्रसाद जी को सम्भवतः यह बात अच्छी नहीं लगी । हिन्दी के एक इतने बड़े उपन्यासकार का श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर से एक मध्यस्थ के द्वारा मिलने जाना उचित न लगना स्वाभाविक था । दोनों में से कोई एक दूसरे के सम्पर्क में आने के लिए स्वतः काफ़ी था । उन्होंने पूछा—"तो आपने क्या निश्चय किया ?" प्रेमचन्द जी ने कहा—"जैसा आप कहें ।" प्रसाद जी ने कहा—"मुझे तो यह ठीक नहीं जान पड़ता । कम-से-कम जब इस मुलाकात की बात तै हो गई थी तब कवि ठाकुर की ओर से भी आपको पत्र मिलना चाहिए था । इससे उनके मिलने का उत्साह प्रकट होता, अन्यथा यह तो मन्दिर में दर्शन करने जाने जैसा ही है ।" प्रेमचन्द जी का आत्मसम्मान इस कमी को जान गया और वह नहीं ही गए ।

प्रसाद जी के जीवन का सर्वाधिक समय अपने प्रतिष्ठित घर की मर्यादा बनाए रखने में ही चला गया । इनके घर के स्वामी बनने के पूर्व उसके तागे बहुत उलझ गए थे । कभी इस बात की चर्चा करते हुए प्रसाद जी ने कहा था—"जवानी कब बीत गई यह जाना ही नहीं ।" इन शब्दों में अपना जीवन बहा देने की वेदना ही व्यक्त हुई थी । इसी से लिखने-पढ़ने का काम भी उनका अव्यवस्थित ही रहा । कभी जमकर कुछ लिखा ही नहीं । आज लिखा तो महीनों नहीं । चीज पूरी हो जाए यह भाग्य की ही बात है । लोग इसके लिए बराबर याद दिलाते—"इसे पूरा कर दीजिए, यह लिख दीजिए ।" और वह हूँ, हाँ करके बात खत्म कर देते । अपनी अन्तिम बीमारी से पूर्व एक ऐसी ही बातचीत चलने पर उन्होंने मुझ से कहा—"तुम बहुत तंग करते हो तो अब हमने भी निश्चय किया है कि इन्द्र महाकाव्य (जिसके चार भागों मे लिखने की तैयारी वह बहुत दिनो मे कर रहे थे, और सच तो यह है कि 'कामायनी' उसी के बीच से निकल पड़ी एक चीज थी) के साथ-साथ मैं तुम्हें प्रति माह एक सामाजिक नाटक और एक उपन्यास देता चलूँगा ।" पर काल की गति को कौन रोक पाया है ! 'इरावती' भी पूर्ण नहीं हो पाई । जैसा कुछ लोगों का अनुमान है, 'इरावती' छोटा उपन्यास नहीं होता । वह इसे काफी बड़ा लिखने वाले थे । अभी तो इस उपन्यास की भूमिका ही नहीं बँध पाई थी । मैं तो साहित्य में उनकी देन के प्रति भी, जिसकी महानता से वास्तव में हिन्दी गौरवपूर्ण है; यही कहूँगा कि उनकी प्रतिमा ने अपने साहित्य की अभी भूमिका ही बाँधी थी कि वह हम सबके और हिन्दी के दुर्भाग्य से हमारे बीच से चले गए, और 'इरावती' की तरह उनका काम अधूरा रह गया

४

प्रसाद : जैसा कि मैंने उन्हें जाना

[अमृतलाल नागर]

सवेरे का अखबार सामने रखा है। प्रसाद जी पर लेख लिखने की चिन्ता आज की ताजी खबरों में खोयी हुई अपनी राह खोज रही है। उनसे मेरा केवल बौद्धिक सम्बन्ध ही नहीं, हृदय का नाता भी जुड़ा हुआ है। महाकवि के चरणों में बैठकर मैंने साहित्य के संस्कार भी पाये हैं और दुनियादारी का व्यावहारिक ज्ञान भी। पिता की मृत्यु के बाद जब बनारस में उनसे मिला तब उन्होंने कहा था—"भाइयों के सुख में ही अपने सुख को देखना। हिसाब-किताब साफ रखना। तभी घर के बड़े कहलाओगे।" इसी बात को लेकर प्रसाद जी आज भी मेरे जीवन के निकटतम हैं। यों बरसों उनके साथ रहकर अपनापन पाने का सौभाग्य मुझे नहीं प्राप्त हुआ। सब मिलाकर बीस-पच्चीस बार भेंट हुई होगी। आदरणीय भाई विनोदशंकर जी व्यास के कारण ही उनके निकट पहुँच सका। मैंने साहित्य की उस गम्भीर मूर्ति को खिलखिलाकर हँसते देखा है। चिन्तन के गहरे समुद्र को चीरकर निकली हुई सरल हँसी उनकी सहज सामर्थ्य की थाह बतलाती थी। यही उनका परिचय है जो मैंने पाया है। प्रसाद जी आशावादी थे और उनकी आशा-वादिता का अडिग आधारस्तम्भ थी उनकी आस्तिकता।

लेकिन आज तो ईश्वर ही खो गया है। जीवन लक्ष्यभ्रष्ट है, उद्देश्य पाने की वास्तविकता बनकर कोरे शब्दों से सज रहा है। मेरे सामने आज का अखबार खुला हुआ है। डिमोक्रेसी की सती लाज लुटी वेश्या बनकर अखबारी कालमों के कोठे पर खड़ी है; बस्ती और देवरिया के कुछ क्षेत्रों में अकाल पड़ रहा है, राजस्थान में अनाज की कमी के कारण दंगे हो रहे हैं, कोरिया में लाखों मनुष्यों की लाशों का ईंधन बनाकर स्वार्थगत सत्ता की रोटी सेंकी जा रही है। जग की चिन्ताएँ मेरी चिन्ताओं से अपनापन स्थापित कर मेरे मन पर छायी जा रही हैं। भूख, बेकारी और रोग के घने काले बादलों से ढँके हुए जीवन के आकाश में अपनी प्रेरणा के सूर्य को, आँखें गड़ा-गड़ाकर देख रहा हूँ। कहीं से प्रकाश की एक किरण भी नहीं झलकती। मन शंका और भय के शीत से काँप रहा है। लगता है उषा का अर्थ ही बदल गया। सूर्य अब से उषःकाल में ही अस्त हुआ करेगा, और चौबीसों घंटे, तीसों दिन अस्त ही रहा करेगा।

.. लेकिन काम काम है। वह किसी सूर्य के उदय और अस्त होने की परवाह नहीं करता; पूरा होना ही उसका लक्ष्य है, सार्थक होना ही उसका उद्देश्य है। निराशा को सिद्धान्त बनाकर उसकी पैमाली पर अपने अभाव का भार रखे हुए मैं इन दुश्चिन्ताओं

की भीड़ में कहाँ आगे बढ़ पाऊँगा ! नदी में डूबकर भी भला किसी ने जीवन देखा है ! धारा में बहती हुई लाश ही क्या प्रगति का प्रतीक है ! चिन्ता से स्तब्ध हो जाना ही क्या जीवन का उद्देश्य है !

मेरा मन जड़ होकर भी अभी चेतना से दूर नहीं गया। पिछली ज्ञान-कमाई के संस्कार नये जीवन के लिए आज भी बल देते हैं। अखबार के पन्नों पर फैली हुई निराशा और मेरे मन के अवसाद को पीछे ढकेलकर महाकवि का स्वर मेरी क्रियाशीलता को हौसला दिलाता है—

"कर्मयज्ञ से जीवन के सपनों का स्वर्ग मिलेगा,
इसी विपिन में मानस की आशा का कुसुम खिलेगा।"

प्रसाद के इस दृढ़ विश्वास की पृष्ठभूमि में उनके जीवन की गम्भीर साधना बोल रही है। परीक्षा की कठिनतम घड़ियों में भी उनकी आशावादिता अडिग रही, उनका कर्मयज्ञ अटूट क्रम से चलता ही रहा। पिता और बड़े भाई के स्वर्गवास के बाद उन्हें दुनियादारी के क्षेत्र में कठिन-से-कठिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। पुराने घराने के नाम और साख का प्रश्न, कर्ज का बड़ा बोझ, कुटुम्बियों के कुचक्रों की दुश्चिन्ता—इन कठिन समस्याओं के जाल में जकड़े हुए सत्रह वर्ष के नवयुवक प्रसाद को जो शक्ति उबारती रही, वह थी उनकी अनवरत साहित्य-साधना—उनकी निष्ठा। इन विषम परिस्थितियों के रहते हुए भी प्रसाद पागल न हुए, कुचक्रियों से बैर साधने के लिए स्वयं कुचक्री भी न बने, दुनियादारी के दलदल में पूरी तौर पर फँसकर भी हिम्मत न हारे, और अपनी 'स्पिरिट' को तरोताजा बनाये रखने के लिए उन्होंने पठन-पाठन और साहित्य-रचना की वृत्ति को अपनाया। इस बात को समझने के लिए हमें उनके वातावरण और उसके संस्कारों को समझना होगा।

धनी और कीर्तिशाली घराने में उन्होंने जन्म पाया। दानियों के घर में जन्म लेनेवाला युवक किसी के आगे हाथ नहीं पसार सकता। इसीलिए विषम परिस्थितियों ने घेरकर उन्हें स्वावलम्बी बनाया। इसके लिए सौभाग्यवश उन्हें बचपन में अच्छे संस्कार प्राप्त हो चुके थे। अच्छे शिक्षक द्वारा वेदों और उपनिषदों का अध्ययन काशी के धर्मनिष्ठ घराने के छोटे उत्तराधिकारी के एकान्त क्षणों को विचारों की स्फूर्ति से भरता रहा। बुरे समय में आस्तिक मनुष्य स्वाभाविक रूप से उदारचेता हो जाता है। उसकी करुणा भक्ति का रूप धारण कर विश्वास के प्रति समर्पित होती रहती है। सत्रह वर्ष की अवस्था में जब प्रसाद जी घर के बड़े बनकर दुनियादारी की कठिन कसौटी पर चढ़े, तब उनके विद्याभ्यास का क्रम चल ही रहा था। पढ़ा हुआ पाठ तत्काल ही मन भरने के काम आ गया। उनका चिन्तन ठोस बना। 'कामायनी' के महाकवि का परमोत्कर्ष जीवन की पहिली कठिनाइयों की शिला पर विधना के लेख की तरह अंकित हो गया था। उनका दार्शनिक

रूप, उनका कवि हृदय और कठिन साहित्य-साधना का प्रारम्भिक अभ्यास इन्हीं बुरे दिनों में विकसित हुआ।

प्रसाद जी की कविता चोरी-छिपे शुरू हुई। उन दिनों बड़े घर के लड़कों का कविता आदि लिखना बड़ा खराब माना जाता था। लोगों का ख्याल था कि इससे लोग बरबाद हो जाते हैं। और यह काफी हद तक सच भी था। रीतिकाल के अवसान के समय ब्रजभाषा के अधिकांश कवियों के पास काव्य के नाम पर कामिनियों के कुचों और कटाक्षों के अलावा और बच ही क्या रहा था? ऐसे कवियों में जो गरीब होते वे मौके-बेमौके से अपनी नायिकाओं को हथियाने की कोशिश किया करते, और जिनके पास भगवान् की दया से चार पैसे होते थे उनका तो फिर पूछना ही क्या! रुपयों के रथ पर चढ़कर नायिकाएँ क्या, उनके माँ-बाप, हाली मवाली तक सब कवि जी के दरबार में जुट जाते थे। इसीलिए बड़े भाई शम्भूरत्न जी ने इन्हें कविता करने से बरजा। परन्तु प्रसाद जी की काव्य-प्रेरणा में कोरा जवानी का रोमांस ही नहीं था, अध्ययन के कारण ज्ञान से उमंगी हुई भावुकता भी थी। इन्हीं विशेषताओं ने प्रसाद को आगे चलकर रहस्यवादी कवि बनाया। परन्तु रहस्यवादी के नाते वे उलझे हुए नहीं थे। प्रसाद का एक सीधा-सादा मार्ग था जिस पर चलकर उन्होंने अपनी महाभावना का स्पर्श पाया।

प्रसाद चोरी से कविताएँ किया करते थे। इससे यह सिद्ध होता है कि उन्हें अपनी लगन की बातों को चुराकर अपने तक ही रखने की आदत थी। यह आदत सुसंस्कारों का प्रभाव पाकर मनुष्य को अपनी लगन में एकान्तनिष्ठा प्रदान करती है। प्रसाद की साहित्य-साधना में हर जगह निष्ठा की पक्की छाप है। कवि, नाटककार, कहानी-उपन्यास-लेखक और गम्भीर निबन्ध-लेखक—किसी भी रूप में प्रसाद को देखिये—उनकी चिन्तन-शक्ति साहित्य के सब अंगों को समान रूप से मिली है। रचना छोटी हो या बड़ी—निष्ठावान् साहित्यिक के लिए सबका महत्त्व एक-सा है।

बीसवीं शताब्दी के पहले दस-बारह वर्ष भारत में राजनीतिक, सांस्कृतिक और सामाजिक चेतना की दृष्टि से बड़े महत्त्वपूर्ण थे। वह सारा महत्त्व युवक प्रसाद के भावुक हृदय और उर्वर मस्तिष्क ने ग्रहण कर लिया था। विशेष प्रकार के संस्कारों में पलनेवाले युवक ऐसी अवस्था में आमतौर पर अतीत के गौरव से भर उठते हैं। वैसे तो हर जगह के निवासी अपने देश और उसके इतिहास को प्यार करते हैं; पर इस देश में एक अजीब जादू है। हमारे इतिहास की परम्परा महान् है। जीवन की अनेक दिशाओं में हम अपने ढंग से पूर्णता को प्राप्त कर चुके हैं। यह चेतना बीसवीं शताब्दी के शैशवकाल में, स्वातन्त्र्य गंगा की नयी लहर से प्रसाद ऐसे मनीषी महाकवि का हृदय अभिषिक्त न करती तो और किसका करती!

प्रसाद जी ने मुझे भी एक ऐतिहासिक कथानक उपन्यास लिखने के लिए दिया

था। उस दिन दो-ढाई घंटे तक बातें होती रहीं। भाई ज्ञानचन्द जैन भी मेरे साथ थे। उपन्यास, नाटक और कहानियों में घटनाओं, चरित्रों या चित्रों के घात-प्रतिघात की प्रणाली मनोवैज्ञानिक आधार पाकर किस प्रकार सजीव हो उठती है, यह उस दिन प्रसाद जी की बातों से जाना। वे बातों को बड़ी सहूलियत के साथ समझाते थे। उन्होंने 'कलियुग राजवृतान्त' नामक ग्रन्थ के कुछ श्लोक किसी पुस्तक से खोजकर निकाले और लिखवा दिये। उन दिनों वे 'इरावती' लिख रहे थे। रूलदार, मोटे, फुलस्केप कागज को बीच से कटवाकर उन्होंने लम्बी स्लिपें बनवायी थीं। उन्हीं पर वे लिखा करते थे। उन्हीं स्लिपों में से एक पर वे श्लोक मैंने लिख लिये। चन्द्रगुप्त प्रथम का कुमार देवी और नेपालाधीश की सुता के साथ विवाह होने का राजनीतिक इतिहास उन श्लोकों में अंकित था।

मैंने उत्साह में भरकर उन्हें वचन दिया कि जाते ही लिखने बैठ जाऊँगा।

सन '३६ में जब वे प्रदर्शनी देखने के लिए लखनऊ आये तब मैं उनसे मिलने गया। मेरे वचन देने के लगभग साल भर बाद उनसे यह पहली भेंट हुई थी। उस साल उनका स्वास्थ्य बहुत अच्छा था—भरा हुआ मुँह, कान्ति-युक्त गौरवर्ण, चश्मे और माथे की रेखाओं की गम्भीरता उनकी सरल हँसी के साथ घुल-मिलकर दिव्य रूप धारण करती थी। मैंने प्रणाम किया, उन्होंने हँसते हुए उत्तर में कहा—"कहिये, मौज ले रहे हैं!"

यह मेरी जोशीली प्रतिज्ञा का ठंडा पुरस्कार था। बरसों बाद प्रतिष्ठित फिल्म-निर्माता के लिए उस प्लाट के आधार पर मैंने सिनेरियो तैयार किया था। जहाँ तक मेरी धारणा है, कहानी अच्छी बनी थी। सन् '४५ में लड़ाई खत्म होते ही 'कास्ट्यूम' चित्रों का निर्माण-कार्य एकदम से ठप्प पड़ गया। वह कहानी उनके तात्कालिक उपयोग की वस्तु न रही। इसके साथ ही साथ वह मेरे भी किसी काम की न रही। वह बिक चुकी थी। अपना वचन न निभा पाने की लज्जा से आज भी मेरा मस्तक नत है। शायद यह लज्जा किसी दिन मुझे कर्तव्य-ज्ञान करा ही देती। आज तो कार ए-जहाँ की हजार उलझनें मुझे घेरे हुए खड़ी हैं।

प्रसाद जी जैसे उदार महापुरुषों की याद आज के ज़माने में और भी अधिक आती है जब कि दूसरी लड़ाई के अन्त में नाटकीय रूप से अवतरित होकर एटम बम ने मानव-हृदय की उदारता का ही संहार कर डाला है। इसी एटम बम की संस्कृति में पले हुए मुनाफाखोरी और एकसत्ताधिकार के संस्कार आज जन-मन पर शासन कर रहे हैं। पुस्तकालय सूने पड़े हैं, सिनेमा हॉल मनोरंजन के राष्ट्रीय तीर्थ बन गये हैं। गली-मुहल्लों में प्रेम का सस्ता संस्करण बिक रहा है। एक युग पहले तक जहाँ मैथिलीशरण की 'भारतभारती' और प्रसाद के 'आँसू' की पंक्तियाँ गाते-गुनगुनाते हुए लोग शिक्षित मध्यमवर्ग के नवयुवकों में अक्सर मिल जाते थे, वहाँ अब प्रसाद का साहित्य पढ़ने वाले

मुश्किल से मिलेंगे—उनकी बात जाने दीजिये जिन्हें परीक्षाओं से मजबूर होकर प्रसाद को पढ़ना ही पड़ता है। एटम बम की संस्कृति का हमारे ऊपर यह प्रभाव पड़ा है।

लेख पूरा करके अंतिम कागज समेटते हुए फिर अखबार की मोटी-मोटी सुर्खियों पर नजर गयी। नजर पड़ते ही वह पुराना लगा। अखबार सिर्फ़ दो घंटे जिन्दा रहने के बाद फिर भूत बन जाता है और आलम के सिर पर नाचा-नाचा घूमता है। इसी भूत से ग्रस्त समाज की आत्मा को बल देने के लिए प्रसाद आज भी जीवित हैं और सदा रहेंगे। समय बदल जायगा। समय बदलता ही रहता है।

५

शालीनता की प्रतिमूर्ति : प्रसाद

[जैनेन्द्र कुमार]

प्रश्न—प्रसाद जी से मिलने की बात आपकी उत्कण्ठा में से निकली थी अथवा यूँ ही संयोग मिलने का हो गया था। मिलने पर कैसे लगे आपको प्रसाद जी?

उत्तर—उत्कण्ठा में से ऐसे संयोग का आना कम सम्भव होता है। मुझ में इतना साहस ही न था, न कर्मण्यता। सच यह कि साहित्य में मैं विचार से नहीं आया, न पात्रता से। एकाध कहानी मेरी लिखी छप चुकी होगी, तब की बात है। आचार्य चतुरसेन जी पूछ बैठे, "और प्रसाद की कहानी तुम्हें कैसे लगती है?" मैंने निर्दोष भाव से पूछा, "कौन प्रसाद?" शास्त्री जी चकित रह गए। बोले, "एँ, प्रसाद को नहीं जानते?" मैंने उसी मासूम भाव से कहा, "नहीं तो!" बोले, "तब तुम कुछ नहीं जानते? प्रसाद को जरूर जानना चाहिए।" लौटकर वहाँ से सीधे मैं लायब्रेरी गया। प्रसाद की 'कामना' उस समय वहाँ मिली। दूसरी पुस्तकें गई हुई थीं। 'कामना' मैं घर ले आया और तभी पढ़ गया। पढ़ना था कि प्रसाद के जादू में डूब रहना था। इसके कुछ ही महीने अनन्तर की बात है। इलाहाबाद-कुम्भ का मेला था। वहाँ गया और वहाँ से बनारस। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी की एक चिट्ठी दिल्ली में मुझे मिल गई थी। उसका सहारा था। सीधे उनसे मिलने काशी विश्वविद्यालय पहुँच गया। इधर-उधर की बात-चीत मे उन्होंने कहा, "चलो, प्रसाद जी के यहाँ चलें?" ऐसे उनसे भेंट का संयोग आ पहुँचा। अन्यथा मुझ में अपनी शक्ति कुछ न थी।

मिलने पर कैसे लगे? निश्चय अच्छे। पर कुछ दूर से लगे। दूरी शायद जरूरी भी थी। क्योंकि मैं अज्ञान बालक था। वह हिन्दी के कवि-गुरू? एक और भी बात हो गई। राह में वाजपेयी जी से एक चर्चा चलती आ रही थी, नीति और नैतिकता के बारे में। ऐसा लग रहा था कि हम एकमत नहीं हैं। मैं नन्ददुलारे जी को अनीति का भी समर्थन करता मालूम होता था। वह अनीति को कैसे सह सकते थे? नीति का सीधा खण्डन या अनीति का सीधा समर्थन होता तो भी बात थी। पर शायद मैं ऐसा लगता था कि नीति-अनीति को धपले में डालकर प्रश्न से और उसके दायित्व से बचता हूँ। वहाँ उन्हें मेरे तर्क में कचाई लगती थी, और वह उस पर प्रसन्न नहीं थे। मैं सचमुच निश्चित नहीं था और अब भी नहीं हूँ। उसी विवाद को उन्होंने प्रसाद जी के समक्ष निर्णय के लिए रखा। पहले ही अवसर पर फैसला देने का काम अपने ऊपर पाकर उन्हें यूँ भी शायद दूर ही रहना उचित था। वह पान की गिलौरियाँ बढ़ा-बढ़ाकर हमें

देते गए, स्वयं भी लेते रहे और सस्मित, ध्यान से हम विद्यार्थियों की बात सुनते गए। मैंने कहा, "सस्मित !" और यह व्यर्थ विशेषण नहीं है। आलंकारिक नहीं है, यथार्थ है। उनकी यही स्थिति थी। यानी हमारी चर्चा पर वह वैसी ही सस्नेह कृपा से देख रहे थे जैसे अभिभावक उलझते बालकों को देखे। आप समझते हैं उन्होंने फैसला दिया! फैसले में उन्होंने मुस्कराहट दी। उस मुस्कराहट को वाजपेयी जी अपने पक्ष में समझे लेकिन मैं भी अपने विपक्ष में नहीं समझ सका। यह प्रसाद जी थे। मुझे सचमुच अच्छे लगे, लेकिन वैसा कहा निकट नहीं लगे। खुले नहीं लगे, जैसे कि प्रेमचन्द पहली ही मुलाकात में लग गए?

प्रश्न—यह बेगानापन जो उनके दूर का प्रतीत होने से झलकता है, क्या इसमें यह सत्य निहित नहीं है कि प्रसाद जी ने अपने युग की समस्याओं का समाधान अतीत में से खोजने का प्रयास किया था?

उत्तर—यह सब मैं नहीं जानता। हर आदमी खुद होता है? यानी दूसरे से भिन्न होता है। जैसे प्रसाद के लिए आवश्यक था कि वह प्रेमचन्द न हों। इस अलगपन को हम कम-बढ़ की भाषा में तौलकर न देखें। व्यक्ति जैसा हो उसके होने में, कुछ तो कारण होते ही हैं। कुछ पैतृक, कुछ पारिपार्श्विक, कुछ स्वाभाविक और प्रकृतिजन्य। वह एक स्वतन्त्र अध्ययन का क्षेत्र है। मुझे उसमें जाना नहीं है। न वैसी वृत्ति है और न वह क्षमता।

प्रश्न—जाना तो चाहिए क्योंकि स्वयं उनके समकालीन लेखक प्रेमचन्द भी गए थे और उन्होंने एक पत्र लिखकर प्रसाद को जहाँ साधुवाद दिया था वहाँ उनके गड़े-मुर्दों का उत्खनन करने की भावना को ललकारा भी था और स्वयं प्रसाद जी ने उस पत्र को अपना नेता मानकर अपने साहित्य को प्रेमचन्द के आदर्शों की अनुकूलता देने का प्रयास भी किया था?

उत्तर—मैं समझा नहीं, दिशा गन्तव्य है! इसलिए सभी उस एक दिशा में चलें तो भीड़ इतनी होगी कि गति न हो पाएगी। आखिर निरीक्षकों के लिए कुछ छोड़िये दीजिएगा न! हाँ, वह पत्र क्या था जिसका जिक्र आपने किया? मुझे उसका पता नहीं है?

प्रश्न—उस पत्र का आशय यही था कि प्रेमचन्द जी ने प्रसाद जी से यह चाहा था कि वह अपने युग की समस्याओं को लेकर जनता का नेतृत्व करने की कोशिश करें।

उत्तर—तो प्रेम जी के इस चाहने के बारे में मुझसे आप क्या चाहते हैं!

प्रश्न—यही कि प्रसाद जी ने अपने युग की समस्याओं पर आपकी समझ में कितना कुछ कहा? या आप यह बताने की कृपा करें कि प्रसाद साहित्यकार के इस दायित्व को कितनी सीमा तक अंगीकार करते थे?

उत्तर—समस्या सब तात्कालिक होती हैं। जिस क्षण में है, आदमी की अनुभूति उस क्षण से पृथक् नहीं है। युग क्षण में नहीं कटता। दस वर्ष की दशाब्दी, पचास को अर्ध शताब्दी, सौ को शताब्दी कहते हैं। युग दस वर्ष में बदलता है, पचास में या कम अधिक में, ठीक मैं जानता नहीं इसलिए युग की बात भी नहीं जानता। अनुभूति की अभिव्यक्ति का पात्र या माध्यम हम कहीं से खोज या चुन लें। आसपास के वर्तमान में से उठा लें ! अतीत में से ढूढ लें, या भावी में निर्मित कर लें। इस सबसे कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। अनुभूति का दान उसका निस्व-विसर्जन, उसका सफल अभिप्रेषण ही मुख्य बात है। वर्तमान में से जीते-जागते समझे जाने वाले चरित्र को उठाकर हम अपनी निर्वीर्यता से मुर्दा लग सकते हैं। या अपने सर्वस्व के पूर्णार्पण से सहस्राब्दी पहले के माने-जाने वाले पात्र को प्रखर प्रोज्ज्वल कर दे सकते हैं। या केवल कल्पना की सृष्टि से नये चरित्र दे सकते हैं, जो काल की अपेक्षा इस या उस किसी युग के न हों और केवल कल्पना-लोक के हों। मैं नहीं मानता कि प्रसाद ने यदि ऐतिहासिक पात्र लिये तो वह प्रगति से विमुख ही कार्य किया। चन्द्रगुप्त और समुद्रगुप्त हों अतीत के और वह भी बीत चुके हों लेकिन पढ़ते हुए वे मुझे अपने भी मालूम हो सके। वर्तमान स्वयं अपने में बन्द नहीं है। असल में अपने में कुछ है ही नहीं। अनादि अतीत और अनन्त भविष्य की रेखाओं का वह सम्मिलित बिन्दु है जिसकी अपनी कोई इयत्ता नहीं है। इससे वर्तमान पर भी रहने का आग्रह मुझे समझ नहीं आता। जो है वर्तमान ही है। जो सजीव लगता है निश्चय उसमें वर्तमानता के तत्त्व हैं। वर्तमानता वहाँ अविद्यमान है जहाँ यों सब आधुनिक हो और भीतर प्राण का असद्-भाव हो। जीवन का प्रत्येक क्षण वर्तमान है। इसीलिए जीवन को जगाने वाली वह स्मृति हमें वर्तमान है जिसका स्रोत वर्षों पीछे हम से दूर चला गया; लेकिन पड़ोस में हुई इसी क्षण की मौत हमारे लिए अवर्तमान हो जाती है। प्रसाद की 'कामना' को ही लीजिए, उसके पात्र तो ऐतिहासिक भी नहीं हैं। वे तो विदेह हैं—भावना—शरीरी प्रतीकात्मक, इतने ही से अयथार्थ कहकर अपने से उन्हें दूर करते न बनता। वे भीतर उतरकर हम-आप को भिगो देते हैं। मानना होगा कि प्रसाद कथा के कथन में भी कवि हैं। इसी से अपनी अभिव्यंजना के उपादान और उपकरण कुछ ऐसे जुटाते हैं, जो कल्पना से मनोरम हों और जिनको विद्यमान के सन्दर्भ से मुक्त होकर अतिमानुषिक यहाँ तक कि अमानुषिक होने की सुविधा हो। कवि का काम हम-तुम जैसे निरे साधारण जनों में न चले, तो क्या हम यही न मान लें कि वह काम असल में है ही असाधारण। इसी से वह असाधारण के नियोजक की आवश्यकता में रहता है !

प्रश्न—क्या इसी असाधारण को कल्पना की पकड़ में लाने के लिए लेखक अतीत की खोज नहीं करता और इस प्रयास में जीवित वर्तमान के ऊपर अतीत के वर्तमान

को लादकर समाज की वैज्ञानिक प्रगति के मार्ग का अवरोध नहीं बन जाता ? प्रसाद जी को आप पुनरुत्थानवादी क्या नहीं मानते ?

उत्तर—वाद और वादी शब्द से मैं घबराता हूँ। क्योंकि इसमें विवाद की ललकार है। आपने कहा पुनरुत्थान ? उसके पहले मैं एक पुनः और लगाने को तैयार हूँ ? यानी मैं पुनः-पुनः उत्थान चाहता हूँ। अतीत के वर्तमान को सद्यः वर्तमान पर लादने की इच्छा को अनिष्ट आप कह सकते हैं, पर वह जो आज के इस समय के वर्तमान से तुष्ट है, उससे कुछ भी भिन्न और कुछ नहीं चाहता। उसे क्या आप जीवित तक भी मान सकेंगे ? स्टेटस-को के समर्थक को कौन महत्त्व दे सकता है ? वह तो आज में होकर आज ही चुप रहने वाला प्राणी है। उसमें सम्भावनाएँ नहीं हैं। यानी तात्कालिक वर्तमान को हम किसी दिशा में परिणत हुआ देखना चाहते हैं और उस अध्यवसाय में लगे हैं। इसी से हम अपने को जीवित मान सकते हैं। वह दिशा दोनों ओर जा सकती है। ऐतिहासिक की ओर और काल्पनिक की ओर। सूक्ष्मवृत्ति काल्पनिक की ओर जाती है। स्थूल चित्रीकरण के लिए इतिहासगत अतीत सहज सुविधा प्रदान करता है। अतीत के इस उपयोग में मैं कुछ अन्यथा नहीं देखता।

प्रसाद पुनरुत्थान के चित्र में सोचने कहे जायँ तो मैं असहमत न हूँगा। उसके वादी को मैं नहीं जानता। प्रसाद भी मेरे जान मे उसके वादी नहीं थे।

रही बाधा की बात, सो समसामयिक किसी व्यस्त राजकर्मी से पूछिए। उसे वर्तमान के उद्धार के सिवा दूसरी चिन्ता नहीं है। खुलकर मन की कहें तो आपको मालूम हो जायगा कि हर कवि कल्पना-विलासी है और हर कल्पक, हर स्रष्टा नित्य नैमित्तिक कर्म-प्रगति के लिए अविचारणीय है, क्योंकि उसमें साधक से अधिक उपाधक है।

प्रश्न—बताइए तो समूचे प्रसाद का कौनसा पहलू आपको अधिक प्रिय लगा ?

उत्तर—शायद अविश्वास का पहलू। मेरे मान में वह पहले बड़े नास्तिक लेखक हैं। प्रेमचन्द मूल में नास्तिक नहीं थे, उनकी नास्तिकता ईश्वर के आसपास चुक जाती थी। वैसे वह विश्वासी थे, और बेहद मजबूती के साथ। आख़िर की ओर वह कुछ ढिले लगते हैं। पर तब तक वह तिरोहित ही लगते हैं। लेकिन प्रसाद ने मस्तक नहीं झुकाया। हर मत-मान्यता को सामाजिक हो कि नैतिक, धार्मिक हो कि राजनीति, उन्होंने प्रश्नवाचक के साथ लिया। किसी को अन्तिम नहीं माना। 'कंकाल' इसी से कितना भयंकर हो उठा है, मानो काया की कमनीयता पर रीझने को तैयार नहीं हैं। शल्य क्रिया से भीतर के कदर्य और कुत्सित बाहर लाकर बिखेर देने में उन्हें झिझक नहीं है, उनका यह रूप जो सांसारिक प्रच्छन्न में उनका अपना और अत्यन्त निजी था और जो उनकी रचनाओं में नाना रंगीन छद्मों से रंजित होकर प्रकट हुआ है, मुझे

अधिक प्रिय हुआ, और है। देखने में वह अत्यन्त भव्य और मुघर नागरिक थे। सुरुचि-सूचक परिधान, सम्भ्रान्त व्यवहार, व्यवस्थित मुद्रा यह सब उनके सांसारिक रूप के अनिवार्य तत्त्व थे। कुढंग उनमें शायद कभी नहीं देखा जा सका। यह सब जैसे उनका धर्म था। मानो उनका जीवन बड़ा ड्राइंग-रूम था। इसी से जितना लिखा उन्होंने अगोचर में लिखा। सुनते हैं, वह रात में (ही) लिखते थे। जैसे दिन में जग के थे, रात की अकेली घड़ियों में अपने होने पर आते थे।

मुझे वह शिष्ट, सभ्य, कुलीन रूप उतना नहीं भाया। शायद इसी कारण कि वह इतना निर्दोष और सुन्दर था। उस पर शालीनता की छाप थी। इस वस्तु को मैं आत्मा से अधिक पैसे के साथ जोड़ता हूँ। मैं प्रसाद से मिला अनेकों बार, लेकिन एक साथ कभी अधिक बात के लिए नहीं! इससे सामाजिक रूप से उस प्राचीर को चीरकर वास्तव अन्तःप्रवेश पा सका, ऐसा मुझे आश्वासन नहीं है। इसी से मैंने कहा कि मुझे दूर लगे। दूर लगे और दूर लगते रहे। मैंने अनुभव तो किया कि आमन्त्रण है और भीतर भी प्रवेश मेरे लिए निषिद्ध न होगा, पर मैं उसका लाभ न उठा पाया। शायद एक कारण यह कि प्रेमचन्द से मैं अभी अभिन्नप्राय था।

प्रश्न—आपने उन्हें पहले बड़ा नास्तिक लेखक कहा। क्या इसका मतलब यह कि दमन के बजाय उपभोग और संयम की जगह आनन्द को उन्होंने खुला प्रश्रय और समर्थन दिया? क्या यह आप मानने देंगे कि शब्द से ही नहीं जीवन से भी उन्होंने यह प्रमाणित और पुष्ट किया?

उत्तर—हाँ, और उनकी अन्तिम रचना 'इरावती' के गिनती के पन्ने पढ़कर, यह बात स्पष्ट हो जाती है। नकार और निषेध को लेकर उठने वाले दर्शनों का उन्होंने प्राणपण से निराकरण किया। और उस दर्शन को प्रतिष्ठित करना चाहा, जो जीवन के प्रति निरपवाद स्वीकृति का निमन्त्रण देता है। हिन्दुत्व की उनकी ऐसी ही धारणा थी। बौद्ध और जैन परम्पराओं में उन्होंने वर्जन पर बल देखा और वह उन्हें किसी रूप में मान्य न था। मुझे लगता है जैसे उनके साहित्य का यह मूल भार—मूल कोण है। उनके नाटकों में यह अन्तर्भूत है।

इन्द्रिय-निग्रह, तप त्याग, तितिक्षा आदि मूल्यों और मानों से असहमति और उनकी अ-गणना देखने को उनकी रचनाओं में बहुत गहरे जाने की आवश्यकता नहीं है। इन मूल्यों के प्रतीक मात्र स्पष्ट ही लेखक की गहरी सराहना और सहानुभूति नहीं पा सके। लेखक की ओर से वे कहीं व्यंग्य के भी पात्र हुए हैं। उनके जीवन में भी निग्रह की प्रधानता न थी। वह वदान्य था, रसमय था, रसाकांक्षी था। उसमें समीकरण की चेष्टा भी। स्खलन की भाषा में उस वृत्ति को समझना गलत समझना है। किन्तु निश्चय ही दीखने वाले राग और रंग से भय का भी उन्होंने सहारा नहीं लिया जो कि अक्सर

वैराग्य के मूल में हो सकता है।

उनकी अतिशय सप्रश्नता, प्रखर बौद्धिकता, जैसा कि अनिवार्य है, उन्हें उस जगह तक ले गई, जहाँ खुद बुद्धि पर टिक रहना व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं रहता। अपनी परिपक्व परिणति में बुद्धि यह दिखाए बिना नहीं रह सकती कि वह अपर्याप्त है और श्रद्धा से भी पूरी हो सकती है। 'कामायनी' का कागज पर आरम्भ न हुआ था, मस्तिष्क में वह बन रही थी, उस समय की बात है। मैं बनारस जाता और हम लोग बेनिया पार्क घूमा करते थे। प्रेमचन्द तो होते ही। कभी और भी दो-एक साथ हो जाते थे। उस समय कई बार और पार्क के कई चक्करों में उन्होंने 'कामायनी' की घुमड़ती हुई कथा सुनाई है। किताब में शब्द ठण्डे हैं। नाना भंगिमाओं और इंगितों से उस समय का वह वर्णन खूब ही प्रगल्भ हो आया था। उस ग्रन्थ में 'श्रद्धा' को पूरा और योग्य स्थान मिला है। इसका आशय यह न समझा जाए कि पहली मेरी स्थापना सदोष है। बल्कि यही कि 'श्रद्धा' की स्वीकृति उन्हें बुद्धि द्वारा हो सकी है। जैसे बुद्धि माध्यम है, श्रद्धा बिना उसके अगम है। यह मैं अपनी ओर से जोड़कर नहीं कहता। उन चक्करों की चर्चाओं की संगति में ही कहता हूँ।

प्रश्न—क्या 'कामायनी' के मनु के रूप में कवि प्रसाद के व्यक्तित्व का ही प्रतिफलन आप मानते हैं?

उत्तर—साहित्य-सृष्टि में साहित्यकार अपनी परिपूर्ति ही खोजता है। इस दृष्टि से आपका कहना सही हो सकता है। बौद्धिक जीवन कभी सम्पूर्ण और सहज नहीं हो पाता, वह द्वन्द्व से युक्त रहता है। द्वन्द्व की तीव्रता ही निर्द्वन्द्वावस्था की कामना उत्पन्न करती है। ऐसे, सन्देह स्वयं समाहित होने को श्रद्धा की ओर बढ़ता है। यह अनिवार्य गति है। और चेष्टित न भी हो बौद्धिकता की परिणति उसी ओर है, यद्यपि वह भरसक उससे यानी अपने मवितव्य से द्वन्द्व ही छेड़े रहती है। मनु में बिलकुल हो सकता है उन्होंने अपने उसको उतार देखना चाहा हो, जो वह सत्य में तो थे पर वास्तव में न हो पाये।

प्रश्न—किसी अपनी संस्मरणीय स्मृति का उल्लेख भी तो कीजिए।

उत्तर—क्या सुनाऊँ? शायद सन् '३३ की बात है। भाई सच्चिदानन्द वात्स्यायन (अज्ञेय) ने कुछ कविताएँ अपनी छपानी चाहीं। जेल से उन्होंने लिखा कि क्या आप यह सम्भव कर सकते हैं कि प्रसाद प्रस्तावना के दो शब्द लिख दें। बनारस जाना हुआ तो हम—मैं और प्रेमचन्द—विधिवत् प्रसाद के यहाँ पहुँचे। विधिवत् से आशय कि मिले सवेरे नारियर पर भी थे, पर प्रयोजन की बात के लिए अलग से जाना उचित था। मैंने 'भग्नदूत' की लिपि सामने की, कहा कि मुद्दई जेल में है, मुद्दई अपना मामला सामने नहीं रख सकते, इससे मेरी बात को दुगुना वजन समझें। पहले पूछा, "कौन हैं?"

मैंने कह दिया कि मैं आया हूँ, कह रहा हूँ, इसी से जान लीजिए। थोड़ी देर चुप रहे। बोले, "तुम कुछ चाहोगे, यह मैंने नहीं सोचा था, पर तुमने भी न सोचा होगा कि तुम कहोगे और प्रसाद न कर पाएगा, पर विनोदशंकर व्यास को तो जानते हो, कितना निकट है ? कभी मैं उसके लिए भी कुछ लिखकर नहीं दे सका हूँ। अब तुम्हीं बताओ ?" मैंने कहा, "मुझसे न पूछिए, क्योंकि मेरा बताना एकदम आसान है। लीजिए बताता हूँ कि लिखना मान लीजिए और कुछ नहीं तो कारण यही कि अज्ञेय आपके लिए अज्ञात है और जेल में है।"

प्रसाद ने मुझे देखा। आधे मिनट मुँह नहीं खोला, पर आँखें उनकी विवशता प्रकट कर रही थीं। आखिर बोले, "जैनेन्द्र !...."

आगे न कह पाए और चुप रह गए। मैंने भेंप की हँसी हँसकर पाण्डुलिपि अपनी ओर खींची और कहा कि कहिए, कोरा तो आपके यहाँ से कभी कोई गया नहीं, कब कुछ आ रहा है ?

जलपान के आगे की आशा हो चुकी थी। व्यस्ततापूर्वक उठे कि तश्तरियाँ आ उपस्थित हुईं। इधर-उधर की गपशप और हँसी-मज़ाक होती रही। आखिर हम उठे।

प्रसाद ने उठते हुए कहा, "कहोगे तो तुम जैनेन्द्र कि एक बात तो तुमने कही और प्रसाद ने वह भी न रखी।"

"क्यों साहब," मैंने कहा, "यह कहना भी अब मुझसे छीन लेंगे आप ? एक तो आपने बात रखी नहीं, फिर हम कह भी न पाएँ कि नहीं रखी। कहिए प्रेमचन्द जी, यह अन्याय सहा जाय और अपनी वाक्-स्वतन्त्रता को छिन जाने दिया जाय ?"

प्रेमचन्द ने ठहाका लगाया। उसमें प्रसाद भी शामिल हुए। देखा कि उनके हास्य में कहीं कुछ नहीं है। वह निर्मल है और नासमझी के लिए कहीं ठहरने को वहाँ जगह नहीं है।

हम चले आए। प्रेमचन्द ने गली में कहा कि तुमने बदला ले ही लिया मैंने कहा कि बदला पहुँचा कहाँ ? वह तो ज्यों-का-त्यों मुझ तक लौट आया। प्रसाद को उसने छुआ कहाँ ! प्रेमचन्द ने कहा, "बात ठीक है। खूब आदमी है प्रसाद !"

समझा गया कि प्रेमचन्द और प्रसाद में बनती नहीं है। पर प्रेमचन्द के शव-दाह से लौटे तो देखा गया कि हम वहाँ तीन ही हैं—(धन्नू-बन्नू की बात नहीं कहता ! वे थे भी छोटे और अलग) शिवरानीजी हर ढाढस के लिए प्रसाद को देखती हैं और मुझे भी वही सान्त्वना है। इस मृत्यु के बाद अपनी मृत्यु पास बुला लेने में उन्होंने एक वर्ष भी नहीं लगाया। कौन जानता है, इस जल्दी में प्रेमचन्द के अभाव का भी योग न था।

द्वितीय खण्ड

जीवन-दर्शन

१

प्रसाद का जीवन-दर्शन

[लक्ष्मीशंकर व्यास]

श्रद्धावाद तथा अखण्ड आनन्दवाद के प्रतिष्ठापक हिन्दी के अमर साहित्यकार प्रसाद हिन्दी साहित्य में ही नहीं, भारतीय साहित्य में ही नहीं अपितु विश्व-साहित्य में युग-युग तक अपना विशिष्ट स्थान रखेंगे, इसमें सन्देह नहीं। कविता, कहानी, नाटक आदि के क्षेत्र में प्रसाद ने जिस चरम उत्कर्ष का साहित्य प्रणयन किया उससे वस्तुतः हिन्दी साहित्य का भण्डार समलंकृत एवं सम्पत्तिशाली बना। प्रसाद जिस प्रकार अपने साहित्य में महान् स्रष्टा के रूप में दृष्टिगत होते हैं, ठीक उसी प्रकार उनका जीवन भी महान् था। प्रसाद के जीवन में ऐसी सैकड़ों घटनाएँ भरी पड़ी हैं, जो उनके मंगलमय हृदयलोक की झाँकी प्रस्तुत करती हैं। आइये, हम इस पुण्यपुरुष की पावन जीवनधारा की झलक का परिदर्शन करें।

काशी में 'महादेव' का अभिवादन-सम्मान काशिराज के अतिरिक्त सुँघनी साहु के लिए ही केवल होता था। हिन्दी-साहित्य के वरदपुत्र प्रसाद का जन्म संवत् १६४६ की माघ शुक्ला दशमी को इसी घराने में हुआ था। सुंघनी साहु अपनी दानशीलता के लिए दूर-दूर तक प्रसिद्ध थे। कहा जाता है कि जब वे गंगा स्नान कर लौटते, तो अपने पास के वस्त्र तथा पात्रादि भी दान में दे डालते थे। इनके यहाँ से कोई खाली हाथ लौटता नहीं सुना गया। गुणियों और याचकों का इनके यहाँ जमघट लगा रहता था। यह बात भी प्रसिद्ध है कि प्रसाद के पितामह के पितामह के यहाँ काशिराज के दरबार से होकर विद्वान् तथा गुणीजन एक बार अवश्य आते थे। वस्तुतः काशी में दानशीलता तथा गुणीजनों के आदर के दो ही स्थान थे—एक काशीराज का राज-दरबार और दूसरी सुंघनी साहु की कोठी। काशी की जनता महाराज बनारस का अभिवादन-स्वरूप 'महादेव! महादेव!!' द्वारा जिस प्रकार सम्मान करती थी ठीक उसी प्रकार प्रसाद के पितामह 'सुंघनी साहु' का भी अभिवादन होता था। ऐसे अभिजात्य वंश एवं कुल में उत्पन्न हुए थे हिन्दी साहित्य के अमृतपुत्र-प्रसाद!

बाल प्रसाद की शिक्षा-दीक्षा स्कूल में अल्पकाल तक ही हुई, अधिकांश अध्ययन

एवं पठन-पाठन घर पर ही हुआ। संस्कृत तथा अंग्रेजी के शिक्षक प्रसाद को घर पर ही पढ़ाने आते थे। वेद और उपनिषद् का प्रसाद ने विशेष अध्ययन किया। १५ वर्ष की अवस्था में अपनी सुर्ती की दुकान पर बैठे-बैठे प्रसाद वहीं के रद्दी कागज पर कविता लिख रहे थे। दुकानदारी तथा व्यवसाय में उनका मन कम लगता था। घरवालों को बालक प्रसाद का यह कार्य न रुचता पर प्रसाद को तो हिन्दी-साहित्य का निर्माण करना था और प्रवाहित करनी थी साहित्य की अमृतधारा। उस समय कौन जानता था कि रद्दी बही के फटे कागजों पर काव्य की रेखाएँ अंकित करने वाला युवक एक दिन साहित्य का महान् स्रष्टा बनेगा? काशी के नारियल बाजार में स्थित सुंघनी साहु की सुर्ती की दुकान एक दिन साहित्यिक तीर्थ के रूप में समादृत होगी यह किसे मालूम था!

उस समय प्रसाद के नाटक तथा कविता-कहानी दूर-दूर तक प्रख्यात हो चुके थे। हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी भाषा प्रेमी एक पाश्चात्य विद्वान् आये। काशी आकर उन्होंने प्रसाद के दर्शन की भी उत्कट अभिलाषा व्यक्त की। विश्वविद्यालय के छात्र के साथ वे प्रसाद जी की नारियल बाजार वाली सुर्ती की दुकान पर आये। दुकान पर आकर उस अंग्रेज साहित्य-प्रेमी ने प्रसाद जी के दर्शन की बात कही। उस समय सात नहीं बजे थे। बताया गया कि थोड़ी देर बाद ही प्रसाद जी आयेंगे। प्रसाद जी का नित्य का नियम था कि वे ७ बजे दुकान पर आते और प्रायः एक-डेढ़ घण्टे तक सामने वाली दुकान के चबूतरे पर बैठते।

अंग्रेज महोदय को कुर्सी पर बैठाया गया। काशी का सत्कार-पान उनके सम्मुख पेश किया गया। पर वे पान न खाते थे। प्रतीक्षा के क्षण बीते। सात बजे और उधर प्रसाद जी आये। अंग्रेज महोदय सामने वाले चबूतरे पर गये। प्रसाद पर वे इतने विमुग्ध थे कि उनका दर्शन कर वे गद्‌गद् हो उठे। बातचीत हुई। प्रसाद जी ने अपने हाथ से उन्हें पान दिया और सबके आश्चर्य की बात तो यह रही कि उन्होंने 'प्रसाद' के पान का प्रसाद ग्रहण कर लिया। थोड़ी देर पूर्व पान अस्वीकार करने वाला अंग्रेज प्रसाद जी के आग्रह को अस्वीकार न कर सका। प्रसाद जी जब शाम को दुकान पर आते, तो वहाँ साहित्यिकों का जमघट लगता। निराला, रूपनारायण पाण्डेय, शिवपूजन सहाय, विनोदशंकर व्यास के अतिरिक्त बाहर से साहित्यिक आते रहते थे। साहित्य सम्बन्धी विचारों का निर्णय होता और विभिन्न पक्षों पर विचार-विमर्श। नारियल बाजार में प्रसाद जी की दुकान पर साहित्य की त्रिवेणी-का संगम होता।

प्रसाद जी को संगीत से अत्यधिक प्रेम था और उनके निकट सम्बन्धियों का कथन है कि वे प्रायः ब्रह्म मुहूर्त में उठकर संस्कृत के श्लोकों की संगीतमयी स्वर-लहरी का सर्जन करते। साहित्य एवं संगीत का अन्योन्याश्रित तथा घनिष्ट सम्बन्ध उन्हें अच्छी तरह विदित था। इसलिए अपने पुत्र श्री रत्नशंकर को सितार, हारमोनियम तथा तबले की शिक्षा प्रदान

कराई। पूजा तथा नित्य संध्या के नियम के वे बड़े पक्के थे। स्वयं नियमपूर्वक नित्य पूजन किया करते। शिव के वे परम उपासक थे। परिवार में इसका अभाव देखकर वे कभी-कभी रुष्ट हो जाया करते। वे कहते कि जो अपनी नित्य की संध्या-पूजा नहीं कर सकता वह मेरा श्राद्ध और स्मृति कैसे रखेगा!

प्रसाद जी को व्यायाम का भी बहुत शौक था। वे काफ़ी दण्ड-बैठक लगाते थे और अच्छे अच्छे अभ्यासियों के भी छक्के छुड़ा देते थे। प्रसाद का स्वस्थ शरीर संयम, नियम एवं साधना का प्रतिरूप मालूम होता था। वे नित्य प्रातः काशी के बेनिया बाग में टहलने जाते। वहाँ उनकी भेंट प्रेमचन्द जी से भी होती थी और बाद में तो दोनों साहित्यकार नियमपूर्वक वहाँ शुद्ध वायु का सेवन करते।

प्रसाद जी ने संस्कृत तथा अंग्रेजी का विशेष अध्ययन घर पर ही किया था। पर उन्हें अंग्रेजी मुहावरों और प्रयोगों के सम्बन्ध में गहरा ज्ञान था। प्रसाद के इस गुण पर प्रकाश डालने वाली एक घटना सुनिए। प्रसाद की 'विराम-चिह्न' कहानी अंग्रेजी में अनुवादित की गई। अंग्रेजी साहित्य के अच्छे ज्ञाता ने उसमें संशोधन भी कर दिया। तब वह प्रसाद जी को दिखाई गई। प्रसाद जी ने अपनी कहानी के अंग्रेजी अनुवाद को देखकर एक-दो स्थान में प्रयोग तथा मुहावरों-सम्बन्धी ऐसे बारीक संशोधन बताये, जिन्हें देखकर अनुवादक महोदय को दंग रह जाना पड़ा। ऐसा था प्रसाद जी का अंग्रेजी-साहित्य का सूक्ष्म ज्ञान!

प्रसाद जी को क्षय हो गया था। उस समय कामायनी समाप्त हो गई थी। प्रसाद जी को इससे सन्तोष था। देहोत्थान की वह कालरात्रि थी। प्रसाद जी को श्वास का कष्ट था। उनके निकट सम्बन्धी ने, जो रात-दिन उनके पास ही रहते थे, इन पंक्तियों के लेखक को बताया कि लगभग ३ बजे प्रसाद जी को श्वास का कष्ट बहुत बढ़ गया था। चिकित्सक से उन्होंने ऐसी औषधि देने के लिए कहा जिससे उनकी व्यथा दूर हो। पर चिकित्सक हार मान बैठे थे। श्वास चल रहा था। प्रसाद जी बैठे हुए थे। उनके सम्मुख शंकर की प्रतिमा थी और नीचे की ओर थे खड़े उनके सम्बन्धी। रात्रि के प्रगाढ़ सन्नाटे में इस महान् साहित्यिक स्रष्टा का श्वास-कष्ट भी बढ़ता ही गया। श्वास-कष्ट के मारे वे एक बार शंकर की प्रतिमा की ओर देखते और दूसरी बार अपने सम्बन्धियों की ओर। यही क्रम काफ़ी देर तक चला। श्वास-कष्ट के होते हुए भी वे कुछ मंत्र-पाठ करते रहे। कुछ देर बाद हंस उड़ गया। वह साहित्य-देवता भौतिक संसार को छोड़ चल बसा। प्रसाद जी अपने अन्तिम समय में बैठे ही थे। बैठे ही बैठे उनके प्राण-पखेरू उड़ गये और उन्होंने पैर फैला दिये। लोगों ने सँभाला पर प्रसाद की आत्मा महाप्रयाण कर चुकी थी। अन्तिम समय में उनके सम्मुख थी शंकर की प्रतिमा। जीवन भर प्रसाद जी शिव के कट्टर भक्त रहे। शिवत्व की साहित्य में उन्होंने आयोजना की, काव्य

और कहानी में शिवत्व की भावनायें अभिव्यक्त कीं और अन्तिम क्षण में शिव का ध्यान रखते हुए ही महाप्रयाण किया। प्रसाद जो जयशंकर प्रसाद थे!

प्रसाद जी असत्य विज्ञापन और प्रचार से कोसों दूर रहते थे। साहित्यिक दलबन्दी से उन्हें घृणा थी। वे जीवन में समरसता के साधक थे। वेदना और जीवन की वास्तविकता उनकी आँखों से कभी ओझल न हुई। एक बार प्रसाद जी ने अपने निकट सम्बन्धी से कहा—मैं यह सब कुछ नहीं कर रहा हूँ, यह मेरा पूर्वजन्म का संस्कार सब कुछ कर रहा है। मुझे परिवार वाले न समझेंगे तो न सही, एक दिन आवेगा जब हिन्दी-संसार मेरा अपना परिवार होगा। वस्तुतः साहित्य-स्रष्टा के ये कथन आज सत्य भविष्यवाणी के रूप में साकार हैं। प्रसाद जी ने अपने सम्बन्ध में बहुत आग्रह करने पर भी कुछ नहीं लिखा। प्रेमचन्द जी के आग्रह पर उन्होंने पद्य में कुछ पंक्तियाँ लिख भेजीं—

"मधुप गुनगुनाकर कह जाता कौन कहानी यह अपनी।
मुरझाकर गिर रहीं पत्तियाँ देखो कितनी आज घनी॥
तब भी कहते हो—कह डालूँ दुर्बलता अपनी बीती।
तुम सुनकर सुख पाओगे, देखोगे—यह गागर रीती॥

× × ×

सुनकर क्या भला करोगे—मेरी भोली आत्मकथा?
अभी समय भी नहीं—थकी सोई है मेरी मौन व्यथा।"

इस प्रकार साहित्य के वरद पुत्र 'प्रसाद' ने साहित्य-साधना के कार्य को अधूरा छोड़ कर ही इस भौतिक संसार से प्रस्थान किया। फिर भी इतने अल्प समय में वह जो हिन्दी साहित्य को दे गये हैं वह विश्व साहित्य की अमर निधि है, इसमें सन्देह नहीं।

२

जातीय महाकवि प्रसाद

[आचार्य मुंशीराम शर्मा]

पुराकाल में इस देश का कवि अपने इतिहास, संस्कृति और परम्पराओं का कोष समझा जाता था। उसकी रचनाएँ समष्टि रूप से इन सबकी अभिव्यक्ति करती थीं। पुरातन को अभिनव रूप में प्रगट करना, अभिनव को पुरातन रूप देना और इस प्रकार पुरा एवं नव की सुन्दर समन्विति करना उसकी कला का एक विशिष्ट अंश था। चन्द्रगुप्त की विजयमालिका रघु के रूप में चित्रित करना और रघु को चन्द्रगुप्त के रूप में अवतरित करना इस देश के जातीय कवि कालिदास की ही विशेषता थी। इस युग में वह विशेषता कवि-श्रेष्ठ स्व० श्री जयशंकर प्रसाद में दृष्टिगोचर हुई। उनकी रचनाओं में यदि गुप्त साम्राज्य की परिस्थिति का चित्रण है, तो वह चित्रण आधुनिक भारत की विस्तृत भू-भाग व्यापी विविध दशाओं का भी चित्रण है। स्कन्दगुप्त का मातृगुप्त और उसके हृदयोद्गार मानो प्रसाद स्वयं और उनके भावोद्गार हैं। उनके नाटकों के प्रवंचक एवं विश्वासघाती पात्र जैसे इसी युग के देशद्रोही हों। एक नहीं अनेक रूपों में प्रसाद का जातीय कवि वाला रूप उनकी रचनाओं में मिलता है।

प्रसाद की कविता सर्वतोमुखी थी। देश के इतिहास का उद्घाटन करने चली तो वह गुप्तकाल, बौद्धकाल, महाभारत युग और वैदिक युग तक पहुँची। एक के पश्चात् दूसरे अन्तराल का भेदन करती हुई वह अत्यन्त निगूढ़ स्थलों की भी खोज करती हुई उन्हें प्रकाश में ले आई। उनकी मर्मभेदी दृष्टि ने न केवल इन विभिन्न युगीन सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक प्रवृत्तियों का ही उद्घाटन किया, प्रत्युत उसने इन युगों की प्रचलित आचार-परम्पराओं, नामावलियों और विचारधाराओं का भी उन्मेष किया। यह कहना आवश्यक है कि प्राचीनता के इस आवरण में आधुनिक विश्वव्यापी समस्याओं को भी सुलझाने का प्रयत्न समाविष्ट है। उनके लिखे हुए अजातशत्रु और चन्द्रगुप्त बौद्धकालीन भारत के इतिहास से सम्बन्धित हैं। स्कन्दगुप्त तथा ध्रुवस्वामिनी नाटक गुप्तकालीन घटनाओं पर आधारित हैं। 'जनमेजय का नागयज्ञ' महाभारत युग की परिस्थिति को चित्रित करता है। 'कामायनी' महाकाव्य वैदिक युग की एक गाथा को लेकर लिखा गया है। इस प्रकार अपनी विविध कृतियों द्वारा उन्होंने अपने प्राचीन इतिहास का निर्माण किया। इस सम्बन्ध में उनके कुछ मौलिक लेख भी उल्लेखनीय हैं। 'आर्यावर्त का प्रथम सम्राट् स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य' आदि लेख उनके

पुरातत्त्व सम्बन्धी ज्ञान, गहन अध्ययन और उनकी खोजपूर्ण प्रवृत्ति के परिचायक हैं।

स्व० श्री प्रेमचन्द जी ने प्रसाद जी की इस प्राचीनता-प्रेम की अभिरुचि का विरोध करते हुए एक बार लिखा था कि प्रसाद जी तो गड़े मुर्दे उखाड़ा करते हैं। इससे क्या लाभ? उन्हें इस युग की समस्याओं और परिस्थितियों का उद्‌घाटन करना चाहिए जिससे यह विशाल हिन्दू समाज अपने लिए किसी मार्ग को निर्धारित कर सके। प्रसाद जी के दिल में प्रेमचन्द जी की यह बात चुभ गई। उन्होंने इस युग की सामाजिक विषमताओं को ध्यान में रखकर 'कंकाल' और 'तितली' नाम के दो उपन्यास लिखे। प्रेमचन्द जी के हाथों में जब 'कंकाल' पहुँचा, तो वे प्रसाद जी को साधुवाद देते हुए बोले, "यदि मेरी आलोचना प्रसाद जी से ऐसे सुन्दर उपन्यास लिखा सकती है, तो वह निश्चय ही सौभाग्यशालिनी है।" 'कंकाल' और 'तितली' दोनों उपन्यास प्रसाद जी की अमरनिधि हैं। इन उपन्यासों में जहाँ मानव की शाश्वत प्रवृत्तियों का चित्रण है, वहाँ इस युग की सामाजिक अवस्था भी स्पष्ट रूप से अंकित की गई है। प्रसाद अच्छी प्रकार जानते हैं कि प्रत्येक मानव में दानव और प्रत्येक दानव में मानव छिपा पड़ा है। बड़े से बड़े महात्मा के अन्दर एक पापात्मा के अंकुर अन्तर्हित हैं और बड़े से बड़ा पापी भी कालान्तर में महात्मा बनने की क्षमता रखता है। सामाजिक व्यवस्था भी अधिकांश में इन विभिन्न प्रवृत्तियों को जन्म देती रहती है। अतः वैयक्तिक एवं सामाजिक दोनों ही रूपों में सुधार की आवश्यकता है। 'कंकाल' और 'तितली' के पश्चात् उन्होंने 'इरावती' नाम का उपन्यास भी लिखा था, जिसे वे अपने जीवन-काल में पूरा न कर सके। नाटकों और उपन्यासों के अतिरिक्त उन्होंने महाकाव्य, खण्डकाव्य, मुक्तक, कहानियाँ और चंपू लिखने का भी सत्प्रयास किया। 'कामायनी' इस युग का सर्वश्रेष्ठ हिन्दी महाकाव्य है। उनकी कहानियों की प्रशंसा सभी ने मुक्त कण्ठ से की है। उनका 'आँसू' सुन्दर गीतात्मक खण्डकाव्य है। 'झरना' और 'लहर' उनके मुक्तक काव्यों के संग्रह हैं।

आर्य-जाति के जीवन में समय-समय पर जिन आदर्शों की प्रतिष्ठा होती रही है, उनके प्रतीकों की बड़ी ही आकर्षक व्यंजना प्रसाद जी की कृतियों में विद्यमान है। वैदिक युग की इड़ा और श्रद्धा की समन्विति की भावना कामायनी में है। जन्मेजय के नागयज्ञ में महाभारतकालीन विभिन्न वर्गों के संघर्ष का चित्र उपस्थित करते हुए प्रसाद ने जिस आचारपरायणता की ओर लक्ष्य रूप में संकेत किया है, वह भी आर्य-जाति की आदर्श भावना को प्रकट करने वाला है। प्रसाद जी की प्रायः प्रत्येक कृति नारी को उच्च पद प्रदान करने वाली है जो आर्य-जीवन के उज्ज्वल आदर्शों की प्रतीक है। मध्यकाल में हमने गौ और ब्राह्मण, इन दो शब्दों में अपनी सांस्कृतिक आस्था निहित कर दी थी, स्कन्दगुप्त नाटक में प्रसाद जी ने इन दो शब्दों को आर्य-सैनिक के हाथ में ध्वजा के समान पकड़ा दिया है। पर्णदत्त इस आदर्श-रूप ध्वजा की रक्षा के लिए स्कन्दगुप्त को आहूत

करते हुए कहते हैं, "अधिकार का उपयोग किस लिए, समस्त प्रजा की रक्षा के लिए, सतीत्व के सम्मान के लिए, देवता, ब्राह्मण और गौ की मर्यादा में विश्वास के लिए, आतंक से प्रकृति को आश्वासन देने के लिए युवराज को अपने अधिकारों का उपयोग करना होगा।" यहाँ ब्राह्मण सांस्कृतिक निधि का प्रतीक है और गौ हमारी आर्थिक सम्पत्ति को व्यंजित करती है।

कविवर प्रसाद के मानस-चक्षुओं के सम्मुख भारत भव्य रूप में उपस्थित होता है, जो स्वप्नों का देश है, आदर्शों का निकेतन है, गौतम आदि अनेक अवतारी विभूतियों की पद-रज से पवित्र है, वसुन्धरा का हृदय (केन्द्र-स्थान) है, सबसे गहरा समुद्र जिसके पैरों के नीचे और सबसे ऊंचा शृंग जिसके सिरहाने है, जो अनादि काल से ज्ञान की, मानवता की ज्योति विकीर्ण कर रहा है।

इस देश के निवासी आर्य नाम से अभिहित हुए हैं। आर्यों के अभ्युत्थान का स्मरण करके प्रसाद गद्‌गद् हो उठते हैं और उनके पतन का चिंतन करके उनकी लेखनी से अजस्र करुणा-धारा प्रवाहित होने लगती है। स्कन्दगुप्त के शब्दों में आर्य साम्राज्य के विध्वंस पर मानो प्रसाद का हृदय स्वयं फूटकर बह निकला है—"यह टीकरा इसी सिर पर फूटने को था! आर्य-साम्राज्य का नाश इन्हीं आँखों को देखना था! हृदय काँप उठता है। देशाभिमान गरजने लगता है। मुझे अधिकार की आवश्यकता नहीं, पर नीति और सदाचारों का महान् आश्रय वृक्ष यह आर्य-साम्राज्य हरा-भरा रहे और कोई भी इसका उपयुक्त रक्षक हो।" भारत के स्वर्णिम अतीत और उज्ज्वल भविष्य की कल्पना मातृगुप्त के शब्दों में प्रसाद जी ने इस प्रकार की है—"सोचा था, देवता जागेंगे, एक बार आर्यावर्त में गौरव का सूर्य चमकेगा और पुण्य कर्मों से समस्त पाप-पंक धुल जायेंगे। हिमालय से निकली हुई सप्त-सिन्धु तथा गंगा-यमुना की घाटियाँ किसी आर्य सद्‌गृहस्थ के स्वच्छ और पवित्र आँगन-सी भूखी जाति के निर्वासित प्राणियों को अन्न-दान देकर सन्तुष्ट करेंगी। आर्य जाति अपने दृढ़ सबल हाथों में शस्त्र ग्रहण करके पुण्य का पुरस्कार और पाप का तिरस्कार करती हुई अचल हिमालय की भाँति सिर ऊँचा किये विश्व को सदाचरण के लिए सावधान करती रहेगी।" आर्य जाति के पतन के कारण भी कवि प्रसाद की कान्त दृष्टि से ओझल नहीं रह सके। स्कन्दगुप्त नाटक में एक सैनिक भटार्क से कहता है, "यवनों से उधार ली हुई सभ्यता नाम की विलासिता के पीछे आर्य जाति उसी प्रकार पड़ी है, जैसे कुलवधू को छोड़कर कोई नागरिक वेश्या के चरणों में। देश पर बर्बर हूणों की चढ़ाई, तिस पर यह निर्लज्ज आमोद।" इस कथन में तो हमारे पतन के उत्तरदायी विदेशी घोषित किये गए हैं, परन्तु पर्णदत्त के निम्नांकित शब्दों में नवयुवकों का आदर्शों से च्युत हो जाना भी पतन के कारण के रूप में अभिव्यंजित हुआ है—पर्णदत्त दाँत पीसकर कहता है, "नीच, दुरात्मा, विलास का नारकीय कीड़ा! बालों को सँवार कर अच्छे कपड़े

पहिनकर घमंड से तना हुआ निकलता है। कुलवधुओं का अपमान सामने देखते हुए भी अकड़कर चल रहा है। अब तक विलास और नीच वासना नहीं गई। जिस देश के नवयुवक ऐसे हों, उसे अवश्य दूसरों के अधिकार में जाना चाहिये। देश पर यह विपत्ति फिर भी यह निराली धज।" आर्य जाति की मर्यादा के अनुसार प्रसाद जी ने धन को व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं, प्रत्युत सामाजिक थाती के रूप में स्वीकार किया है।

इस प्रकार के एक नहीं, अनेक वाक्य प्रसाद की रचनाओं से उद्धृत किये जा सकते हैं जो उन्हें जातीय कवि के रूप में उपस्थित करते हैं। नीचे लिखी कविता की कुछ पंक्तियाँ प्रत्येक आर्यकुमार की जिह्वा पर विराजमान रहनी चाहिएँ—

"हिमालय के आँचल में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार।
उषा ने हँस अभिनन्दन किया और पहिनाया हरिक हार॥
जगे हम, लगे जगाने विश्व, लोक में फैला फिर आलोक।
व्योम-तम-पुञ्ज हुआ तब नष्ट, अखिल संसृति हो उठी अशोक॥
विमल वाणी ने वीणा ली, कमल-कोमल कर में सप्रीत।
सप्त स्वर सप्त सिंधु में उठे, छिड़ा तब मधुर साम संगीत॥

× × ×

विजय केवल लोहे की नहीं, धर्म की रही धरा पर धूम।
भिक्षु होकर रहते सम्राट! दया दिखलाते घट-घट घूम॥
जातियों का उत्थान-पतन, आँधियाँ, झड़ी, प्रचंड समीर।
खड़े देखा-झेला हमने प्रलय में पले हुये हम वीर॥

× × ×

वही है रक्त, वही है देश, वही साहस है, वैसा ज्ञान।
वही है शांति, वही है शक्ति, वही हम दिव्य आर्य-संतान॥
जियें तो सदा इसी के लिये, यही अभिमान रहे, यह हर्ष।
निछावर करदें हम सर्वस्व, हमारा प्यारा भारतवर्ष!"

साहित्य की प्रत्येक विधा में प्रसाद जी का अपना पृथक् एवं निश्चित स्थान है। और हिन्दी-साहित्य उनकी इस अनुपम देन का ऋणी है। इसमें भी संदेह नहीं कि प्रसाद जी प्रथम कवि हैं, बाद में कुछ और। उनका कवि-रूप हमें सर्वत्र सजग और सचेष्ट दिखायी देता है, परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उनकी कला अन्य क्षेत्रों में किसी प्रकार हीनकोटि की है। उन्होंने जिस क्षेत्र को अपनाया है, उसी में उन्होंने अपनी पावन प्रतिभा के बल से चार चाँद लगा दिये हैं। आर्य-संस्कृति की एकात्मनिष्ठावाली प्रवृत्ति तो उनकी रचनाओं में पद-पद पर प्रतिष्ठित हुई है। मानव-क्रिया-कलाप और प्राकृतिक दृश्यावलियों एवं घटनाओं में उन्होंने अनुपम सामंजस्य के

साथ अद्भुत अन्योन्य प्रभाव प्रदर्शित किया है। किसी-किसी स्थल पर मानव-अनुभूतियों को प्रकृति पर ऐसे रूप में आरोपित किया है कि जिसे पढ़ते ही प्रसाद की भूरि-भूरि प्रशंसा करनी पड़ती है। शृंगार रस की अश्लीलता को उन्होंने अतीव कौशल के साथ छिपा दिया है। मानव-मन की विविध दशाओं का जो चित्रण उनकी रचनाओं में पाया जाता है, वह उनकी महिमामयी दार्शनिक दृष्टि को प्रगट करता है। आन्तरिक भाव और बाह्य चेष्टाओं के चित्रण में भी उन्होंने अलौकिक समन्वय किया है। क्या कला और क्या भाव सभी दृष्टियों से प्रसाद इस युग के एक महान् जातीय महाकवि के रूप में अवतरित हुए थे।

३

प्रसाद और प्रेमचन्द

[गोपीनाथ तिवारी]

एक ही समय, एक ही सरोवर में दो कमनीय कमल मुस्कराए। दोनों ने मुक्त-हस्त पराग बखेरा। हिन्दी-संसार सुरभित हो उठा। एक ने उपन्यास-क्षेत्र पर आसन जमाया तो दूसरे ने नाटक-मञ्च पर अधिकार किया। ये दोनो यशस्वी कलाकार थे—श्री प्रेमचन्द एवं प्रसाद। वैसे तो प्रेमचन्द जी ने नाटक लिखकर नाटककार कहलाने का भी असफल प्रयास किया और उधर प्रसाद जी ने भी उपन्यास-भवन के निर्माण में दो-तीन ईंटें लगाईं पर क्षेत्र दोनों का भिन्न ही रहा। उपन्यासकार प्रेमचन्द तथा उपन्यासकार प्रसाद में बहुत सी समानताएँ मिल जायँ तो आश्चर्य न होगा। उसी प्रकार नाटककार प्रसाद एवं प्रेमचंन्द के नाटकों में भी कुछ समान प्रवृत्तियाँ मिल ही जायेंगी। कारण स्पष्ट है। दोनों एक ही मार्ग के यात्री हैं, किन्तु कैसी विचित्र बात है कि नाटककार प्रसाद एवं उपन्यासकार प्रेमचन्द में बहुत साम्य प्राप्त होता है। इसका बहुत कुछ कारण तो यह है कि दोनों ने एक ही आकाश के नीचे डेरा लगाया, एक ही युग के वातावरण को पिया तथा एक ही प्रान्त, नहीं-नहीं एक ही नगर से नाता बनाए रक्खा।

दोनों कलाकारों का लक्ष्य एक ही है—मानव-जीवन को ऊपर उठाना। अतः दोनों ही आदर्शवादी कलाकार हैं। दोनों के दिलों में एक ही धड़कन थी, एक ही गति। दोनों अपने देश का उत्थान चाहते थे। अतः दोनों ने देश-भक्ति की सुरसरी धारा प्रबल वेग से प्रवाहित की। हाँ, मार्ग दोनों के दो थे। प्रसाद ने अतीत के गौरव-चित्रों का स्मरण कराया, 'अरुण यह मधुमय देश हमारा (चन्द्रगुप्त)', 'हिमालय के आँगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार (स्कन्दगुप्त)' एवं 'हिमाद्रि तुङ्ग शृङ्ग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती (चन्द्रगुप्त)' का शंख घोष कर भारतीयों के हृदयों में देश-प्रेम का सागर उद्वेलित किया और पूछा—"वसुन्धरा का हृदय भारत किस मूर्ख को प्यारा नहीं।" उनकी 'अलका' राष्ट्रीय ध्वज लेकर स्वयं सेवक सैनिकों के आगे कूच करती है। उधर प्रेमचन्द ने प्रसिद्धि ही पाई है, राजनीतिक उपन्यासकार के रूप में। श्री रामदास गौड़ के शब्दों में 'प्रेमाश्रम' भारत का पहिला राजनीतिक उपन्यास है। तब प्रेमचन्द जी भी प्रथम राजनीतिक उपन्यासकार सिद्ध हुए। उनके उपन्यासों में गुलाम भारत की आत्मा का करुण मन्दन है। उनके उपन्यास गांधीवाद के प्रतिनिधि हैं। उनमें अहिंसात्मक आन्दोलन है सो सत्याग्रह संग्राम भी। साथ ही इस राष्ट्रीयता के रूप में भी अपूर्व साम्य है दोनों की लेखनी में। दोनों देश-प्रेमियों ने महाकवि रवीन्द्र अथवा नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय

की राष्ट्रीयता को नहीं स्वीकार किया है, वरन् अपनाया गांधी जी के राष्ट्र-प्रेम को जिसमें मेरा देश मेरा है। मैं पहले इसका ध्यान रक्खूँगा, पीछे अन्य देशों का राष्ट्र मेरे लिए सर्वोपरि है, यह अन्य देशों से श्रेष्टतर है।

कथा-निर्वाचन शैली में भी दोनों ने अनोखी समानता दिखाई है। दोनों को कथा-विस्तार से मोह था। अतः दोनों कलाकारों की कृतियों में कथानक की विशालता, सघनता एवं जटिलता मिलेगी। प्रेमचन्द जी के उपन्यासों में अधिकांशतः एक मुख्य कथा-प्रवाह न होकर कई कथाओं एवं घटनाओं का घटाटोप भरा रहता है। 'रङ्गभूमि' में काशी, पांडेपुर एवं जसवन्त नगर भिन्न-भिन्न कथाओं को लपेटे हुए एक सामञ्जस्य उपस्थित करते हैं। इस उपन्यास में २ हिन्दू परिवार, १ मुस्लिम परिवार तथा १ ईसाई परिवार के सदस्य जीवन-नाटक में अभिनय करते हैं। इसमें ५ कथाएँ हैं—(१) विनय-सोफिया की, (२) सूरदास की, (३) ताहिर अली की (४) राजा महेन्द्रसिंह एवं इन्दु की, (५)—ईसाई परिवार की। 'कायाकल्प' में ३ जन्मों की ५ प्रेम-गाथाएँ हैं—(१) ठाकुर हरिसेवक एवं लौंगी की, (२) विशालसिंह एवं रोहिणी की, (३) मनोरमा एव विशालसिंह की, (४) मनोरमा एवं चक्रधर की और (५) देवप्रिया एवं महेन्द्र सिंह की। इसी भाँति प्रेमाश्रम में गोरखपुर, काशी, लखनऊ, लखनपुर—इन चार घटनास्थलों की कथाएँ आगे चढ़ती हैं।

उधर प्रसाद जी ने भी कथा-विस्तार में पराजय नहीं मानी है। उन्होंने अपने नाटकों में घटनाओं की भीड़ लगा दी है। 'अजातशत्रु' में तीन राज्यों को, मगध और कौशल की मुख्य घटनाओं की शृङ्खला में ६ कहानियाँ पिरोई गई हैं। स्कन्दगुप्त में ६ कथाएँ हैं तो चन्द्रगुप्त में ८।

इस कथा सुरसा की भीड़-भड़प्पा में कहीं कोई अङ्ग रसौली बन गया है, तो कोई फील-पाँव। अनावश्यक घटनाएँ आगई हैं जिनसे कथा-प्रवाह में कोई सहायता नहीं पहुँचती। प्रेमचन्द जी ने व्यर्थ ही भोले तेजशङ्कर एवं पद्मशङ्कर की प्रेमाश्रम में बलि दी। 'गोदान' में ३२वें अध्याय की वेश्याओं से घटना-प्रवाह को क्या बल मिला? प्रसाद जी ने स्कन्दगुप्त में श्रमण एवं ब्राह्मण-विवाद क्यों कराया? उससे कथानक-विकास में क्या सहायता मिली? सिकन्दर एवं दाण्ड्यायन भेंट से कथा की क्या अङ्गपुष्टि हुई? वास्तव में बात यह है कि कथाकार किसी न किसी रूप मे अपने व्यक्तिगत विचारों के प्रदर्शन के लिए दृश्य, परिच्छेद वा घटना की योजना कर देता है जो पेवंद की भाँति ऊपर से चिपक गया है।

कथा-विस्तार के कारण पात्रों की संख्या भी कलि-पातकों की नाईं बढ़ गई है। वह यहाँ तक बढ़ी कि उनका समेटना कठिन हो गया। परिणामतः आत्महत्याओं द्वारा उन्हें जीवन-रङ्गमञ्च से हटाया गया। आत्महत्या का प्रचुर प्रयोग कलाकार की असमर्थता

का ही द्योतक है। जो लेखक पात्रों को सँभाल नहीं पाता, वही इस साधन को काम में लाता है। स्कन्दगुप्त नाटक में कुमारामात्य, पृथ्वीसेन, महाप्रतिहार एवं महादण्ड नायक आत्मघात करते हैं। चन्द्रगुप्त में मालविका, कल्याणी, अलका एवं पर्वतेश्वर का प्रयत्न इसी दिशा मे हुआ। हमारे प्रेमचन्द जी ने भी प्रेमाश्रम में विद्या, ज्ञानशङ्कर, गायत्री, पद्मशङ्कर और तेजशङ्कर द्वारा आत्मवध कराया है। गबन मे जौहर एवं रतन भी वही कार्य करते हैं।

दोनों चित्रकारों ने वर्गगत पात्रों का निर्माण किया है। दोनों कलाकारों के पात्र भिन्न-भिन्न कृतियों में प्रायः एक-से हैं। केवल दो ही अमर पात्र अपने अतुल व्यक्तित्व से सदा स्मृति-पटल पर अङ्कित रहेंगे। रङ्गभूमि में प्रेमचन्द जी का सूरदास अपनी सत्ता सबसे अलग रखता है। उसका व्यक्तित्व अद्वितीय है। साधारण व्यक्ति होते हुए भी वह हिमालय की भाँति उच्च एवं दृढ़ है। ऐसा ही एक कमनीय कुसुम है प्रसाद का। वह स्वर्गीय पुष्प अपनी सुधा-सुगन्ध सदा हिन्दी-संसार में वितरित करेगा। वह कोमल, मृदुल, भोली एवं त्यागमयी देवसेना है।

प्रसाद के वर्गगत पात्रों में सबसे पहले हमारा ध्यान वे पात्र आकृष्ट करते हैं जो बाहर से बहुत कर्मशील हैं किन्तु अन्दर से विरक्ति की भव्य-भावना से आक्रान्त हैं। ये आदर्श पात्र सदा सत्य का पक्ष ग्रहण करते हैं। 'विशाख' का प्रेमानन्द, 'राज्यश्री' का दिवाकर, 'नागयज्ञ' का वेदव्यास, 'अजात' का बुद्ध एवं 'चन्द्रगुप्त' का चाणक्य—सब इसी कोटि के पात्र हैं। इनके विपरीत एक वर्ग उन पात्रों का भी है जो बाहर से विरक्त हैं किन्तु हृदय मे आसक्ति एवं वासना की आँधी छिपाये हैं जैसे 'विशाख' के महन्त सत्यशील, अजात के समुद्रदत्त एवं 'नागयज्ञ' के कश्यप। एक श्रेणी है 'विशाख' के भिक्षु, 'राज्यश्री' के शान्ति भिक्षु, 'अजात' के विरुद्धक, 'स्कन्द' के भटार्क और निर्भीक एवं 'चन्द्रगुप्त' के राक्षस पात्रों की। ये सब पात्र जीवन में बड़ा वेग भरे हैं। साथ ही बड़े साहसी। इनमें दिखलाई पड़ता है आवेग एवं स्पन्दन। इनके बिम्बसार, विशाख एवं स्कन्द—तीनों नायक एक विचित्र दार्शनिक उदासीनता से भरे डोलते हैं मानों जीवन का बोझ अब उतारकर फेंक देंगे।

कथाकार प्रेमचन्द जी ने भी बाजी जीती। इनके उपन्यासों में पिताओं का एक वर्ग है। ये पिता पहले तो पुत्रों को क्रोध मे त्याग देते हैं किन्तु पुनः ग्रहण कर लेते हैं। 'सेवासदन' में मदनसिंह अपने पुत्र 'सदन' को शान्ता के कारण त्यागकर पुनः अपना लेते हैं। प्रेमाश्रम में प्रभाशङ्कर भी यही व्यवहार करते हैं अपने पुत्र दयाशङ्कर के प्रति। 'कायाकल्प' के वज्रधर अपने पुत्र चक्रधर को अहिल्या के कारण छोड़ देते हैं परन्तु बाद में अहिल्या को साथ आया देख दौड़ पड़ते हैं और कहते हैं—एक पंक्ति ही लिखकर डाल देते तो क्या बिगड़ जाता! कर्मभूमि के समरकान्त भी अपने प्रिय पुत्र अमरकान्त से पहले

तनकर फिर झुक जाते हैं। इसी प्रकार 'प्रेमाश्रम' के प्रेमशङ्कर, कर्मभूमि के अमरकान्त एवं कायाकल्प के चक्रधर एक ही कोटि के साधुपुरुष हैं। उनके कादिर मियाँ (प्रेमाश्रम) एवं ख्वाजा महमूद (कायाकल्प) में एकरूपता है।

दोनों कलाकारों ने विचारों की समानता भी प्रदर्शित की है। स्त्री का क्षेत्र क्या हो इस पर दोनों के विचार एक-से हैं। दोनों के मत से स्त्री, गृह एवं हृदय-स्वामिनी बनी रहे, इसी में गौरव है। उसका आधिपत्य घर में ही रहे, न कि बाहर। प्रसाद अपने नाटक 'अजातशत्रु' में व्यक्त करते हैं—"विश्व भर में सब कर्म सब के लिए नहीं हैं। इसमें कुछ विभाजन है अवश्य। मनुष्य कठोर परिश्रम करके जीवन-संग्राम में प्रकृति पर यथाशक्ति अधिकार करके भी एक शासन चाहता है जो उसके जीवन का परम ध्येय है। उसका एक शीतल विश्राम है और वह स्नेह-सेवा-करुणा की मूर्ति तथा सान्त्वना के अभय वरद हस्त का आश्रय, मानव समाज की सारी वृत्तियों की कुञ्जी, विश्व-शासन की एकमात्र अधिकारिणी प्रकृति स्वरूपा स्त्रियों के सदाचारपूर्ण स्नेह का शासन है। उसे छोड़कर असमर्थता, दुर्बलता प्रकट कर इस दौड़-धूप में क्यों पड़ती हो देवि!" ऐसा ही विचार गोदान में डॉ० मेहता के शब्दों में प्रेमचन्द जो प्रकट करते हैं—"देवियो! मैं प्राणियों के विकास में स्त्री के पद को पुरुष के पद से श्रेष्ठ समझता हूँ। अगर हमारी देवियाँ सृष्टि और पालन के देव-मन्दिर से हिंसा और कलह के दानव-क्षेत्र में आना चाहती हैं तो उसमें समाज का कल्याण न होगा।"

विवाह हिन्दू-समाज का एक अत्यावश्यक अंग माना गया है। किन्तु क्या प्रणय का अन्त विवाह ही हो सकता है? दोनों का उत्तर है, नहीं। एक मार्ग और भी है। वह इससे श्रेष्ठतर है। हाँ, वह मार्ग सर्वसाधारण के लिए नहीं। उसे तो दृढ़ पुरुष और सबल अबला ही अपना सकती हैं। उसे तो देवसेना जैसी स्वर्गीय आत्मा और मिस मालती (प्रेमचन्द का गोदान) जैसी विदुषी स्त्री ही ग्रहण कर सकती हैं। स्कन्द की प्रेम-याचना का उत्तर देवसेना देती है—आपको अकर्मण्य बनाने के लिए देवसेना जीवित रहेगी! सम्राट् क्षमा हो। "वह कामना के भँवर में न फँसती है न स्कन्द को फँसने देती है। देश को स्कन्द की आवश्यकता है। वह उसे कैसे एक कोने में छिपाये रक्खे।" यही मालती ने कहा, "अभी तक तुम्हारा जीवन यज्ञ था, जिसमें स्वार्थ के लिए बहुत थोड़ा स्थान था, मैं उसको नीचे की ओर न ले जाऊँगी।" इसके बाद डॉ० मेहता एवं मिस मालती प्राणों की मौन भाषा में आसक्ति का तार भेजते हुए भी कौमार-व्रत ले केवल जीवन-साथी के रूप में एक दूसरे के सहायक बनते हैं, देशोद्धार के लिए, परसेवार्थ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दोनों महान् कलाकारों में बड़ा भारी सादृश्य है, यद्यपि हैं ये भिन्न-भिन्न मार्ग के पथिक। दोनों आदर्शवादी कलाकार हमारे हिन्दी-गगन के सूर्य-चन्द्र हैं जिन पर हमें गर्व है।

४

तुलसी के 'राम' और प्रसाद के 'मनु'

[हरिदत्त शर्मा]

हमारे सामने काशी में लिखा गया तुलसी का 'रामचरितमानस' और वहीं पर लिखी गई प्रसाद की 'कामायनी' मौजूद है। तुलसी अपने युग के सर्वश्रेष्ठ कवि थे और प्रसाद अपने युग के। 'रामचरितमानस' तुलसी के ग्रन्थों में श्रेष्ठ है और 'कामायनी' प्रसाद के। 'रामचरितमानस' के राम 'अवधेसकुमार' होने पर भी जगन्नियंता हैं और 'कामायनी' के मनु देव होने पर भी 'मानवता के नवयुग के प्रवर्तक'। दोनों शक्तिमान हैं, फिर भी मनुष्य की निर्बलताओं से खाली नहीं, दोनों संघर्ष-शील हैं और बलवान् भावी को चुनौती देकर उसे पराभूत करने वाले! हिन्दी इन दो काव्य-नायकों को पाकर धन्य हुई है।

तुलसी के 'राम' और प्रसाद के 'मनु' के बीच यह अन्तर ३६० वर्ष से अधिक है, ललित काव्य से पुष्ट ऐसा कोई नायक नहीं आया जिसने इन दोनों को पीछे छोड़ दिया हो। अकेला यह तथ्य इन दो महाकवियों के लिए एक बहुत बड़ी प्रशस्ति है। हम समझते हैं कि राम और मनु के ऐतिहासिक महत्त्व पर लोगों में मतभेद हो सकता है, पर काव्यगत इन दो नायकों के महत्त्व पर नहीं।

तुलसी के राम

इन दो नायकों के विवेचन से पूर्व इन दोनों के संक्षेप में कार्य-कलापों को देख लेना उचित होगा। पहले हम राम को लेते हैं।

तुलसी ने तो अत्यन्त संक्षेप में अपने राम की कथा इस प्रकार कह दी है—

"एक राम अवधेसकुमारा।
तिन्ह कर चरित विदित संसारा॥
नारि बिरह दुख लहेउ अपारा।
भयउ रोषु रन रावन मारा॥"

किन्तु इतने संक्षेप से पाठकों का मन संतुष्ट नहीं होगा और न ही हमारा विवेचन-कार्य विधिवत् संपन्न होगा।

राम अयोध्या-नरेश दशरथ-सुत हैं, कौशल्या उनकी माता है। भू-भार उतारने के निमित्त देवताओं के अनुनय-विनय से रामरूप में स्वयं विष्णु अवतरित हुए हैं—विष्णु जो सुरहित नरतनुधारी हैं। अनुज लक्ष्मण उनके सखा हैं और विदेह जनक को प्राप्त धरती-सुता उनकी सहधर्मिणी। राम-लक्ष्मण दोनों अत्यन्त सुन्दर हैं—

"पीत बसन परिकर कटि भाथा।
चारु चाप सर सोहत हाथा ॥
तन अनुहरत सुचंदन खोरी।
स्यामल गौर मनोहर जोरी ॥"

तुलसी इस जोड़ी पर इतने मुग्ध हैं कि एक स्थल पर कह उठते हैं—

स्याम गौर किमि कहौं बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी ॥

पर साथ ही ये 'रघुसिंह' बलवान् इतने हैं कि मुनि विश्वामित्र के त्रास को ताड़का राक्षसी का वध करके बाल्यकाल में ही हर लिया।

राम की सहधर्मिणी सीता भी अत्यन्त सुन्दर हैं—

"जनु बिरंचि सब निज निपुनाई। बिरचि बिस्व कहँ प्रगटि देखाई ॥
सुन्दरता कहुँ सुन्दर करई। छबिगृहँ दीपसिखा जनु बरई ॥"

राम की राजगद्दी के समय देवताओं द्वारा प्रेरित सरस्वती ने मंथरा दासी में कुमति का संचार कर दिया और इसी मंथरा के बहकाने से सबके लाड़ले राम के लिए कैकेयी ने दशरथ से चौदह वर्ष का बनवास माँग लिया।

आज्ञाकारी राम, अनुज लक्ष्मण और पत्नी सीता के साथ समस्त अयोध्यापुरी को रोता-बिलखता छोड़कर वन की ओर चल दिये। "गोदावरी निकट प्रभु रहे परन गृह छाइ" के अनुसार राम पंचवटी में पर्णकुटी बनाकर रहने लगे। मंगल-धाम राम के आते ही मुनि सुखी हो गये। सब अच्छी तरह रहने लगे किन्तु होनी बलवान्! रावण की बहिन सूपनखा—

"पंचवटी सो गइ एक बारा। देख बिकल भइ जुगल कुमारा ॥"

अधिक तंग करने पर राम ने लक्ष्मण को उसके नाक कान-काटने की आज्ञा दे दी और—

"लछिमन अति लाघव सो नाक कान बिनु कीन्हि।
ताके कर रावन कहँ मनौ चुनौती दीन्हि ॥"

यह समझिये कि इसी समय से राम-रावण-युद्ध का सूत्रपात हो गया। पहले तो खर-दूषण के नेतृत्व में जातुधान-सेना ने राम से युद्ध किया जिसे उन्होंने सहज ही पराजित कर दिया। खर-दूषण का 'धुँआ' उड़ता देख सूपनखा ने रावण को लानतें दीं और रावण क्रुद्ध हो गया तब सीता के सौंदर्य का वर्णन किया—

"रूप रासि बिधि नारि सँवारी। रति सत कोटि तासु बलिहारी ॥"

इसके बाद लक्ष्मण की करतूत बताई, मतलब यह कि रावण के क्रोध और षड्यन्त्र के लिए सारे आलम्बन प्रस्तुत कर दिये।

रावण ने मारीच की सहायता से सीता-हरण कर लिया और सीता को अशोक-

वन में बंदिनी बना लिया।

राम और लक्ष्मण ने सीता की खोज की। राम के मन में अत्यन्त विषाद भर गया, किन्तु उन्होंने साहस न छोड़ा। वह चलते-चलते ऋष्यमूक पर्वत पर आये जहाँ सुग्रीव अपने भाई बालि के भय से सचिव सहित रहता था। यहाँ राम ने नीति से काम लिया और बालि वधकर के सुग्रीव और उसकी समस्त सेना को अपना मित्र बना लिया। इसी सेना में उन्हें हनुमान जैसे धीर, वीर, शूर, साहसी पायक प्राप्त हुए।

राम ने हनुमान के द्वारा, सीता का पता लगवा लिया, इसके बाद कपि-भालू नामक जातियों के सहयोग से समुद्र-पार कर लिया। इसके बाद लंका पर धावा किया। लंका सुर-भटों का देश जहाँ रावण का अतुल प्रताप—

"रन मद मत्त फिरइ जग धावा। प्रति भट खोजत कतहुँ न पावा॥
रवि ससि पवन बरुन धन धारी। अगिनि काल जम सब अधिकारी॥
किन्नर सिद्ध मनुज सुर नागा। हठि सबही के पंथहि लागा॥
ब्रह्म सृष्टि जहँ लगि तनु धारी। दस मुख बस वर्ती नर नारी॥"

ऐसे रावण और उसके परम पराक्रमी महा हिंसक बन्धु-बान्धवों को राम ने अपने अद्भुत शौर्य और रण-नीति से जीत लिया और सीता को वापस लेकर वनवास की अवधि समाप्त कर घर आगये। वहाँ अत्यन्त सुखपूर्वक राज किया—

"अवधपुरी अति रुचिर बनाई। देवन्ह सुमन वृष्टि झर लाई॥"

प्रसाद के मनु

अब प्रसाद जी के मनु को लेते हैं।

मनु चिन्ताशील भाव से प्रलय देख रहे हैं—

"तरुण तपस्वी-सा वह बैठा
साधन करता सुर-श्मशान;
नीचे प्रलय सिंधु लहरों का
होता था सकरुण अवसान॥"

धीरे-धीरे प्रलय की काल-रात्रि समाप्त हुई और सुनहली उषा जय-लक्ष्मी के समान उदित हुई। मनु में आशा का संचार हुआ और सागर के तीर उनका अग्निहोत्र निरंतर जलने लगा। 'सुर-संस्कृति' फिर से सजग हुई और

"उठे स्वस्थ मनु ज्यों उठता है
क्षितिज बीच अरुणोदय कांत;

(पुस्तक में मनु का चरित्र अनेक स्थान पर चित्रित होने के कारण यहाँ संक्षिप्त कर दिया गया है—सं)

लगे देखने लुब्ध नयन से
प्रकृति विभूति मनोहर शान्त ॥"

उन्होंने पाक-यज्ञ प्रारम्भ किया । अग्निहोत्र का अवशिष्ट अन्न कहीं दूर रख आने लगे, इस विचार से कि कोई अपरिचित इसे पाकर तृप्त हो जायगा। यह गहन दुःख भोगने के बाद पैदा हुई स्वाभाविक सहानुभूति का परिणाम था किन्तु आशा—संवरण के बाद भी मनु तुष्ट न थे। उन्हें जीवन फीका-फीका लग रहा था। वह सोचते थे—

"मैं भी भूल गया हूँ कुछ
हाँ स्मरण नहीं होता; क्या था ?
प्रेम, वेदना, भ्रांति या कि क्या ?
मन जिस में सुख सोता था ?"

श्रद्धा के दर्शन से मनु को 'एक झटका-सा लगा सहर्ष' और 'निरखने लगे लुटे-से।' यह नारी थी—

"नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ वन बीच गुलाबी रंग ॥"

मनु ने श्रद्धा को वरण कर लिया तथा यज्ञ-विधान और मृगया करते रहे। प्रेम का हुलास समाप्त हुआ और कामुक तथा स्वार्थी मनु श्रद्धा को छोड़कर चले गये। सारस्वत प्रदेश में इड़ा के साथ रहने लगे और वहाँ पर उन्होंने नई शासन-व्यवस्था स्थापित की। वह शासन-मात्र से सन्तुष्ट न हुए और उन्होंने इड़ा के आत्म-समर्पण की माँग की। इड़ा ने मनु के चंगुल से निकलकर भागना चाहा पर मनु ने उसे पकड़ लिया। इड़ा के पकड़ते ही प्रसाद का द्वार गिर पड़ा। प्रजा इस पर विद्रोही हो गई, शंकर का तीसरा नेत्र खुल गया, प्रजा ने क्रुद्ध होकर मनु पर आक्रमण किया। मनु ने युद्ध किया और मूर्च्छित होकर गिर पड़े। इसी समय श्रद्धा अपने पुत्र मानव के साथ मनु को ढूँढती हुई आ निकली। मनु ने कहा कि मुझे यहाँ से ले चलो। श्रद्धा उन्हें लेकर चलने लगी किन्तु क्षुब्धमन मनु फिर मार्ग से ही कहीं खिसक गये।

इस स्थल पर इड़ा और श्रद्धा में बातचीत हुई। श्रद्धा ने अपना पुत्र इड़ा के हवाले किया और वह मनु की तलाश में फिर निकल चली। उसने मनु को सरस्वती-तट पर एक गुहा में पा लिया। यहाँ पर वे चित्त शक्ति का ध्यान कर रहे थे। उन्होंने श्रद्धा से नटराज के चरणों तक ले चलने को कहा। श्रद्धा चल पड़ी। इच्छा, कर्म और ज्ञान क्षेत्रों को पार करते हुए श्रद्धा और मनु त्रिपुर में पहुँच गये। यहाँ मनु ने श्रद्धा को इच्छा, कर्म तथा ज्ञान की समन्वित शक्ति पर भाषण दिया। इसके बाद वे आनन्द-भूमि

में पहुँच गये। कुछ समय बाद यहाँ इड़ा और श्रद्धा-पुत्र भी आ पहुँचे। अन्त में सबके लिए प्रसन्न वातावरण का विधान हो गया।

तुलनात्मक अध्ययन

इन दोनों नायकों के वृत्त को पढ़ने के बाद हमें तुलसी के 'राम' अधिक सशक्त-जान पड़े। ऐश्वर्य और वैभव के प्रतीक राम विषमतम परिस्थितियों में रख दिये जाते हैं, उन्हें होने न होने सब कष्ट होते हैं, पर वह अपने साहस, बुद्धि-बल, तथा ज्ञान से काँटों को पुष्प बना लेते हैं। उनमें पुरुषार्थ है और उस पुरुषार्थ के सहारे वह आसुरी शक्तियों से जूझ जाते हैं और सत्य तथा शील म मंडित उनका पुरुषार्थ विजयी होता है। प्रतिकूल परिस्थितियों में राम अपने लिये अनुकूलता पैदा कर लेते हैं। ज्ञान-विवेक से मंडित साहसी का संघर्ष अन्त में विजयी होता है। यहाँ एक कमी अवश्य है राम के चरित्र में, और वह यह कि राम भगवान् भी हैं चाहे नररूप में ही हों! इससे ऐसा लगता है कि विजय उनके पास स्वयं आगयी है। किन्तु यह कमी इतनी बड़ी नहीं कि उससे उनके राम का सारा चरित्र ढक जाय! इसके अतिरिक्त तुलसी संत थे और साथ ही उनकी युगीन परिस्थितियाँ भी संत-प्रभाव से व्याप्त थीं!

हमें यह याद रखना चाहिये कि तुलसी ने अपना मानस संवत १६३१ में लिखना प्रारम्भ किया था जब कि देश में सामंतवाद का बोलबाला था। इसके अलावा उनसे पूर्ववर्ती तथा उनके समसामयिक साहित्यकारों ने भी उनका पथ प्रशस्त नहीं किया था। ऐसी स्थिति में इतना प्रबल नायक प्रबलतम ढंग से देना एक बहुत बड़ी घटना थी। राम की चारित्रिक प्रखरता ने तुलसी की कला को और फिर बदले में कला ने राम की प्रखरता को मंडित किया। परिस्थितियाँ बदल जाने पर भी, आज ऐसा कोई काव्यगत चरित्र नहीं जो तुलसी के राम की टक्कर ले सके। यदि यह कहा जाय कि राम का चरित्र स्वयं काव्य है, तो उसका उत्तर यह है कि तुलसी के समसामयिकों तथा परवर्तियों यहाँ तक कि आधुनिकों ने भी इस चरित्र को लिया किन्तु किसी का भी चित्रण इतना मधुर, मनोहर मंगलकारी नहीं हुआ। तुलसी के राम जैसे मूर्तिमान् संघर्ष हो गये हैं और अभी तक अन्याय से जूझने की प्रेरणा देते हैं। अनेक कवियों ने 'रावण' के चरित्र को भी उसकी सज्ञानता और ज्ञानगरिमा के कारण चढ़ाने की कोशिश की है किन्तु तुलसी के राम जैसे अविजेय हो गये हैं।

तुलसी से लेकर आज तक अनेक काव्य तथा महाकाव्य लिखे गये, लेकिन प्रसाद जी के अतिरिक्त ऐसा कोई नहीं दिखाई देता जो तुलसी के 'राम' की तुलना में कोई पात्र लाया हो। इस दृष्टि से प्रसाद जी का प्रयत्न बड़ा सराहनीय है किन्तु उनकी 'कामायनी' 'मानस' की "तट की ज्योतिष्मती प्रफुल्लित वन बेली" होकर रह गई।

जहाँ तक इस काव्य की नई खोजी हुई कथावस्तु तथा उसमें गुँथी कवि-कल्पना

का सम्बन्ध है, यह चीज बड़ी अनोखी और भव्य है। काव्य की दृष्टि से इसमें ऊँचे दर्जे की सम्मोहकता और मधुरता है। इसकी अर्थ-भूमि संक्षिप्त और परम सुन्दर है, पर इतनी नहीं जितनी कि 'प्रसाद' के युग को अपेक्षित थी। हम यह भी मानते हैं कि कवि का संदेश इच्छा, कर्म और ज्ञान का समन्वित प्रयोग सुन्दर है, कवि ने इन तीनों के मेल-शिवतत्त्व-ठीक ही देखा है किन्तु उनके नायक 'मनु' यह चरितार्थ न करके ठोस जगत् के संघर्षों से भाग जाते हैं और अन्त में हिमालय की शरण गहते हैं। यह जगत् के सामने आदर्श नहीं हो सकता। यथार्थ जीवन में संघर्षों से वीतरागत्व का संदेश कैसे अंगीकार किया जा सकता है। प्रत्येक मनुष्य यदि 'मनु' के समान उसी 'आनन्द-भूमि' में चला जाय तो सृष्टि का कार्यक्रम तो नहीं चल सकता। संसार साहित्य से ऐसी वस्तु अथवा संदेश की आशा करता है जो उसे यहीं पर संबल दे और यहीं पर यहाँ की समस्याओं को सुलझा दे। मनु संघर्ष-निरत नहीं, संघर्ष-विरत हैं और इस तरह सृष्टि-क्रम में फँसे मानव के लिये वह अंगीकार्य नहीं होते! 'राम' संघर्ष-निरत हैं और 'रामराज्य' की स्थापना करते हैं, उस राज्य में देवता फूलों की वर्षा करते हैं। 'मनु' जब शासन-भार सँभालते हैं तो अपने स्वैराचार के कारण प्रजा को विद्रोही बना देते हैं। इस स्थल पर प्रजा का कर्म प्रशंसनीय और नायक का कर्म दंडनीय हो जाता है। इस स्थल पर यह और कह दिया जाय कि मनु यंत्रवादी हैं ('प्रसाद' जी के युग को देखते हुए प्रगतिशील)। उनके इस उन्नतिशील अंग की भी उन्होंने 'प्रजा' की पिछड़ी हुई भावनाओं से प्रताड़ना करा दी। प्रजा कहती है—

"प्रकृत शक्ति तुमने यंत्रों से सबकी छीनी।
शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर झीनी॥"

'मनु' इसका कोई उत्तर नहीं दे पाते। मानव-व्यवस्था के प्रवर्तक मनु पराजित हो जाते हैं। यद्यपि मनु-युग के यंत्रवाद की कल्पना समीचीन नहीं, फिर भी यदि कवि ने अपने युग की समस्या को रखा था, उसका निर्वाह ठीक करना चाहिये था। इससे मालूम पड़ता है कि कवि अपने युग की सच्चाई से प्रभावित नहीं हुए। उनके 'नायक' 'मनु' न तो ऐतिहासिक सत्य का और न समय की पुकार का प्रतिनिधित्व कर सके।

हाँ, इतना हम कह सकते हैं कि उनके नारी—पात्र और विशेषकर श्रद्धा का चरित्र बड़ा सबल है। हमारी सम्मति में उसे तुलसी की 'सीता' के समकक्ष बैठाया जा सकता है।

५

प्रसाद की काम सम्बन्धी भावना

[डॉक्टर सोमनाथ गुप्त]

'काम' शब्द के साथ जो अर्थ और भावनाएँ लगी हुई हैं, उनका इतिहास और स्वरूप साहित्य के अध्ययन में एक महत्त्वपूर्ण विषय है। आज के हिन्दी साहित्य में 'काम' प्रायः 'कामदेव' का पर्यायवाची है। इस शब्द का भी प्रयोग होते ही 'रतिनायक', 'शृंगार-रस के अधिकृत देवता', 'पञ्च-सर', 'तपस्याओं के भंग करने वाले' और 'प्रेम के अग्रदूत' एक देवता की मूर्ति सामने खड़ी हो जाती है। वह महाशय 'अतनु' होते हुए भी मूर्तिमान दिखाई देते हैं। इन्हीं से सम्बन्धित कुछ शब्दों का भी प्रयोग साहित्य में होता है—'कामना' 'वासना', 'इच्छा' आदि। धर्म, अर्थ और मोक्ष के साथ 'काम' भी उन चार पदार्थों में से है जिसकी प्राप्ति के लिए संसार का मानव प्रयत्नशील है और जो उसके जीवन-आदर्शों की एक व्यावहारिक साधना है।

परन्तु साधारण बोलचाल में 'काम' का प्रयोग 'सम्भोग' और उसी के साथ की सभी भावनाओं एवं क्रिया-व्यापारों के लिए प्रायः होता है। अतएव आचार-शास्त्र की दृष्टि से 'काम' में अश्लीलता का समावेश हो गया है। और विज्ञान की दृष्टि से वह मानव-मस्तिष्क और उसके कार्यों के अध्ययन की एक परम आवश्यक सामग्री बन गया है।

परिणाम यह हुआ है कि 'काम' के इस अनेकोन्मुखी रूप ने संसार में अनेक अनर्थ कर डाले हैं। इसके कारण अनेक अनात्मिक वृत्तियों का जन्म हुआ है। स्वार्थ, विलास, अहम्, क्रोध, मद, लोभ और मत्सर आदि शत्रुओं की उत्पत्ति का एकमात्र कारण 'काम' का भौतिक रूप है। विश्व में पाई जाने वाली विषमता-समरसता का अभाव इसी काम की सृष्टि है। वह लज्जा, घृणा और पाप का उद्घोषक है। उसका—कामोपासना का अन्तिम परिणाम अपने इन भक्तों की सृष्टि का विनाश है।

'प्रसाद' ने 'काम' की इस अनात्मवादिता को अच्छी प्रकार पहचाना था। उसके इस भौतिक रूप के जघन्य परिणाम से उनकी आत्मा तड़प उठी थी। देवताओं की सृष्टि-विनाश का यही मूल कारण था। 'कामायनी' में काम के इस स्वरूप का वर्णन स्वयं काम द्वारा कराया गया है—

"मेरी उपासना करते वे,
मेरा संकेत विधान बना;
विस्तृत जो मोह रहा मेरा,
वह देव विलास वितान तना।"

"मैं काम रहा सहचर उनका,
उनके विनोद का साधन था।
हँसता था और हँसाता था,
उनका मैं कृतिमय जीवन था॥"
(पृष्ठ ७१)

और इसका परिणाम हुआ—

"देवों की सृष्टि विलीन हुई,
अनुशीलन में अनुदिन मेरे;
मेरा अतिचार न बन्द हुआ,
उन्मत्त रहा सबको घेरे॥"

काम के इस स्वरूप से अनुप्राणित व्यक्ति मङ्गल-अमङ्गल, तथा धर्म-अधर्म का विचार नहीं करता और फिर ऐसी अवस्था में प्रलय से अधिक उपयुक्त ऐसी सृष्टि का दूसरा परिणाम भी होना असम्भव है।

मनु भी उसी कामोपासक दैवीय सृष्टि के बचे हुए प्राणी थे। अतएव एकाकी होने पर भी, सब कुछ खो जाने पर भी, वह अपनी मूल प्रवृत्ति से पृथक् न हो सके। इड़ा—'बुद्धि'—के सम्पर्क में रहकर भी उन्होंने अपनी अन्तरात्मा में स्थित काम के भौतिक स्वरूप को नहीं समझा। अपने जीवन के आरम्भ में वासना को प्रमुख स्थान देने के कारण मनु नारी के सत्स्वरूप को भी नहीं पहचान सके। वह तो श्रद्धा की जड़-देह पर आसक्त थे। जीवन की कल्याण-भूमि और उसके अमृत-धाम हृदय तक उनकी पहुँच कब सम्भव थी। श्रद्धा ने उन्हें अमृत दिया और मनु ने उस सौन्दर्य-जलधि से केवल गरल-पात्र भरा—

"मनु! उसने तो कर दिया दान।
वह हृदय प्रणय से पूर्ण सरल,
जिसमें जीवन का भरा मान।
जिसमें चेतनता ही केवल निज,
शान्त प्रभा से ज्योतिमान॥
पर तुमने तो पायी सदैव,
उसकी सुन्दर जड़ देह मात्र।
सौन्दर्य-जलधि से भर लाये,
केवल तुम अपना गरल-पात्र॥"
(पृष्ठ १६३)

जिस प्रकार भगवान् शंकर ने 'काम' के कायिक रूप को भस्म कर दिया था उसी प्रकार प्रसाद ने भी उसके भौतिक रूप को जो मनु में पैतृक सम्पत्ति के परिणामस्वरूप

रह गया था 'श्रद्धा' द्वारा विनष्ट कराके मनु को 'काम' का आध्यात्मिक आलोक दिखाया है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि प्रसाद में 'काम' का यह भौतिक रूप भी प्रस्तुत है पर ग्राह्य नहीं है।

'काम' का एक दूसरा रूप भी हमारे शास्त्रों में आया है। काम-सूत्र में वात्स्यायन ने 'सामान्य' और 'विशेष' काम की चर्चा की है।[1] पाँच इन्द्रियों के पाँच विषयों (रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श) में प्रकृति-अनुकूल सुखद पदार्थों के अनुभव की इच्छा सामान्य-काम है। 'इच्छा', 'वासना', 'तृष्णा' आदि इसी सामान्य-काम के पर्याय हैं। पतङ्ग रूप में, मछली रस में, भ्रमर गन्ध में, हरिण शब्द में और हाथी स्पर्श में आसक्त देखे जाते हैं; परन्तु मनुष्य में इन सबका समावेश पाया जाता है और इसीलिए वह पञ्चशर का दास बनता है। मनु ने इसका अनुभव किया है—

"पीता हूँ, हाँ मैं पीता हूँ,
यह स्पर्श, रूप, रस, गंध भरा।
मधु लहरों के टकराने से,
ध्वनि में है क्या गुन्जार भरा॥"

—पृष्ठ ६६

स्वयं 'काम' ने इसी के कारण अपना अवसाद प्रकट किया है—

"प्यासा हूँ, मैं अब भी प्यासा,
सन्तुष्ट ओघ से मैं न हुआ।
आया फिर भी वह चला गया,
तृष्णा को तनिक न चैन हुआ॥"

—पृष्ठ ७१

स्त्री और पुरुष एक दूसरे के शरीर में इन्हीं पाँचों विषयों का सार अनुभव करते हैं। वात्स्यायन के विशेष काम की भावना स्पर्श-सुखानुभूति की प्रतीति पर अवलम्बित है (काम-सूत्र, प्रथम अधिकरण, अध्याय २, सूत्र १२)। 'वासना' सर्ग में मनु के काम का यह स्वरूप प्रसाद जी ने चित्रित किया है—

"चल पड़े कब से हृदय दो पथिक-से अश्रान्त।
यहाँ मिलने के लिए जो भटकते थे भ्रान्त॥

× × ×

एक जीवन-सिन्धु था, तो वह लहर लघु लोल।
एक नवल प्रभात, तो वह स्वर्ण किरण अमोल॥

१. वात्सायन, कामसूत्र १–२, ११–१२।

एक था आकाश वर्षा का सजल उद्दाम।
दूसरा रञ्जित किरण से श्री कलित घनश्याम॥"

परस्पर प्रीति की इसी पृष्ठभूमि में भावी प्रणय के अनुकूल उपादान अनायास ही उपस्थित हो जाते हैं। मतवाली प्रकृति ऐसे ही अवसर पर राशि-राशि नक्षत्र पुष्पों को 'दो' होकर भी 'एक' बनने वालों के चरण-प्रान्तों में लुटकर अपने को धन्य मानती है। 'मनु' और 'श्रद्धा' के उस मिलन में भी काम-विशेष का यही मङ्गलमय सङ्गीत प्रतिध्वनित हो गया था। मनु कहने लगे—

"आज ले लो चेतना का यह समर्पण दान।
विश्व रानी! सुन्दरी नारी! जगत का मान॥"

—पृष्ठ ६३

और श्रद्धा जैसे धरती में गड़ी जा रही थी—

"स्पर्श करने लगी लज्जा ललित कर्ण कपोल।
खिला पुलक कदम्ब-सा था भरा गद्गद् बोल॥
किन्तु बोली—क्या समर्पण आज का हे देव;
बनेगा चिर-बन्ध नारी हृदय हेतु सदैव?
आह मैं दुर्बल, कहो क्या ले सकूँगी दान?
वह जिसे उपभोग करने में विकल हों प्रान॥"

—पृष्ठ ६४

सामान्य-काम से आगे बढ़ते हुए दोनों विशेष-काम की अवस्था पर आते हैं। प्रसाद यदि चाहते तो इस प्रसंग में बह जाते और नारी-प्रणय का एक अत्यन्त भव्य और अनुगुञ्जित चित्र अंकित कर डालते क्योंकि यह प्रसंग ही ऐसा है। कृष्णभक्त कवियों ने काम-विशेष का वर्णन 'दान-लीला' और 'मान-लीला' के अन्तर्गत किया है और उस पर अध्यात्मवाद का रंग चढ़ाया है; रीतिकालीन कवियों ने इसी प्रसंग में नायक-नायिका भेद के अन्तर्गत पूर्व-राग और संयोग के अन्तर्गत भाव-प्रदर्शन कर उसे रस-पटल से आवरित कर दिया है परन्तु बुद्धिवादी युग में रहने वाले प्रसाद के सामने दोनों आवरण अनावश्यक थे। उन्होंने न देवत्व का आश्रय लिया और न लम्पटशाही भद्रता के आनावरण का। उन्होंने मनोवैज्ञानिक चित्रपटी पर अपनी सुन्चारु अनुभूति की संस्कार-तूलिका से एक बोधगम्य परन्तु मनोरम छाया-चित्र अंकित कर दिया है। वह संयमित और श्रद्धामूलक नारी का चित्र है जो जीवन के सुन्दर समतल में पीयूष-स्रोत के समान बहती है, जो अपने जीवन के स्वर्ण स्वप्नों का अश्रु-सलिल हाथ में लेकर पहले ही उसे दूसरों को दान कर चुकी है और जो मन का सब कुछ रखकर भी आँसू से भीगे अञ्चल पर अपनी स्मिति-रेखा से एक सन्धि-पत्र लिखने के लिए प्रस्तुत है।

'काम' का एक विशद रूप भी प्रसाद ने प्रस्तुत किया है। यह रूप एक अद्भुत आकर्षण लेकर आता है जिसके फलस्वरूप सभी विश्लिष्ट पदार्थ संश्लिष्ट रूप धारण करते हैं और जीवन एकाकी न रहकर, अपने में दूसरों को मिलाकर उस मिलन का आनन्द उठाता है। तब—

"प्रत्येक नाश विश्लेषण भी
संश्लिष्ट हुए बन सृष्टि रही।
ऋतुपति के घर कुसुमोत्सव था,
मादक मरन्द की वृष्टि रही॥
भुजलता पड़ी सरिताओं की,
शैलों के गले सनाथ हुए।
जलनिधि का अञ्चल व्यजन बना,
धरणी के दो-दो हाथ हुए॥"

यद्यपि देखा जाय तो यह रूप काम का विशेष रूप ही है। भेद केवल इतना ही है कि 'काम-विशेष' की यह परिमिति स्त्री और पुरुष तक सीमित नहीं, उसका क्षेत्र प्रकृति का विस्तृत प्रांगण है; उसकी लीला-भूमि अंग्रेजी कवि Patmore के शब्दों में 'In married life, unity means a pair' मात्र नहीं वरन् वह क्षेत्र 'एकोऽहं' का विराट क्रीड़ास्थल है जिसमें वह 'बहुस्याम' होते हुए भी फिर 'एकोऽहं' पर आ जाता है और इस प्रकार एकत्व में अनेकत्व तथा अनेकत्व में एकत्व का सिद्धान्त प्रतिपादित करता है।

प्रसाद का 'काम' एक सृजक-शक्ति है और वह शक्ति अनुरागमयी है—

"वह मूल शक्ति उठ खड़ी हुई,
अपने आलस का त्याग किए;
परमाणु-बाल सब दौड़ पड़े,
जिसका सुन्दर अनुराग लिए॥"

—पृष्ठ ७२

'काम' का यही रूप वेदों में 'विश्व-रेतस्' कहा गया है। विश्वोन्मीलन का आधार यही काम है और इसी को पाने और जानने के लिए ऋषियों ने घोर तपस्या की है। 'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोस्मि भरतर्षभ' (गीता ७–११) में काम में अध्यात्म रूप का ही वर्णन अर्जुन के सामने किया गया है। मोहजन्य काम और धर्म-अविरुद्ध काम का अन्तर 'काम' सम्बन्धी मनोवैज्ञानिक व्याख्या का बड़ा सूक्ष्म और उपयोगी प्रकरण है!

प्रसाद 'काम' को केवल मूलशक्ति ही नहीं मानते, वह उसे 'प्रेम-कला' भी स्वीकार करते हैं—

'यह लीला जिसकी विकस चली, वह मूल शक्ति थी प्रेम-कला' प्रसाद 'काम' के अन्दर निहित ऐषणा की भावना की ओर से सतर्क हैं। 'काम' कहता है—

"आरम्भिक वात्या उद्गम में,
अब प्रगति बन रहा संसृति का।"

परन्तु अपने इस व्यवहार का परिशोध वह स्वयं करना चाहता है और वह भी मानव की शीतल छाया में—मानवी सृष्टि में, दैवी सृष्टि का परिणाम उसे दिखाई दे ही चुका है। जल-प्लावन से जो धक्का पहुँचा है, यह ऋणशोध-प्रवृत्ति उसी का परिणाम है। कितनी स्वाभाविक प्रेरणा है—शुद्ध विकास के लिए—

"दोनों का समुचित प्रतिवर्तन,
जीवन में शुद्ध विकास हुआ।
प्रेरणा अधिक अब स्पष्ट हुई,
जब विप्लव में पड़ ह्रास हुआ।।"

—पृष्ठ ७६

काम के इस मानवीकरण द्वारा प्रसाद ने शिव द्वारा भौतिक काम के उन्मूलन की पौराणिक कथा को कविता का रूप देकर बुद्धिवादी की अनुभूति के अनुरूप बना दिया है।

कामायनी काम-गोत्र-जा है। समस्त संघर्ष के उपरान्त मनु को शान्ति प्राप्त करने में इड़ा (बुद्धि) की अपेक्षा श्रद्धा ही सहायक होती है। इस चरित्र-चित्रण द्वारा प्रसाद ने सिद्ध किया है कि संसार की उत्पत्ति से लेकर उसकी विषमताओं में जिन-जिन तत्त्वों का समावेश है उनमें 'काम' प्रधान है। 'काम' के वास्तविक स्वरूप को पहचानने के लिए बुद्धि के साथ-साथ श्रद्धा भाव की आवश्यकता है। श्रद्धा के अभाव में केवल बुद्धिवाद से अकेले काम नहीं चल सकता।

यह निष्कर्ष बुद्धिवादियों के लिए प्रसाद की बड़ी भारी चुनौती है। प्रसाद अपने 'काम' को मस्तिष्क-परिवर्तन का अग्रदूत बना गये हैं। भारतीय विचारधारा के आधार पर विषमता में समता स्थापित करने का यह ढंग कितना स्वाभाविक, मनोवैज्ञानिक, सुगम और दृढ़ है, अभारतीय विचारों से ओतप्रोत विद्वानों को शान्तिपूर्वक इस पर विचार करने की आवश्यकता है।

६

गेटे और प्रसाद

[श्रीमती शचीरानी गुर्टू]

गेटे और प्रसाद—दोनों ने कला-साधना के भग्न खण्डहर में एक दिन चंचल मन, किन्तु अकम्पित करों से स्नेह-दीप सँजोया था और आकुल प्राण एवं हृदय की टीस लिये वे अनिश्चित् काल तक किसी तिमिराछन्न अज्ञात-पथ में भटकते रहे थे, जहाँ प्रेम और साधना के द्वन्द्व ने उनके मार्ग को दुर्गम बना दिया था तथा जहाँ उनकी बंदिनी, आहत आत्मा रह-रहकर न जाने कितनी बार तड़प-पुकार उठी थी—"मैं एक भटकी हुई बुलबुल हूँ। मुझे किसी टूटी डाल पर अंधकार बिता लेने दो। इस रजनी-विश्राम का मूल्य अंतिम तान सुनाकर जाऊँगी।"

जर्मनी के महामहिम, वयोवृद्ध कलाकार गेटे के साथ तरुण कवि प्रसाद की तुलना का प्रयास कदाचित् कुछ साहित्य-रसिकों को हास्यास्पद प्रतीत हो, किन्तु जिस बहुमुखी-प्रतिभा और विराट्-कल्पना के सहारे गेटे ने अपने महा ग्रन्थ 'फॉस्ट' (Faust) की रचना साठ वर्ष के लम्बे, दीर्घ-काल में अपने तरल रक्तकणों से सींच-सींच अत्यन्त कठिनाई से पूरी की थी, उस अलौकिक प्रतिभा का आभास प्रसाद में हमें उनके अल्प जीवन-काल में ही हो गया था। जिन कला-पारखियों ने उनके अन्तर में संचित अनन्त वैभव का यत्किंचित आभास पाया है, वे इस अप्रत्याशित भावना को मन में लाये बिना नहीं रह सकते—काश! वे कुछ दिन और जीवित रह पाते। निःसन्देह, इन युग्म व्यक्तित्वों में अनेक असमानताओं के बावजूद भी जो एक विशेष समानता दृष्टिगत होती है—वह है उनके स्वभावों की विचित्रता, रंजित कल्पना, दार्शनिक रहस्यात्मकता और असाधारण, निर्व्याज भाव-सघनता में। जीवन के कगार पर खड़े हो दोनों ने प्रकृति के अणु-अणु में प्रेमतत्त्व को सन्निहित कर यौवन के मादक सौन्दर्य-स्वप्नों को कल्पना की निविड़ रंगीनियों में आँख-मिचौनी करते देखा था और उनके मन का आह्लाद व विफल प्रेम का अवसाद सुख-दुःख के विविध, रंगीन चित्रों को सृजन करने में समर्थ हुआ था। कहना न होगा—दोनों की रचनाओं में एक स्वप्निल मानसिक वातावरण और व्यथा का सम्मोहन है। प्रेमोन्माद और बाह्य सौन्दर्य की अभिव्यक्ति में उनके भाव जितने ही गूढ़ होते गए हैं—उनकी भावाभिव्यंजना की कला भी उतनी ही सघन और गुम्फित होती गई है। न जाने उन्होंने कितनी बार नीरव क्षणों में अपनी अलसायी, अर्द्धनिमीलित पलकों को तन्मयता की कारा में बन्दी बना किन्हीं अज्ञात कारणों से अपने मन के अन्तरतम प्रदेश में एक विचित्र उमंग, एक विचित्र कसमसाहट और मीठी व्यथा का

अनुभव किया था। यौवन का उद्दाम वेग कभी उनकी धमनियों में इतना तीव्र हो उठता था कि उन्हें ऐसा लगता मानो वे इसे रोक सकने में असमर्थ हैं। एक अजीब मदहोशी एवं तन्द्रिलता में उन्हें वातावरण की निस्तब्ध शान्ति, असीम शून्य का मूक मौन, और जीवन की वृहत्तम शून्यता अखरने लगती। उनका मन किसी अज्ञात वस्तु के साक्षात्कार की लालसा में तड़प उठता। जब शुभ्र, स्निग्ध चाँदनी की पतली-सी हल्की, झीनी चादर प्रकृति पर छा जाती और आकाश में बादल के सफेद, छोटे टुकड़े चपल शिशु-से इतस्ततः दौड़ते, जब सारा संसार थककर सो जाता और ज्योत्स्ना पर तिरते हुए शीतल बयार के झोंके एक छोर से दूसरे छोर तक लहरा-लहरा उठते, तब उनके हृदय की उमंग, आकांक्षा और मस्तिष्क की अशान्ति चाँदनी के दूरस्थ तट पर टकराकर लौट आती और किसी न किसी के प्रति नीरव संदेश कहती हुई प्रकृति के तार-तार में प्रकम्पन भर देती।

यौवन-स्वप्न

अपने जन्मस्थान फ्रांकफुर्ट नगर में स्थित अपने विशाल पारिवारिक भवन की खिड़कियों से गेटे ने न जाने कितनी बार आत्म-विभोर हो, सुषुप्ति के आवरण में आवृत, प्रकृति के अदृश्य संकेतों में, अपनी प्रेयसियों के सुन्दर मुख-मण्डल का दर्शन किया था। अल्हड़ नवयौवना ग्रीशन की व्यथा-भरी, स्निग्ध मुस्कान और चपल नेत्रों के क्रूर कटाक्ष न जाने कितनी बार उसकी गीली आँखों के समक्ष बिजली से कौंध गये थे, जिन्हें कि वह मर्मघाती और पीड़क होने पर भी यावज्जीवन न भुला सका था। एक स्थल पर वह लिखता है—

"उसका प्यारा गोल मुख खिड़की से बाहर लटका हुआ था। सचमुच, मैंने उसे आकाश की ओर निहारते देखा। वह ज़रा भी हिली-डुली नहीं। बहुत धीमी पुराने गीत की अस्पष्ट-सी एक कड़ी सुन पड़ रही थी 'यदि मैं चिड़िया होती।' वह नगर की सुदृढ़ प्राचीरों का अवलोकन कर रही थी, जो उसकी विरह-व्यथा पर अट्टहास-सा करते प्रतीत होते थे।"

अपनी द्वितीय प्रेयसी फ्रेडरिका ब्रोयिन की सरल उत्सुकता, उद्दीप्त लालसा एवं निराश प्रेम की आकुल पीड़ा को भी वह मन-ही-मन सोच अधीर हो उठता था, जिसके सच्चे प्रेम की अवहेलना कर उसने घोर अपराध किया था और जिसके लिये वह अपने आप को कभी क्षमा न कर सका। 'फॉस्ट' के प्रथम भाग की नायिका मार्गारेट उसकी प्रेयसी फ्रेडरिका ब्रोयन की प्रतीक ही है जिसकी सच्ची लगन और 'प्रेम की पीर' को उसने निम्नलिखित पंक्तियों में इस प्रकार व्यक्त किया है—

"मेरी शांति भंग हो गई।
मेरा हृदय तड़प रहा है।
आह! उस शांति को मैं कभी न पा सकूँगी—न—न कभी नहीं।

केवल उसे देखने के लिए ही मैं यहाँ बैठी हूँ।
केवल उससे मिलने के लिए ही मैं घर से निकल पड़ी हूँ।"

'फॉस्ट' में मार्गारेट की दयनीय स्थिति पर फॉस्ट का हृदय भी द्रवीभूत हो उठता है और वह अपनी दुर्बुद्धि और अनुचित व्यवहार पर आत्मग्लानि से भर जाता है, जिससे कि हम फ्रेडरिका ब्रॉयन के प्रति गेटे की अन्तर्व्यथा और मानसिक अनुताप का सहज ही अनुमान लगा सकते हैं।

सुन्दर युवक गेटे के आकर्षक व्यक्तित्व पर मुग्ध होने वाली मनचली छोकरियों की कभी कमी न रही और एक के बाद एक उसे अपने प्रेमपाश में आबद्ध करने की मानो होड़-सी लगा रही थी। कीशन, फ्रेडरिका, ब्रायन, लोट (चारलोटबफ), लिली, चारलोट फॉन स्टाइन, क्रिश्चियन बुलूपियस आदि अनेक सुन्दरी सुकुमारियाँ उसके जीवन में आईं। सभी ने उसके हृदय के तार झनझना दिये, किन्तु किसी के प्रति भी वह विश्वस्त न रह सका और प्रेम की शृंखलाएँ उसके अस्थिर मन को कभी बाँधकर न रख सकीं। गेटे के प्रेम का दम्भ; उसके हृदय की जलन, किसी में अपने हृदय का समूचा प्रेम उँड़ेल देने की उत्कट इच्छा, किसी में अपने को खो देने, अपने अस्तित्व को विलीन कर देने की उसकी अतृप्त लालसा कभी पूरी न हो पाई। उसने स्वयं लिखा है—"मेरे जीवन का सबसे बड़ा आनन्द है उस वस्तु की अभिलाषा, जो मेरी पकड़ से बाहर है—जो मुझ से अदृश्य है।" आदर्शवादियों की दृष्टि में गेटे का यह कदाचित् सबसे महान् अपराध था, किन्तु उसकी उसने पर्वाह न की। वह आजन्म स्वच्छन्द प्रेम का उपासक रहा।

"आह! यह पृथ्वी, यह सूर्य
यह उल्लास, यह आनन्द
यह प्रेम, यह आकर्षण
कितना सुन्दर है, कितना मोहक और कितना सुखकर जैसे प्रभातकालीन मेघ पर्वत-शिखरों पर उड़ानें भरते हों।"

प्रेम की मधुर व्यथा की अभिव्यंजना करते हुए गेटे लिखता है—

"प्रेम में स्वर्गीय आनन्द और मृत्यु की-सी यन्त्रणा है, किन्तु जो प्रेम करता है वही सच्चा सुखी और भाग्यवान है।"

प्रसाद भी जब 'निर्जन प्रान्त अंधकार पुते आकाश के नीचे तारों से अठखेलियाँ करता' अथवा बाह्य सौन्दर्य की रमणीयता में उनका मन विभोर हो जाता तो वे 'पावस की मेघमाला में छिपे हुए आलोक पिंड को निरखने की अदम्य चेष्टा करते।' प्रेम की अभ्यर्थना में वे लिखते हैं, "स्वास्थ्य, सरलता तथा सौन्दर्य के प्राप्त कर लेने पर प्रेम-प्याले का एक घूँट पीना-पिलाना ही आनन्द है। इसकी पूर्णता बन्धन-युक्त होने पर ही संभव है।"

अल्हड़ यौवन की देहरी पर पाँव रखते ही उन्होंने प्रेम की कसक का अनुभव किया था और वह ही उनके हृदय का मूर्त हाहाकार बन उनके स्वरों में पिघल गया था।

"शैशव ! जब से तेरा साथ छूटा, तब से असंतोष, अतृप्ति और अटूट अभिलाषाओं ने हृदय को घोंसला बना डाला। इन विहंगमों का कलरव मन को शांत होकर थोड़ी देर भी सोने नहीं देता। यौवन सुख के लिये आता है—यह एक भारी भ्रम है। आशामय भावी सुखों के लिए इसे कठोर कर्मों का संकलन ही कहना होगा। उन्नति के लिए मैं भी पहली दौड़ लगाने वाला हूँ। देखूं, क्या अदृष्ट में है।"

कभी-कभी उनके हृदय के किसी सुदूर, भीतरी कोने में उदासी उभर आती और एक हल्का-सा, अजीब-सा बोझ मन पर छा जाता। अलबेली प्रकृति जब पत्तों की पायलें झनकारती और इन्द्रधनुष की रंगीनी एवं बिजली की कौंध के चमचमाते आभूषण धारण कर इठलाती, मचलती, नीलाकाश में मेघमाला से आँखें लड़ाती तो कवि के हृदय-पटल पर किसी निर्मम बाला की चाह मचल उठती, अधरों पर अनुराग बिखर जाता और नयनों में विरह की छाया छटपटा उठती। मौन वातावरण में वह खोया-सा अवाक् बैठा रह जाता और विशाल गहरी वेदना में उन्हें एक चुटीली मिठास का अनुभव होता। एक अस्पष्ट-सा आकार, प्रतिक्षण विलीन होकर पुनः मुड़ती हुई वर्तुल रेखाओं से घिरा एक ज्योतिपुञ्ज मानवाकार उनके नेत्रों के समक्ष थिरक उठता, जिससे उन्हें अनिर्वचनीय सुख-शांति की अनुभूति होती। 'अजातशत्रु' से उद्धृत निम्नलिखित पंक्तियों में उनके अपने हृदय की प्रेमोन्मत्त स्थिति का कुछ-कुछ आभास मिलता है:—

"मल्लिका ! तुम्हे मैंने अपने यौवन के पहले ग्रीष्म की अर्द्ध-रात्रि में आलोकपूर्ण नक्षत्र-लोक से कोमल हीरक कुसुम के रूप में आते देखा। विश्व के असंख्य कोमल कण्ठ की रसीली तानें पुकार बनकर तुम्हारा अभिनन्दन करने, तुम्हें सँभालकर उतारने के लिए नक्षत्र-लोक को गई थीं। शिशिर-कणों से, सिक्त पवन तुम्हारे उतरने की सीढ़ी बना था। ऊषा ने स्वागत किया, चाटुकार मलयानिल परिमल की इच्छा से परिचारक बन गया, और बरजोरी मल्लिका के एक कोमल वृन्त का आसन देकर तुम्हारी सेवा करने लगा। उसने खेलते-खेलते तुम्हे उस आसन से भी उठाया और गिराया। तुम्हारे धरणी पर आते ही जटिल जगत् को कुटिल गृहस्थी के आलवाल में आश्चर्यपूर्ण सौन्दर्यमयी रमणी के रूप में तुम्हें सबने देखा।"

'वेर्टेर' और 'आँसू'

कहने की आवश्यकता नहीं कि गेटे और प्रसाद के वैचित्र्यपूर्ण जीवन में जो करुण अनुभूतियाँ हुईं, जो-जो आघात और ठेसें लगीं, जो-जो वेदना और निराशाएँ संचित होती गईं—वे गेटे की लेखनी से 'वेर्टेर के शोकाश्रु' (The sorrows of Werther) और प्रसाद द्वारा 'आँसू' में उमड़ बह चली।

"जो घनीभूत पीड़ा थी,
मस्तक में स्मृति-सी छाई।
दुर्दिन में आँसू बनकर,
वह आज बरसने आई॥"

गेटे ने मन की बहुत ही डाँवाडोल स्थिति में अपने रोमांचकारी उपन्यास 'वेर्टेर' की रचना की थी। 'लोट' नाम की एक अठारह वर्षीया किशोरी ने उसके प्रेम को ठुकराकर उसके हृदय पर गहरा आघात किया था। उस मातृ-विहीना बाला के सुन्दर, सौम्य मुख-मंडल, गम्भीर चेष्टा, ललकती दृष्टि और दयार्द्र एवं करुणा-विगलित व्यवहार में कुछ ऐसा आकर्षण था जो दूसरों को सहज ही वश में कर लेता था। वह जिस खूबी और चतुराई से अपने छोटे-छोटे ग्यारह भाई-बहिनों की देखभाल करती और अपनी उद्धत तरुणाई में भी अपने मन को संयत रखकर अपनी समस्त गृह-व्यवस्था को सँभालती उससे गेटे के मन पर बिजली की भाँति असर हुआ। वह अनजाने में ही अपना सब कुछ उस पर न्यौछावर कर बैठा। लोट का विवाह-सम्बन्ध एक मेधावी युवक जॉन केसनर से तय हो चुका था, अतएव उसने प्रेम की डोर कभी शिथिल न होने दी और केसनर ने भी सब परिस्थितियों से अवगत होते हुए उस पर कभी सन्देह न किया। वह गेटे की भावुकता से परिचित था और लोट की सच्चरित्रता पर उसे कोई कारण नजर नहीं आया अन्त में गेटे के भावी जीवन का रंगीन स्वप्न बालू की भीत साबित हुआ। उसकी आशाओं और आकांक्षाओं पर पानी फिर गया। घोर अशान्ति, विप्लव और मन में करुण क्रन्दन लिये वह निरुपाय और असहाय हो फ्राकफुर्ट लौट आया। उस समय लोट और केसनर को जो उसने पत्र लिखे हैं; उनकी ध्वनि अत्यन्त विकृत, दर्दीली, अतृप्त प्रेम की प्यास और हृदय की तड़पन से ओतप्रोत है। प्रेम के कंटकाकीर्ण पथ पर वह अरमानों की झोली लेकर प्रेम की भीख माँगने चला था, किन्तु बदले में उसे मिला क्या—निराशा और दुत्कार। वह विक्षिप्त-सा हो उठा और आत्महत्या करने की सोचने लगा। उन दिनों सोने की मूठवाली एक सुन्दर कृपाण उसके सिरहाने लटकी रहती थी और उसका मन मौत की अँधेरी छाया में भटकता रहता था। उसी समय एक और भयंकर घटना घटी, जिससे गेटे के दिल पर मर्मभेदी प्रहार हुआ। यरूशलम नाम का एक धार्मिक प्रवृति का लेखक, जो गेटे से व्यक्तिगत रूप से परिचित था, अपने एक मित्र की पत्नी से असफल प्रेम के कारण आत्महत्या कर बैठा। इस दुःख-भरे संवाद को सुनकर गेटे तिलमिला उठा और उसने तत्क्षण केसनर को एक अत्यन्त शोक एवं व्यथा-भरा पत्र लिखा, जिसमें उसने ऐसे कठोर और वज्र-हृदय व्यक्तियों की भर्त्सना की, जो दूसरों के अरमानों की राख पर अपना घर बसाते हैं। मन की उद्दण्ड स्थिति में लिखा हुआ होने के कारण इसका कथानक भी अत्यन्त प्रचण्ड और प्रभावोत्पादक सिद्ध हुआ। इसमें एक निराश प्रेमी के

दारुण आत्मघात की कथा वर्णित की गई, जिसमें घोर अन्तर्व्यथा और चीत्कार होने से गहरी निराशा और अन्तर्वेदना निहित थी। गेटे ने 'वेर्टेर' लिखने के कई वर्ष बाद लिखा था—

"जिस प्रकार जल दारुण शीत से बर्फ़ की कठोरता में परिणत हो जाता है और किंचित उष्णता पाकर पिघलकर बह जाता है—उसी प्रकार 'वेर्टेर' की रचना करते हुए जो निर्मम परिस्थितियाँ मेरे दिल पर संघटित हो गई थीं वे ज़रा-सी राह पाते ही उपन्यास में उमड़ आईं।"

इस उपन्यास के छपते ही जर्मनी और सारे यूरोप में खलबली मच गई और कई भाषाओं में इसके अनुवाद हुए। 'वेर्टेर' से पूर्व गेटे ने 'गोट्ज़ विद दि आयरन हैण्ड' (Gootz with the Iron Hand) पुस्तक की रचना की थी, किन्तु अभी तक जनता उसे जान न पाई थी। 'वेर्टेर' केवल उसी के अल्हड़ यौवन की करुण अभिव्यक्ति न थी, अपितु प्रत्येक तरुण की दुर्दम्य इच्छाओं का आलोड़न प्रकट करती थी। इस उपन्यास को पढ़कर मनचले युवक-युवतियों के दिल विचलित हो गये और कई प्रेम की भ्रामक स्थिति में आत्महत्या कर बैठे, जिससे गेटे को अपनी सफलता पर गर्व होने के बजाय हार्दिक क्षोभ और पश्चात्ताप हुआ।

प्रसाद द्वारा रचित 'आँसू' विरह-काव्य में हृदय का उच्छल आवेग होते हुए भी 'वेर्टेर' जैसी भावों की तीव्रता और विचारों का विस्फोट नहीं है। पूर्व रचित 'चित्राधार', 'कानन-कुसुम', 'प्रेम-पथिक' और 'झरना' में जो अव्यवस्थित विषाद, परिवर्तनोन्मुखी प्रवृत्ति एवं बिखरे प्रेम की लौकिक-अलौकिक भावनाएँ बिखरी पड़ी हैं, किन्तु 'आँसू' में स्निग्ध आर्द्रता और हृदय की आहें हैं। जिस रूपसी रमणी के सम्पर्क से कवि के दिल में एक अजीब मस्ती, प्रेमोन्माद, विलासितापूर्ण सरसता और यौवन-विलास का उद्रेक हुआ था, वह उसके विछोह से क्षण भर में विलुप्त हो गया। वह तो अपनी झलक दिखाकर शून्य में समा गई, किन्तु उसकी स्मृति न मिटी। जो तड़पन, जो आकुलता, जो व्यथा वह छोड़ गई वह बल खाता हुआ 'आँसू' में बह आया। ठीक जिस परिस्थिति में गेटे द्वारा 'वेर्टेर' की रचना हुई उसी परिस्थिति में 'आँसू' भी लिखा गया, किन्तु 'वेर्टेर' में धधकती अग्नि सुलग रही है, जिसकी आँच दूसरों को भी दग्ध करती है और 'आँसू' में शीतल ज्वाला है, जिसका धुआँ अन्दर ही अन्दर उठकर रम जाता है। 'वेर्टेर' में प्रचण्डता और दाह है, 'आँसू' में रोदन और करुणा। 'वेर्टेर' में मस्तिष्क की आँधी तूफ़ान बनकर प्रकट हुई है—'आँसू' में प्रशान्त भावधारा अश्रुकणों में बिखर फूट पड़ी है। गेटे की निराशा और कटूक्तियाँ दिल पर चोट करती हैं, प्रसाद की व्यंजना परिष्कृत और हृदय-तल को स्पर्श करने वाली हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि विश्व के विरह-काव्यों में 'आँसू' का विशिष्ट स्थान है और कवि की आंतरिक जिज्ञासाएँ अत्यन्त सूक्ष्म

और रम्य होकर प्रकट हुई हैं। कवि की दृष्टि नारी के वाह्य सौन्दर्य तक ही सीमित नहीं, वरन् अन्तर्मुखी और रहस्यमयी होती गई है। सत्य और सौन्दर्य में नित्य डूबे रहने के कारण उसमें सामूहिक अनुभूतियों का एकीकरण है।

"इस करुणाकलित हृदय में,
अब विकल रागिनी बजती।
क्यों हाहाकार स्वरों में,
वेदना असीम गरजती ?
बस गई एक बस्ती है,
स्मृतियों की इसी हृदय में।
नक्षत्र लोक फैला है,
जैसे इस नील निलय में॥"

'आँसू' में प्रेयसी की निष्ठुरता और हृदय की गहरी टीस है। मानस-सागर में अतीत स्मृतियों की ऐसी उथल-पुथल मची हुई है कि जरा भी शांति नहीं। शून्य क्षितिज से हाहाकार की प्रतिध्वनि टकरा-टकराकर लौट आती है और कवि की विकल वेदना को जगाकर वेसुध-सा कर जाती है।

"मानस सागर के तट पर,
क्यों लोल लहर-सी घातें।
कलकल ध्वनि से हैं कहतीं,
कुछ विस्मृत बीती बातें॥
इस विकल वेदना को ले,
किसने सुख को ललकारा।
वह एक अबोध अकिंचन,
वेसुध चैतन्य हमारा॥
आती है शून्य क्षितिज से,
क्यों लौट प्रतिध्वनि मेरी।
टकराती बिलखाती-सी,
पगल-सी देती फेरी॥
अभिलाषाओं की करवट,
फिर सुप्त व्यथा का जगना।
सुख का सपना हो जाना,
भीगी पलकों का लगना॥"

'आँसू' के अंत में सुख-दुःख का सामंजस्य और निराश प्रेम का समाधान है।

रोने के पश्चात् कवि का मन बहुत हल्का हो गया है।

"मानव-जीवन वेदी पर,
परिणय हो विरह-मिलन का।
दुःख-सुख दोनों नाचेंगे,
है खेल आँख का मन का॥"

और भी.........

"लिपटे सोते थे मन में
सुख-दुःख दोनों ही ऐसे।
चन्द्रिका अँधेरी मिलती
मालती कुञ्ज में जैसे॥"

कवि की आन्तरिक कसक इन पंक्तियों में आ विश्राम पाती है और त्रस्त मन को सुखमय जीवन का संदेश दे जाती है।

"चेतना लहर न उठेगी,
जीवन समुद्र थिर होगा।
संध्या हो सर्ग-प्रलय की,
विच्छेद मिलन फिर होगा॥"

विकास-पथ की ओर

गेटे और प्रसाद के जीवन में 'वेर्टर' और 'आँसू' की रचना एक महत्त्वपूर्ण घटना है। उनकी अपरिपक्वावस्था की खुमारी, आकुलता, पीड़ा, उन्माद और भावोद्वेलन इन प्रारम्भिक कृतियों में आ मानों केन्द्रीभूत हो गया है। किन्तु इन्हें लिखने के पश्चात् पहले की बेचैनी शनैः शनैः भावनाओं की गहराई बनने लगी और प्रेम की उद्दण्डता कोमलता में परिणत हो गई। जीवन का अंधड़ और पागल उन्माद शांत हो गया और अंधकार को विच्छिन्न करके प्रकाश की रेखाएँ फूट पड़ीं। इन दोनों प्रेम-पथिकों ने अपनी अनवरत साधना से विषमताओं में भी सरल पथ का अन्वेषण किया और वासनाजन्य कलुषता में आध्यात्मिक उत्कर्ष और जीवन की समरसता का आभास पाया।

परिस्थितियों के समयाश्रित प्रभाव के कारण गेटे के जीवन में भी अभूतपूर्व परिवर्तन हो चुका था। अब सीना फुलाकर और सिर ऊँचा करके चलने की चाह कुछ कम हो गई थी, अभिरुचि में परिष्कार हुआ था और शृंगार-भावना व सौन्दर्य-प्रेम-चित्र भी तन्मयता के सधे स्वरों में बदल गये थे। फ्रांकफुर्ट के उच्छृंखल जीवन से गेटे का मन अकस्मात् ऊब गया और वह ड्यूक के आमंत्रण पर वाइमार चला आया। कुछ लोगों ने उसके वाईमार में बसने पर आश्चर्य प्रकट किया है, क्योंकि 'गोट्ज़' और 'वेर्टर' में गेटे ने दरबारी जीवन की विभीषिकाओं का विशद चित्रण किया है। वस्तुतः फ्रांकफुर्ट के

कोलाहलपूर्ण जीवन से दूर भागने की इच्छा के मूल में उसके सामाजिक अथवा राजनीतिक दृष्टिकोणों में परिवर्तन होने की बात न थी। जैसा कि कुछ लोगों का भ्रम है, प्रत्युत् वह निष्क्रियता में कर्म के आह्वान का कायल था और निम्न स्तर से साहित्य-साधना की उच्च मनोभूमि को स्पर्श करने का हिमायती। उसने मानव-जीवन के विविध पहलुओं में झाँकने का प्रयास किया और मनोवृत्तियों को संकीर्ण दायरे से ऊपर उठकर विकास-पथ की ओर अग्रसर होने में गौरव और गर्व का अनुभव किया। जिस वाइमार का ड्यूक फ्रांकफुर्ट में गेटे से मिला, उस समय उसका मन अपने चतुर्दिक् वातावरण से अत्यन्त अशान्त रहता था। वह कुछ ऐसे आवारा युवक-युवतियों के कुचक्र में फँस गया था, जिसका नेतृत्व स्थानीय बैंकर की लड़की लिली करती थी और जिसके पंजे से छूटना आसान बात न थी। लिली के सौन्दर्य, सुगठित शरीर के उभार और आकर्षक भावभंगियों पर वह इतना मुग्ध हो उठा था कि सीसनहेम में उसे फ्रेडरिका ब्रॉयन ने भी इतना आकर्षित न किया था और 'वेर्टेर' की लोट के उन्मत्त प्रेम से भी वह इतने दिन तक प्रभावित न रहा था। गेटे इस 'इश्क' की बला को अपने सिर से टालने की भरसक चेष्टा कर रहा था। उसे लगता था जैसे लिली और उसका फैशनेबुल परिकर उसकी जीवन-शक्तियों का ह्रास कर रहा है, उसकी चेतना को शिथिल बना रहा है और रूप की मोहिनी डालकर उसकी सोचने, समझने और विवेकपूर्वक कार्य करने की शक्ति का अपहरण कर रहा है। अपनी उन दिनों की स्फुट रचनाओं में गेटे ने अपनी इस घृणित आसक्ति के प्रति असंतोष प्रकट किया है और लिली को मायाविनी जादूगरनी बताया है।

किन्तु वाइमार में आकर रहने पर भी गेटे की जीवन-प्रणाली में कोई विशेष अन्तर न हुआ। नौजवान ड्यूक और उसके साथियों के सम्पर्क में निरन्तर आमोद-प्रमोद में ही उसे जुटा रहना पड़ता। हाँ, वहाँ वह फ्रांकफुर्ट की भाँति किसी रूपसी नारी के हाथों की कठपुतली मात्र न था, वरन् उस पर ही सब कार्यों को सम्पन्न करने का उत्तरदायित्व था। वह नृत्यशालाओं, रंगमंचों, नाटकों, खेलों और पार्टियों का स्वयं प्रबन्ध करता, कभी घुड़दौड़ और शिकार आदि खेलने की योजना बनाता और कभी वाइमार के इर्दगिर्द के जंगलों और समीपवर्ती ग्रामों में दोस्तों और लड़कियों के साथ सैर-सपाटे को निकल पड़ता। गेटे के इस आचरण की कुछ लोगों ने निन्दा की है, यहाँ तक अनुभवी और मननशील लेखक वाइलैंड ने भी इसे पाशविक वृत्तियों के प्रदर्शन की पराकाष्ठा बताया है। किन्तु गेटे को वह समय का अपव्यय न लगता—जैसा कि लिली की संगति में उसे ज्ञात होता था। निर्बंध विलास एवं अधिकार की स्पृहा ने उसकी सुप्त चेतना को जगा दिया था और उसका आन्तरिक प्रेम बाहरी आनन्द से ओतप्रोत हो [illegible] परिपुष्ट और विकसित होता जा रहा था।

११ जून, सन् १७७६ को वह ड्यूक द्वारा स्टेट का प्रिवी कौंसिलर [illegible] कर

दिया गया, जिससे सेन-संचालन और गृह-विभाग की व्यवस्था का भार भी उस पर आ पड़ा। गेटे की जिम्मेदारियाँ बढ़ गईं। उसका दैनिक कार्यक्रम अत्यन्त व्यस्त हो गया। वह सारे ग्रामों की स्वयं देखभाल करता और गाँव-गाँव, घर-घर घूमकर किसानों और ग्रामीणों की जीवन-दशा का अवलोकन करता। कभी दूर खेतों अथवा उनकी झोंपड़ियों में घुसकर उनकी दुरवस्था पर करुणा से भर जाता और ड्यूक से उनकी उन्नति और सुव्यवस्था की सिफ़ारिश करता। एक बार किसी गाँव में आग लगने पर वह स्वयं घटनास्थल पर पहुँच गया और बहुत देर तक अग्नि से संघर्ष करता रहा, उन्हीं दिनों उसने लिखा, **"मेरी आँखों में आग की लपटें और धुएँ की तसवीर खिंच गई है। मेरे पैरों की एड़ियों में अभी तक कसक और पीड़ा है। फायरब्रिगेडों के सम्बन्ध में मेरी पहले की धारणा अब बिलकुल बदल गई है।"**

वाइमार में रहकर उसने अपना आत्मानुभव बढ़ाया और उसकी विचारधारा भी क्रमशः परिपुष्ट और विकसित होती गई। गेटे के प्रारम्भिक नाटकों, उपन्यासों और स्फुट कविताओं में इतनी परिपक्वता न आई थी, जितनी कि सन् १७७५ से लेकर सन् १७८६ तक की उसकी रचनाओं में दृष्टिगत होती है। इस समय की कृतियाँ जीवन के श्रेष्ठतम चित्रों से पूर्ण हैं। मानव की विभिन्न भावनाओं को उसने सच्चे कलाकार की भाँति एक अदृश्य सूत्र में बाँधकर दर्शाया है। 'इफीगीनी' (Iphigenia), 'इगमोंट' (Egmont) और 'विल्हेल्म माइस्टर' (Wilhelm Meister) में उसकी दृष्टि जीवन के किसी एक पक्ष अथवा अंश-विशेष पर न पड़कर समष्टि पर पड़ती है और अनुभूति के व्यस्त पट पर एक विचित्र एकयोत्पादन प्रकाश को बिखेर देती है। सिद्धान्त रूप से गेटे तो न बदला था, उसके विचारों और दृष्टिकोणों में भी विशेष अन्तर न हुआ था, किन्तु उसकी अभिव्यंजना-शैली और कला का बाह्य रूप बदल गया था। उसकी भौतिक प्रवृत्ति अन्तः प्रवृत्ति में परिणत हो गई थी और रोमांटिसिज़्म से क्लासिसिज़्म की ओर उसका सहज झुकाव दीख पड़ता था।

गेटे की चिंतन-शक्ति और प्रतिभा का सबसे भव्य रूप उसके एक नाटक 'टारकेटो टासो' (Torquato Tasso) में प्रस्फुटित हुआ, जिसकी रचना उसने वाइमार में आते ही शुरू कर दी थी, किन्तु जो लगभग दस वर्षों में इटली लौटने तक समाप्त हुआ। 'वेर्टेर' में दुःख और निराशा का कोलाहल है, 'टासो' कवि की वयःसन्धि की रचना होने के कारण कोमल कल्पना और प्रौढ़ भावनाओं से ओतप्रोत है। 'वेर्टेर' में यौवन की खुमारी है, पर उसका कोई उपचार नहीं, 'टासो' में समस्या और उसका समाधान साथ-साथ प्रस्तुत किया गया है। 'वेर्टेर' का शृंगार और यौवनोन्माद 'टासो' में आत्म-समर्पण और उत्सर्ग में परिणत हो गया है। उसमें गोधूलि की-सी मदिर शिथिलता और जीवन की समरसता का पूर्ण सामंजस्य है। उसका 'विल्हेल्म माइस्टर' उपन्यास भी जर्मनी के

पारिवारिक और सामाजिक जीवन का सुन्दर दिग्दर्शक है। इसने छपते ही उपन्यास-क्षेत्र में धूम मचा दी और गेटे की विराट्-प्रतिमा, सूक्ष्म-चित्रण-शक्ति और अन्तर्वैभव का खजाना खोलकर जनता के समक्ष रख दिया।

वाइमार में आते ही एक और आश्चर्यजनक घटना गेटे के जीवन में घटी। चारलोट वॉन स्टाइन नाम की एक विवाहिता महिला से, जो आयु में उससे सात वर्ष बड़ी थी और जिसके कई बच्चे थे, उसका प्रेम हो गया। गेटे के इस विचित्र प्रणय-सम्बन्ध का लोगों ने भिन्न-भिन्न अर्थ लगाया है। कुछ व्यक्तियों की सम्मति में चारलोट वॉन स्टाइन के प्रति उसकी आसक्ति फ्रेडरिका और लिली की आसक्ति से सर्वथा भिन्न थी। वह उसे अपनी माँ अथवा अपनी मृत बहिन 'कार्नेली' के रूप में देखता था। उसे देखकर उसे वासना के बदले समादर का भाव जाग्रत होता और उसके सम्पर्क से उसे आन्तरिक शांति एवं साहित्यिक प्रेरणा मिलती। कुछ भी हो—यह सम्बन्ध भी अधिक न टिक सका और वह सन् १७८६ में चारलोट और वाइमार के शासन-भार से पिण्ड छुड़ाकर इटली भाग आया। चारलोट को उसके इस आकस्मिक परिवर्तन का कुछ भी पता न लगा और सन् १७८८ में जब वह पुनः वाइमार लौटकर गया तो उनके पारस्परिक सम्बन्ध में पर्याप्त शिथिलता आ गई थी।

कला की साधना

जीवन और विज्ञान-सम्बन्धी कतिपय छुटपुट रचनाओं तथा उसकी अपनी 'आत्मकथा' के अतिरिक्त गेटे के जीवन की सबसे बृहत्तम कृति है 'फास्ट', जिसे पूरा करने में उसकी सारी उम्र हो खप गई। इस महानाटक में उसने अपने जीवन के असंख्य भाव-रूपों, विविध प्रसंगों और विशेष परिस्थितियों को काव्योचित रूप दिया, वैयक्तिक धरातल पर पनपने वाली भीतरी आत्मचेतना की रहस्यात्मक भावच्छायाओं को उभारकर दर्शाया और स्नेहासिक्त हृदय की करुण कल्पनाओं को शाश्वत सत्य में परिणत कर दिया। उसकी समस्त अनुभूतियाँ, यौवन की छटपटाहट, संघर्ष, द्वन्द्व, विषमताएँ, मधुर और कटु स्मृतियाँ इसमें बिखरी पड़ी हैं, मानों अपने जीवन का सारा रस उँड़ेलकर उसने विश्वव्यापी वृत्तियों को कला और सौन्दर्य की रंगीनियों में रंग अपनी अमर कलाकृति द्वारा लोकोत्तर और कल्पनातीत रूप दे दिया है। इस महाग्रन्थ की कथन-शैली प्रधानतः भावात्मक है, किन्तु साथ ही इसमें बौद्धिक और निगूढ़ दार्शनिक-चिंतन भी द्रष्टव्य है। इसका कथानक गेटे से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व रचित 'ऑरफास्ट' (Urfaust) नामक पुस्तक से लिया गया है, जिसमें सहस्रों वर्षों से प्रचलित एक दुष्ट और बदकिस्मत जादूगर की अत्यन्त रोचक कथा वर्णित थी। स्वाबिया के निवासी इस जादूगर ने अपने चाचा द्वारा दी हुई सम्पत्ति को आमोद-प्रमोद में उड़ाकर और निर्धन हो जाने पर संतोष करने के बजाय पुनः भौतिक उन्नति की लालसा में अपनी आत्मा को एक शैतान

के हाथ बेच दिया था जिसकी आसुरी शक्ति की सहायता से वह चौबीस वर्ष तक निर्द्वन्द्व ऐश्वर्य और सांसारिक सुखों का उपभोग करता रहा, किन्तु अन्त में उसके पाप का घड़ा इतना लबालब भर गया कि उसके अंग-प्रत्यंग नोचकर उसे नरक की भीषण यातनाओं को सहन करने के लिए फेंक दिया गया। 'अरफॉस्ट' की यह भयंकर कहानी मध्ययुगीन जर्मनी में अत्यन्त प्रसिद्ध थी और इस पुस्तक का यूरोप की समस्त भाषाओं में अनुवाद हो चुका था। एलिजाबेथियन-कालीन अंग्रेजी में अनुवादित होने पर इसने मारलोव को भी प्रभावित किया था और इस कथा का सूत्र पकड़कर उसने एक कल्पित डॉक्टर फॉस्टस की कथा अपने अमर दुखान्त नाटक में प्रस्तुत की थी।

गेटे बाल्यावस्था से ही इस कथा को सुनता आ रहा था। एक दिन कठपुतली के खेल में इसकी पुनरावृत्ति देखकर उसे अद्भुत अंतःप्रेरणा मिली और तभी से यह कथा उसके हृदय-पटल पर अंकित हो गई। इसी कथा के आधार पर एक विशद ग्रन्थ लिखने का संकल्प-विकल्प उसके मन में होता रहा। और चौबीसवें वर्ष में उसने अपनी यह पुस्तक लिखनी प्रारम्भ कर दी। मित्रों की प्रशंसा से उसकी लिखने की गति कभी तीव्र हो जाती और कभी छिद्रान्वेषी व्यक्तियों की निन्दा से उसका उत्साह शिथिल पड़ जाता। मस्तिष्क की अशांति ऊहापोह में इस प्रकार कई वर्ष बीत गये और सन् १८०६ में 'फॉस्ट' का प्रथम भाग समाप्त हुआ।

गेटे के 'फॉस्ट' में मनुष्य रूपधारी मेफिस्टोफेलीज (शैतान) 'अरफॉस्ट' से कम भयंकर और मारलोव के दुखान्त नाटक से कम शानदार है, किन्तु उसकी अन्तक बीभत्सता और क्रूर चेष्टाओं ने मार्गारेट—ट्रेजेडी को अधिक व्यंजक बना दिया है। मार्गारेट सम्बन्धी करुण दृश्यों का उद्घाटन जल्दी-जल्दी होता है, जो बीच-बीच में गेय पदों के रख देने से अत्यन्त मर्मस्पर्शी और प्रभावोत्पादक हो गया है। भोली मार्गारेट जब फॉस्ट की दुर्वासनाओं का शिकार होती है और भाई या पिता की मृत्यु के दारुण शोक से विक्षिप्त होकर अत्यन्त करुण गीत गाती है तो समस्त वातावरण विक्षुब्ध हो उठता है।

"ओफ् ! मेरा दम घुट रहा है, से किसी ने मेरा गला दबोच दिया हो। मेरा हृदय टूटा जा रहा है।"

मस्तिष्कीय अस्तव्यस्तता के कारण वह अपने नवजात शिशु की भी हत्या कर देती है और उसे इस अपराध में मौत का दण्ड दिया जाता है। मार्गारेट की दयनीय मृत्यु के समय एक दिव्य संगीत सुन पड़ता है कि मेफिस्टोफेलीज के षड्यन्त्र और इसके द्वारा किये गये पापों के बावजूद भी उसे क्षमा कर दिया गया है। संगीत समाप्त होते ही शैतान के क्रूर अट्टहास के साथ 'फॉस्ट' के प्रथम भाग का अन्त होता है।

'फॉस्ट' का द्वितीय भाग घटनापूर्ण और दुरूहता लिये हुए है। उसमें अनेक कथाओं एवं उपकथाओं की उत्पत्ति और विकास, आन्तरिक एवं बाह्य निरीक्षण के आधार पर

मानवीय भावनाओं का सूक्ष्म चित्रांकण और ज्ञान-विज्ञान की न जाने कितनी बातें व्यक्त की गई हैं। प्रथम और द्वितीय परिच्छेद में फॉस्ट द्वारा स्वर्ग और नरक की साहसपूर्ण यात्राओं का वर्णन है। तृतीय परिच्छेद में ग्रीक देश की सुन्दरी हेलेन का आविर्भाव होता है, जिसके अद्भुत सौन्दर्य पर फॉस्ट मुग्ध हो जाता है। रोमांटिसिज़्म और क्लासिसिज़्म के प्रतीक फॉस्ट और हेलेन के सम्मिलन से नवीन युग का प्रतिनिधित्व करने वाले बालक यूफोरियन की उत्पत्ति होती है। उसकी प्रकृति बड़ी ही चपल और विचित्र है। वह उछलता, कूदता, नाचता, गाता, चढ़ता, उतरता और तरह-तरह के उत्पात करता हुआ कभी चुप नहीं बैठता। उसके माता-पिता उसकी इन आदतों से अत्यन्त दुःखी और परेशान हैं। असमय में ही यूफोरियन की मृत्यु हो जाती है और उसके मरने के बाद शोक-गीत गाया जाता है। यूफोरियन तत्कालीन अंग्रेज कवि बॉयरन को लक्ष्य में रखकर लिखा गया है, जिससे गेटे बहुत प्रभावित था और बिना देखे ही जिससे वह अपना आत्मिक सम्बन्ध मानता था।

चतुर्थ परिच्छेद मे लड़ाइयों और साहसिक कृत्यों का उल्लेख है, जिसमें सम्राट् की ओर से फॉस्ट और मेफिस्टोफेलीज भाग लेते हैं। मेफिस्टोफेलीज भ्रमात्मक जल और अग्नि उत्पन्न करके शत्रु को पराजित करने मे सफल होता है।

पंचम परिच्छेद में नाटकीय तत्त्व अपनी चरमता पर पहुँच गये हैं। मेफिस्टोफेलीज के सम्पर्क से फॉस्ट की आत्मा और सद्गुणों का दिन-दिन ह्रास दिखाया गया है और सुख-ऐश्वर्य को पाकर वह इतना अविवेकी और क्रूर हो गया है कि थोड़ी-सी जमीन के लोभ में दो निरपराध वृद्ध व्यक्तियों का बध करा देता है। अपने अवसान-काल में शैतान की शक्तियों पर भी अविश्वास करने के कारण वह अंधा और निरुपाय हो मरने को पड़ा है। मेफिस्टोफेलीज के तत्वावधान मे उसके लिए कब्र खोदी जा रही है, किन्तु उसे लगता है कि यह उसके लिए बनाए जाने वाले भवन-निर्माण की ध्वनि है। नियति का क्रूर व्यंग उस समय और भी भीषणता धारण कर लेता है जब कि फॉस्ट भावी सुखों की कल्पना करके खुशी में चिल्ला पड़ता है और तत्क्षण निर्जीव होकर कब्र खोदने वालों की गोद में ढुलक पड़ता है। मेफिस्टोफेलीज भी इस दर्दनाक दृश्य को देखकर विचलित हो जाता है।

"मेफिस्टोफेलीज—आखिर यह भयानक, दुःखदायी मृत्यु की अन्तिम घड़ी भी आ पहुँची, जिसको यह बेचारा सदैव टालने की कोशिश करता रहा। अपने साहस और दंभ-बल से इसने मेरी भी अवहेलना की, किन्तु समय ज़बर्दस्त है, वह टाले नहीं टलता। देखो, इस बूढ़े की क्या दशा है। घड़ी भी स्तब्ध हो गई है।

"प्रतिध्वनि—घड़ी भी स्तब्ध हो गई है— जैसे कि सुनसान अर्ध-रात्रि। उसकी सुइयाँ रुक गई हैं।"

"मेफिस्टोफेलीज—उसकी सुइयाँ रुक गई हैं और सब कुछ समाप्त हो गया है।"

कहना न होगा, ऐहिक उन्नति-अवनति, जीवन-मृत्यु और सुख-दुःखों का कितना गम्भीर तथ्य गेटे के इस महा नाटक में सन्निहित है। प्रत्येक मानव में सत्-असत् की दो प्रवृत्तियों का सदैव द्वंद्व रहा है। महत्वाकांक्षा और सुखोपभोग की लालसा विवेक, नीतिरता और सुस्थिर मन पर अनायास ही विजय प्राप्त कर लेती है और मानव को नीचे पतन के गर्त में ढकेल देती है।

गेटे की जिन मूल अंतः-प्रवृत्तियों का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं—उनका आभास हमें प्रसाद की रचनाओं में भी यत्र-तत्र होता है। मानव-हृदय की वेदना और विरह-कातरता जो 'आँसू' में व्यक्त हुई, थी वह समय की रगड़ खाकर भावों की गहराई और मानव-जीवन के सत्य में बदल गई। 'लहर' का एक स्फुट पद देखिये—

"जीवन कितना? अति लघु क्षण,
ये शलभ पुंज से कण-कण।
तृष्णा यह अनिल शिखा बन,
दिखलाती रक्तिम यौवन॥
वेदना विकल यह चेतन,
जड़ का पीड़ा से नर्त्तन।
लय-सीमा में यह कम्पन,
अभिनयमय है परिवर्त्तन॥"

कभी कवि का हृदय आशा के आलोक से भर जाता है, कभी अतीत की स्मृतियाँ उभर आती हैं और कभी विषाद की छाया उसके हृदय को मलिन बना देती है। कोलाहल से दूर वह उस निर्जन स्थान में जाना चाहता है, जहाँ चिरंतन-विश्राम और अमर-जागरण की ज्योति बिखरी हुई हो।

"ले चल वहाँ भुलावा देकर,
मेरे नाविक! धीरे-धीरे।
जिस निर्जन में सागर लहरी,
अम्बर के कानों में गहरी—
निश्छल प्रेम कथा कहती हो,
तज कोलाहल की अवनी रे!
श्रम विश्राम क्षितिज बेला से—
जहाँ सृजन करते मेला से—
अमर जागरण उषा नयन से—
बिखराती हो ज्योति घनी रे!"

प्रसाद की बहुमुखी प्रतिभा का ज्यों-ज्यों विकास होता है, उसकी जीवन-सरणि विविध दिशाओं का अनुधावन करती हुई प्रवाहित होती है। कभी इतिहास के गौरव-गान में वह रम जाती है, कभी अतीत उसे अपनी ओर आकृष्ट करता है और कभी जीवन का गम्भीरतम तथ्य कण-कण हो उसके समक्ष बिखर जाता है। प्रसाद के नाटकों में बौद्ध-संस्कृति और भारत के अतीत जीवन की झाँकी है। 'राज्यश्री', 'विशाख', 'अजातशत्रु', 'जन्मेजय का नाग-यज्ञ', 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त' आदि सभी नाटक सांस्कृतिक भावनाओं से युक्त और मानवीय-भावनाओं का सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। गेटे के नाटकों में अमानुषी-तत्त्व की प्रचुरता होने से दुरूहता और एकांगीपन है। उनमें मानव-हृदय को विलोड़ित करने वाली वे अमर भावनाएँ और जीवन का वह साम्य और समरसता नहीं मिलती, जो प्रसाद के नाटकों में एक विशिष्ट युग का चित्रण होने से सहज ही विद्यमान है। गेटे के नाटकों में मानवीय और आसुरी शक्ति का संघर्षमय द्वंद्व और आकस्मिकता होने से जीवन-विकास की अपूर्णता प्रकट होती है, प्रसाद के नाटकों में जीवन-समष्टि के समस्त तत्त्वों का निदर्शन होता है। उनके नाटकों के छोटे-छोटे गेय-पदों में भी काव्यत्व और कला का निर्दिष्ट विकास देखा जा सकता है। 'अजातशत्रु' से उद्धृत श्यामा के गीत में अंतस्तल की पीड़ा और हृदय की कसक है।

'निर्जन गोधूलि प्रांतर में खोले पर्णकुटी के द्वार।'

"पलकें झुकी यवनिका-सी थीं,
अन्तस्तल के अभिनय में।
इधर वेदना श्रम-सीकर,
आँसू की बूँदें परिचय में॥
फिर भी परिचय पूछ रहे हो,
विपुल विश्व में किसको हूँ?
चिनगारी श्वासों में उड़ती,
रो लूँ ठहरो दम से लूँ॥"

'जन्मेजय का नाग-यज्ञ' से लिए हुए मणिमाला के निम्न कथन में सरस कल्पना और ओजपूर्ण शैली के दर्शन होते हैं।

मणिमाला—"मुझसे तो मानो कोई कहता है कि महाशून्य में विश्व इसीलिये बना था। यही उद्देश्य था कि यह एक स्रोतस्वती की तरह नील वनराजि के बीच, यूथिका की छाया में बह चले और उसकी मृदु-वीचि से सुरभित पवन के परमाणु आकाश की शून्यता को परिपूर्ण करें।"

आस्तिक पूछता है—"क्या तुम कोई स्वप्न सुना रही हो?"

मणिमाला—"यह स्वप्न नहीं है, भविष्य की कल्पना भी नहीं है। जब संध्या

को अपने श्याम अंग पर तपन रश्मियों का पीला अंगराग लगाए देखती हूँ, तब हृदय में जो भाव उत्पन्न होते हैं—वे स्वयं मेरी समझ में नहीं आते, किन्तु फिर भी जैसे कोई कहता हो कि उस सुदूरवर्त्ती शून्य क्षितिज के प्रत्यक्ष से उस कोकिल का कोई सम्बन्ध है, और वह सम्बन्ध तभी विदित होगा जब शून्य पर फिर कालिमा के आवरण बढ़ने और कोकिल बोली का अर्थ समझ में आ जायगा।"

नीचे के अवतरण में प्रणय-वंचिता नारी के मनोभावों का कैसा सुन्दर चित्रण है—

"प्रणय-वंचिता स्त्रियाँ अपनी राह के रोड़े, विघ्नों को दूर करने के लिए वज्र से भी दृढ़ होती हैं। हृदय को छीन लेने वाली स्त्री के प्रति हृतसर्वस्वा रमणी पहाड़ी नदियों से भयानक, ज्वालामुखी के भी वीभत्स और अनल-शिखा से भी लहरदार होती है।"

प्रसाद के 'कामना' और 'एक घूँट' नाटक काव्यमय और दार्शनिक तत्त्वों से परिपूर्ण हैं। इनकी सभी रचनाओं में कुछ न कुछ अद्भुत चमत्कार देखा जा सकता है, यहाँ तक कि छोटी-छोटी कहानियों में भी दार्शनिक-विवेचना और मनोभावों की सूक्ष्म व्यंजना है। *'आकाश दीप' की इन पंक्तियों में प्रेम और घृणा का कैसा विचित्र द्वंद्व है!*

"विश्वास? कदापि नहीं बुद्धगुप्त! जब मैं अपने हृदय पर विश्वास नहीं कर सकी, उसी ने धोखा दिया, तब कैसे कहूँ—मैं तुम्हें घृणा करती हूँ। फिर भी तुम्हारे लिए मर सकती हूँ, अंधेर है जलदस्यु! मैं तुम्हें प्यार करती हूँ। चम्पा रो पड़ी।"

'अघोरी का मोह' शीर्षक कहानी से लिये गये इस अवतरण में दार्शनिकता और गम्भीर चिंतन है।

"लहरें क्यों उठती और फिर विलीन होती हैं? बुद्बुद् और जलराशि का क्या सम्बन्ध है? मानव-जीवन बुद्बुद् है कि तरंग? बुद्बुद् है तो विलीन हो फिर क्यों प्रकट होता है। मलिन अंश फेन कुछ जल से मिलकर बुद्बुद् का अस्तित्व क्यों बना देता है। क्या वासना और शरीर का भी यही सम्बन्ध है? वासना की शक्ति कहाँ-कहाँ किस रूप में अपनी इच्छा चरितार्थ करती हुई जीवन को अमृत-गरल का संगम बनाती हुई अनन्त काल तक दौड़ लगावेगी? कभी अवसान होगा, कभी अनन्त जल-राशि में विलीन होकर अपनी अखण्ड समाधि लेगी।"

प्रसाद ने भी गेटे की भाँति अपने जीवन में केवल तीन ही उपन्यास लिखे—'कंकाल', 'तितली', और एक 'इरावती' नाम का अधूरा उपन्यास। तीनों में जीवन का तत्त्वज्ञान और मानवीय भावनाओं की कलापूर्ण अभिव्यक्ति हुई है, मानो मानव-जीवन के समस्त पाप, दुर्बलताएँ, आनन्द, विषाद और त्रुटियों को स्वीकार कर उन्होंने मनोवैज्ञानिक ढंग से अपनी सबेग चेतन-शक्ति और कल्पना द्वारा एक अपूर्व मानव-सृष्टि का सृजन कर उसके विराट् रूप का दर्शन कराया। अपने उपन्यास के पात्रों के साथ प्रसाद ने

भावतादात्म्य का अनुभव किया और उनके सुख-दुःखों, विचारों एवं भावनाओं में अपनी-अपनी आत्मा का स्पन्दन ध्वनित किया।

किन्तु उनकी समस्त जीवन-शक्तियों का समाहार 'कामायनी' में आकर हुआ। इस खण्डकाव्य में कवि के बौद्धिक विकास, जीवन के सत्य, सौन्दर्य और साधना का श्रेय भरा है। जीवन-व्यापी परिश्रान्ति से शिथिल कवि की कल्पना मानो आध्यात्मिक प्रवाह में डूब गई है और आदिम युग की मानव-सभ्यता के द्वार खटखटाती हुई दार्शनिकता और आत्मप्रकाश की ओर मुड़ वह चली है। 'कामायनी' में आदि-पिता वैवस्वत मनु और आदि-जननी श्रद्धा (काम की पुत्री कामायनी) की कथा है। देव-सृष्टि के जलप्लावन के दृश्य से इस काव्य का आरम्भ होता है। मनु इस विध्वंसकारी दृश्य के मध्य एकाकी, चिंतित और निराश बैठे हुए हैं। अकस्मात् उनकी श्रद्धा से मुठभेड़ होती है और वे उसे पत्नी रूप में स्वीकार कर लेते हैं। कुछ दिन उसके साथ आनन्दपूर्वक रहकर उनके मन में उच्चाटन होता है और वे भ्रमण के लिए निकल पड़ते हैं। वहाँ इड़ा (बुद्धि) से उनका साक्षात्कार होता है और वे उस पर आसक्त हो जाते हैं। इस पर प्रजा विद्रोह करती है, और मनु घायल हो जाते हैं। श्रद्धा अंत में आकर उनका कल्याण करती है और इच्छा, कर्म, ज्ञान के समन्वित ज्योतिर्मय त्रिपुर का दर्शन कराती है।

'कामायनी' में गूढ़ तात्विक विवेचन, प्रकृति-चित्रण, सौन्दर्य और रहस्यमय चेतन का बृहत् संयोजन है। विश्व के कोलाहल से दूर अदृश्य मानस-जगत् की असंख्य उदात्त-भावनाओं को अपने उन्मुक्त उच्छ्वासों में भर कवि ने निस्सीम गगन में निर्बन्ध छोड़ दिया है और साधना की तल्लीनता में अपने हृदय का समस्त रस इस भव-सागर में उँड़ेल वह मानो निश्चिन्त हो गया है।

परिणति

गेटे और प्रसाद की कृतियों में यत्र-तत्र रहस्याभास भी है, जो परोक्ष का संकेत है और विराट्-शक्ति की सत्ता का व्यंजक है। 'फॉस्ट' में फॉस्ट मार्गारेट से कहता है—

"उसकी व्याख्या करने का कौन साहस कर सकता है और इसका स्पष्टीकरण भी कैसे किया जाय—यह कहकर कि 'मैं उसमें विश्वास करता हूँ।' जो देखता, चलता और अनुभव करता है वह कैसे उसकी सत्ता को अस्वीकार कर सकता है यह कहकर कि 'मैं उसमें विश्वास नहीं करता'।" वह सर्वशक्तिमान् परमेश्वर क्या मेरे, तेरे और समस्त चराचर जगत् के रूप में व्यस्त नहीं होता? क्या हमारे ऊपर आकाश नहीं है, क्या हमारी दृष्टि के समक्ष पृथ्वी का अनन्त प्रसार फैला हुआ नहीं है और क्या हमारे सिरों पर मित्र की भाँति मुस्कराते चाँद-सितारे नित्य ही उदित नहीं होते? मुख से मुख, नेत्र से नेत्र, हृदय से हृदय और तेरा-मेरा साक्षात्कार होने पर क्या उसकी परोक्ष-अपरोक्ष सत्ता का आभास नहीं होता और क्या इस प्रकार तेरे-मेरे जीवन के चतुर्दिक् लिपटे हुए दृश्य-अदृश्य रहस्य

का उद्घाटन नहीं हो जाता। उसकी शक्ति अपरिमेय और अचिन्त्य है। उस अव्यक्त सत्ता की अचेतन-अभिव्यक्ति को अपने हृदय में अनुभव कर और जब तेरा हृदय दिव्य-रस से सराबोर हो जाय तो उसी को ब्रह्मानन्द, प्रेम और ईश्वर की निनादित होती हुई कृपा समझ।"

'कामायनी' में भी मनु महाविनाश को देखकर अध्यात्म-चिंतन-रत हो जाते हैं। उन्हें सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, आकाश यहाँ तक कि दृश्यलोक के प्रत्येक कम्पन में उसी विराट् की छाया छटपटाती दृष्टिगत होती है।

"विश्वदेव, सविता या पूषा,
सोम, मरुत चंचल पवमान;
वरुण आदि सब घूम रहे हैं,
किसके शासन में अम्लान ?
किसका था भ्रू-भंग प्रलय-सा,
जिसमें ये सब विकल रहे;
अरे ! प्रकृति के शक्ति-चिन्ह ये,
फिर भी कितने निबल रहे !
विकल हुआ-सा काँप रहा था,
सकल भूत चेतन समुदाय।
× × ×
अन्तरिक्ष में ज्योतिर्मान्,
ग्रह, नक्षत्र और विद्युत् कण ॥
× × ×
छिप जाते हैं और निकलते,
आकर्षण में खिंचे हुए;
तृण वीरुध लहलहे हो रहे,
किसके रस से सिंचे हुए ?
सिर नीचा कर किसकी सत्ता,
सब करते स्वीकार यहाँ;
सदा मौन हो प्रवचन करते,
जिसका, वह अस्तित्व कहाँ ?
हे अनन्त रमणीय ! कौन तुम ?
यह मैं कैसे कह सकता !
कैसे हो ? क्या हो ? इसका तो,
भार विचार न सह सकता !

'हे विराट् ! हे विश्वदेव ! तुम,
कुछ हो ऐसा होता भान';
मंद गंभीर धीर स्वर संयुत,
यही कर रहा सागर गान।"

प्रसाद और गेटे की सबसे बड़ी खूबी है कि उन्होंने मानव-जीवन के किसी भी पहलू को अछूता नहीं छोड़ा। उनकी कृतियाँ जीवन-समष्टि के समन्वयात्मक संस्कारों का भव्य समारोह हैं। उनकी दृष्टि रमणी की कोमलता और स्थूल सौन्दर्य तक ही सीमित नहीं, वरन् क्षितिज से दूर विश्वव्यापी चेतना को स्पर्श करती है। इन-दोनों महाकवियों के ग्रन्थ 'फॉस्ट' और 'कामायनी' क्रूर काल के भाल पर अमर सौभाग्य-बिन्दुवत् हैं। एक में जीवन-समष्टि का सांगोपांग पदार्थ-पाठ है तो दूसरा उसका सार-अंश। एक में विरोधी तत्त्वों का संधान है तो दूसरे में आत्मिक मनोभावों को अधिकाधिक रम्य बनाने का उपक्रम। दोनों में चिरंतन स्वर और शाश्वत-संगीत सुन पड़ता है।

जैसे जल का बुद्बुद् नीचे से स्वतः ऊपर उठकर आता है, उसी प्रकार इन महाकवियों की अंतश्चेतना भी मन की गहराइयों से उभरकर ऊपर झलक मारती है और विराट्-चेतना में लीन हो उसी को व्यक्त करती हुई उसी में समाहित हो जाती है—स्थूल-दृष्टि से दूर—न जाने कहाँ!

७

'कामायनी' का संदेश

[प्रेमशंकर तिवारी]

कामायनी आधुनिक हिन्दी साहित्य की महान् विभूति है। ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक आधार से लेकर प्रसाद ने मानवीय भावनाओं तथा सामाजिक दशा का अत्यन्त सजीव चित्र इसमें प्रस्तुत किया है। महाकाव्य पर विचार करते समय प्रसिद्ध आलोचक 'अबरक्राम्बी' ने अपनी पुस्तक 'दि इपिक' में कहा है—"महाकाव्य सम्पूर्ण मानवता का प्रतीक है।" इस प्रकार 'कामायनी' काव्यानन्द के साथ ही साथ मानवता को अनेक मंगलमय संदेश देती है। उपनिषद् की अखंड ज्ञानराशि, बौद्ध-दर्शन का प्रतीत्य समुत्पाद, शैव-सिद्धान्त की सरसता, सूफीमत का आत्म-समर्पण, आधुनिक मनोविज्ञान एवं राजनीति सभी एक साथ इस महाकाव्य में केन्द्रीभूत हो गये हैं। 'साकेत' और 'प्रियप्रवास' से 'कामायनी' अनेक चरण आगे बढ़ने में समर्थ हुई है।

'कामायनी' आदि पुरुष मनु एवं मानवता का इतिहास है। इसका कथा-सूत्र वेद, उपनिषद्, पुराण आदि प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में अनेक स्थल पर बिखरा हुआ मिलता है। कवि ने अपनी कल्पना-शक्ति के द्वारा उनमें एक तारतम्य स्थापित किया है, जिसके द्वारा कथानक की पूर्णता के साथ ही साथ आधुनिक समस्या-चित्रण भी सम्भव हो सका। वह मिल्टन के 'पैराडाइज़ लास्ट', 'पैराडाइज़ रिगेण्ड' तथा दाँते की 'डिवाइन कॉमेडी' की समकक्षता में रक्खी जा सकती है। वर्तमान संघर्षमय परिस्थिति में लिखी गई यह कृति युग-अभिव्यक्ति से ओत-प्रोत है। उसकी अनेक काल्पनिक घटनाएँ आधुनिक समस्या की ओर संकेत कर स्वयं समाधान भी प्रस्तुत करती हैं। युग के प्रति उसकी कामना है—

"चेतना का सुन्दर इतिहास
अखिल मानव भावों का सत्य;
विश्व के हृदय-पटल पर दिव्य
अक्षरों से अंकित हो नित्य।"

कथा का आरम्भ मनु की चिंता से होता है। इसी स्थल पर कवि देव-सृष्टि की अपूर्णता का परिचय देता है। उनकी 'सुख विभावरी' तो 'तारात्रों की कल्पना' मात्र थी। वे सभी विलासिता के मद में डूबे हुए थे। वह वास्तविक सुख नहीं, केवल 'सुख का संग्रह' था। इसी कारण वह 'मधुमय वसंत' अनन्त न बन सका। आगे चलकर 'इड़ा' सर्ग में कवि ने पुनः इसी प्रसंग पर विचार किया। दानव एवं देवता दोनों ही अपूर्ण थे।

यदि एक 'दीन देव' का पुजारी था, तो अन्य 'अपूर्ण अहंता' में ही, भ्रमवश स्वयं को प्रवीण समझ बैठा। दोनों का ही जीवन एकांगी था, इसी कारण द्वन्द्व चलता रहा। ऋग्वेद में मनु को मानवता का जन्म-दाता, आदि-पुरुष मानकर उन्हें ऋषि की संज्ञा दी गई है। मानवता ही देवत्व का सृजन करती है। मानव सर्वोपरि और पूर्ण है।

श्रद्धा 'कामायनी' के कथानक को आगे बढ़ाती है। मलयानिल की इस चपला बाला को 'काम-गोत्र-जा' मानकर कवि ने उसमें दया, माया, ममता, मधुरिमा, अगाध विश्वास का संचय किया है। श्रद्धा के द्वारा ही समस्त अभिव्यक्ति भी हुई है। वह मनु का आवरण हटाकर निराशा तथा जड़ता को आशा तथा चेतनता में परिवर्तित कर देती है। 'अमृत-सन्तान' होकर भी वे 'अपने ही बोझ' से दबे जा रहे हैं। मनु की इस सुप्त शक्ति को जगाने का कार्य श्रद्धा ने किया। दुःख की क्षणभंगुरता, मानव की शक्ति, कर्म का सिद्धान्त, ईश का रहस्य वरदान, सभी कुछ मनु के सम्मुख प्रस्तुत कर 'मधुकरी' ने उन्हें कर्म के लिए प्रेरित किया। मनु जीवन की जिस व्यस्त प्रहेलिका को सुलझाना चाहते थे, वह उसी के द्वारा सम्भव हो सकी। जीवन के प्रति उसी क्षण उन्हें एक अनुराग उत्पन्न हो गया। वे भी 'शाश्वत' होने की कामना करने लगे। इस अवसर पर श्रद्धा का उद्बोधन गीत 'गीता' के कर्मवाद का साहित्यिक संस्करण बन गया है। वह कहती है, "समस्त मानवता के विकास हेतु, कष्ट से भयभीत हो जाना जीवन से पराजय मात्र लेना मानवता का कलंक है। कर्म के साथ ही शक्ति की भी अपेक्षा है। क्योंकि विश्व में स्पर्धा की परम्परा-सी लगी हुई है। अपनी शक्ति के अनुसार ही व्यक्ति यहाँ ठहर सकता है। 'शक्तिशाली हो विजयी बनो' के द्वारा ही वह मनु में विद्युत्-शक्ति का संचार करने में समर्थ हुई। आज की निराशामय, पथभ्रष्ट मानवता के लिए श्रद्धा का समस्त प्रवचन एक वरदान है—क्रिया-शक्ति से परिपूर्ण। उसका कथन है—

> "एक तुम, यह विस्तृत भू-खंड,
> प्रकृति वैभव से भरा अमंद।
> कर्म का भोग, भोग का कर्म,
> यही जड़ का चेतन आनन्द॥"

केवल क्रियाशक्ति ही जीवन को पूर्ण नहीं बना सकती। इसके लिए मननशील कवि ने उपनिषद् की अद्वैत-भावना, शैव-दर्शन की समरसता तथा बौद्ध धर्म के मध्यम मार्ग का प्रतिपादन किया है। एकांगी होने के कारण ही सर्व-सम्पन्न देव-योनि का विनाश हो गया था। 'सौन्दर्य-जलधि' से केवल 'गरल-पात्र' भरने वाले 'जड़ देह मात्र के प्रेमी मनु' पूर्ण काम न हो सके थे। काम ने मनु को शाप देकर सृष्टि का चित्रण किया, उसका प्रमुख कारण 'द्वयता' है। इसी से वह सुखी न रह सकेगी। वह

'विरह-भरी' रहेगी। मनु स्वयं द्वैत और द्विविधा को 'प्रेम बाँटने का प्रकार' मानते हैं। कवि ने वैज्ञानिक प्रमाणों से भी इसकी पुष्टि की है। श्रद्धा अपने पुत्र मानव को 'सबकी समरसता' का प्रचार की ही शिक्षा देती है। जीवन में सुख-दुख की समस्या पर विचार करते समय कवि ने दोनों में कोई मौलिक अन्तर नहीं माना। वे एक ही शक्ति के प्रतिबिम्ब हैं। 'समरसता ही अखंड आनन्द का वेश है।' श्रद्धा मनु को इच्छा, ज्ञान और कर्म का साक्षात्कार कराके आनन्द तक ले जाती है। मानव को श्रद्धामय तथा इड़ा को तर्कमयी की संज्ञा देकर भावी मानवता के कल्याण के लिये उनका मिलन भी वहीं कराती है। बुद्धि, हृदय, मस्तिष्क, मन, श्रेय, प्रेम, यथार्थ, आदर्श अपने समन्वय स्वरूप में ही अखंड आनन्द का सृजन कर सकते हैं। 'कामायनी' की इस मिलन विचारधारा में उपनिषद् का 'नेह नानास्ति किंचन, द्वितीया द्वैमयं भवति' साकार हो उठा है। आज की विरोधी शक्तियों से, जो आपस में संघर्ष कर क्षीण हो रही हैं, उनका कथन है—

"शक्ति के विद्युत्कण जो व्यस्त,
विकल बिखरे हैं, हो निरुपाय।
समन्वय उसका करे समस्त,
विजयिनी मानवता हो जाय।।"

नियति भी कर्म का बन्धन नहीं, यदि क्रिया और शक्ति में सम्बन्ध स्थापित है।

आज के बुद्धिवादी युग में अनेक विषमताओं का कारण श्रद्धा का अभाव है। मानवीय भावनाओं का कोई सत्कार नहीं करता। विश्वास संसार से लुप्त हो जाना चाहता है। इसी कारण मस्तिष्क हृदय के विरुद्ध है, और दोनों में सद्भाव स्थापित नहीं हो पाता। राग-विराग के कारण मानव 'शतशः विभक्त' हो गया है। इस समन्वय के लिये श्रद्धा की नितान्त आवश्यकता है। 'कामायनी' की श्रद्धा का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण आज की प्रत्येक समस्या का समाधान कर सकता है। तर्कों से तो केवल छिद्र मात्र बन जाते हैं। इसी कारण सत्य शब्द अत्यन्त गहन होकर 'मेधा के क्रीड़ा-पंजर का पाला हुआ सुआ' बन गया है। आदि से अन्त तक 'कामायनी' का प्राण ही श्रद्धा है। श्रद्धा ही आनन्द का दर्शन कराने की शक्ति रखती है। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार 'आस्तिक बुद्धि इति श्रद्धा' ही कवि की कल्पना के अधिक समीप है। ऋग्वेद १०-१५१-५२ में कहा गया है।

'प्रियं श्रद्धे ददतः, प्रियं श्रद्धे दिदासतः।'

हे श्रद्धा! दान देने वाले तथा लेने वाले दोनों के लिये प्रिय बनो। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार श्रद्धा मनु-पत्नी, मानवी तथा मानव की माता है। अपनी इसी श्रद्धा माता को भूलकर संसार अनेक यातनाओं में लिप्त हो गया है। श्रद्धा के द्वारा ही मानवता

का कल्याण संभव है। गांधी जी ने इसी ओर एक प्रयास किया है।

'कामायनी' में नारी और पुरुष

नारी-पुरुष की समस्या पर 'कामायनी' में अनेक स्थलों पर विचार किया गया है। श्रद्धा, इड़ा नारी के दो विभिन्न स्वरूप कवि ने प्रस्तुत किये हैं। एक हृदय पक्ष की अधिष्ठात्री है, तो दूसरी बुद्धि की प्रतिनिधि। दोनों ने ही मनु के प्रति आत्मसमर्पण किया था, किन्तु श्रद्धा के प्रेम में त्याग तथा तीव्रता अधिक है। मनु को कर्त्तव्य-पथ पर अग्रसर करने के लिये श्रद्धा की आवश्यकता थी, किन्तु भावी मानवता के लिये सारस्वत प्रदेश की रानी इड़ा ही अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकती है। वह 'जन-पद कल्याणी' भी है। पुरुष नारी के अधिकारों पर यद्यपि स्वतन्त्र रूप से विचार नहीं किया गया, तथापि भावना को प्रधानता दी गई है। यदि श्रद्धा मनु को सरिता, मरु, नग, कुंज अथवा गली में खोज लेने के लिये स्वयं को भूल गई थी, तो मनु भी एक बार उसे पाकर भयावने अंधकार में खो नहीं देना चाहते थे। वे तो 'श्रद्धायुत' तक हो गए थे। नारी-पुरुष का यह मधुर मिलन ही भावुक कलाकार का लक्ष्य है। पौरुष का प्रतीक मानव तथा कौमार्य की देवी नारी दोनों एकाकार होकर ही पूर्ण बन सकते हैं। इसी कारण उन्होंने नारी के आँसू से *भीगे अंचल पर मन का सब कुछ रखकर अपनी स्मित रेखा से सन्धि-पत्र लिखने के लिये* कहा है। 'पुरुषत्व मोह' में जब मानव 'नारी की सत्ता' भूल जाता है, तो उसे अनेक यातनाओं का सामना करना पड़ता है। श्रद्धाविहीन मनु की दशा पर स्वयं नियति भी द्रवित हो उठी थी। इड़ा का महत्त्व भी कवि ने किसी भाँति कम नहीं होने दिया। वह केवल निराश्रित मनु को प्रश्रय ही नहीं देती, वरन् भावी मानवता के भाग्य-विधायक मानव को 'राष्ट्रनीति' की भी शिक्षा देती है। मनु को अनेक अधिकारों का बोध भी उसने कराया था। श्रद्धा के सम्मुख भी वह अपनी समस्त नम्रता लेकर क्षमा-याचना के लिये उपस्थित हुई थी। उसकी स्नेहमयी भावना के कारण सारस्वत नगर की प्रजा भी उसे प्रेम करती थी। श्रद्धा यदि जीवन की आधार-शिला है, तो इड़ा उसकी गति। नारी का अत्यन्त मंगलमय स्वरूप 'कामायनी' में प्रस्तुत हुआ है। लज्जा कहती है—

> "नारी, तुम केवल श्रद्धा हो
> विश्वास रजत नग पग-तल में;
> पीयूष-स्रोत - सी बहा करो
> जीवन के सुन्दर समतल में।"

पुरुष-जीवन की निर्मल स्रोतस्विनी है श्रद्धामय नारी। किन्तु बिना समतल के उसका भी कोई अस्तित्व नहीं। नारी-पुरुष को अपने संकुचित रंगमंच से हटकर एक व्यापक भूमि पर मिलकर जीवन-पथ को मंगलमय बनाने का आग्रह प्रसाद ने किया है।

मानवीय भावनाओं का चित्रण

मानव-हृदय में पल-पल उठने वाली अनेक भावनाओं का चित्रण भी 'कामायनी' में अत्यन्त सुन्दर हुआ है। प्रत्येक सर्ग का शीर्षक ही एक मनोविकार है। प्रेम, यौवन, सौन्दर्य के अन्तर्गत उन सभी का समावेश हो जाता है। जीवन की इन भावनाओं पर विचार करते समय कवि ने सर्वत्र उन्हें एक आध्यात्मिक एवं रहस्यात्मक स्वरूप प्रदान किया है। लौकिक होते हुए भी वे नैसर्गिक हैं। यौवन चेतना का प्रतीक है। सौन्दर्य उसी का उज्ज्वल वरदान। उसमें कहीं भी ऐन्द्रियता, ऐहिकता अथवा उच्छृङ्खलता की छाया तक नहीं मिलती। 'लज्जा' सौन्दर्य की जो मार्मिक परिभाषा करती है, वह सर्वथा निश्छल एवं सत्यमय है। वह शिवं, सुन्दरं से भी अभिभूषित है। 'रहस्य', 'दर्शन' एवं 'आनन्द' में आकर यह सौन्दर्य रहस्यात्मक तथा अलौकिक हो गया है। प्रेम, सौन्दर्य तथा यौवन के भावुक गायक 'प्रसाद' ने जीवन की इस अमर पिपासा को रावर्ट ब्रिजेज की 'दि टेस्टामेंट आफ़ ब्यूटी' की दार्शनिकता एवं रहस्यवादिता के समीप लाकर प्रस्तुत किया है। वह प्रेम लौकिक से अलौकिक की ओर बढ़ता चला जा रहा है—अखंड आनन्द पालने के लिए। जीवन में कवि ने उसी को नियम माना है, जिससे जीवन चलता रहे। चेतनता ही गति है, अर्थात् जीवन, जड़ता मरण है, अर्थात् अन्त। कवि के जीवन में नवीनता, सजीवता का आग्रह है, उन्मत्ता का नहीं 'विद्युत् की प्राणमयी धारा' ही जीवन की वास्तविकता है। श्रद्धा कहती है—

"लय नहीं केवल जीवन सत्य
करुण यह क्षणिक दीन अवसाद;
तरल आकांक्षा से है भरा
सो रहा आशा का आह्लाद।"

कीट्स का 'ब्यूटी इज ट्रुथ, ट्रुथ इज ब्यूटी' प्रसाद की सौन्दर्य-भावना के अत्यन्त समीप है। कवीन्द्र रवीन्द्र ने भी सौन्दर्य एवं प्रेम को इसी सत्य समन्वित स्वरूप में प्रस्तुत किया है। उन्होंने कहा है—'यह संसार मधुर है। मैं मरना नहीं चाहता, वरन् चिरनवीन मानव-जीवन में सदा विचरना चाहता हूँ।' प्रसाद जी प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक शापेनहार के इस मत को नहीं मानने के लिये सर्वोत्तम वस्तु थी भूतल पर जन्म न लेना, और उससे भी अधिक सुन्दर है—शीघ्र ही मर जाना। वे प्राचीन 'वीर भोग्या वसुन्धरा' के समर्थक हैं। उन्होंने 'काव्य' का प्रयोग भी इसी व्यापक अर्थ में किया है। कवि उसे 'श्रद्धय निधि' मानता है।

'कामायनी' की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर 'कामायनी' का जो चित्र प्रस्तुत किया गया है, उसमें आधुनिक, सामाजिक एवं राजनैतिक समस्याओं की क्रान्तिकारिक व्याख्या प्राप्त होती है।

काम के शाप से लेकर 'संघर्ष' के प्रजा विद्रोह तक सामाजिक विषमता के अनेक स्थल मिलते हैं। विश्व अपनी बुरी दशा लेकर गिरता-पड़ता चला जा रहा है। परस्पर एक-दूसरे को पहिचानता नहीं। कवि ने इसका कारण 'संकुचित दृष्टि' को बताया है। मानवता की कथा के द्वारा 'कामायनी' वसुधैव कुटुम्बकम् की सुन्दर व्याख्या करती है। प्रेम की व्यापक परिभाषा से संसार के समस्त प्राणियों में समभाव स्थापित हो सकता है। आधुनिक वैज्ञानिक युग की विषमता के अनेक दृश्य 'संघर्ष' में निहित हैं। 'आतुर नर शक्ति का खेल खेलना चाहता है। भीषण जन-संहार हो रहा है। यंत्रों के विकास से वर्षा, धूप, शिशिर, छाया आदि के भी साधन सम्पन्न हो गए हैं। किन्तु इन यंत्रों ने प्रकृति-शक्ति छीनकर, जीवन का शोषण कर उसे जर्जर बना दिया है। सभी को अपनी-अपनी पड़ी है। स्नेह का कोमल तन्तु छिन्न-भिन्न है।' इस प्रकार सारस्वत प्रदेश के वर्णन में कवि ने आधुनिक सांसारिक संघर्ष एवं उसकी शून्यता का सजीव चित्र प्रस्तुत कर दिया है। उनका सांस्कृतिक पक्ष सदैव प्रगतिशील है, रुद्गति नहीं। उन्होंने कहा है—

"पुरातनता का यह निर्मोक
सहन करती न प्रकृति पल एक;
नित्य नूतनता का आनन्द
किए है परिवर्तन में टेक।"

मनु का 'प्रजापति' स्वरूप राजनीति के अधिक समीप है। इस स्थल पर वे जन्मदाता से शासक हो गए हैं। अपनी संकुचित व्यक्तिगत आकांक्षा के कारण एक बार उन्होंने श्रद्धा के स्नेह का उपहास किया था, किन्तु सारस्वत नगर की प्रजा तो उनकी बर्बरता को कदापि सहन नहीं कर सकती। 'यदि नियामक स्वयं नियम नहीं मानता, तो निश्चय ही सब कुछ नष्ट हो जायगा।' शासक चिर-स्वतन्त्र होकर नहीं रह सकता। जनता किस प्रकार अत्याचारी शासन के प्रति विद्रोह कर सकती है, यह मनु-प्रजा संघर्ष से स्पष्ट है। सारस्वत प्रदेश का उचित नियमन न कर सकने के कारण ही मनु को विप्लव से सामना करना पड़ा था। इड़ा अपने 'राष्ट्र-स्वामिनी' स्वरूप में 'प्रजापति' मनु से अधिक सफल हुई है। अपनी रानी के लिये ही प्रजा ने उच्छृंखल मनु पर प्रहार किया था। प्रजातन्त्र राज्य की यह सुघर कल्पना कवि की सुन्दर कृति है। इसी स्थल पर सारस्वत-वासियों का राष्ट्र-प्रेमी भी लक्षित हुआ है। गांधी-युग की यह महान् साहित्यिक कृति अहिंसा, सत्य को भी कदापि न भूल सकी। श्रद्धा ने अहेरी मनु को हिंसा न करने के लिये कहा था। वह एकान्त में तकली कात-कातकर गीत गाती जा रही थी, जिससे उसने काली, कोमल ऊन की रुचिर पटिका बनाई।

राजनीति का सक्रिय तथा यथार्थ स्वरूप भी 'कामायनी' में चित्रित हुआ है।

राज्य एवं समाज की दुर्दशा के साथ ही कवि ने आदर्श सुख सम्पन्न समाज तथा विकसित प्रजातन्त्र राज्य की भी व्याख्या की है। भौतिकवाद में विकसित सारस्वत प्रदेश ने अपनी वैज्ञानिक शक्ति के द्वारा प्रलय पर विजय प्राप्त की थी। सुख, साधनों से उन्होंने अपना जीवन सुखमय बनाया था। श्रद्धा के स्वप्न में आदर्श राज्य के वाह्य कलेवर का स्पष्टीकरण हुआ है—'मनु के नगर में सभी सुन्दर सहयोगी हैं, दृढ़ प्राचीरों वाले मन्दिर के द्वार हैं। खेतों में श्रम स्वेद-सने कृषक प्रमुदित मन हल चला रहे हैं। उनकी मिलित प्रयत्न प्रथा से पुर की श्री बिलर रही थी।' इन शब्दों में कवि ने प्रजातन्त्र के मूल सिद्धान्त प्रतिपादित किए हैं। किन्तु इस बहिर्विकास में ही वास्तविक सुख-शान्ति सम्भव नहीं। इसी कारण प्रसाद ने जीवन के अन्तस्तल में प्रवेश किया है। कवि ने प्रजापति के कर्त्तव्यों पर विचार करते समय मनु को 'नियामक' की संज्ञा दी है। प्रजा राजा की 'आत्मजा' है, उसका पालन जीवन देकर भी करना शासक का कर्त्तव्य है। इसी कारण सामाजिक विकास के साथ ही साथ व्यक्ति की रक्षा भी अनिवार्य है। समाज तथा व्यक्ति एक दूसरे के पूरक हैं। इड़ा ने मनु से 'राष्ट्र की काया में प्राण सदृश' रमने के लिये कहा था। काया और प्राण दोनों का विकास ही प्रजातन्त्र को वास्तविक सुख और शान्ति दे सकता है। भौतिकवाद तथा आध्यात्मिकता का समन्वय अनिवार्य है। 'कामायनी' में यही सुन्दर कल्पना तीर्थाटन-घटना से अधिक स्पष्ट हुई है। श्रम एवं जीवन में उपयोगिता का महत्त्व भी कवि ने स्वीकार किया है। राष्ट्रीय समुन्नति के साथ ही लोकमंगल की साधना के लिये कवि ने 'धर्म' की व्यापक परिभाषा की है। श्रद्धा-मनु के दर्शन से सारस्वत प्रदेश के नागरिकों की भेद-बुद्धि नष्ट हो जाती है। इस प्रकार आश्रम, वर्ण, प्रजा-अधिकार, कर्त्तव्य आदि प्रजातन्त्र के अनेक अवयवों का विश्लेषण 'कामायनी' प्रस्तुत करती है। मानवता व नीति का पालन करने वाले नीति पारंगत 'मनुस्मृति' के वैवस्वत मनु का चित्र सम्मुख उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार कवि युगसन्धि की व्याख्या करने में सफल हुआ है। 'प्रसाद' की प्रजातन्त्र कल्पना निस्संदेह आदर्श है—भावी मानवता के लिए।

प्रसाद का आत्मदर्शन

प्रसाद दार्शनिक कलाकार थे। 'कामायनी' में उन्होंने भारतीय दर्शन की अनेक विचारधाराओं से मानव की कठिन प्रहेलिका को सुलझाने का प्रयत्न किया है। 'चिन्ता' से आनन्द तक ले जाने वाला यह महाकाव्य अपने दार्शनिक एवं आध्यात्मिक पक्ष में अत्यन्त प्रौढ़ है। कवि का यह आत्मदर्शन अनुभव पर अवलंबित है। मनु अपनी समस्त विषयोन्मुखी प्रवृत्तियों को आत्मोन्मुखी करके ही शान्ति पा सके थे। जब तक मनु शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध में लिप्त रहता है, आत्मा मृग मरीचिका में भटकती रहती है। उपनिषद् में आत्मा-परमात्मा की जो व्याख्या की गई है, उसी का कायात्मक संस्करण

'कामायनी' में प्रस्तुत हुआ है। इस आत्म-साधन के लिए प्रकृति से तादात्म्य अनिवार्य है। प्रकृति और पुरुष मिलकर ही आत्म-चेतना का सृजन करते हैं। कर्म, इच्छा, ज्ञान का समन्वय भी कवि ने प्रकृति की रमणीय गोद में दिखाया है। यह वन की वैराग्यपूर्ण एकांगी तपस्या नहीं, वरन् जीवन में 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन्' का समावेश है। मानवता को जीवन के चरम लक्ष्य आनन्द तक ले जाकर ही कवि ने अपने महाकाव्य का अन्त किया है। शैवागम के प्रत्यभिज्ञा दर्शन से अनुप्राणित 'कामायनी' का यह आनन्दवाद शिव और शक्ति के मिलन का परिणाम है। विश्व को तो प्रसाद आत्मा का अभिन्न अंग मानते हैं। 'दर्शन', 'रहस्य' एवं 'आनन्द' के समस्त रहस्यवाद, समरसता एवं आत्मविवाद की स्थापना में प्रयत्नशील कवि ने जीवन में आध्यात्मिकता को प्रमुखता दी है। आत्मा परमात्मा के मिलन में यह दशा हो जाती है कि 'अस्ति-नास्ति' का भेद मिट जाता है, और—

"शापित न यहाँ है कोई,
तापित पापी न यहाँ है।
जीवन वसुधा समतल है
समरस है जो कि यहाँ है॥"

आनन्द के लिए कवि ने अद्वैत भावना का आग्रह किया है। भक्ति मार्ग की अद्वैत भावना का दार्शनिक एवं आध्यात्मिक पक्ष ही 'कामायनी' मे प्रमुख स्थान पा सका है। इसके लिए श्रद्धा की नितान्त आवश्यकता है। श्रद्धा को 'कल्याणभूमि', 'सर्वमंगले', 'अमृतधाम', 'विश्वमित्र' आदि उपाधियों से विभूषित किया गया है। उपास्य-उपासक का भेद अन्त में समाप्त हो जाता है। 'अखंड आनन्द' ही इस महाकाव्य का लक्ष्य है। यह आनन्द सर्वथा श्रद्धामूलक है। उपनिषद् का 'अयमात्मा परानन्दः' शैवागम की 'समरसता' तथा 'विश्वात्मवाद' से मिलकर 'कामायनी' में मानव-जीवन की सर्वांग सम्पूर्णता का सृजन करता है। सौन्दर्य-लहरी में आनन्द की सहज भावना के विषय में कहा गया है—

"त्वमेव स्वात्मानं परिणमयितुं विश्व वपुषा
चिदानन्दाकारं शिव युवति भावेन विभृषे॥"

इस प्रकार 'कामायनी' में युग-दर्शन के साथ ही प्रायः मानव-जीवन की प्रत्येक समस्या का उत्तर मिल जाता है। यह प्रसाद की महान् कल्पना द्वारा ही सम्भव हो सका, अन्यथा काव्य के सीमित क्षेत्र मे इतना अवसर न मिल पाता। यदि 'कामायनी' को आधुनिक युग का 'मानस' कहा जाय, तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। महाकवि गेटे ने अपनी अमर कृति 'फास्ट' मे कहा है—"भविष्य मंगलमय होगा।" 'कामायनी' ने भी

भावी मानवता के लिए ऐसी ही मंगल कामना की है—

"विधाता की कल्याणी सृष्टि
सफल हो इस भूतल पर पूर्ण;
पटें सागर, बिखरें ग्रह-पुंज
और ज्वालामुखियाँ हों चूर्ण ।।"

९

'कामायनी' का दार्शनिक आधार : सोम

[प्रभाकर माचवे]

"चलता था धीरे-धीरे,
वह एक यात्रियों का दल;
सरिता के रम्य पुलिन में,
गिरि-पथ से ले निज संवल।
था सोमलता से आवृत,
वृष धवल धर्म का प्रतिनिधि;
घंटा बजता तालों में,
उसकी थी मंथर गतिविधि।"

—कामायनी, पृष्ठ २७७ 'आनन्द' खण्ड का आरम्भ

श्रद्धा और बुद्धि के समन्वय से जिस 'अखंड आनन्द' का आदर्श श्री जयशंकर प्रसाद अपने काव्य 'कामायनी' में सनुपस्थित करते हैं, उसका प्रतीक यह 'सोमलता' है। अन्यत्र भी कामायनी में 'सोमलता' का उल्लेख है—'कर्म-सूत्र संकेत सदृश थी सोमलता तब मनु की'। यही अखंड आनन्द अन्ततः कर्म की प्रेरणा बनेगी ऐसा प्रसाद जी को विश्वास था। अब इस सोम की कुछ चर्चा यहाँ करें।

ऋग्वेद के दशम मंडल में यमो यम को जहाँ ले जाना चाहती है वह स्वः है, ज्योतिर्मय सूर्य है, जिसमें 'कवि' लोग लीन हो जाते हैं और जिसे वे किरणों की भाँति छिपाये हुए हैं या रक्षित किये हुए हैं, जो सोम, घृत, मधु (सम्भवतः सुख के प्रतीक) हैं और जहाँ अनेक प्रकार के सत्कर्म करने वाले पहुँचते हैं। मूलमंत्र यों हैं—

"सोम एकेभ्यः पवते घृतमेक उपासते।
येभ्यो मधु प्रधावति तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥१॥
तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्वर्ययुः।
तपो ये चक्रिरे महस्तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥२॥
ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः।
ये वा सहस्रदक्षिणास्तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥३॥"

यह तो सर्वविदित है ही कि प्रसाद पर शैवागमों का बहुत प्रभाव था। उनके अनुसार शिव और शक्ति का जो अविनाभाव सम्बन्ध है, वहाँ शक्ति का अर्थ है ज्ञान-शक्ति। इन दोनों के संयुक्त तत्त्व से परिमद-शक्ति जन्म लेती है, जिसे क्रिया-शक्ति भी कहा

गया है। वही विन्दु जो अभिव्यक्ति का उपादान कारण है। इसमें पुनः दो भेद हैं—शुद्ध विन्दु को महामाया तथा अशुद्ध विन्दु को माया भी कहते हैं। शक्ति तथा विन्दु के सम्बन्ध को विकल्प अथवा भेद-ज्ञान कहते हैं।

इसी विकल्प द्वारा शिव शुद्ध-विन्दु को क्षुब्ध करता है। तब उसमें से शब्द तथा द्वैत धारा चल पड़ती है। परापश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी अवस्थाओं में से वही नाना रूपों में अभिव्यंजना पाती है। शैवागमों का यह रूपक आधुनिक प्राणीशास्त्र तथा मनोविज्ञान के संदर्भ मे बहुत अर्थपूर्ण जान पड़ता है। मनुष्य में दो प्रवृत्तियाँ हैं—एक है पाशव, जन्मना, (इन्स्टिंक्ट्स), शारीरिक प्रवृत्तियाँ; दूसरी, चेतना-उपलब्ध बुद्धि अथवा विचारशक्ति (इण्टेलिजेन्स)। इन दोनों में सदा समर चलता रहता है। प्रथम जहाँ मनुष्य को द्रव्यरूप की ओर, भौतिकता की ओर खींचती रहती है, तो दूसरी मनुष्य को सचेतन शक्ति-रूप बनाने में निरत है। आधुनिक भौतिक शास्त्रों में भी परमाणुओं के पृथक्करण से द्रव्य के मूल में शक्ति ('मैटर' में 'इनर्जी') पाई गई है। इसी चित्स्वरूप शक्ति का शैव और शाक्त ग्रन्थों में बड़ा विवरणपूर्वक वर्णन मिलता है। चिदानन्दरूपी जो शिव-शक्ति है वही एक ओर जीवात्मा के रूप मे और दूसरी ओर जगत् के रूप में दिखाई देती है। यथा—

"देशकालपदार्थात्मा यद्यद्वावु यथा यथा।
तद्रूपेणच या भाति तां श्रये संविदं कलाम् ॥"

इसी 'सोम'—दशा का मूल वेदों में भी मिलता है। ऋग्वेद के दशम मंडल मे ८५वें सूक्त में कहा गया है—

"सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः।
ऋतेनादित्यास्तिष्ठंति दिवि सोमो अधिश्रितः ॥१॥
सोमेनादित्या बलिनः सोमेन पृथिवी मही।
अथो नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोम आहितः ॥२॥
सोमं मन्यते पापवान् यत् संपिष्यंत्योषधिम्।
सोमं यं ब्रह्माणो विदः न तस्याश्नाति कश्चन ॥३॥
आच्छद्विधानैर्गपितो बार्हतैः सोम रक्षितः।
ग्राव्णामिन्छृण्वन् तिष्ठसि न ते अश्नाति पार्थिवः ॥४॥
यत्त्वा देव प्रपिबंति ततआप्यायसे पुनः।
वायुः सोमस्य रक्षिता समानां मास आकृतिः ॥५॥"

—टीप—ऋग्वेद मंडल १०, सूक्त ८५।

१. सत्येन=सत्यभूतेन ब्रह्मणा। उत्तभिता=उपरि स्तंभिता। ऋतेन=धर्मेण, यज्ञेन वा। आदित्याः—देवाः। अधिश्रितः=अधिष्ठितः।

२. मही—महति । नक्षत्राणामुपस्थे—द्युलोके (इति सायणः) आदितः—आदित्यः ।

इसमें प्रथम मंत्र में ऋषि कहते हैं कि सोम स्वर्गलोक में अधिष्ठित है। दूसरे में आदित्य को बल देनेवाला और पृथ्वी को इतना बड़ा बनाने वाला सोम ही है। तीसरे मंत्र में वल्लीरूप सोम का रस पीने वाले समझते हैं कि हमारा 'सोमपान' हो गया। परन्तु ब्राह्मण जिसे सोम कहते हैं वह कोई पी नहीं सकता। बार्हतों ने अर्थात् बृहत्सामगायक ऋषियों ने सोम को जनता से आच्छादित करके दूर रखने की व्यवस्था की है। पार्थिव मनुष्य को सोमपान नहीं मिल सकता। चौथे मंत्र का यही आशय है। पाँचवें मंत्र में ऋषि कहते हैं—सोमपान करने से उसका ह्रास न होकर उल्टे वह दिन-दिन बढ़ता ही है। वायु द्वारा सोम शोषित नहीं होता, (न शोषयति मारुतः ॥ गीता २-२३ ॥)। यही काल का कर्त्ता, व्यवच्छेदक और मूर्ति अर्थात् कालात्मक तथा महाकाल रूपी है।

इस प्रकार सोम के पाँच गुण मिलते हैं—

१. आदित्य का नियन्ता;

२. पृथ्वी का स्रष्टा;

३. अशोष्य;

४. कालरूप; तथा

५. स्वर्ग में विराजमान अर्थात् पार्थिवों को दुर्लभ।

ऋग्वेद के आठवें मंडल में सूक्त ४८, मंत्र १ में सोम को 'स्वादु अन्न' भी कहा गया है। इसका रस पीने की प्रथा थी। तीसरे मंत्र में यह कहा गया है कि औषधि का रसपान ही सोम नहीं है। सच्चा सोमपान कठिन है। वह सुख से नहीं हो सकता। पहिले सोम मनुष्य लोक में नहीं था। पर इन्द्र श्येन पक्षी का रूप लेकर इसे स्वर्ग से नीचे ले आया। इसी कारण से ब्रह्मविद्या को 'मधु-विद्या' भी कहा गया है। ऋग्वेद मंडल १, सूक्त ११३, मंत्र १२ के अनुसार ऋषि इस मधु-विद्या के रहस्य को या सोम रहस्य को बहुत गुप्त रखते थे।

पेय सोम से भिन्न वेदों में सोम का उल्लेख चन्द्र और स्थूल-सूक्ष्म-कारण इन तीनों शरीरों के मूलाधार के रूप में भी मिलता है। स्थूल शरीर में सब कर्म सोम के द्वारा होते हैं। (जैसे, आधुनिक शरीर-ग्रन्थि-रस-विशेषज्ञ 'हार्मोन' और ग्लैंड को ही प्रधान मानते हैं)। सूक्ष्म शरीर का सोम 'मतियों' का जन्मदाता है; कारण-शरीर का सोम ऋषियों का मन, कवियों का पथ-प्रदर्शक और ऋषियों द्वारा रक्षित है। हमारे मन का रागात्मक, बोधात्मक अथवा क्रियात्मक कोई भी व्यवहार सोम के अभाव में नहीं हो सकता। अतः सोम से प्रार्थना की जाती है कि वह मन को उक्त तीनों तत्त्वों की ओर संचालित करे, क्योंकि सोम वस्तुतः हमारे जीवन के सम्पूर्ण क्षेत्रों में संव्याप्त है। जैसे कहा गया है—

"भद्रं नोऽपि वातय मनो दक्षमुत क्रतुम्।
अधा ते सख्ये अन्धसो विवोमदे रणन् गावो न यवसे विवक्षसे।
हृदिस्पृशस्त आसते विश्वेषु सोम धामसु।"

यही तीन पदों वाला सोम ब्रह्मांड में प्रकाशमान् माना जाता है। वह धरती को खिलाने वाला 'द्यु'-तत्त्व है। ऐतरेय ब्राह्मण तथा वाजसनेय संहिता से भी इसी मत की पुष्टि होती है। यही सोम अन्ततः व्यष्टि-समष्टि में समरसता लावेगा।

उस अन्तिम सामरस्य का और उसके सौमनस्य का यह भव्य चित्रण स्वयम् प्रसाद के शब्दों में सुनिये—

"मनु बैठे ध्यान निरत थे
उस निर्मल मानस-तट में;
सुमनों की अञ्जलि भर कर
श्रद्धा थी खड़ी निकट में।
श्रद्धा ने सुमन बिखेरा
शत-शत मधुपों का गुञ्जन;
भर उठा मनोहर नभ में
मनु तन्मय बैठे उन्मन॥
पहचान लिया था सबने,
फिर कैसे अब वे रुकते;
वह देव-द्वंद्व द्युतिमय था,
फिर क्यों न प्रणति में झुकते!
तब वृषभ सोम-वाही भी,
अपनी घंटा-ध्वनि करता;
बढ़ चला इड़ा के पीछे,
मानव भी था डग भरता॥
हाँ इड़ा आज भूली थी
पर क्षमा न चाह रही थी;
वह दृश्य देखने को निज,
दृग युगल सराह रही थी।
भर रहा अंक श्रद्धा का,
मानव उसको अपनाकर।
था इड़ा शीश चरणों पर,
वह पुलक-भरी गद्गद् स्वर।"

इसी भाव को ध्यान में रखकर प्रसाद जी ने 'कामायनी' के 'आमुख' में शायद लिखा था—'यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक का भी अद्भुत मिश्रण हो गया है। इसीलिए मनु, श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए, सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष, हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध क्रमशः श्रद्धा और इड़ा से भी सरलता से लग जाता है।

"श्रद्धां हृदय्य याकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु।"'

—ऋग्वेद १०-१५१-४

९

'कामायनी' का दार्शनिक निरूपण

[नन्ददुलारे वाजपेयी]

मानव-जीवन आज अनेकानेक जटिलताओं और वैषम्यों से ग्रस्त है। उन जटिलताओं का दिग्दर्शन कराना और उनके निवारण का उपाय बताना आज के क्रान्तदर्शी कवि का ही कार्य है। प्रसाद जी ने अपने 'कामायनी' काव्य में इस क्रान्तदर्शिता का परिचय दिया है। जीवन के विरोधों का उल्लेख करने में प्रसाद जी ने सूक्ष्म वैज्ञानिक दृष्टि से काम लिया है। उन विरोधों का परिहार भी वैज्ञानिक आधार पर किया गया है। इसके निमित्त उन्होंने प्राचीन भारतीय दर्शन का उपयोग किया है और विशेषकर उसके समन्वयप्रधान स्वरूप का आधार लिया है। कामायनी काव्य में यह समन्वयात्मक-दर्शन समरसता के नाम से अभिहित है। समरसता का उल्लेख काव्य में कितने ही स्थान पर किया गया है। जीवन का एक मुख्य वैषम्य सुख-दुख सम्बन्धी है। प्रसाद जी ने सुख और दुख की द्विविधा का निराकरण इन धार्मिक शब्दों में किया है—

"जिसे तुम समझे हो अभिशाप,
जगत की ज्वालाओं का मूल;
ईश का वह रहस्य वरदान,
कभी मत इसको जाओ भूल।"

× × ×

"नित्य समरसता का अधिकार,
उमड़ता कारण जलधि समान;
व्यथा की नीली लहरों बीच,
बिखरते सुख मणिगण द्युतिमान।"

मानव-सम्बन्धों में आकांक्षा और तृप्ति का वैषम्य भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। आकांक्षाओं का अन्त नहीं है और तृप्ति अतिशय दुष्प्राप्य है। इस वैषम्य के निवारण के लिए भारतीय संन्यासियों ने इच्छा या आकांक्षा को पाप कहकर उसके दमन का आदेश किया है, परन्तु प्रसाद जी ने आकांक्षा और तृप्ति के व्यावहारिक स्वरूप को स्वीकार कर उसके समन्वय की योजना की है—

"हम भूख प्यास से जाग उठे,
आकांक्षा - तृप्ति - समन्वय में;

रति काम बने उस रचना में,
जो रही नित्य यौवनवय में।"

× × ×

"मैं तृष्णा था विकसित करता,
यह तृप्ति दिखाती थी उनको;
आनन्द समन्वय होता था,
हम ले चलते पथ पर उनको॥"

इससे स्पष्ट है कि प्रसाद जी कामना और इच्छा के अबाध और अनियंत्रित रूप को स्वीकार न करते हुए भी उनकी नितान्त वर्जना नहीं करते; सीमा में, संयम के साथ उनकी उपयोगिता स्वीकार करते हैं। आनन्द के विकास के लिए तृष्णा और तृप्ति की समन्वित सत्ता के वे समर्थक हैं।

अधूरी आत्मसत्ता के उपासक देवतागण और देह तथा प्राणशक्ति के उपासक असुरों के विरोधी जीवन-प्रवाह में भी वे समरसता की संभावना देखते हैं। ऐतिहासिक द्वंद्व की शान्ति के लिए वे 'श्रद्धा' का उपयोग करते हैं और यह सुझाते हैं कि इस सांस्कृतिक द्वंद्व का अपवारण श्रद्धा नारी ही कर सकती है—

"देवों की विजय दानवों की,
हारों का होता युद्ध रहा;
संघर्ष सदा उर अन्तर में,
जीवित रह नित्य विरुद्ध रहा।
आँसू से भीगे अंचल पर,
मन का सब कुछ रखना होगा;
तुमको अपनी स्मित रेखा से,
यह संधि-पत्र लिखना होगा।"

अधिकारी और अधिकृत, शासक और शासित के बीच भी सदा से एक दुर्भेद्य दीवार रही है, जिससे संसार में महान् उत्पीड़न होते आए हैं। इन दोनों में अनियंत्रित सम्बन्ध रहने के कारण ही इतिहास के पृष्ठ रक्त-रंजित हुए हैं। यद्यपि प्रसाद जी ने इस द्वैत के निर्मूलन के लिए अधिकारी या सत्ताधारी को ही समाप्त कर देने का संदेश नहीं दिया है (एक दार्शनिक के नाते प्रसाद जी इस द्वैत का नितांत अभाव मानने में असमर्थ थे) परन्तु इस ऐतिहासिक द्वंद्व को भी 'समरसता' द्वारा शान्त करने का मार्ग निर्देश किया है—

"तुम भूल गए पुरुषत्व मोह में,
कुछ सत्ता है नारी की;

समरसता है सम्बन्ध बना,
अधिकार और अधिकारी की।"

मनु द्वारा इड़ा के सहयोग से सारस्वत प्रदेश में अनेक मानव वर्गों का उद्भव और परस्पर संघर्ष होता है जो बुद्धिवाद की एकांगिता का परिचायक है। आधुनिक सभ्यता इसी बुद्धिवादी आधार पर प्रतिष्ठित है। प्रसाद जी इस खतरे को पूरी तरह समझते थे। श्रद्धाविरहित समाज योजना के दुष्परिणामों से वे अवगत थे। मनु का अपनी प्रजा से संघर्ष और सारस्वत प्रदेश का विद्रोह इसी एकांगी बुद्धिवाद का निदर्शक है। इस रोग का उपचार भी प्रसाद जी ने बताया है—

"यह तर्कमयी तू श्रद्धामय,
तू मननशील कर कर्म अभय;
इसका तू सब संताप निचय,
हर ले, हो मानव भाग्य उदय।
सब की समरसता कर प्रचार।
मेरे सुत सुन माँ की पुकार।"

प्रसाद जी कर्म-मार्ग के विरोधी नहीं थे। वे मननशील अभय कर्म का संदेश देते हैं। परन्तु वह कर्म जो भेद-बुद्धि के आधार पर ठहरा है और श्रद्धा-रहित है, परिणाम में विनाशकारी है। इस प्रकार बुद्धि, श्रद्धा और कर्म का समन्वय कामायनी में प्रदर्शित किया गया है। अंततः जीवन के सबसे बड़े और दुर्भेद्य विरोध कर्म, इच्छा और ज्ञान के समन्वय का संकेत भी प्रसाद जी ने किया है। सत्व, तम और रज के त्रिगुणात्मक प्रवाह में कहीं किसी ओर से एकात्मता दृष्टिगोचर नहीं होती। अत्यंत ऊँची भूमि से ये तीन गोलक अलग-अलग दिखाई देते हैं। इनका विच्छेद चिरंतन और शाश्वत है। इच्छा या भावना रजोगुणी वृत्ति है, ज्ञान सात्विक व्यापार है, कर्म तामस का परिणाम है। सृष्टि के ये तीन प्रबलतम तथ्य परस्पर विच्छिन्न होकर, एक दूसरे से टूटकर अनंत वैषम्य की सृष्टि करते हैं। इनकी पृथकता का अपवारण होने पर ही शाश्वत और नित्य आनन्द का अभिषेक हो सकता है। प्रसाद जी ने श्रद्धा की मुसकान द्वारा इस महावैषम्य को तिरोहित कर अखंड मंगल और आनन्द का विमोहक नृत्य दिखाते हुए काव्य की परिसमाप्ति की है—

"संगीत मनोहर उठता,
मुरली बजती जीवन की।
संकेत कामना मिलकर,
बतलाती दिशा मिलन की॥
प्रति-फलित हुईं सब आँखें,
उस प्रेम-ज्योति विमला से।

सब पहचाने - से लगते,
अपनी ही एक कला से ॥
समरस थे जड़ या चेतन,
सुंदर साकार बना था ।
चेतनता एक विलसती,
आनन्द अखंड घना था ॥"

इस प्रकार जीवन के वास्तविक विरोधों को श्रद्धा की मूलवर्तिनी सत्ता द्वारा अपहृत कर जीवन में समरसता और समन्वय स्थापित करने की अपूर्व आशाप्रद कल्पना प्रसाद जी ने कामायनी में की है। यह कल्पना एक ओर जीवन के सूक्ष्मदर्शी विज्ञान का आधार रखती है और दूसरी ओर उच्चतम भारतीय दार्शनिकता का सम्बन्ध लेकर चलती है। मानव प्रकृति और जीवनगत द्वंद्वों का निरूपण विज्ञान पर आश्रित है, और श्रद्धा की कल्याणमयी सत्ता दर्शन की देन है। इन दोनों के सम्मिलन और संयोग स्थल पर कामायनी का समरसता सिद्धान्त प्रतिष्ठित है। इसे नवीन विज्ञान और चिरनवीन भारतीय दर्शन की संगमभूमि कहा जा सकता है।

कामायनी काव्य के आरम्भ में देवताओं के जीवन-दर्शन की तुलना में मानव-जीवन-दर्शन का निरूपण किया गया है। देवताओं की अमरता प्रसाद जी की दृष्टि में सापेक्ष और स्वल्पस्थायी अमरता थी। देवसृष्टि का भी विध्वंस प्रसाद जी ने प्रदर्शित किया है। ध्वंस का कारण यह था कि देवसंस्कृति का निर्माण एकांगी आधार पर हुआ था। केवल सुख की आकांक्षा को लेकर उसका विकास हुआ था। प्रकृति पर प्रभुत्व स्थापित कर वह अपने उद्देश्य की पूर्ति करना चाहती थी। ये ही दो कारण प्रसाद जी के मत में देवसृष्टि के विनाश के थे—

१. जीवन के केवल सुख-पक्ष की प्रवर्धना का प्रयत्न।

२. प्रकृति पर नियंत्रण और उसके समस्त सार को स्वार्थ के लिए प्रयोग करने की लालसा।

ये दोनों प्रवृत्तियाँ देवताओं को कहाँ तक ले गईं, यह कामायनी के प्रथम सर्ग में वर्णित है। प्रकृति ने इस अत्याचार का बदला लिया। प्रसाद जी प्रकृति को एक सचेतन शक्ति मानते हैं। प्रकृति की यह अनिर्वचनीय शक्ति, जो मनुष्य के बढ़ते हुए अहंकार का शमन करती है, प्रसाद जी की दृष्टि में नियति है।

प्रसाद जी का विधायक मानव-दर्शन दिखाई पड़ता है देवताओं और दानवों के द्वंद्व के प्रदर्शन में। दो संस्कृतियों में द्वंद्व दिखाकर दोनों की एकांगिता का चित्रण इड़ा सर्ग में किया गया है—

"जीवन का लेकर नव विचार
जब चला द्वंद्व था असुरों में।
प्राणों की पूजा का प्रचार......"

आत्मा की एकांगी उपासना देवताओं की विशेषता थी। वे अहं के उपासक थे। असुर वर्ग शरीर और प्राणों की पूजा करता था, मानसिक और शारीरिक उत्कर्ष को सब कुछ मानता था। विश्वास और श्रद्धा की दोनों में कमी थी। श्रद्धा का अभाव ही दोनों के निरन्तर संघर्ष का कारण बन गया था। श्रद्धा ही संतुलित मानव-दर्शन की मूलाधार है, जो इन उभय-विधि में प्रकृतियों में एकात्मकता स्थापित कर संघर्ष का परिहार करती है। श्रद्धा ही जीवन में अखण्ड आनन्द की प्रतिष्ठा करने में समर्थ है।

प्रसाद का आनन्दवाद सर्ववाद के सिद्धान्त पर स्थित है, जो वैदिक अद्वैत सिद्धान्त भी कहा जा सकता है। यह शंकराचार्य द्वारा प्रवर्तित अद्वैत सिद्धांत सर्ववाद से, जिसमें माया की सत्ता भी स्वीकार की गई है, भिन्न है। सर्ववाद प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों को आत्मसात् करता है, जब कि शंकर का मायावाद केवल निवृत्ति पर आश्रित है। भारतीय दर्शन की वह धारा, जो वेदों में समस्त दृश्य जगत को ब्रह्म से अभिन्न मानकर चली है, क्रमशः शैवागम ग्रंथों में प्रतिष्ठित हुई। प्रसाद जी ने शैवागम से ही इस सर्ववादमूलक आनन्दवाद को ग्रहण किया। 'काम' सर्ग में काम के द्वारा जो मनु को स्वप्न में शिक्षा दी जाती है वह इसी दार्शनिकता का संकेत करती है—

"यह नीड़ मनोहर कृतियों का,
यह विश्व कर्म रंगस्थल है;
है परम्परा लग रही यहाँ,
ठहरा जिसमें जितना बल है॥"

सर्ववाद का लक्ष्य निवृत्ति द्वारा उतना सिद्ध नहीं होता जितना विश्व को कर्मस्थल मानने से सिद्ध होता है। यह कोरा कर्म नहीं, समन्वयात्मक कर्म है।

पौराणिक धारणा के अनुसार काम का तत्त्व त्याज्य और वर्जित माना जाता है, पर प्रसाद जी ने काम के स्वरूप को नितांत भिन्न रूप में माना है। पौराणिक आख्यान के अनुसार कामदेव शंकर के द्वारा भस्म किए गए थे। गीता में भी—'काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः' कहकर उसकी भर्त्सना की गई है। पर प्रसाद जी जिस सर्ववाद को लेकर चले हैं, उसमें काम का तत्त्व जीवन को प्रगति देनेवाला माना गया है। काम की पुत्री कामायनी ही श्रद्धा है। स्पष्ट है कि पौराणिक दृष्टि से उनकी दृष्टि भिन्न है। पुराणों में निवृत्तिमूलक दार्शनिकता जोर पकड़ रही थी, प्रसाद जी उसके हामी नहीं थे।

प्रथम सर्ग में ही प्रलय में सारी सृष्टि का ध्वंस नियति की प्रेरणा से हुआ दिखाया

गया है। नियति को प्रसाद जी सचेतन प्रकृति का कार्यकलाप मानते हैं। सचेतन प्रकृति नियति के रूप में ही सक्रिय होती है। इस प्रकृति से मानव और मनुष्य को स्पर्धा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि यह एक बृहत्तर शक्ति है। मानव जब एकांगी आत्मविस्तार में लगता है, तब प्रकृति रोषाविष्ट हो उठती है, और नियति के रूप में मानव की उक्त प्रवृत्ति का शमन करती है। प्रसाद जी की दृष्टि में प्रकृति का नियमन और विश्व का संतुलन करनेवाली शक्ति नियति है, जो मानव अतिवादों को रोकथाम करती है और विश्व का संतुलित विकास करने में सहायक होती है।

प्रसाद का यह नियति-सिद्धान्त साधारण भाग्यवाद या प्रारब्धवाद से भिन्न है। नियति एक अजेय शक्ति है किन्तु वह जड़ और अज्ञानमूलक नहीं है। उसका प्रवाह मानवता की सृष्टि और कल्याण के लिए है। मनुष्य को उससे विद्वेष न कर उस पर विश्वास रखते हुए अपना जीवन-क्रम निर्धारित करना चाहिए। यह जीवन के प्रति आस्था और अविरोध उत्पन्न करती तथा मानव के अविचारों को रोककर विश्व की अबाध प्रगति का मार्ग प्रशस्त करती है। इसे भाग्यवाद नहीं कहा जा सकता।

प्रारब्धवाद या पूर्वजन्मों के कर्मफल-सिद्धान्त से भी यह भिन्न है। यह मनुष्य को सामाजिक कर्तव्य के लिए पूरी छूट देती है, और कहीं भी लौकिक न्याय की प्राप्ति में बाधक नहीं बनती। किसी भी सीमा-रेखा पर जाकर पूर्वजन्म और उसके कर्मों की दुहाई देना और मनुष्य को सामाजिक न्याय के मार्ग में पूरी दूरी तक जाने देने से रोकना प्रसाद की नियति का कार्य नहीं है। उनकी नियति-कल्पना बहुत कुछ वैयक्तिक है, वह किसी क्रमागत सिद्धान्त की प्रतिरूप मात्र नहीं है।

यों तो उनका समस्त काव्य ही छायावादी या रहस्यवादी आकार लिये हुए है, वास्तविक और व्यक्त जीवन घटना के स्थान पर भावनाओं और मनोवृत्तियों का छायात्मक निरूपण ही उनके काव्य की मुख्य विशेषता है, परन्तु कतिपय स्थल स्पष्टतः रहस्य की आभा से परिपूर्ण हैं। उदाहरण के लिए कामायनी का रूप वर्णन—

> "और देखा वह सुन्दर दृश्य,
> नयन का इंद्रजाल अभिराम।"

अथवा सौन्दर्य तत्त्व का यह प्रसिद्ध निरूपण

> "ओ नील आवरण जगती के,
> दुर्बोध न तू ही है इतना।
> अवगुंठन होता आँखों का,
> आलोक रूप बनता जितना।"

इसी प्रकार 'दर्शन', 'रहस्य' और 'आनन्द' सर्ग भी स्पष्टतः प्रसाद जी के रहस्यवादी जीवन-दर्शन के निरूपक हैं।

तृतीय खण्ड

कृतियाँ

१

प्रारम्भिक रचनाएँ : 'इन्दु'

[रामरतन भटनागर]

'इन्दु' आधुनिक कविता के इतिहास की महत्त्वपूर्ण सम्पत्ति है। जयशंकर प्रसाद से इसका अत्यन्त निकट का सम्बन्ध रहा है। पत्र उन्हीं के आग्रह से निकाला गया। संपादक और प्रकाशक उनके भांजे अम्बिकाप्रसाद गुप्त थे। पहली संख्या (कला १, किरण १) श्रावण शुक्ल संवत् १६६६ (१६०६) में प्रकाशित हुई। मुखपृष्ठ पर मङ्गल-वाक्य था—

ॐ इन्दुशेखराय नमः

भीतर मोटो (आदेश-वाक्य) इस प्रकार छपता था—

"सज्जन चित्त चकोरन को हुलसावन भावन पूरो अनिन्दु है,
मोहन काव्य के प्रेमिन के हित सांच सुधारस को बलिविन्दु है।
ज्ञान प्रकाश प्रसारि हिये बिच, ऐसो जो मूरखता तमभिन्दु है,
काव्य-महोदधि से प्रगट्यो, रसरीति कलायुत पूरण 'इन्दु' है।।"

पहली संख्या में ही स्वच्छन्दतावाद (Romanticism) का बिगुल इन शब्दों में सुनाई पड़ता है—

"साहित्य का कोई लक्ष्य विशेष नहीं होता है और उसके लिए कोई विधि का निबन्धन नहीं है, *क्योंकि साहित्य स्वतन्त्र प्रकृति सर्वतोगामी प्रतिभा के प्रकाशन का* परिणाम है, वह किसी की परतन्त्रता को सहन नहीं कर सकता, संसार में जो कुछ सत्य और सुन्दर है वही साहित्य का विषय है। साहित्य केवल सत्य और सौन्दर्य की चर्चा करके सत्य को प्रतिष्ठित और सौन्दर्य को पूर्णरूप से विकसित करता है, आनन्दमय हृदय के अनुशीलन में और स्वतन्त्र आलोचना में उसकी सत्ता देखी जाती है।"

(इन्दु, कला १, किरण १, 'प्रस्तावना')

"वन्दे मुकुलित नवल नील अरविन्द नमनिकर,
चरचे नवशशि लांछित अनुपम मुखे सुधाधर।
धरति कमलकर वीणा बाजत जगतानन्दे,
आनन्दामृत वरषति जय-जय शारद वन्दे।।
मन्दन बाल मधुलतरस्मित जय रस की मूरति,
उमड़त ताल रसाल वीणा बाजत रस पूरति।

शुभ्र कमल दल भाल विभूषित स्वेतवरणि जय !
जयति देवि शारदे लसत आभूषण मणिमय !!"

इत्यादि ('शारदाष्टक' कला १, किरण १)

इस कविता पर जहाँ भावना में भक्ति-काव्य का प्रभाव है, वहाँ शैली गीतगोविन्दम् (जयदेव) से उधार ली गई है। इस तरह की रचनाएँ परम्परा-घोषित होने के कारण कोई महत्व नहीं रखतीं।

परन्तु इसी संख्या में हमारा ध्यान एक वस्तु की ओर आकर्षित होता है। वह है प्रसाद का पहला गद्यलेख 'प्रकृति-सौन्दर्य'। प्रसाद की पहली प्रकृति-विषयक कविता किरण ३ में प्रकाशित हुई, परन्तु प्रकृति-प्रेम उनकी स्थायी वृत्ति थी, यह इस लेख से सिद्ध हो जाता है। दूसरी किरण में 'प्रेमपथिक' प्रकाशित हुआ। यह ब्रजभाषा छन्द में है। बड़ा हो जाने पर यह स्वतन्त्र रूप से पुस्तकाकार में प्रकाशित हुआ और फिर 'प्रसाद' ने इसे परिवर्तित और परिवर्द्धित कर खड़ीबोली में १६१३ ई० में प्रकाशित कराया। तब इसने क्रान्तिकारी रूप ग्रहण कर लिया था। १६०५ के लगभग मूल रूप में ब्रजभाषा में लिखा जाकर यह इतना महत्त्वपूर्ण नहीं था। समसामयिक काव्य में इसने एक युग-परिवर्तन की सूचना दी। यह कथात्मक काव्य था, शायद गोल्डस्मिथ के Hermit से प्रभावित था, परन्तु विषय और उसकी निबन्धता Treatment दोनों मौलिक होने के कारण जनता का ध्यान उसकी ओर गया।

प्रसाद के प्रारम्भिक काव्य की प्रगति प्रकृति की ओर थी, यह कला १, किरण ३ में प्रकाशित उनकी शारदीय शोभा कविता से प्रकट होता है। एक अन्य प्रकृति थी मनोवैज्ञानिक एवं मानसिक वृत्तियों की विवेचना की ओर। किरण ३ की 'मानस' शीर्षक कविता में 'कामायनी' का बीज निहित था, यह कौन अस्वीकार करेगा? इसी वर्ष (१६०६) हम प्रसाद को 'प्रेमराज्य' और 'उर्वशी' (चंपू) लिखते पाते हैं। प्रेम और छंदों की नवीनता की ओर प्रसाद पहले से ही उन्मुक्त थे।

नये काव्य में कल्पना का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। १६०६ के लगभग ही प्रसाद ने कल्पना देवी की अभ्यर्थना इस प्रकार कर ली थी—

"हे कल्पना सुखदान,
तुम मनुज जीवन-प्रान।
तुम विशद व्योम समान,
सब अन्त मर नहिं जान॥१॥
प्रत्यक्ष भावी भूत,
यह रँगे त्रिविध सुसूत।

तव तानि प्रकृति सुतार,
पट विनत सुचि ससार ॥२॥
जेहि विश्व को विश्राम,
अरु कछुक है जो काम।
सब को अहौं तुम ठाम,
तव. मधुर ध्यान ललाम ॥३॥
तव मधुर मूर्ति अतीत,
है करत हीतल शीत।
व्याकुल नरन को भीत,
तुम करहुँ अबहुँ अभीत ॥४॥
शैशव मनोहर चित्र,
तुम रचहु कबहुँ विचित्र।
मनु धूल धूसर बाल,
पितु गोद खेलत हाल ॥५॥
तव सुखद भावी मूर्ति,
जेहि कहत आशा स्फूर्ति।
मनुजहिं रखं बिलमाय,
जासों रहं सुख पाय ॥६॥
नवजात शिशु को ध्यान,
हुलसावही पितु-प्रान।
वह कमल कोमल गात,
जनु खेलिहं कहि तात ॥७॥
कहुँ प्रेममय ससार,
नव प्रेमिका का प्यार।
कंपित सुदामा चित्र,
वहू रचहु तुम जगमित्र ॥८॥
तव शक्ति कहि अनमेल,
कवि करत अद्भुत खेल।
कहि दृग-स्यविन्दु तुषार,
गुहि देत मुक्ता हार ॥९॥
तुम ज्ञान करि आनन्द,
हिय को करहुँ सानन्द।

नहिं यह विषम संसार,
तहँ कहाँ शान्ति पयार ॥१०॥"

इत्यादि (कला १, किरण ५)

अंग्रेजी स्वच्छन्दवादी कवि 'कीट्स्' ने भी इसी तरह प्रारंभ में 'Ode to fancy' कविता लिखी थी। कल्पना का रोमांस से गहरा साथ है। इसी से हम देखते हैं कि प्रसाद का ध्यान शीघ्र ही शकुन्तला की ओर गया और उन्होंने व्रजभाषा में 'वनवासिनी बाला' नाम से उसकी कथा लिखी (क० १, कि० ६)। इन कविताओं के अतिरिक्त अयोध्योद्धार (कि० १०), समाधिसुधा (कि० १२) और सन्ध्यातारा (क० २, कि० १) इसी वर्ष प्रकाशित हुई। प्रसाद की पहली कहानी 'ग्राम' कला १, किरण ७ में प्रकाशित हुई। सन्ध्यातारा कविता में प्रसाद ने पयार छन्द (बँगला) का प्रयोग किया। भारतेन्दु भी एक खड़ीबोली की कविता के लिए इसका प्रयोग कर चुके थे। यह दूसरा प्रयोग था।

'कवि और कवित्त' कला २, किरण १ में प्रसाद ने सामयिक काव्य-स्थिति के सम्बन्ध में लिखा है—"अधिकांश महाशय ········ कविता-मर्म समझने की बात दूर है, उस पर ध्यान भी नहीं देते। यह क्यों, छन्द विषयक अरुचि है? इसका कारण यह है कि सामयिक पाश्चात्य शिक्षा का अनुकरण करके जो समाज के भाव बदल रहे हैं उनके अनुकूल कविता नहीं मिलती और पुरानी कविता का पढ़ना मानों महाद्वेष-सा प्रतीत होता है, क्योंकि इस ढङ्ग की कविता बहुतायत से हो गई है ······

"शृङ्गार रस की मधुरता पान करते-करते आप की मनोवृत्तियाँ शिथिल हो गई हैं इस कारण अब आप को भावमयी, उत्तेजनामयी, अपने को भुला देने वाली कविताओं की आवश्यकता है। अस्तु, धीरे-धीरे जातीय संगीतमयी वृत्ति स्फुरणकारिणी, आलस्य को भंग करने वाली, आनन्द बरसाने वाली, धीर-गम्भीर पद-विक्षेप-कारिणी, शांतिमयी कविता की ओर हम लोगों को अग्रसर होना चाहिए। अब दूर नहीं है; सरस्वती अपनी मलीनता को त्याग कर रही हैं, और प्रबल रूप धारण करके प्रभातिक कमा को भी लजावेंगी, एक बार वीणा-धारिणी अपनी वीणा को पंचम स्वर में ललकारेंगी, भारत की भारती फिर भी भारत ही की होगी।"

इसके बाद शीघ्र ही प्रसाद का स्वर बदला। वर्षा में नदीकूल (क० २, कि० १) के बाद उनकी पहली खड़ीबोली की कविता 'चित्र' (किरण २) प्रकाशित हुई और फिर वे बराबर खड़ीबोली में लिखते गये। १९०९-१९१९ तक का 'इन्दु' का सारा जीवन-काल प्रसाद का कविता-विषयक परीक्षा-काल है। उनकी पहली सुन्दर खड़ीबोली की कविता जिसमें खंडकाव्य के पूरे उल्लेख के साथ हमारे सामने आते हैं 'सत्यव्रत' है जिसमें चित्रकूट में राम-लक्ष्मण-सीता का चित्रण किया गया है। इसी संख्या (कला ४, खंड १, किरण १) में 'भरत' शीर्षक कविता भी प्रकाशित हुई है। उस समय रामकाव्य की ओर

जनता का ध्यान जा रहा था। नवीन जी की 'उर्मिला' और गुप्त जी की 'साकेत' की नींव भी इसी समय के लगभग रक्खी गई थी।

प्रसाद के प्रयोगी रूप को आज हम 'कामायनी' (१९३६) की चकाचौंध में भूल गये हैं, परन्तु यदि हम 'इंदु' के पुराने परचे उठाकर देखें तो हमें उनकी महान् साधना का ज्ञान होता है। प्रसाद ने गजल-छंद तक को अपनाया। इन्दु क० ४०, खं० १, कि० ५ में उनकी एक गजल 'भूल' शीर्षक से प्रकाशित हुई थी—

"सरासर भूल करते हैं उन्हें जो प्यार करते हैं,
बुराई कर रहे हैं और अस्वीकार करते हैं।
उन्हें अवकाश ही रहता कहाँ है मुझसे मिलने का,
किसी से पूछ लेते हैं यही उपकार करते हैं।
जो ऊँचे चढ़के चलते हैं वो नीचे देखते हरदम,
प्रफुल्लित वृक्ष ही यह भूमि कुसुमागार करते हैं।
न इतना फूलिये तरुवर, सुफल कोरी कली लेकर,
बिना मकरन्द के मधुकर नहीं गुंजार करते हैं।
'प्रसाद' उसको न भूलो तुम तुम्हारा जो कि प्रेमी है,
न सज्जन छोड़ते उसको जिसे स्वीकार करते हैं।"

१९१३ के लगभग प्रसाद के काव्य पर गीतांजलि (प्र० १९११) का प्रभाव पड़ने लगता है। इस प्रभाव का प्रथम लक्ष्य 'नमस्कार' शीर्षक कविताओं में होता है—

"जिस मंदिर का द्वार सदा उन्मुक्त रहा है,
जिस मंदिर में रङ्क नरेश समान रहा है।
जिसका है आराम प्रकृति कानन ही सारा,
जिस मंदिर के दीप, इन्दु दिनकर औ' तारा॥
उस मंदिर के नाथ को,
निरुपम निरमम स्वस्थ को।
नमस्कार मेरा सदा,
पूरे विश्व गृहस्थ को॥"

(जुलाई, १९१३)

"तप्त हृदय को जिस उशीरगृह का मलयानिल,
शीतल करता शीघ्र दान कर शांति को अखिल।
जिसका हृदय पुजारी है रखता न लोभ को,
स्वय प्रकाशानुभव मूर्ति देती न क्षोभ जो॥

प्रकृति सुप्रांगण में सदा,
मधुक्रीड़ा कूटस्थ को,
नमस्कार मेरा सदा,
पूरे विश्व गृहस्थ को ॥"

(अगस्त, १९१३)

प्रसाद बार-बार नये छन्दों के प्रयोग भी कर रहे हैं। 'पतित पावन' शीर्षक कविता में देखिये—

"पतित हो जन्म से या कर्म ही से क्यों नहीं होवे,
पिता सब का वही है एक, उसकी गोद में रोवे।
पतित पदपद्म से होवे,
तो पावन हो ही जाता है।"

(जनवरी, १९१४)

उन्होंने 'सॉनेट' भी लिखे—

"सिन्धु कभी क्या बाड़वाग्नि को यों सह लेता,
कभी शीत लहरों में शीतल ही कर देता।
रमणी हृदय अथाह जो न दिखलाई पड़ता,
तो क्या जल होकर ज्वाला से यों फिर लड़ता।
कौन जानता है, नीचे में क्या बहता है,
बालू में भी स्नेह कहो कैसे रहता है।
फल्गू की है धार हृदय वामा का जैसे,
रूखा ऊपर, भीतर स्नेह सरोवर जैसे।
ढकी बर्फ की शीतल ऊँची चोटी जिनकी,
भीतर है क्या बात न जानी जाती उनकी।
ज्वालामुखी समान कभी जब खुल जाते हैं,
भस्म किया उनको जिनको वे पा जाते हैं।
स्वच्छ स्नेह अंतर्हित फल्गू सदृश किसी समय,
कभी सिन्धु ज्वालामुखी धन्य-धन्य रमणी हृदय।"

(क० ५, ख० १, कि० १)

बंगला 'त्रिपदी' छंद का भी प्रयोग किया गया है—

"सघन सुन्दर मेघ मनहर,
गगन सोहत हेरि।

धरा पुलकित अति अनन्दित,
रूप धर्यो चहुँ फेरि ॥
लता पल्लवित राजै कुसुमित,
मधुकर सों गुञ्जित।
सुखमय शोभा लहि मन लोभा,
कामन नवरञ्जित ॥
बिज्जुलि मालिनि नव कादम्बिनि,
सुन्दर रूप सुधारि।
अमल धारा नव जल धारा,
सुधा देत मनु ढारि॥"

परन्तु इन कविताओं का महत्त्व प्रयोगात्मक और ऐतिहासिक मात्र है। परन्तु फिर भी व्रजभाषा की कुछ कविताएँ बड़ी सुन्दर बन पड़ी हैं और हमें सहसा आकर्षित कर लेती हैं—

"पवन चलत सुरभित अति जो,
मदमत्त करत सब ही को।
मनहुँ मनोहर कामिनी कर,
परसत हिम शीतल जी को ॥
झुकी सुमन के भार ते,
डारन ये परसत नीको।
ललित विमलता अति लोनो,
तरुन-तरुन के ही को ॥"
(पावस, कला २, किरण २)

विशेषतः जब इस प्रकार की कविताएँ द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मक नीरस कविताओं के समकक्ष रखी जाती हैं—

"सुसाम्य रागोत्थित ताम्र सीमा,
मनो धरे अंबुज अञ्जुली या।
निशा नवेली शशि को मनावे,
विथा हिये की सिगरी सुनावै ॥
कपूर-सों वासित वायु सोरो,
मरन्द के गन्ध सन्यो उसी से।
वियोगियों के मन को विमोहै,
संयोगियों को सब भाँति छोहै ॥"
(गिरि-वर्षा—चौधरी लक्ष्मीनारायण सिंह, कला २०, किरण २)

इस कविता के सम्मुख प्रसाद के 'इन्द्रधनुष' की प्रतिमा रखिये तो चमत्कार का पता लगेगा—

"नंदनकानन विहरणशील अप्सरागन को,
सूखत पट बहुरंग हरत है जे मुनि मन को।
किधौं गगन तरकस तानि बहुरंग तार को,
फेरत तिन पर संग सुघर अनसिमित यार को॥"

(कला ३, कि० २)

या खड़ीबोली की उनकी पहली कविता 'चित्र'—

"आशातटनी का कूल नहीं मिलता है,
स्वच्छंद पवन बिन कुसुम नहीं खिलता है।
कमलाकर में अति चतुर भूल जाता है,
फूले फूलों पर फिरता टकराता है॥
मन को अथाह, गम्भीर समुद्र बनावो,
चंचल तरङ्ग को चित से वेग हटावो।
शैवाल तरङ्गों में ऊपर बहता है,
मुक्ता-समूह थिर जल भीतर रहता है॥"

(कला २, कि० २)

यद्यपि प्रसाद ने व्रजभाषा की कविता खड़ीबोली के साथ-साथ बराबर लिखी, इस प्रारम्भिक काल में द्विवेदी-युग के कवियों का उन पर प्रभाव नहीं पड़ता, यह भी असम्भव था। 'प्रभातिक कुसुम' और 'शरत्पूर्णिमा' (कला २०, कि० ४) जैसे नवीन विषयों पर उन्होंने व्रजभाषा में रचनाएँ कीं, परन्तु सामयिक काव्य का प्रभाव पड़ने के कारण वे कुछ समय तक द्विवेदी-युग से ऊपर नहीं उठ सके—

"चंद्रिका दिखला रही है क्या अनुपम-सी छटा,
खिल रही है कुसुम की कलियां सुगंधों की अटा।
सब दिगंतों में जहां तक दृष्टि पथ की दौड़ है,
सुधा का सुन्दर सरोवर दीखता बेजोड़ है॥"

(जलविहारिणी, कला २, किरण ५)

परन्तु उन्होंने शीघ्र ही अपने लिए नया क्षेत्र निकाल लिया। यह क्षेत्र था अतुकांत कविता का। १६२३ के लगभग प्रसाद क्रांतिकारी रूप में हमारे सामने आते हैं। इसी से 'सत्यव्रत' (कला ४, कि० १) में हमें उनके खड़ीबोली के प्रौढ़ काव्य के दर्शन होते हैं। इसी हेतु उन्होंने अतुकांत के प्रयोग शुरू किये—

"हिमगिरि का उत्तुङ्ग शृंग के सामने,
खड़ा बताता है भारत के गर्व को।
पड़ती इस पर जब माला रवि-रश्मि की
मणिमय हो जाता है नवल प्रभात में।
बनती है हिमलता कुसुममणि के खिले,
पारिजात का ही पराग शुचि धूलि है।
सांसारिक सब ताप नहीं इस भूमि में,
सूर्यताप भी सदा सुखद होता यहां।
हिमसर में भी खिले विमल अरविंद हैं,
कहीं नहीं है शोच, कहीं संकोच है।
चंद्रप्रभा में भी गलकर बनते नहीं,
चंद्रकांत से हिमखंड मनोज्ञ हैं।"

(भरत, कला ४, खं० १, कि० १, १९१३)

१९१३ में ही प्रसाद को मानसिक संकट उठाना पड़ा। एक कविता में उन्होंने इसका संकेत किया है—

"ये मानसिक विप्लव प्रभो जो रहे दिन-रात हैं।"

(करुण क्रन्दन, अप्रैल १९१३)

और अगली ही संख्या में हम उन्हें वेदनात्मक काव्य की ओर झुका पाते हैं जैसे 'दलित कुमुदिनी'। कुछ वर्षों तक उनका यह दुःखभाव चलता रहता है। जुलाई-अगस्त १९१३ में 'नमस्कार' शीर्षक कविताओं के प्रकाशन से हम उन्हें गीतांजलि (प्र० १९११) के प्रभाव-क्षेत्र में भी आया पाते हैं। इसी समय कदाचित् उनकी वे कविताएँ प्रकाशित होती हैं जो रायकृष्णदास के संस्करण के आधार पर गद्यगीत के रूप में रवि ठाकुर के प्रभाव से लिखी गई जैसे—

"जब प्रलय का हो समय ज्वालामुखी निज मुख खोल दे,
सागर उमड़ता आ रहा हो, शक्ति साहस बोल दे।
ग्रहगण सभी हो केन्द्रच्युत लड़कर परस्पर भग्न हों,
उस समय भी हम हे प्रभो! तव पद्मपद में लग्न हों॥
जब शैल के सब शृङ्ग विद्युतवृन्द के आघात से,
हों गिर रहे भीषण मचाते विश्व में व्याघात से।
जब घिर रहे हों प्रलय घन अवकाशगत आकाश में,
तब भी प्रभो! यह मन खिंचे तव प्रेमधारा-पाश में॥"

(फरवरी, १९१४)

इसी समय उनकी एक दूसरी महत्त्वपूर्ण रचना 'महाराणा का महत्त्व' (कला ५, खं० १) प्रकाशित हुई। कविता अतुकांत थी। इसमें प्रसाद प्रौढ़ हो गये हैं—

"तार हीरक हार पहन कर, चहुँमुख,
दिखलाती चढ़ती जाती थी चाँदनी।
(शाही महलों के ऊँचे मीनार पर)
जैसे कोई पूर्ण सुन्दरी प्रेम से।
चढ़े अटारी पर मिलने को नाथ से,
अकबर के साम्राज्य-भवन के द्वार से।
निकल रही थी लपट सुगंध सनी हुई,
'बसरा के मुश्क' से वासित हो रहा।
भारत को सुख शीत पवन, जैसे कहीं,
मिले विकास नवीन विवेकी हृदय से।
राजभवन में मणिमय दीपाधार सब,
स्वयं प्रकाशित होते थे, आलोक भी।
फैल रहा था स्वच्छ सुविस्तृत भवन में,
कृत्रिम मणिमय लता-भित्ति पर जो बनी।
नव वसंत-सा उन्हें विमल आलोक ही,
मुक्ताफल शालिनी बनाता था अहो।
कुसुमकली की मालाएँ थीं झूमतीं,
तोरन बन्दनवार हरे द्रुमपत्र के।
सुरभि पवन से कलियाँ सब खिलने लगीं,
कुश मालाएँ 'गजरे'-सी वह हो गईं।"

(क० ५०, कि० ६)

परन्तु 'गीतांजली' का प्रभाव अधिक गहराई और बाद की कविताओं में दूर तक चलता है—

"नये-नये कौतुक दिखला कर,
जितना दूर किया चाहो।
उतना ही दौड़ दौड़ कर
चंचल हृदय निकट होता॥"

(जनवरी, १९१५)

"देर तुम्हारे आने में थी, इसलिये,
कलियों की माला विरचित की थी कि हाँ।

जब तुम आओगे, ये खिल जायेंगी,
सुखद शीत मारुत ने हमें सुला दिया।
ये सब खिलने लगीं, न हमको ज्ञात था,
मधुर स्वप्न तेरा हम तो थे देखते।
किंतु कली थी एक हृदय के पास ही,
माला में वह गड़ने लगी न खिल सकी।
आंख खुली तो देखा चन्द्रालोक से,
रंजित कोमल बादल नभ में छा गए।
जिस पर बैठे पवन सहारे तुम चले,
हम व्याकुल हो उठे कि तुम को अंक में।
ले लूं, तुमने झोरी सुरभित सुमन की,
फेंकी, मस्त हुई आंखें फिर नींद में।"

(सुख की नींद : सितम्बर)

जो हो, इन प्रभावों और प्रयोगों द्वारा प्रसाद ने हिन्दी काव्य में एक युगांतकारी परिवर्तन कर दिया। यह सच है कि उनके साथ अन्य शक्तियाँ भी आईं। पंत और निराला ने भी नये काव्य की भेरी बजाई। परन्तु प्रसाद प्राचीन काव्य के गढ़ में रहते हुए इस जागरण के अग्रदूत हुए, यह उनके लिए श्रेय की बात थी। शताब्दी के प्रारम्भ में खड़ीबोली बहिष्कृत थी। काव्य-क्षेत्र में उसका कोई स्थान नहीं था—

"जात खड़ी बोली पै कोऊ भयो दिवानो,
कोऊ तुकांत बिन गद्य लिखने में है अरुझानो।
अनुप्रास प्रतिबन्ध कठिन जिनके उर माहीं,
तथापि पद्य-प्रतिबंधहु लिख गद्य क्यों नाहीं।
अनुप्रास कबहूँ न सुकवि करि शक्ति घटावैं,
सच पूछो तो नव सूझन हिये उपजावैं॥"

(सरस्वती, १९०१)

जहाँ परिस्थिति यह थी, वहाँ एक दशक के बाद ही हमें खड़ीबोली में ऐसे प्रामाणिक काव्य मिले जैसे प्रियप्रवास, रंग में भंग, जयद्रथ-वध, पद्यस्कंद, भारत-भारती, मौर्यविजय, प्यारण, हिन्दी में मेघदूत, प्रवासी, नीति-कविता, मेवाड़गाथा, माधवमंजरी। प्रसाद इस दिशा में और आगे बढ़े। तुकान्तहीन काव्य के क्षेत्र में उन्होंने विशेष योग दिया। प्रेमपथिक (१९१३) उनका पहला प्रयास था। उनसे पहले रामचरित्र उपाध्याय, व्रजनन्दन सहाय, कृष्णराम, रूपनारायण पांडे ने और मैथिलीशरण गुप्त तुकान्तहीन काव्य की रचना कर चुके थे, परन्तु प्रसाद के 'प्रेम पथिक' (१९१३), 'करुणालय'

(इन्दु, माघ संवत् १६६६) और महाराणा का महत्त्व इनसे कहीं आगे थे। यह हर्ष का विषय है कि तुकान्त काव्य का महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इस प्रारंभिक काल में पसन्द कर उसे अपना बल दिया था। (द्विवेदी जी का पत्र लोचनप्रसाद पाण्डेय के नाम ता० १४-६-१६०७ : इन्दु : क० ६०, ख० २०, किरण १, १६१५)

यद्यपि बाद मे 'सुकवि किंकर' के नाम से उन्होंने छायावाद के विरोध में अपनी पूरी शक्ति लगा दी थी। (सरस्वती, मई १६२७ और भारतेन्दु सं० १, १६२८)

१६२७ ई० में लगभग १० वर्ष अंतर्धान रहने के बाद जब 'इन्दु' फिर प्रकाशित हुआ, तो प्रसाद द्वारा संस्थापित नई काव्यबेलि लहलहा उठी थी। १६०६-१६ तक यह नया काव्य 'इन्दु' के पृष्ठों में ही जन्म एवं विकास को प्राप्त हुआ था, अतः हमें प्रसन्नता होती है जब संपादक लिखता है—

"गद्य के साथ आधुनिक हिन्दी कविता ने भी करवट ली है। अभी उसका लड़कपन दूर नहीं हुआ है, पर नींद की इस नई करवट ने उसे मधुर अवश्य बना दिया है। पहले वह सेवा की चीज थी, अब प्रेम की वस्तु हो गई है। पुराने अभिभावकों को शिकायत है कि अस्पष्टता और उच्छृङ्खलता बढ़ रही है पर वह भूल जाते हैं कि ये दोनों बातें जीवन के वसंत और यौवन के संधिकाल के दो बहुत ही आवश्यक उपकरण हैं। हिन्दी के नये मधुकर, बड़े-बूढ़ों की इस शिकायत का शायद यह जवाब दें कि प्रौढ़ता मुबारिक हो उनको जिनकी यात्रा का वही संबल है। अल्हड़पन ही तो जीवन का विकास है। हम भी यह कहें तो अनुचित न होगा कि सौन्दर्य सदैव एक रहस्य है, अतएव जहाँ जितनी सुन्दरता होगी, वहाँ उतनी ही अस्पष्टता भी रहेगी। सौन्दर्य की भाषा में जो अस्पष्टता, संकोच और (सिर झुकाकर कभी-कभी ऊपर देख लेने वाली) लज्जा की सहेली है वही साहित्य के प्रगति-विज्ञान में प्रतियोगिता के चिन्ह हैं। परिवर्तन की इस अवस्था पर रोने वाले रोयें, पर वह रोने की नहीं, मुस्कराने की चीज है। हँसने की चाहे भले न हो।

हमारा तो विश्वास है कि साहित्य के दृष्टिकोण में सबसे यह महत्त्वपूर्ण जो परिवर्तन हुआ है वह कविता से ही सम्बन्ध रखता है। 'इन्दु' को गर्व है कि अपने जीवन के प्रारंभिक दिनों में जो बीज उसने बोये थे, वे आज रूप बदलकर लहलहा रहे हैं।

(कला ८, कि० १, जनवरी १६२७)

इन पंक्तियों में प्रसाद की आत्मा ही नहीं प्रसाद के ही शब्द ध्वनित हैं। कौन जानता है, 'इन्दु' के लिए प्रसाद ने कितना परिश्रम किया, कितनी संपादकीय टिप्पणियाँ उन्होंने लिखीं ? परन्तु जो जानते हैं, उन्हें ऊपर की पंक्तियाँ गर्वोक्ति नहीं लगेंगी, यह साधक द्वारा उसकी साधना की स्वीकारोक्ति मात्र है। 'इन्दु' के माध्यम से प्रसाद ने दो दशकों में हिन्दी काव्य को रीतिकालीन भुभैयल और द्विवेदीयुगीन जड़ता-चक्र से निकाल कर प्रेम, सौन्दर्य और चिंतन की प्रशस्त भूमि पर ला खड़ा किया।

२

प्रसाद-साहित्य की राजनीतिक पृष्ठभूमि

[जयचन्द राय]

जयशंकर प्रसाद का रचना-काल सन् १९१० से प्रारम्भ होता है। वैसे 'भारतेन्दु' में उनकी कविता इससे कुछ पहले ही प्रकाशित हो चुकी थी पर सन् १९१० के उपरान्त उनकी रचनाएँ धारावाहिक रूप से प्रकाश में आने लगीं। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में यह काल 'द्विवेदी-युग' के बीच में पड़ता है और भारतीय समाज के इतिहास में यह सामाजिक सुधारों और राष्ट्रीय जागरण का युग माना जाता है। एक दूसरी दृष्टि से यह युग सामंती समाज-व्यवस्था और यंत्र-प्रधान 'महाजनी-सभ्यता' का संधि-काल भी कहा जाता है। ग्रामीण जीवन अब भी प्राचीन सामंती संगठन की अवस्था में था परन्तु भारत का नागरिक जीवन पाश्चात्य देशों में होने वाले औद्योगिक विकास के प्रभाव में आ चुका था और भारत में भी भीमोद्योग पलने लगे थे। दक्षिण और पूर्व के भारतीय भू-भाग अपनी विशिष्ट भौगोलिक परिस्थितियों के कारण नवीन सभ्यता के सम्पर्क में पहले आये। भारत का उत्तरी भाग उससे बहुत बाद में प्रभावित हुआ। 'बिहार' और 'उत्तर प्रदेश' के प्रांतों से घिरा विस्तृत भू-भाग द्विवेदी-युग तक प्राचीन सामंती संस्कारों से पूर्णतया ग्रस्त था। हिन्दी-साहित्य का विकास इसी भू-भाग में हो रहा था। इसलिए यह आवश्यक था कि इस प्रदेश में रहने वाले साहित्यकार अपेक्षाकृत अधिक आग्रह के साथ सामंती जीवन-मूल्यों का समर्थन और विवेचन करें। यही कारण है कि तत्कालीन हिन्दी-साहित्य में वैयक्तिकता-प्रधान आत्माभिव्यंजक रचनाओं की सृष्टि उतनी जल्दी न हो सकी जितनी बँगला में। अनेक ऐतिहासिक कारणों से बंग-देश सामाजिक विकास की दिशा में बहुत आगे बढ़ चला। यंत्रों की सहायता से केन्द्रीकृत उद्योगों का विकास वहाँ पहले हुआ। पश्चिम का सम्पर्क भी बंगाल को पहले ही मिल चुका था। इसीलिए मध्ययुगीन सामंती व्यवस्था, रीति-नीति, प्रेम-सदाचार और अन्य सभी प्राचीन संस्कारों के प्रति विद्रोह वहाँ पहले ही घटित हो गया।

हिन्दी प्रदेश में सबसे पहले 'भारतेन्दु-युग' में अभिजातवर्गीय समाज-चेतना के विपरीत विद्रोह दिखाई पड़ा। 'द्विवेदी-युग' में समाज-विकास के कारण वह तीव्र हुआ। 'भारतेन्दु-युग' में जीवन और साहित्य की संगति दिखाई गई और 'द्विवेदी-युग' में पौराणिक आख्यानों द्वारा अतीत गौरव को स्मरण किया गया। राष्ट्रीय भावना का विकास और संरक्षण दोनों युगों में हुआ। 'द्विवेदी-युग' के प्रारम्भ में ही 'बंग-भंग' के आंदोलन के फलस्वरूप व्यापक और सक्रिय राष्ट्रीय चेतना का अभ्युदय समस्त भारतवर्ष में हो चुका था। औपनिवेशिक

शासन-चक्र के नीचे पिसता हुआ सम्पूर्ण जन-समूह मध्यवर्गीय नेतृत्व में उठ रहा था। श्री दयानन्द सरस्वती और राजा राममोहन राय के चलाये हुए समाज-सुधार सम्बन्धी आंदोलन नगरों से आगे बढ़कर गाँवों तक में पहुँचने लगे थे। हिन्दी-प्रदेश आर्यसमाज के आंदोलन से विशेष प्रभावित हुआ। फलस्वरूप रीतिकालीन शृंगारमयी अनुभूतियों की व्यंजना के स्थान पर नवीन सामाजिक नैतिकता की प्रतिष्ठा साहित्य में हुई। 'रस' का परम्परागत संस्कार लोगों के मन में अब भी था, इसीलिए नैतिकता के आतंक से नियंत्रित द्विवेदी-युगीन साहित्य 'रस-ग्राही' पाठकों को 'नीरस' और 'इतिवृत्तात्मक' लगा। खड़ी बोली भाषा की कुछ त्रुटियों के रहने के कारण और विकास की प्रारम्भिक अवस्था में होने के कारण भी उस साहित्य का 'रूप-पक्ष' अधिक आकर्षक नहीं बन सका।

जैसा ऊपर कहा गया है भारतवर्ष में सामंती जीवन के विपरीत जो विद्रोह चला उसी के समानान्तर राष्ट्रीय आंदोलन भी चल पड़ा। औपनिवेशिक देश के औद्योगिक विकास में ऐसा होना अनिवार्य था। ये दोनों आंदोलन अभी समाप्त भी नहीं हो पाये थे कि स्वतन्त्र मजदूर और किसान-आंदोलन चल पड़े। हम आगे चलकर देखेंगे कि प्रसाद के काव्य-साहित्य में सामंती नैतिकता के विरुद्ध यह भाव अंकित हुआ; उनके नाटकों से राष्ट्रीय भावनाओं को उत्तेजना प्राप्त हुई और उनकी कहानियों और उपन्यासों में जन-हित का पक्ष प्रबल हुआ।

प्रसाद के साहित्य-क्षेत्र में उतरते समय जैसी परिस्थिति थी उसका संक्षिप्त उल्लेख ऊपर हुआ है। उनकी सबसे पहली कहानी 'ग्राम' में इस बात का संकेत मिलता है कि किस प्रकार एक जमींदार की सम्पूर्ण जायदाद कर्ज न चुकाने के कारण एक महाजन के हाथ चली जाती है। इस कथा में समाज-व्यवस्था के परिवर्तन का स्वरूप अनायास चला आया है। कहानी स्पष्ट सिद्ध करती है कि समाज में यंत्रों के विकास के फलस्वरूप एक ऐसे वर्ग का जन्म हो रहा है जो पुरानी जागीरदारी की व्यवस्था पर आधिपत्य जमाकर प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेने का इच्छुक है। कुन्दनलाल नामक महाजन उस सम्पूर्ण जन-वर्ग का प्रतिनिधि है जो औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप उत्पन्न होता है और समाज का नेतृत्व अपने हाथों में ले लेता है।

प्रसाद का सर्वप्रथम काव्य-संग्रह 'कानन-कुसुम' सन् १६१० में प्रकाशित हुआ था। उसमें पौराणिक आख्यानों के आधार पर रची गई विनय की कविताएँ हैं। यत्र-तत्र तत्कालीन राष्ट्रीय भावना का अपरोक्ष प्रकटीकरण भी हुआ है। उदाहरण के लिए निम्नांकित पंक्तियाँ लीजिये जिसमें देश के लिए अपना सब कुछ उत्सर्ग करने वाले युवकों का आवाहन किया गया है—

"जो अछूत का जगन्नाथ हो, कृषक-करों का दृढ़ हल हो,
दुखिया की आँखों का आँसू और मजूरों का बल हो।

प्रेम भरा हो जीवन में, हो जीवन जिसकी कृतियों में,
अचल सत्य संकल्प रहे, न रहे सोता जागृतियों में ॥"

और, जिसकी—

"खुले किवाड़ सदृश हो छाती सबसे हो मिल जाने को।"

कहना न होगा कि आगे चलकर उनके नाटकों में विकसित होने वाली राष्ट्रीय भावना इस प्रथम काव्य-संग्रह में ही पनपती दिखाई पड़ती है। ऊपर 'द्विवेदी-युग' के प्रसंग में 'महाजनी-सभ्यता' के अभ्युदय और राष्ट्रीय जागरण की चर्चा की गई है। हमने कहानी और कविताओं का उदाहरण लेकर प्रसाद के प्रारम्भिक साहित्य में दोनों का उभार देखा। प्रसाद के नाटकों में राष्ट्रीय भावना और भी अधिक दृढ़ता के साथ अभिव्यक्त हुई। अन्तर केवल इतना है कि वह पौराणिक तथा ऐतिहासिक आख्यानों के माध्यम से चित्रित हुई। अपने अतीत के गौरव का स्मरण पराधीन जाति के लिए विशेष महत्त्व-पूर्ण है। स्वाधीन देशों में औद्योगिक क्रांतियों का जो स्वरूप था ठीक वैसा ही पराधीन देशों में नहीं रहता। पराधीन देश सर्वप्रथम अपने जन्मसिद्ध अधिकार—स्वातन्त्र्य—की माँग करता है। विजेता के समक्ष वह अपने गौरव को गर्वपूर्वक स्मरण करता है। ऐसा करने से उसके जीवन में गति और प्राणों में शक्ति का विकास होता है। इसलिए समाज-विकास की एक विशेष सीढ़ी पर पहुँचकर प्राचीन इतिहास के विश्लेषण और गायन की आवश्यकता पड़ा करती है। 'द्विवेदी-युग' की एक सामाजिक आवश्यकता यह भी थी कि भारत के प्राचीन वैभवपूर्ण इतिहास को जनता के समक्ष प्रस्तुत करके उसे सामूहिक रूप से अपने स्वत्वों की ओर बढ़ने के लिए उत्तेजित किया जाय। प्रसाद के प्रारम्भिक नाटकों में ही इस भावना का विकास दिखाई पड़ने लगता है। 'सज्जन' उनका पहला एकांकी रूपक है। यह सन् १९१०-११ में 'इन्दु' में प्रकाशित हुआ था। इसकी कथा का आधार महाभारत का वह प्रसंग है जिसमें वनवासी पाडवों को दुर्योधन अपमानित करना चाहता है, परन्तु दैव-दुर्विपाक से वह स्वयं अपमानित होता है। गंधर्वराज चित्रसेन से वह पराजित होता है और अर्जुन के प्रभाव से ही मुक्ति पाता है। युधिष्ठिर उसे क्षमा कर देते हैं। उनका दूसरा रूपक 'कल्याणी-परिणय' है जिसकी कथा का सम्बन्ध चन्द्रगुप्त मौर्य से है। यह सन् १९१२ में 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' में प्रकाशित हुआ था। 'करुणालय' एक गीति नाट्य है जो इसी साल छपा था। इसकी कथा का सम्बन्ध अयोध्या के राजा हरिश्चन्द्र और ऋषि विश्वामित्र से है। इस प्रकार हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि प्रसाद की प्रारम्भिक नाट्य-कृतियाँ युग की प्रधान विचाराधारा से बहुत दूर तक प्रभावित हैं। उनमें जग-जीवन का आकर्षक और सही चित्र प्रस्तुत किया गया है। उन नाटकों की आधारभूमि तत्कालीन समाज और उसकी समस्याएँ हैं।

कहानी, कविता और नाटकों के अतिरिक्त प्रसाद की कला उपन्यास और निबन्ध के क्षेत्र में भी पनपी है परन्तु अपने रचनाकाल के प्रारम्भ में उन्होंने इधर हाथ नहीं बढ़ाया था।

विचारों और भावनाओं के परिवर्तन के समानान्तर 'द्विवेदी-युग' में 'रूप' अथवा शैलीगत परिवर्तन भी हुआ। 'ब्रजभाषा' के स्थान पर 'खड़ीबोली' सामान्य-काव्य-भाषा के रूप में गृहीत हुई। प्राचीन सवैया, कवित्त और दोहा-चौपाई के स्थान पर नवीन छन्दों का प्रयोग होने लगा। परम्परागत अलंकारों और उपमानों को एक बार ही चुनौती दी गई। गीत-मुक्तकों के स्थान पर प्रबन्धात्मक काव्यों का पुनरुत्थान हुआ। कथा-साहित्य के क्षेत्र में सरल भाषायुक्त चरित्र-प्रधान सामाजिक रचनाओं का प्रारम्भ प्रेमचन्द के द्वारा पहले ही हो चुका था। देवकीनन्दन खत्री और किशोरीलाल गोस्वामी की शैलीगत विशिष्टताएँ इस क्षेत्र में पुरानी पड़ने लगी थीं। अब लेखक कहानी के पात्रों और पाठकों के बीच नहीं उपस्थित होता था जैसा कि पहले वह यह कहकर हुआ करता था कि—'आइये पाठक; अब हम-आप भी वहीं चलें जहाँ वीरेन्द्र सिंह और तेज सिंह परस्पर वार्तालाप कर रहे हैं।' नाटकों के क्षेत्र में अनुवादों की धूम थी। द्विजेन्द्रलाल राय के नाटक हिन्दी की नाट्यकला को विशेष प्रभावित कर रहे थे। प्रसाद के प्रारम्भिक नाटकों में 'राय' की नाट्यकला की छाप चरित्र-चित्रण और घटना-विकास दोनों पर दिखाई पड़ती है।

प्रसाद की प्रारम्भिक कविताएँ ब्रजभाषा में लिखी गईं। 'प्रेम-पथिक' पहले ब्रजभाषा में ही लिखा गया था। सात वर्ष उपरान्त कवि ने उसे खड़ीबोली में रूपांतरित किया। लेकिन शीघ्र ही प्रसाद की आन्तरिक प्रेरणाओं ने उन्हें खड़ीबोली की ओर उन्मुख कर दिया, और जीवित जन-भाषा के कवि बनकर वे हमारे सम्मुख आये। प्रसाद के काव्य में प्रारम्भ से ही उस शैलीगत विशेषता के दर्शन होते हैं 'द्विवेदी-युग' की शुष्क नीरसता की प्रतिक्रिया में आगे आने वाले 'छायावाद' में विकसित हुई। लाक्षणिक और प्रतीकात्मक पद्धति पर चलकर भाव व्यंजना कराने की वृत्ति 'कानन-कुसुम' और 'प्रेम-पथिक' से ही दिखाई पड़ने लगती है। यही आगे चलकर 'झरना' में कुछ प्रौढ़ रूप धारण करती है। अतुकांत और नवीन छंदों का प्रारम्भ 'प्रेम-पथिक' और 'कानन-कुसुम' से ही हुआ है। प्रगीत मुक्तकों के साथ प्रबन्धात्मक काव्यों की रचना भी प्रसाद जी करते रहे। 'महाराणा का महत्त्व' प्रबन्धात्मक काव्य है जिसमें मुक्त छंद के सहारे भावों की व्यंजना अपेक्षाकृत नई पद्धति पर की गई है। खानखाना की पत्नी का एक आवेगपूर्ण चित्र देखिये—

"कँपी सुराही कर की, छलकी धारणी
देख सलाई स्वच्छ मधूक कपोल में;

खिसक गई उर से जरतारी ओढ़नी,
चकाचौंध सी लगी विमल आलोक की,
पुच्छ-मर्दिता वेणी भी थर्रा उठी,
आभूषण भी झनझन कर बस रह गये।"

कहानियों के क्षेत्र में प्रसाद जी अपनी स्वाभाविक भावुकता प्रधान शब्दावली लेकर उतरे। प्राकृतिक व्यापार की भूमिका प्रस्तुत करके घटना और पात्रों का विकास करने की प्रवृत्ति भी दिखाई पड़ी। उनकी पहली कहानी ग्राम से ही एक उदाहरण लें। पन्द्रह वर्षीया बालिका का रूप देखिये—

"आलोक से उसका अंग अंधकार-घन में विद्युल्लेखा की तरह चमक रहा था। यद्यपि दरिद्रता ने उसे मलिन कर रखा है, पर ईश्वरीय सुषमा उसके कोमल अंग पर अपना निवास किये हुए है।"

जिस भावुकता का क्षीण आभास यहाँ मिलता है वही प्रसाद की उत्तरकालीन कहानियों में अधिक आवेगमय हो उठी है। ऐतिहासिक कहानियों के अतिरिक्त उनकी सभी कहानियाँ अन्त में पहुँचकर अति भावुकता के कारण निरुद्देश्यता में खो जाती हैं यह प्रसाद की वैयक्तिक विशेषता है जो प्रारम्भ से ही दिखाई पड़ने लगती है; और जिसका मूल हम उनकी व्यक्तिगत परिस्थितियों और संस्कारों में पा सकते हैं। वैसे उस युग के अनेक चिंतकों के उदाहरण दिये जा सकते हैं जो अति भावुकता के कारण समाज और जगत से दूर किसी 'कल्पना-लोक' या 'आनन्दमय-लोक' की पुकार लिये फिरा करते थे। हम लोग देखेंगे कि वह भावधारा हमारी एक विशिष्ट सामाजिक स्थिति में उत्पन्न हुई थी और बहुत-कुछ उसी से प्रभावित भी हुई थी।

प्रसाद के साहित्यिक विकास का पहला युग यहीं समाप्त होता है। इसके उपरांत वे अधिक कलात्मक और गम्भीर साहित्यिक-सृष्टि की ओर अग्रसर हुए। युग की साहित्यिक चेतना को रूप और आकार प्रदान करने वाली विशाल सामाजिक पट-भूमिका भी बदली। हिन्दी की नवीन काव्यधारा ने 'प्रसाद', 'निराला' और 'पन्त' के माध्यम से नई परिस्थिति के अनुकूल अपने को ढाला।

देशव्यापी राष्ट्रीय आन्दोलन अधिकाधिक सक्रिय हुआ। भारतीय राजनीति के रंगमंच पर गांधी जी का आगमन हुआ और उनकी प्रेरणा से 'स्वदेशी' का आन्दोलन अधिक सबल हुआ। हिन्दी-साहित्य में इस आन्दोलन का अपरोक्ष चित्रण हुआ। 'द्विवेदी-युग' की प्रधान काव्यधारा के लिए राष्ट्रीय-भावनाओं का गायन बड़ा रोचक लगा। फलतः श्री मैथिलीशरण गुप्त, श्री माखनलाल चतुर्वेदी इत्यादि ने देश पर बलिदान होने वाले युवकों का आवाहन किया और भारत माता को अर्चना में काव्य-कुसुमों का उपहार प्रस्तुत किया। मध्यम-वर्ग के उद्बोधन गीत गाने के साथ ही इन कवियों ने

सामूहिक किसान जागरण का भी नारा लगाया। परन्तु साहित्य की नवीनतम काव्यधारा जो आगे चलकर 'छायावाद' के नाम से अभिहित हुई और जिसका नेतृत्व प्रारम्भ में स्वं प्रसाद जी कर रहे थे, आन्दोलन से परोक्षतः ही प्रभावित हुई। 'कानन-कुसुम' के उद्धरण से हम यह प्रमाणित कर चुके हैं कि प्रसाद ने राष्ट्रीय भावनाओं को उत्तेजना प्रदान करने वाली रचनाएँ लिखी थीं। लेकिन उनकी आगे आने वाली काव्य-कृतियों में उस भावधारा का प्रवाह नहीं दिखाई पड़ता है। उनका बाद का काव्य उस भावधारा से एकदम अछूता लगता है। 'झरना' और 'आँसू' इस बात के प्रमाण हैं। लोगों ने आश्चर्य के साथ इस तथ्य को लक्ष्य किया है कि किस प्रकार अपने काव्य-विकास में कवि तत्कालीन राजनैतिक और सामाजिक आन्दोलनों से निर्लिप्त रह सका है। और यदि उसने जीवन-वास्तव की उपेक्षा इतने सहज भाव से की है तो उसके काव्य की उपयोगिता क्या है? हम इन प्रश्नों का उत्तर पाये बिना आगे नहीं बढ़ सकते।

हमने ऊपर यह कहा है कि उस युग में ऐसे अनेक व्यक्ति थे जो अति भावुकता के कारण मन-कल्पित आनन्दमय लोक में विचरण किया करते थे। वे ऐसे लोग थे जो समाज के तत्कालीन वातावरण से असन्तुष्ट थे। उनकी कामनाएँ वास्तविक जीवन में तृप्त न हो पाने के कारण उनके मनोजगत मे अनेक ग्रंथियों की सृष्टि करती थीं। वे इच्छाओं की सरल अभिव्यक्ति और स्वस्थ पूर्ति के लिए कल्पना का आश्रय लेते थे। ऐसा करके वे अपने मन के भीतर छिपे हुए विद्रोह और असंतोष को ही प्रकट कर रहे थे। ऐसे ही भावुक कवियों के द्वारा 'छायावादी' काव्य की प्राण-प्रतिष्ठा हुई। प्रसाद का 'झरना' एक ऐसा ही काव्य है। *इसलिए हमें उसकी मूल विद्रोही-भावना को समझना होगा।* न तो वह किसी पागल का 'अनर्गल प्रलाप' है और न किसी की 'आत्मबद्ध अंतर्मुखी साधना' उसमें भी विद्रोह और समाज की भावना उतनी ही प्रबल है जितनी किसी राष्ट्रीय कविता में। अंतर केवल लक्ष्य का है। 'छायावाद' की कविता उस विद्रोह को व्यक्त करती है जो सामंती नैतिकता के विपरीत नवीन पूँजीवादी नैतिकता ने पैदा किया था। उसे 'स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह' कहना भ्रामक है। ऊपर से देखने में वह सूक्ष्म, कोमल भले हो दिखाई पड़ता हो, पर है वह स्थूल विद्रोह ही। सामंती संस्कृति के सभी जीवन-मान नवीन सभ्यता के लिए अनावश्यक थे। साहित्यिक रूढ़ियाँ भी दुर्वह बोझ की तरह से लगती थीं। स्वस्थ प्रेम को सामाजिक स्वीकृति का न मिलना अमानवीय लगता था। इन सभी बातों का विरोध 'झरना' में दिखाई पड़ता है। उसमें पहली बार पुरानी भावधारा के स्थान पर आत्माभिव्यंजक कविताओं का संकलन हुआ, पहली बार प्रकृति के प्रांगण मे उतरकर कवि ने आदर्श-प्रेम-लोक का साक्षात्कार किया। प्रकृति पर मानवीयता का आरोप नवीन शैली में पहली बार हुआ और पहली ही बार 'छायावाद' का स्वर इस काव्य मे सुनाई पड़ा। अज्ञात लोक की चर्चा करते-करते कभी कभी रहस्यात्मकता में भी

कवि उलझ गया है। 'आँसू' में पहुँचकर यह रहस्यात्मकता और भी बढ़ गई है। कहना न होगा कि यह रहस्यात्मकता जब सीमा का उल्लंघन करने लगी और कवि का एक मात्र वर्ण्य-विषय बन गई तब उसका सामाजिक महत्त्व क्षीण होने लगा। उसके काव्य में लाक्षणिक प्रतीक-विधान के द्वारा कला का निखार तो अवश्य आया परन्तु भावधारा रहस्य-लोक में पहुँचकर अपना बल खोने लगी। प्रसाद का 'आँसू' नामक संग्रह इस बात की पुष्टि करेगा। विकास की दिशा में वह 'झरना' से एक कदम आगे है। हिन्दी की नई कविता को उसने प्रभावित भी बहुत किया है। परन्तु रहस्य की ओर अधिक प्रवृत्त होने के कारण उसमें भावों और विचारों की उलझन पैदा हो गई है।

इस बीच में प्रसाद के तीन महत्त्वपूर्ण नाटक प्रकाशित हुए—'राज्यश्री', 'विशाख' और 'अजातशत्रु'। 'राज्यश्री' और 'अजातशत्रु' प्रसिद्ध ऐतिहासिक घटनाओं को लेकर लिखे गये हैं। 'विशाख' की कथा का आधार कल्हण की 'राज-तरंगिणी' है। तीनों रूपकों में प्रसाद की राष्ट्रीय भावना मुक्त भाव से विचरण करती दिखाई पड़ती है। यही प्राचीन इतिहास के प्रति उनकी जिज्ञासा और शोध की प्रवृत्ति भी दिखाई पड़ी। 'अजातशत्रु' और 'राज्यश्री' में ऐतिहासिक शोध से भरपूर भूमिकाएँ भी जोड़ दी गई थीं। अपने अतीत गौरव को आग्रह के साथ खोज निकालने का भाव उन निबन्धों में भी पाया जाता है। कहना न होगा कि ये तीनों नाटक उसी प्रवृत्ति के विकास के फलस्वरूप रचे गये जो 'सज्जन' की रचना के मूल में वर्तमान थी। विचार की दृष्टि से प्रसाद के ये नाटक भारतीय समाज को एक ऐसी आवश्यकता की पूर्ति करते हैं जो ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण थी। इसमें संदेह नहीं कि यदि हिन्दी के रंगमंच का भी विकास हो गया होता और प्रसाद के नाटकों में अभिनेयता की अवतारणा हो सकी होती तो हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन का सांस्कृतिक पक्ष बड़ा सबल बन जाता। परन्तु अपनी व्यक्तिगत दार्शनिक प्रवृत्ति के कारण नाटककार प्रसाद अपने ऐतिहासिक पात्रों और घटनाओं को जन-साधारण तक पहुँचाने में असफल रहे। हिन्दी में नाट्य-कला का पहला निखरा हुआ रूप 'अजातशत्रु' में ही दिखाई पड़ता है। इस दृष्टि से वह नाटक विशेष महत्त्व रखता है। वह पहले पहल १९२२ में प्रकाशित हुआ था। कहना न होगा कि हिन्दी की नाट्य-कला उस समय तक शैशवावस्था में ही थी। यदि अभिनय सम्बन्धी त्रुटियों को थोड़ी देर के लिए अलग रख दें तो हम यह देखेंगे कि इस नाटक में ऐतिहासिक वातावरण के संरक्षण के साथ घटनाओं और पात्रों का बड़ा मनोरम और घात-प्रतिघात-मय विकास हुआ है। *मानसिक अन्तर्द्वन्द्व के सहारे पात्रों और घटनाओं का अंकन हिन्दी नाटक साहित्य में* पहली बार दिखाई पड़ा। हमारे नाटक साहित्य को प्रसाद की यही सबसे बड़ी देन है।

प्रसाद का पहला कहानी संग्रह 'छाया' नाम से इसी काल में प्रकाशित हुआ था। 'प्रतिध्वनि' नामक कहानी संग्रह की अनेक कहानियाँ इसी काल में लिखी गई थीं। जैसा

पहले कह चुके हैं प्रसाद की कहानियों में भावुकता उत्तरोत्तर बढ़ती चली गई और दार्शनिकता के मेल से उनमें रहस्यात्मकता का भी समावेश हो गया। उनकी काव्य-चेतना की ही भाँति उनकी अधिकांश कहानियाँ छायावादी शैली की कुज्झटिका में उलझ गई हैं, और उनमें जीवन-वास्तव प्रतिबिम्बित नहीं हो सका।

इसके उपरांत प्रसाद के विकास का तीसरा चरण प्रारम्भ होता है और उनकी उत्कृष्टतर रचनाएँ हमारे सम्मुख आती हैं।

देश का राजनैतिक और सामाजिक चरण विकास-पथ में काफी आगे बढ़ चुका था। सविनय अवज्ञा आन्दोलन अपनी शक्ति का प्रदर्शन कर चुका था। काँग्रेसी नेताओं की एक-एक पुकार पर जन-समूह सागर की भाँति उमड़ पड़ता था। काँग्रेस का मध्यवर्गीय नेतृत्व सब समय उमड़ती हुई जन-धारा को सँभाल नहीं पाता था, उसे नियंत्रित नहीं कर पाता था। फलतः आन्दोलन को अपने चरम उत्कर्ष की स्थिति में ही रोक देना पड़ता था। ब्रिटिश शासन का अत्याचार बढ़ता जा रहा था। जनता भी क्षुब्ध थी और कहीं-कहीं उग्र बन गई थी। मेरठ षड्यंत्रकारियों पर मुकदमा इसी समय चलाया गया जिसकी निन्दा देश-विदेश के सहृदयों ने की। रोम्याँ रोलाँ ने तो तथाकथित षड्यंत्रकारियों के नाम खुली चिट्ठी लिखकर अपनी विश्व-व्यापक मानवीय सहानुभूति का परिचय दिया।

ऐसे क्षुब्ध राजनैतिक वातावरण में प्रसाद के 'आँसू' की रचना हुई और 'लहर' के अधिकांश गीत भी इसी काल में लिखे गये। ऊपर 'आँसू' के सम्बन्ध में प्रसंगतः कुछ कह दिया गया है। वस्तुतः वह एक काल की रचना नहीं है। लेखक ने उसे कविता लिखने की तरंग आने पर एक बार ही नहीं लिखा। श्री विनोदशंकर व्यास ने लिखा है कि 'आँसू' के छन्द भिन्न-भिन्न अवसरों पर विभिन्न भावनाओं के उद्वेलन पर लिखे गये। इक्के पर यात्रा करते भी कुछ छंद लिखे गये। छोटी-सी पुस्तक लगभग दो वर्षों में तैयार हो पाई थी। उसके अनेक संस्करण बहुत परिवर्तित और परिवर्द्धित होकर निकले थे। 'झरना' की ही भाँति इसमें अनेक नये छंद जोड़ दिये गये थे। 'लहर' अपेक्षाकृत अधिक गम्भीर और सुस्थिर रचना है। 'आँसू' में आध्यात्मिक विरह का चित्रण हुआ है। उसमें मिलन के स्थूल शृंगारिक चित्र स्मृतियों के रूप में उपस्थित हुए हैं। अज्ञात प्रियतम के सौन्दर्य का मादक रूप विकास की अनेक भंगिमाओं के साथ चित्रित है। भाषा में लाक्षणिकता और प्रतीकात्मकता के साथ ध्वन्यात्मकता का भी समावेश हो गया है। 'लहर' के गीतों में चित्रमयी शैली का विकास भी दिखाई पड़ता है। 'बीती विभावरी जाग री!' से आरम्भ होने वाले प्रभात के चित्र में ऐसी भाषा का उत्कृष्ट उदाहरण मिलता है। प्रसाद के इस युग की काव्य की सामान्य विशेषताएँ यही थीं। इन्हें जब हम उपर्युक्त राजनैतिक और सामाजिक परिस्थितियों के समानान्तर रखते हैं तो सहसा कोई सामंजस्य न पाकर आश्चर्य-चकित रह जाते हैं। 'आँसू' तो इन घटनाओं से एकदम निर्लिप्त

भान पड़ता है। परन्तु अगर हम ध्यान से देखें तो हमें ज्ञात होगा कि कवि यहाँ भी नई काव्यधारा को प्रौढ़तर रूप देने में लगा है जो विद्रोह सामन्ती नैतिकता के विपरीत प्रारम्भ हुआ था उसकी समाप्ति अभी नहीं हो पाई थी। प्रसाद ने 'आँसू' और 'लहर' में परोक्ष रूप से उसी विद्रोह को ध्वनित किया है और रचनात्मक रूप देने के लिए कई रमणीय प्राकृतिक व्यापारों का सुन्दर अंकन किया है। लेकिन 'लहर' का महत्त्व एक और बात में है। उसमें प्रसाद की राष्ट्रीय भावना इतिहास के माध्यम से अभिव्यक्त हुई है। हमारे राष्ट्रीय जागरण को अधिक सक्रिय बनाने वाले भावों का जो विकास उनके नाटकों में दिखाई पड़ता है वही 'लहर' की कुछ कविताओं में अत्यन्त ओजपूर्ण ढंग से प्रकट हुआ है। 'शेरसिंह का शस्त्र-समर्पण' मुक्त-वृत्त में लिखी हुई ऐसी ही रचना है। अपनी तलवार को संबोधित कर शेरसिंह कहता है—

"ए री रण-रंगिनी !
सिक्खों के शौर्य भरे जीवन की संगिनी !
कपिशा हुई थी लाल तेरा पानी पान कर।"

× × ×

फिर विदेशियों को सम्बोधित कर कहता है—

"आज विजयी हो तुम
और हैं पराजित हम
तुम तो कहोगे, इतिहास भी कहेगा यही,
किन्तु यह विजय प्रशंसा भरी मन की—
एक छलना है।
कहेगी शतद्रु शत संगरों की साक्षिणी
सिक्ख थे सजीव
स्वत्व-रक्षा में प्रबुद्ध थे।"

लेकिन 'लहर' में ऐसी रचनाएँ केवल तीन हैं। शेष रचनाओं में रहस्य की ओर ही विशेष प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। यहाँ यह स्वीकार करना पड़ेगा कि कवि तीसरे चरण में आकर नई काव्यधारा की बँधी हुई परम्परा पर चलने लगा। सामन्ती नैतिकता के प्रति विद्रोह ही एक ऐसी सीमा तक पहुँच गया था कि उसमें रहस्यात्मकता का प्रवेश स्वतः होने लगा। वास्तविक बात यह थी कि मध्यवर्गीय नेतृत्व से अलग जन-सत्ता का नया विकास होने लगा था। उसमें समाज की नई पुकार थी। उसमें जन-स्वातन्त्र्य की माँग थी। मध्य वर्ग ने जो सुविधाएँ सामन्ती समाज से माँगी थीं और जिस नई नैतिकता की प्रतिष्ठा समाज ने चाही थी, वही सुविधाएँ जनता का पूरा समूह चाहने लगा। अपने आन्दोलन में मध्य वर्ग ने जनता को साथ लिया था परन्तु जब सामूहिक रूप से जन-

समुदाय ने अपने हाथों की ओर हाथ बढ़ाया तो काफ़ी हलचल मची। सामन्ती व्यवस्था के प्रति विद्रोह करने वाले और नवीन व्यवस्था की प्रतिष्ठा चाहने वाले कवि अब ज़्यादा क्रान्तिकारी न रहे। वे अधिक से अधिक रहस्यात्मक और दुरूह होने लगे। प्रसाद में यह प्रवृत्ति सबसे अधिक दिखाई पड़ी। 'पंत' और 'निराला' ने अपने को इस मोह से अत्यन्त शीघ्र मुक्त कर लिया। अपनी वैयक्तिक परिस्थितियों और विशेषकर शैव आनन्दवाद में विशेष आस्था के कारण प्रसाद ऐसा नहीं कर सके। प्रसाद के काव्य में जो रहस्यात्मक एकांतिक अनुभूतियाँ हैं उनकी सामाजिक भूमिका इतनी ही है। उसमें परम्परा और व्यक्तिगत अनुभूति का भी बहुत-कुछ मिश्रण स्वीकार करना पड़ेगा।

प्रसाद की कला का पूर्ण वैभव उनके इस काल के नाटकों में दिखाई पड़ता है। 'स्कन्दगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' इसी काल में प्रकाशित हुए। 'जनमेजय का नागयज्ञ, जो एक पौराणिक आख्यान पर आधारित है इसी काल में लिखा गया। इन नाटकों में प्रसाद की नाटकीय कला का पूर्ण वैभव और स्वच्छ विकास है। इनमें बोलती हुई राष्ट्रीय भावना बड़ी महत्त्वपूर्ण है। हम इसकी उपयोगिता के सम्बन्ध में ऊपर लिख चुके हैं। इन नाटकों में अतीत और वर्तमान का समाहार बड़े सुन्दर ढंग पर हुआ है। इतिहास की कथा का रस भी भाव-विभोर करने वाला है। अभिनय सम्बन्धी रंगमंचीय त्रुटियों के रहते हुए भी ये नाटक हिन्दी-साहित्य की अमूल्य निधि हैं। इनमें प्रयुक्त गीतों का अपना स्वतन्त्र स्थान है।

"तुम कनक किरन के अन्तराल से
लुक-छिपकर चलते हो क्यों ?"

से प्रारम्भ होने वाला सौन्दर्य को संबोधित गीत अपनी मूर्तिमती व्यंजना में सवाक् बन गया है। अलका के द्वारा गाया गया 'चन्द्रगुप्त' नाटक का निम्नांकित अभिमान गीत बड़ा गत्यात्मक और स्फूर्तिदायक बन पड़ा है

"हिमाद्रि तुंग शृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती,
स्वयं-प्रभा-समुज्ज्वला-स्वतन्त्रता पुकारती।
अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़ प्रतिज्ञ सोच लो,
प्रशस्त पुण्य पंथ है बढ़े चलो बढ़े चलो।।"

इस बीच प्रसाद के दो उपन्यास 'कंकाल' और 'तितली' निकले। कहानी दोनों में सामाजिक जीवन से ही ली गई थी परन्तु 'कंकाल' में दार्शनिकता का बोझ अधिक है। उपन्यास की कला का उसमें उतना विकास नहीं दीख पड़ता जितना 'तितली' में। 'तितली' धारावाहिक रूप से 'जागरण' नामक पत्र में छपी थी। उसमें सामाजिक जीवन का सर्वांगपूर्ण चित्र है। दार्शनिकता और रहस्यात्मकता की प्रवृत्ति भी बहुत-कुछ कम हो गई है। यहाँ प्रसाद ने समाज को खुली आँखों देखा है। इसमें संदेह नहीं कि यदि प्रसाद इस क्षेत्र

में आगे बढ़ते तो हमें उच्चकोटि के उपन्यास प्राप्त होते। परन्तु जैसा आचार्य 'शुक्ल' ने अपने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में स्वीकार किया है, प्रसाद उन्हीं की प्रेरणा से ऐतिहासिक उपन्यास लिखने की ओर मुड़े और फलस्वरूप आगे चलकर 'इरावती' नामक उपन्यास की रचना उन्होंने प्रारम्भ की लेकिन दुर्भाग्यवश उसे पूरा कर सकने के पूर्व ही उनकी मृत्यु हो गई। ऐतिहासिक उपन्यास का अपना अलग महत्त्व है। उसकी उपयोगिता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, लेकिन आधुनिक समाज की विषमता का चित्रण करने के लिए उपन्यास, साहित्य की सबसे जबर्दस्त शैली है। 'तितली' के द्वारा प्रसाद ने इधर बढ़ने की प्रवृत्ति दिखाई थी परन्तु वह फिर मुड़ गई।

इस बीच प्रसाद का प्रसिद्ध कहानी संग्रह 'आकाश दीप' प्रकाशित हुआ। 'आँधी' संग्रह में आने वाली कहानियाँ भी इस काल में लिखी गई थीं। 'आँधी' में यथार्थ जीवन से सम्बन्ध रखने वाली मार्मिक कहानियाँ हैं। इस संग्रह की 'मधुआ' नामक कहानी को देखकर तो स्वयं प्रेमचन्द जी ने लिखा था कि प्रसाद की यह सर्वोत्कृष्ट कहानी है। उन्हें यह विश्वास नहीं हो सका था कि प्रसाद जी वैसी कहानी लिख सकते थे। इसी तरह से 'घीसू', 'नीरा' और 'बेड़ी' नामक कहानियाँ भी जीवन-वास्तव का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करती हैं। प्रसाद के कहानी-साहित्य में इन कहानियों का विशेष महत्त्व है। 'आकाश दीप' संग्रह की अधिकांश कहानियाँ भावुकता और कल्पना-प्रधान हैं। उनमें पिछली कहानियों की भावधारा का ही अधिक प्रौढ़ रूप प्रकट हुआ है।

अपने साहित्यिक विकास के चौथे चरण में पहुँचकर प्रसाद काव्य की विशाल पट-भूमिका चुनने में लगे। उन्होंने मानव-जीवन की सर्वांगीणता को व्यापक पृष्ठभूमि पर अंकित करने की चेष्टा की और परिणामस्वरूप 'कामायनी' नामक प्रबन्ध-काव्य का प्रणयन हुआ। 'कामायनी' उनकी अन्तिम काव्य-रचना है। इसे पूर्ण करने के उपरांत कवि को स्वयं आत्म-तुष्टि प्राप्त हुई थी। इस काव्य में कवि ने पौराणिक आख्यान के ऊपर विशाल मनोवैज्ञानिक रूपक आरोपित किया है। कहानी 'शत-पथ' ब्राह्मण से ली गई है। जल-प्लावन की प्रसिद्ध पौराणिक घटना से काव्य का प्रारम्भ हुआ है। कवि की दृष्टि में यह प्रलय सनातन है। जीव के मानसिक संसार में इसकी स्थिति सदा बनी रहती है। मनु, श्रद्धा और इड़ा क्रमशः मन, विश्वास और व्यवसायात्मिका बुद्धि के प्रतीकों के रूप में लाये गये हैं। कवि ने व्यवसायिक बुद्धि से उत्पन्न विभ्राट का बड़ा भयंकर रूप इस ग्रन्थ में चित्रित किया है और श्रद्धा या विश्वास की भावना का आश्रय लेकर अपने चिरन्तन आनन्दवाद की प्रतिष्ठा कराई है। ऐसा करने के लिए उन्होंने साधारण स्वाभाविक जीवन का विकास यद्यपि काम्य कर्मों के अन्दर ही दिखाया है; सामाजिक कर्मों की व्यापकता निरूपित करके बुद्धिवाद की पराजय दिखाना अधिक उपयुक्त होता। लेकिन लेखक का ध्यान उस लोक-पक्ष पर नहीं है। भौतिक जीवन का विकास और प्रकृति पर

मनुष्य की विजय प्रसाद को शुभकर नहीं लगते। उन्हें 'यंत्रों' की सभ्यता में महाविनाश की सूचना मिलती है। सम्पूर्ण मानवी सृष्टि क्रियाकार दुर्वह यंत्रभार से विदलित दीख पड़ती है। कवि चाहता है कि विश्वास की भावना के सहारे इच्छा, क्रिया और ज्ञान का समन्वय कर आधिभौतिकतावाद पर विजय प्राप्त की जाय और लोक में स्वर्ग की अवतारणा हो।

इस पुस्तक में प्रसाद की निखरी हुई कला के दर्शन होते हैं। लक्षणाओं और प्रतीकों का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में हुआ है। मूर्तिमत्ता और ध्वनि की भी योजना है। रहस्य की ओर संकेत करने की प्रवृत्ति सर्वत्र परिलक्षित होती है। पूरी कथा में रूपक का आरोप होने से स्वाभाविक प्रबन्ध-सौष्ठव कुछ कुंठित हो गया है। दूसरी ओर रूपक का भी कई स्थलों पर आभास मात्र मिलता है। उसकी पूर्ण व्याप्ति पकड़ मे नहीं आती।

इस काव्य में प्रसाद का जीवन-दर्शन सबसे अधिक स्पष्ट है। उन्होने चौथे चरण में पहुँचकर जीवन को जैसा समझा वैसा ही 'कामायनी' में चित्रित किया है। उन्होंने समाज के भविष्य के सम्बन्ध में एक कल्पना की है। जो शैव दर्शन के आनन्दवाद पर आधारित है। वे बुद्धि का केवल कुरूप या जुगुप्सामूलक पक्ष ही देखते हैं। सृष्टि के स्वाभाविक विकास-क्रम के सम्बन्ध में उनकी धारणाएँ भ्रान्तिमूलक हैं; सामयिक समस्या का कोई व्यावहारिक समाधान न प्रस्तुत करके वे किसी दैवी शक्ति की अति मानवीय सहायता में विश्वास कर लेते हैं। 'कामायनी' का अर्द्धभाग जिसमे आधुनिक युग तक का इतिहास वर्णित है अनेक दृष्टियों से विशेष महत्त्वपूर्ण है। उसमें मनोविज्ञान सम्बन्धी विकास भी सुन्दर बन पड़ा है। इतिहास पर विशेष अधिकार होने के कारण प्रसाद ने आदिम वन्य जीवन से लेकर आधुनिक विकसित सभ्य समाज तक का इतिहास संक्षेप में सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है। परन्तु जहाँ से वे बौद्धिकता की पराजय दिखाना प्रारम्भ करते हैं वहीं से कथा में अस्वाभाविकता का समावेश होने लगता है। पुस्तक का ऐतिहासिक महत्त्व भी वहीं से घटने लगता है।

आचार्य शुक्ल ने कहा था कि जैसा इड़ा के लिए कहा गया है—'सिर चढ़ी रही, पाया न हृदय'—उसी प्रकार श्रद्धा के लिए भी कहा जा सकता था—'रस-पगी रही, पाई न बुद्धि'। शुक्ल जी दोनों का उचित महत्त्व स्वीकार करना चाहते थे। लेकिन प्रसाद को बुद्धि का अतिचार ही दिखाई पड़ा। कामायनी में इस बात को बड़ी दृढ़ता के साथ प्रतिपादित किया गया कि संसार मे भौतिकतावाद का प्रचार और बुद्धिमात्र की स्वीकृति उसे महाविनाश की ओर ले जाएँगी। आधुनिक युग में प्रकृति के विभिन्न उपकरणों पर विजय प्राप्त करके मनुष्य उच्छृंखल हो गया है और यन्त्रों की जड़ता ने तो जैसे उसके मन के भाव-पक्ष को एकदम कुंठित कर दिया है। श्रद्धा और विश्वास का स्थान तर्क और शंका ने ले लिया है। क्षुद्र मानव का आत्म-तत्त्व की विगर्हणा में तल्लीन है। समस्त सृष्टि

ही संघर्ष का आधार बन गई है। ऐसी दशा में श्रद्धा की भावना से मानवता का कल्याण हो सकता है, वही हमें चरम आनन्द तक पहुँचा सकती है, जो हमारा अन्तिम लक्ष्य है।

प्रसाद का यह चिंतन उनके युग की व्यापक पृष्ठभूमि पर घटित और विकसित हुआ है। यंत्र-प्रधान नवीन सभ्यता में मनुष्य भी जड़ के समान देखा जाने लगा। 'यंत्र' और 'बाजार' दो ही आधुनिक युग में समाज का नियंत्रण करते हैं। मनुष्य और मनुष्य के बीच में पहले जो सीधा सम्बन्ध था, वह इस युग में टूट गया है। 'यंत्र' और 'बाजार' के ही माध्यम से मानव, मानव को पहचानता है। 'यंत्र' जड़ है और 'बाजार' सूक्ष्म तथा अदृश्य। निर्ममता दोनों में है। कारण दोनों ही बुद्धि-प्रसूत हैं। इस निर्ममता को देखकर ही प्रसाद ने यह अनुमान लगा लिया कि आज का मनुष्य बुद्धि के माध्यम से ही दूसरे मनुष्य को पहचानने की चेष्टा करता है, इसीलिए वह सफल नहीं हो पाता और कभी-कभी भयंकर संघर्षों का सृजन भी हो जाता है। प्रसाद ने इस बात पर विशेष ध्यान नहीं दिया कि किन ऐतिहासिक आवश्यकताओं ने आज मानव-जाति को बुद्धि-संचालित होने के लिए विवश किया है और मनुष्य किस साहस और विश्वास के साथ उनकी पूर्ति करता चल रहा है। उन्होंने यह कल्पना नहीं की कि 'यंत्र' भी कभी मनुष्य के साथ घुल-मिल जायगा, मानव-जीवन में उसका भी सांस्कृतिक परिपाक हो जायगा और तब वह मनुष्य के भाव-जगत में भी स्वच्छन्दतापूर्वक विचरण कर सकता है। उससे मानवता का कल्याण होगा और वह विकास को ही प्राप्त होगा, यह प्रसाद ने नहीं माना। वह इस सम्पूर्ण पचड़े को छोड़कर भाग जाने का संदेश देते हैं। प्रसाद की अपनी वैयक्तिक सीमाएँ और दुर्बलताएँ यहीं स्पष्ट होती हैं।

कहानियों का 'इन्द्रजाल' नामक संग्रह इसी काल में प्रकाशित हुआ। इस संग्रह में भी उन्हीं प्रवृत्तियों का पुष्ट रूप दिखाई पड़ता है जो तीसरे चरण की कहानियों में प्रकट हुई थीं। कुछ कहानियों में जीवन के यथार्थ का चित्रण हुआ है परन्तु भावुकता और 'रहस्य' की ओर अधिक झुकाव होने के कारण कहानियाँ कल्पनालोक की वस्तु बन गई हैं।

'ध्रुव स्वामिनी' नाम की एक नाटिका प्रसाद ने इसी चरण में प्रकाशित की। इसकी कथा इतिहास से सम्बद्ध है। इसके शैली-शिल्प में विशेष सौन्दर्य दिखाई पड़ता है। रंगमंचीय सुविधाओं का ध्यान प्रसाद ने इसी रचना में अधिक रखा है; भाषा भी अपेक्षाकृत सरल और व्यावहारिक बन गई है। घटना से भी अधिक महत्त्व इसमें प्रतिपादित होने वाली समस्या को मिला है। समस्या पुनर्लग्न की है और प्रसाद ने उसका दृढ़ता से समर्थन किया है।

प्रसाद के अधिकांश महत्त्वपूर्ण निबन्ध इसी चरण में प्रकाशित हुए। इन निबन्धों का हिन्दी-साहित्य में अलग महत्त्व है। शोध की प्रवृत्ति सब में विद्यमान है। अनेक

निबन्धों में प्रसाद ने सूक्ष्म विश्लेषण की क्षमता का परिचय दिया है। 'काव्य', 'कला' और 'छायावाद' आदि ऐसे निबन्ध हैं जो प्रसाद के साहित्य को समझने की भूमिका प्रदान करते हैं।

ऊपर प्रसाद के साहित्यिक विकास को संक्षेप में देखने की चेष्टा की गई है। उनकी अनेक प्रवृत्तियों की ओर संकेत भी किया गया है। यहाँ एक बात और कहनी आवश्यक है कि प्रसाद के साहित्य में परोक्ष या अपरोक्ष रूप से हमारा युग बोलता है। उसमें हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन तथा सामन्ती रूढ़ियों और परम्पराओं का तिरस्कार, स्पष्ट परिलक्षित होता। किसान और मजदूर जीवन की झाँकी भी उसमें प्राप्त होती है। लेकिन अपने कुछ व्यक्तिगत पूर्वाग्रहों के कारण सब जगह प्रसाद जी उचित समाधान नहीं प्रस्तुत कर सके; कल्पना प्रधान 'दार्शनिकता' और 'रहस्य' की ओर झुकने के कारण कहीं-कहीं उनका मंतव्य अस्पष्ट तथा भ्रामक भी हो गया है। परन्तु इसे हम उनकी और उनके युग की सीमा ही मानेंगे।

३

प्रसाद जी का 'कामना'

[डाक्टर नगेन्द्र]

'कामना' सांस्कृतिक रूपक है। इसमें प्रसाद जी की सांस्कृतिक पुनर्निर्माण की भावना का एक व्यक्त रूप मिलता है। प्रसाद जी जिज्ञासा से आन्दोलित हृदय रखते हुए भी आदर्श रूप में आनन्द के पुजारी थे। प्रकृति का स्वस्थ स्निग्ध अञ्चल छोड़ संतोष और विवेक का तिरस्कार करते हुए विलास-मोहिता हमारी कामना ने जब से स्वर्ण और कादम्ब की उपासना प्रारम्भ की तभी से हमारे दुःख का इतिहास भी शुरू हुआ। मानवता का परित्राण तभी सम्भव है जब वह (हमारी कामना) फिर संतोष का पाणिग्रहण करे। 'कामना' की दार्शनिक पृष्ठभूमि का पूरा-पूरा चित्र देखिये—

"खेल या और खेल ही रहेगा। रोकर खेलो चाहे हँसकर। इस विराट विश्व और विश्वात्मा की अभिन्नता, पिता और पुत्र, ईश्वर और सृष्टि सब को एक में मिलाकर खेलने की सुखद क्रीडा भूल जाती है, होने लगता है विषमता का विषमय द्वंद्व। तब सिवा हाहाकार और रुदन के क्या फैलेगा! हँसने का काम भूल गये। पशुता का आतंक हो गया। मनुष्यता की रक्षा के लिए, पाशवी वृत्तियों का दमन करने के लिए राज्य की अवतारणा हो गई; परन्तु उसकी आड़ में दुर्दमनीय नवीन अपराधों की सृष्टि हुई। इसका उद्देश्य तब सफल होगा, जब वह अपना दायित्व कम करेगी—जनता को, व्यक्ति को, आत्म-संयम, आत्म-शासन सिखाकर विश्राम लेगी। जब अपराधों की मात्रा घटेगी और क्रमशः समूल नष्ट हो जायगी, तब रंगर्गमय शासन स्वयं तिरोहित होगा। उस दिन की प्रतीक्षा में कठोर तपस्या करनी होगी, जिस दिन ईश्वर और मनुष्य, राजा और प्रजा, शासित और शासकों का भेद विलीन होकर विराट विश्व, जाति और वर्ण से स्वच्छ होकर एक मधुर मिलन क्रीडा का अभिनय करेगा।"

स्थूल रूप से इस दर्शन का आधार प्रकृति के प्रति प्रतिवर्तन की पुकार है—और तत्व रूप से अद्वैतवाद। इसका ढाँचा आध्यात्मिक साम्यवाद (अगर ऐसी कोई वस्तु हो सकती है) पर आश्रित है।

'कामना' का रूपक सांगोपांग है। उसके सूदन अनवरत कथा की एक धारा में वैचित्र्य भले ही उत्पन्न कर देते हों लेकिन कहीं भी वे असम्बद्ध और स्वतन्त्र नहीं होने पाते हैं। कामना मानव मनःलोक की रानी है—वह विलास के प्रति आकृष्ट होती है, पर उसके साथ उसका विवाह नहीं होता—वह विलास के जाल में फँसी हुई सुख के लिए तरसती ही रहती है, और अन्त में सन्तोष के साथ उसका परिणय

होता है। (अर्थात् मनुष्य की कामना की परितृप्ति विलास द्वारा नहीं संतोष द्वारा ही सम्भव है)। विलास कामना को छोड़ लालसा से परिणय करता है—दोनों एक दूसरे के आकर्षण पर मुग्ध हैं। विलास अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए स्वर्ण और मदिरा का प्रचार करता है और फिर धीरे-धीरे सभ्य शासन की दुहाई देकर, लोगों पर नियन्त्रण करना आरम्भ कर देता है। (स्पष्ट शब्दों में—मनुष्य की लालसा ही विलास से थोड़ी देर के लिए तृप्त हो सकती है—पर विलास और लालसा के वशीभूत *होकर मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता खो बैठता है और इस प्रकार दुःख का आरम्भ होता है*), लीला के द्वारा ही सबसे पूर्ण और मदिरा के रहस्य का उद्घाटन होता है। लीला का पति विनोद विलास के प्रभुत्व स्थापन में सबसे अधिक सहायक होता है। विवेक और संतोष उसका विरोध करते हैं—विवेक उग्रता से, संतोष विनम्र शब्दों में। (इसका तात्पर्य यह है कि लीला से ही मनुष्य पहले धन की ओर आकृष्ट होता है। लीला और विनोद विलास के अंग हैं उनसे उसकी परिवृद्धि होती है, विवेक और सन्तोष से ह्रास। विवेक का बार-बार आकर रंग में भंग करने का प्रयत्न इस बात की ओर इंगित करता है कि हमारा विवेक हमारे विलास-रत जीवन में भी किस प्रकार बार-बार चेतावनी देता रहता है।) विलास के शासन में भेद-भावना, कृत्रिम शिष्टाचार, भय, आतंक आदि के साथ मृगया, फिर माँस-भक्षण, चोरी, व्यभिचार आदि का क्रमशः प्रचार होता है। आचार्य दम्भ, क्रूर-दुर्वृत्त और प्रमदा की सहायता से देश में धर्म, संस्कृति और सभ्यता का निर्माण करते हैं। बेचारे शान्तिदेव सोने के चक्कर में मारे जाते हैं, उनकी बहिन करुणा भटकती फिरती है। (अर्थात् हमारी आज की संस्कृति-सभ्यता की नींव दम्भ, दुर्वृत्ति और क्रूरता पर आधारित है; शान्ति नष्ट-भ्रष्ट हो गई है, करुणा निराश्रित) फिर अपने देश से सन्तुष्ट न रहकर प्रकाश दूसरे देश पर आक्रमण करता है। बुद्धि की प्रतारणा होती है, अनाचार के बढ़ने से मानवता त्राहि-त्राहि करने लगती है। अब कामना को अपनी भूल का ज्ञान होता है और वह संतोष को वरण करती है। सब मिलकर विलास और लालसा को उनकी समस्त स्वर्ण-राशि के साथ समुद्र में विसर्जित कर देते हैं। सोने के भार से नाव डगमगाती है, फूलों के देश में शान्ति हो जाती है। (इसका अर्थ यह है कि विलास और लालसा से मुक्त हो जाने पर ही मानवता को प्रकृति-सुख और शान्ति मिलेगी। फूलों का देश प्राकृतिक जीवन का प्रतीक है। इस देश के निवासियों का तारा की सन्तान होना और खेल के लिए उनका पिता द्वारा इस देश में भेजा जाना वेदों का प्राचीन सृष्टि-सिद्धान्त है। इस प्रकार नाटक के दार्शनिक आधार और कथावस्तु में साम्य-भावना समानान्तर रूप से अनस्यूत है।

शास्त्रीय दृष्टि से रूपक की यह सबसे बड़ी सफलता है। अंग्रेजी के कवि स्पेंसर की 'फेअरी क्वीन' रूपक की दृष्टि से बहुत सफल इसलिए नहीं कही जाती कि उसमें कवि

मूल सूत्र को छिन्न-भिन्न कर-स्थान-स्थान पर वर्णनों के मोह में भटक जाता है। प्रसाद जी की 'कामायनी' भी इस दृष्टि से निर्दोष नहीं है—उसकी कथावस्तु में असंगति है और उसके प्रतीकात्मक वर्णन प्रायः स्वतन्त्र हो जाते हैं। आचार्य शुक्ल ने उसकी इस त्रुटि का सुन्दर विवेचन किया है। फिर भी काव्य के लिए शास्त्रीय कसौटी गौण महत्त्व रखती है—उसमें मानव-मन को मोहने की शक्ति होनी चाहिए। 'कामना' में यह गुण प्रचुर नहीं है। उसकी कथा में मानवीय रोचकता (Human interest) कुछ क्षीण है। सैद्धान्तिक आधार कुछ अधिक स्पष्ट होने के कारण वह हमारे मन को रमाये रखने में असमर्थ है। पर यह तो रूपक-कथा का प्रकृत प्रतिबन्ध है—*यह बात भी हमें न भूलनी चाहिए।*

'कामना' सिद्धान्त-वश सुखान्त नाटक है। यह सिद्धान्त टेकनीक का इतना नहीं है जितना कवि के अपने जीवन का। जैसा कि मैं कह चुका हूँ प्रसाद जी आनन्द के उपासक थे, उनकी गहन जिज्ञासा उन्हें जितना विचलित करती थी, उतने ही आग्रह से वे आनन्द को प्राप्त करने का प्रयत्न करते थे। अतः उन्होंने 'कामना' में बहती हुई दुःख की धारा को बरबस मोड़कर सुख में परिणत कर दिया। एक आलोचक ने यह प्रश्न किया है कि क्या यह सम्भव है? हम भी सचमुच यही सोचते हैं कि क्या यह सम्भव है! और शायद प्रसाद जी भी ऐसा ही सोचते थे—यही कारण है कि 'कामना' और 'कामायनी' दोनों का अन्त स्वभाव-सिद्ध कम से कम क्रमिक नहीं है—आग्रह से ग्रहण किया हुआ है, और आग्रह में विश्वास इतना नहीं होता जितना कि विश्वास का प्रयत्न। मेरे मन में आता है कि 'कामना' शायद ट्रेजेडी रूप में अधिक सफल होती। आज हमारी बुद्धि कहती है कि हम निरन्तर सभ्य हो रहे हैं, विकास की ओर बढ़ रहे हैं परन्तु निरन्तर बढ़ते हुए असन्तोष से दबी हुई आत्मा कहती है कि हमारा पतन हो रहा है। आज कम से कम भारतवासी इसी द्वन्द्व से आहत हैं, उनके जीवन की यही ट्रेजेडी है और 'कामना' की भी यही। इसको हम सुलझा नहीं सकते, हमारे पास इसका समाधान नहीं है, इसलिए इसको हम यों ही छोड़ देना चाहते हैं। *नाटककार ने यह नहीं किया। इतनी दूर तक हमारे* साथ चलकर अन्त में वह एक साथ सारी शक्ति लगाकर पीछे दौड़ जाता है और एक क्षण में जहाँ से चला था, वहीं पर दिखाई देता है। *बस, यहीं वह हमारी परितृप्ति* नहीं कर पाता और इसीलिये उसमें वाञ्छित गहराई नहीं आ सकी।

'कामना' के पात्र सभी प्रतीक हैं, फिर भी उनकी रेखाएँ अस्पष्ट नहीं हैं। 'कामना' और विलास का व्यक्तित्व काफ़ी मांसल है। विवेक में त्यागी शक्ति है। उधर लालसा के चरित्र की रेखाएँ चपल हैं। शेष पात्र साधारण रूपक के पात्र हैं। सन्तोष, करुणा, क्रूर, दुर्बल आदि का कोई विशिष्ट अस्तित्व नहीं। नाटककार का कामना और लालसा इन दो प्रवृत्तियों का पृथक्करण भी अधिक स्पष्ट नहीं हो सका।

नाटक का वातावरण एकदम रोमांटिक है, उसमें फूलों के देश के रंगीन चटकीले

४

'जनमेजय का नागयज्ञ'

[रामकृष्ण शिलीमुख]

'जनमेजय का नागयज्ञ' एक पौराणिक कथा के आधार पर लिखा गया है। जिसमें कथावस्तु के निर्माण के लिए लेखक ने कहीं-कहीं कुछ स्वतन्त्रता से काम लिया है। कथा पौराणिक तथा सर्वसाधारण से परिचित होने के कारण प्रारम्भ से ही कुछ कौतूहल उत्पन्न करने वाली है, और ज्यों-ज्यों घटनाओं का विकास होता जाता है त्यों-त्यों कौतूहल को अधिकाधिक बढ़ाती हुई अन्त में एक आनन्दप्रद विराम की अवस्था को पहुँचती है। नाटक में शिथिल दृश्य कम हैं, जो हैं वे कवित्वपूर्ण भाषा और भावुक कथोपकथनों के कारण उद्वेगकर नहीं होते। पहले ही दृश्य में उत्तेजना इतनी अधिक मात्रा में है कि पाठक स्तम्भित-सा हो जाता है और भावी परिस्थितियों की कल्पना द्वारा एक मानसिक लय का-सा अनुभव करने लगता है।

'जनमेजय का नागयज्ञ' एक मनोरम नाटक है। भिन्न-भिन्न भावों की परिस्थिति में पाठक को डाँवाडोल करके उसके हृदय को बराबर अनुरंजित रखता है। आरम्भ में ही अद्भुत के दर्शन होते हैं। उत्तंक-दामिनी के संवाद के उत्तंक में भारी आचरण की जो तीव्र जिज्ञासा होती है उसका बड़ा सुन्दर समाधान है। इस नाटक में कहीं करुणा के दर्शन होते हैं, कहीं शृंगार के, कहीं रौद्र के, कहीं वीभत्स के तथा कहीं शान्ति के। नागों के जलाए जाने में रौद्र और वीभत्स का समावेश है। वेदव्यास के आश्रम में अपूर्व शान्ति का बोल-बाला है। सरमा व माणवक का संवाद तथा दासी बनने से पहले सरमा की स्वगतोक्ति में करुणा की पुट है। दूसरे अंक के पहले दृश्य में शृंगार तथा विनोद का मिश्रण है। त्रिविक्रम तथा शिष्यों वाला दृश्य हास्यपूर्ण है।

प्रसाद ने इसे तीन अंकों में विभक्त किया है जो वास्तव में प्लॉट के आरम्भ, मध्य और अन्त कहे जा सकते हैं। प्रथम अंक बहुत अंशों में तो प्लॉट की पूर्व-परिस्थितियों को सुलझाकर उन अवस्थाओं का विकास करता है जो नाटक की गति को चरमभूमि (Climax) तक पहुँचाने में समर्थ होती हैं और उस संघर्ष का निर्देश करती हैं जो वास्तव में नाटक की चरमस्थिति है। अतः दूसरे अंक में हम नाटक की इसी संघर्षमूलक चरमस्थिति को धीरे-धीरे बढ़ती हुई देखते हैं। साथ ही साथ इस अंक में अस्फुट रूप से उन परिस्थितियों का भी उदय होता है जैसे प्रथम दृश्य में मणिमाला और जनमेजय की भेंट, जो अन्त में संघर्ष के उतार के बाद सुखपरिणति का कारण बनती है। तीसरा अंक उतार का अंक है; जिसके प्रत्येक दृश्य में शान्ति, करुणा और प्रेममयी विरक्ति का

वातावरण स्थापित किया गया है। इस अंक में मणिमाला और जनमेजय के प्रारम्भिक अनुरागबीज को एक बार फिर पुष्ट करके सुखरूप उपसंहार की सूचना दे दी जाती है।

नाटक की विचारधारा बड़ी समुन्नत है। प्रारम्भिक प्रकाशन-क्रम में 'जनमेजय का नागयज्ञ' प्रसाद जी का तीसरा नाटक है और अपने पूर्ववर्ती 'अजातशत्रु' की अनेक भाव-प्रवृत्तियों को सूचित करता है। जीवनव्यापी संघर्ष के बाद सांसारिक क्षुद्र वासनाओं से विराग तथा करुणा और प्रेम से आपूरित शान्ति का ध्येय और उसकी प्राप्ति प्रसाद के भव्य नाटकों की भाँति 'नागयज्ञ' में भी दृष्टिगोचर होती है। संघर्ष की प्रतिष्ठा में रौद्र, वीर अथवा बीभत्स के साथ जुगुप्सा, निर्वेद और करुणा का द्वंद्व दिखाया गया है। मनसा, तक्षक आदि प्रथम प्रकार की प्रवृत्तियों के प्रतिनिधि हैं और उत्तंक, मणिमाला, सरमा, आस्तीक आदि दूसरे प्रकार की प्रवृत्तियों के। जनमेजय नेता की हैसियत से और स्वयं उस संघर्ष का ही प्रतिनिधि होने के कारण, समय-समय पर परिस्थितिवश दोनों ओर प्रवृत्त होता है।

जयशंकर प्रसाद के नाटकों का यह सामान्य आदर्श 'नागयज्ञ' में रूपान्तर से विश्व-मैत्री और प्राणिमात्र की एकता का रूप धारण करता है। उस एकता का मूल सिद्धान्त है—सर्वत्र शुद्ध चेतन की व्यापक सत्ता। इस अद्वैत-प्रतिष्ठा में एकता या समभाव स्वयं स्थापित हो जाता है, जिसका अर्थ है भेद-भाव का निराकरण। परन्तु मनुष्य अपनी अहंवृत्ति के कारण अनेक विपक्षी द्वन्द्वों को बना लेता है और भेदों को देखने लगता है। इसलिए, अंतर्दृश्य में श्रीकृष्ण कहते हैं कि द्वन्द्व बुद्धि को दूर करना चाहिए और जो लोग समझने से उसे दूर नहीं करते उन्हें हमारा विरोधी बनना पड़ेगा, प्रकृति के चक्र में पिसकर उन्हें नया रूप धारण करना होगा। इसी प्रकार वे हमारे समीपतर आ जायेंगे। साम्यस्थापन का यह कार्य ईश्वरेच्छा की स्वाभाविक क्रिया है, अतः उसकी पूर्ति में मनुष्य को कर्ताभाव न लाना चाहिए और इसीलिए अर्जुन द्वारा खांडव-दाह होने में कोई दोष नहीं है।

प्रथम दृश्य के अन्तर्दृश्य मे प्रतिपादित यह सिद्धान्त ही 'नागयज्ञ' की समस्त घटनावली में व्यावहारिक रूप से दृष्टिगोचर होता है। अन्तर्दृश्य का यही उद्देश्य और महत्त्व है। खांडव वन मे जलाये गये नाग अब भी अपनी बर्बरता नहीं छोड़ते हैं और भेद-भाव को पुष्ट कर अपने को जड़ बनाये रखने मे ही ये सन्तुष्ट हैं। वे शान्ति और प्रेम से रहकर आर्यों से मिल ही नहीं सकते। इसीलिए प्रकृतिचक्र से उद्भूत परिस्थितियों में पड़कर वे दिन रात पिसते हैं। जब वे अच्छी तरह पिस चुकते हैं तो उनका रूप बदलता है। मणिमाला और जनमेजय के विवाह द्वारा आर्यों के साथ समता की अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं।

श्रीकृष्ण के उस शुद्ध चेतन सम्बन्धी गहन अद्वैत सिद्धान्त की स्थापना में आशंका हो

सकती है कि नाटक की वस्तु और गति नीरस होगी। जिन स्थलों पर इस प्रकार सिद्धान्तों की विवेचना होती है वे आसानी से बोधगम्य न होने के कारण शुष्क हो भी जाते हैं। परन्तु ऐसे स्थल वास्तव में वस्तु की शृंखलामात्र हैं, स्वयं वस्तु नहीं हैं। यथार्थ घटनावली में तो सांसारिक संघर्ष की परिस्थितियाँ ही हैं, जो व्यापक सिद्धान्त की दृष्टि से वस्तुतः प्रकृतिचक्र के आवर्तन मात्र हैं। इन आवर्तनों में जब पात्र अपनी अहंबुद्धि को लेकर क्रीड़ा करते हैं तो वे अवसरानुकूल अपने हृदय की प्रवृत्तियों को प्रकट करते हैं और ऐसे अवसरों पर भावुकता का आपादन होता है।

आचार-नीति की व्यंजना में नाटककार ने प्राचीन तथा अर्वाचीन समाजों और व्यक्तियों के व्यवहारों को उदाहृत करने की चेष्टा की है। आदर्श चरित्रों में दयाचरण की पूर्णता भक्ति पैदा करने वाली है। उत्तंक का नैतिक बल, जरत्कारु और वेद की क्षमा तथा वेदव्यास का शान्तिपूर्ण और सर्वतोगामी प्रभाव एक अति उच्च नैतिक वातावरण के द्योतक हैं। यज्ञादिक का अनुष्ठान, ब्राह्मणों की बची-खुची महिमा, ऋषियों का आश्रमों में तपस्या आदि करना, गुरुकुल-प्रणाली (जिसमें शिष्य स्वेच्छा से गुरू को मनोनीत दक्षिणा देता है), राजकुल का समय-समय पर ऋषियों तथा आचार्यों से उपदेश ग्रहण करना आदि उस प्राचीन समय के वातावरण के द्योतक हैं जिसकी कथा 'जनमेजय का नागयज्ञ' का विषय है। इन सबके बीच में कहीं-कहीं ब्राह्मणत्व का मिथ्या अहंकार और पतन, कुपात्र शिष्यों का गुरू की अवज्ञा करना या हँसी उड़ाना, अन्तिम दृश्य के अनुसार यज्ञादिक की अनुपयोगिता, सभ्य कहलाने वाली और असभ्य कही जाने वाली जातियों का संघर्ष, पददलितों की छटपटाहट और स्वतन्त्रता के लिए उनका प्रयत्नशील होते रहना आदि बातें वर्तमान भारतीय परिस्थितियों को किसी अंश में प्रकट करती हैं। प्राचीन और वर्तमान वातावरणों के इस सामंजस्य में लेखक के एक अस्पष्ट उद्देश्य की झलक दिखाई दे सकती है।

इस नाटक की भाषा संस्कृत-मिश्रित है और एक ऊँचे शिष्ट समाज की कल्पना को उत्पन्न करती है। भाषा क्लिष्टता के कारण समझने में कुछ कठिनता होती है। परन्तु इसका दोष एकमात्र भाषा के ऊपर ही नहीं मढ़ना चाहिए। जहाँ हमें भाषा क्लिष्ट मालूम होती है और समझने में कठिनता होती है वहाँ दार्शनिक विचारों तथा संवादों का भी उत्तरदायित्व है। विचारों की गहनता के कारण भाषा पर उसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। अन्यथा जहाँ विचार अधिक गहन नहीं हैं और हम लौकिक चरित्रों के लौकिक वाक्यों को ही सुनते हैं वहाँ भाषा इतनी कठिन नहीं मालूम होती। प्रसाद की भाषा कवित्व-पूर्ण है और जहाँ उस भाषा का वास्तविक भावुकता से सम्बन्ध हो जाता है वहाँ चाहे वह क्षण भर को ठीक समझ में न आए, परन्तु हमको मीठी खुमारी का-सा आनन्द मिलने लगता है। मणिमाला की दूसरी स्पीच इसका उदाहरण है।

इन विभिन्न दृष्टियों से 'जनमेजय का नागयज्ञ' हमारी समझ में एक अच्छा नाटक है। परन्तु यदि अभिनेयता की दृष्टि से देखा जाय तो इसमें अनेक बाधाएँ उपस्थित होती हैं। संस्कृत-गर्भित भाषा तथा स्थान-स्थान पर गहन दार्शनिक व ऊँची कवित्वमयी भावुकता का समावेश साधारण दर्शक के लिए रंगमंच पर इस नाटक को निरानन्द बनाने में समर्थ है। तदुपरान्त नाटक के भीतर कई एक ऐसे दृश्यों का आना, जिनमें केवल कथोपकथन ही कथोपकथन है और कोई विशेष व्यापार नहीं है; एक मुख्य दोष है। कुछ कठिन दृश्यों के कारण अभिनेयता में और भी अड़चन पड़ती है। खांडव-दाह और नागों को जलाये जाने के दृश्य स्टेज पर दिखाना कठिन हैं, वे दर्शकों के लिए वीभत्स और ग्लानि-पूर्ण हो सकते हैं। इस भाँति यद्यपि काव्य की दृष्टि से 'जनमेजय का नागयज्ञ' एक श्रेष्ठ नाटक है, परन्तु अभिनेयता की दृष्टि से हम इसे अधिक सफल नहीं समझते।

चरित्र-चित्रण : जनमेजय

जनमेजय भारतवर्ष का सम्राट् और युवक है। उसके चरित्र में पीछे के इतिहास का अस्तित्व है। उसके पिता का नागों द्वारा वध हुआ था। सिंहासन पर बैठने के बाद अपने पिता की हत्या का बदला लेना उसका कर्तव्य था। तदतिरिक्त वह ऐसा समय था जब दस्युओं के अतिक्रम शान्त प्रजा के लिए विघ्नकारी सिद्ध हो रहे थे और यदि उसकी नींव न उखाड़ी जाती तो शायद राष्ट्र में विप्लव हो जाता। दुर्भाग्य से ऐसे षड्यन्त्रों में कोई-कोई दुर्ब्राह्मण भी शामिल थे। *उस समय ब्राह्मणों का विशेष मान था।* राजा भी उनकी आज्ञा का वशवर्ती था। ऐसी परिस्थिति में एकाध ब्राह्मण के भी षड्यन्त्र में मिल जाने के कारण घोर कठिनाइयों के उपस्थित हो जाने की सम्भावना थी। जनमेजय के चरित्र पर इस परिस्थिति का प्रभाव पड़ना आवश्यक था। अतः कोई आश्चर्य नहीं कि जनमेजय को हम एक अति क्रूर और प्रतिहिंसाशील व्यक्ति के रूप में देखते हैं। जनमेजय मानव पात्र है, असामान्य देवप्रवृत्तियाँ उसमें नहीं हैं, फलतः मानवी दुर्बलताएँ उसमें स्वाभाविक हैं। वह स्थान-स्थान पर नागों को जलवाता है और प्रतिहिंसा के वशीभूत हो ब्राह्मणों को निर्वासित करने का साहस करता है। जिस समय तक्षक उससे कहता है कि 'क्रूरता में तुम किसी से कम नहीं हो' तो वह उत्तर देता है, 'यही तो मैं तुमसे कहलवाना चाहता था,' तो एक प्रकार से वह स्वयं ही अपने क्रोध और प्रतिहिंसा का कुछ स्पष्ट रूप से उद्गार कर देता है। साथ ही राज-सभा में अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति का गोपन करके उसका यह कहना कि 'आपको नहीं मालूम'''' (पृष्ठ १८-१९), उसकी मानवी दुर्बलता का सूचक है। मनुष्य अपने किसी आचरण की पुष्टि के लिए उसे उदारता या *बेबसी का आवरण दिया ही करता है।*

जनमेजय तेजस्वी प्रकृति का व्यक्ति है और राजप्रभुता को समझता है। ब्राह्मणों के अतिरिक्त और किसी को वह अपने सामने अधिक बोलने का अवसर नहीं देता। मृगया

में मद्रक के निषेध करने पर कि ऐसी जगह पर मृग नहीं छिपते वह कहता है 'चुप रहो'। परन्तु उसका सबसे अधिक मानवीय रूप उसके निराशावाद में है। इस परिस्थिति में वह हमारे सामने सम्राट् नहीं है, प्रत्युत एक मनुष्य-मात्र है। अपनी परेशानियों और चिन्ताओं से दुःखी होकर वह दीन की भाँति अनेक बार चिल्ला उठता है—'मनुष्य प्रकृति का अनुचर और नियति का दास है।' इसी भाँति मणिमाला को देखकर उसके हृदय में किसी एक अलक्ष्य वृत्ति का-सा सन्देह होना उसकी उसी मानवीयता का लक्षण है। परन्तु इस स्थान पर वह अपनी राजपद की मर्यादा को निभाता है और अपना भाव संवरण कर मणिमाला के आतिथ्य को अस्वीकार कर देता है।

जिस समय की कथा इस नाटक में दी गई है उस समय में ब्राह्मण-अब्राह्मण वा आर्य-अनार्य तथा राजकर्तव्य एवं यज्ञक्रियादि से सम्बन्ध रखने वाली अनेक रूढ़ियाँ मौजूद थीं। राजा उन रूढ़ियों से परे नहीं था। जनमेजय अनार्य सरमा और उसके लड़के का न्याय नहीं करता। वह ब्राह्मणों का मुखापेक्षी है और उसके इशारे पर यज्ञादिकों में प्रवृत्त होता है। तथापि उसमें इतनी स्वतन्त्रता है कि यह अन्त में ब्राह्मणों को फटकारकर यह कह सकता है कि 'आज मैं क्षत्रियों के उपयुक्त ऐसा यज्ञ करूँगा जैसा आज तक किसी ने न किया होगा और न कोई कर सकेगा। इस नागयज्ञ से अश्वमेधों का अन्त होगा।'

५

'स्कन्दगुप्त' की वातावरण-सृष्टि

[प्रो० मोहनलाल]

प्रसाद के पास एक नाट्यकार की सृजनात्मक प्रतिभा थी। अतीत के उन मङ्गलमय कणों को उन्होंने अपने नाटकों में संजोया है जहाँ भारतीय संस्कृति का पवित्र सत्व मिलता है। आधुनिक जीवन की तृष्णा और अशान्ति को नवीन गति और नवीन प्राण देने के लिए उनकी रोमैंटिक प्रवृत्ति सहज ही अतीत की ओर देखती है। यही कारण है कि उनके अधिकांश नाटक इतिहास की आधार-शिला पर खड़े हैं। बौद्धों, मौर्यों और गुप्तों के युगों की पृष्ठभूमि पर उनके कथानक स्थित हैं। उनमें जहाँ करुणा और अहिंसा के आदर्शों की प्रतिष्ठा की गई है, प्रेम और शान्ति की महिमा गाई गई है और राष्ट्रीय गौरव का उद्बोधन किया गया है वहाँ, षड्यन्त्र और कुचक्र भी रचे गये हैं तथा गृह-कलह और अन्तर्विद्रोह की उपक्रमणिका भी हुई है। इन नाटकों की भीषण व्यग्रता वातावरण को इतना विक्षुब्ध किये हुए है कि उनकी ओर दृष्टि का जाना स्वाभाविक है। 'अजातशत्रु' में छलना की महत्वाकांक्षा मगध को अशान्त कर देती है, महामाया की कौशल को और मागन्धी की कौशाम्बी को। मगध और कौशल में यह महत्वाकांक्षा राज्य-लिप्सा से फूटती है, कौशाम्बी में सौतिया डाह से। अजातशत्रु में इस प्रकार तीन केन्द्र हैं जिनके चारों ओर तीन आवर्त हो गये हैं यद्यपि वासवी और पद्मावती को साधकर नाट्यकार ने तीनों आवर्तों को मगध के केन्द्र पर घूर्मित कर दिया है। 'स्कन्दगुप्त' में केवल एक ही केन्द्र है—अनन्तदेवी की महत्वाकांक्षा, और उसमें इतना तीव्र आक्रोश है कि भट्टारक की प्रतिहिंसा और प्रपञ्चबुद्धि का कुचक्र उसके केन्द्र पर प्रवत्यावर्त्तन करने लगते हैं। अनन्तदेवी, भट्टारक और प्रपञ्चबुद्धि के संगठन से इस नाटक का वातावरण जघन्य षड्यन्त्रों से तिलमिला उठा है। 'चन्द्रगुप्त' में भी कूटनीति के खेल हैं, पर वहाँ इतनी भयंकरता नहीं। वहाँ पौरुष का रोष अधिक प्रबल है, स्त्री की महत्वाकांक्षा कम—एक कल्याणी है अवश्य, पर वह भी पुरुष में खोई-सी, हारी-सी।

'स्कन्दगुप्त' का वातावरण गुप्त-युग की पृष्ठभूमि पर आधारित है। बर्बर हूणों के आक्रमण और पारस्परिक मत-विरोध के कारण राष्ट्र की शक्ति जर्जर हो रही है। सौराष्ट्र म्लेच्छों से पदाक्रान्त हो चुका है। मालवा पर संकट है। मगध विलासिता में डूबा हुआ है। विषय-विह्वल सम्राट् तरुणी की आकांक्षाओं के साधन हो रहे हैं। ऐसी दशा में एक विकट अभिनय अवश्यम्भावी है। इस संकट की ओर धातुसेन पहले ही संकेत कर देता है—

'काले मेघ क्षितिज में एकत्र हैं, शीघ्र ही अंधकार होगा।···निर्मम शून्य आकाश में शीघ्र ही अनेक वर्ण के मेघ रङ्ग भरेंगे। एक विकट अभिनय का आरम्भ होने वाला है।'

'स्कन्दगुप्त' के वातावरण को इन काले मेघों ने आदि से अन्त तक आच्छन्न कर रखा है। रात्रि के अंधकार में प्रसाद ने इन मेघों में जो वर्ण भरे हैं, वे इतने गहरे हैं कि पाठक सिहर उठता है। यहाँ रात्रि की शून्यता में षड्यन्त्रों का अन्धकार घना हो जाता है, कहीं से प्रकाश की रेखा खींचकर तिमिर में विलीन हो जाती है, रक्त से सनी हुई तलवार बिजली की तरह तड़प उठती है, और किसी कोने से पशु पक्षी का स्वर निर्जनता को विस्मित कर स्वयं स्तब्ध हो जाता है। वहाँ समीर की गति विक्षुब्ध हो जाती है, नदी की धारा ठिठक पड़ती है, और क्रन्दन काँप उठता है। इन दृश्यों की रङ्गस्थली या तो राजसी प्रासाद हैं या वीरान श्मशान। इनका नाटक की वातावरण-सृष्टि में अत्यन्त महत्त्व है।

प्रथम दृश्य। अनन्तदेवी का सुसज्जित प्रकोष्ठ है। अनन्तदेवी अपनी नियति का पथ अपने पैरों चलना चाहती है। रात्रि का द्वितीय प्रहर बीत चुका है, वह विकल हो भट्टारक का रास्ता देख रही है। उसकी दासी कहती है—

"जया—स्वामिनी! आप बड़ा भयानक खेल खेल रही हैं।"

"अनन्तदेवी—क्षुद्रहृदय—जो चूहे के शब्द से भी शंकित होते हैं, जो अपनी साँस से ही चौंक उठते हैं, उनके लिए उन्नति का कंटकित मार्ग नहीं है। महत्त्वाकांक्षा का दुर्गम स्वर्ग उनके लिए स्वप्न है।"

अनन्तदेवी की महत्त्वाकांक्षा उन्नति के कंटकित मार्ग को स्वीकार करती है। इसमें उसे भट्टारक का सहयोग मिलता है। वह प्रतिहिंसा से जल रहा है। सम्राट् के समक्ष जो विद्रूप और व्यङ्गबाण उस पर बरसाये गये थे वे उसके अन्तस्तल में गड़े हुए हैं। कुसुमपुर के सौध मन्दिरों में जब महापिशाची की विप्लव ज्वाला धधकेगी, तो उस चिरागन्ध की उत्कट गन्ध में वह अट्टहास करेगा। भट्टारक के अतिरिक्त इस नारी को प्रपञ्च बुद्धि का बल भी प्राप्त है। प्रपञ्चबुद्धि संसार को सद्धर्म के अभिशाप की लीला दिखाना चाहता है—दिखाना चाहता है शव चिता में नृत्य करती हुई तारा का तांडव नृत्य, शून्य सर्वनाशकारिणी प्रकृति की मुण्डमालाओं की कन्दुक-क्रीड़ा और महा नरमेध का उपसंहार।

दूसरा दृश्य। अन्तःपुर का द्वार। रात्रि का अंधकार घना होता जा रहा है। बाहर शर्वनाग सतर्क पहरा दे रहा है। अन्दर परम भट्टारक अपनी अन्तिम घड़ियाँ गिन रहे हैं। पृथ्वी के नीचे कुमन्त्रणाओं का क्षीण भूकम्प चल रहा है। शत्रु अपने विषैले डंक और तीखे डाढ़ सँवार रहे हैं। रात्रि ऐसी है जो मानो अपनी शून्यता में सब कुछ निगल जायगी। एक सैनिक कहता है—

"नायक! न जाने क्यों हृदय दहल उठा है, जैसे सनसन करती हुई, डर से, यह

आधी रात खिसकती जा रही है! पवन में गति है, परन्तु शब्द नहीं। 'सावधान' रहने का शब्द मैं चिल्लाकर कहता हूँ, परन्तु मुझे ही सुनाई नहीं पड़ता। यह सब क्या है, नायक!"

इस मानसिक व्यग्रता का प्रकृति के साथ जो सामञ्जस्य प्रसाद ने उपस्थित किया है, वह इतना तीव्र है कि नाटक का वातावरण तिलमिला उठता है।

रात्रि की नीरवता में ऐसे दो दृश्य और हैं जिनमें हत्या और विनाश का आयोजन है। देवकी के राजमन्दिर का बाहरी भाग है। मदिरोन्मत्त शर्वनाग वर्णमाला के पहले अक्षर कादम्ब, कामिनी और कञ्चन—के लिए जघन्य से जघन्य कार्य करने पर उतारू है। वह मद्यप—उसकी 'लाल मदिरा लाल नेत्रों से लाल-लाल रक्त देखना चाहती है।' दूसरी ओर उसकी पत्नी 'रामा' प्रलय की काली आँधी बनकर कुचक्रियों के जीवन को काली राख अपने शरीर में लपेटकर ताण्डव नृत्य करना चाहती है। अर्द्ध-रात्रि में निस्सहाय देवकी की हत्या के उद्देश्य से कुचक्र रचा जाता है

इसी प्रकार एक भयानक कुचक्र श्मशान में शिप्रा के तट पर 'एक निर्मल कुसुम-कली को कुचलने के लिए' देखने में आता है। हिंसा के लोभ में मनुष्य प्राण लेने की कला-कुशलता के साधनों—छल, कपट, विश्वासघात और पैने अस्त्रों—का प्रयोग करता है। विजया की प्रतिहिंसा और उग्रताग की बलि के लिए देवसेना आहूत होने वाली है। श्मशान की भयावहता में सङ्गीत की लहरी, शिप्रा की घरघर और तलवार की धार एक साथ तड़प उठती हैं।

राजनीतिक षड्यन्त्रों के आक्रोशपूर्ण वातावरण में प्रसाद ने विषाद की प्रस्तावना भी की है। नाटकीय वातावरण की तीव्र विभीषिका जितनी महत्त्वपूर्ण है, उतनी ही यह करुण धूमरेखा भी। विषाद का वातावरण या तो विराग के निवृत्तिमूलक स्वरों से अवसन्न है अथवा प्रणय के करुण उच्छ्वासों से सजल। देवकी दयामय की कृपा-दृष्टि में अनन्य विश्वास लिये बन्दीगृह के अन्दर भी यही गाती है—

> "पालना बनें प्रलय की लहरें।
> शीतल हो ज्वाला की आँधी,
> करुणा के घन छहरें।"

स्कन्दगुप्त भी उस 'करुणा-सहचर' से 'बौद्धों का निर्वाण, योगियों की समाधि और पागलों की-सी सम्पूर्ण विस्मृति' एक साथ माँग लेता है। मातृगुप्त को भी असहाय अवस्था में प्रार्थना के अतिरिक्त और कोई उपाय दिखाई नहीं पड़ता—भगवान् से उसकी यही विनती है—'उतारोगे कब भू-भार'। श्मशान की निस्तब्धता में जीवन का स्वर गूँज उठता है—

"सब जीवन बीता जाता है,
धूप छाँह के खेल सदृश।"

भाव-विभोर देवसेना दूर की रागिनी सुनती हुई सोचने लगती है—'संसार का मूक शिक्षक श्मशान क्या डरने की वस्तु है ! जीवन की नश्वरता के साथ ही सर्वात्म के उत्थान का ऐसा सुन्दर स्थल और कौन है !' जैसे स्कन्द बौद्धों के निर्वाण की कामना करता है, वैसे ही देवसेना भी अपनी कामनाओं को विस्मृति के नीचे दबा देना चाहती है। यह निवृत्ति इतनी अवसादपूर्ण है कि नाटक की करुणा भी उससे सिक्त होने लगती है।

'स्कन्दगुप्त' के विषादपूर्ण वातावरण का एक दूसरा पक्ष प्रणय का है। प्रसाद के नाटकों में प्रणय की व्यञ्जना कितने ही रूपों में मिलती है। एक रूप वह है जहाँ प्रेम की विरल स्निग्धता है—दो बालुकापूर्ण कगारों के बीच उसकी निर्मल धारा प्रवाहित है। वह 'चन्द्रगुप्त' में कार्नीलिया है, 'अजातशत्रु' में वाजिरा। दूसरा रूप वह है जहाँ प्रणय का मूक बलिदान है—संगीत की करुण रागिनी की तरह नाटक के जीवन में उसका विश्राम व्याप्त है। 'चन्द्रगुप्त' में वह मालविका है, 'स्कन्दगुप्त' में देवसेना। तीसरा रूप वह है जहाँ उन्माद की प्रबलता है—वह प्रलय की अनल-शिखा से भी अधिक लहरदार है। 'अजातशत्रु' में वह मागंधी है, 'स्कन्दगुप्त' में विजया। 'स्कन्दगुप्त' के वातावरण में जहाँ प्रलय के मेघ छाये हुए हैं, वहाँ प्रलय का उल्कापात भी मिलता है। इस आक्रोश का कारण विजया की महत्वाकांक्षा है। इसका एक परिणाम यह होता है कि देवसेना अपने हृदय की कोमल कल्पना को सदा के लिए सुला देती है। जब उसके हृदय में रुदन का स्वर उठता है, वह उसे संगीत की वीणा में मिला लेती है। वह जब गाती है तो मानों उसके भीतर की रागिनी रोती हो और जब वह हँसती है तो मानों विषाद की प्रस्तावना हो रही हो। वह जैसे स्वयं करुणा की मूर्ति हो—'संगीत-सभा की अन्तिम लहरदार और आश्रय-हीन तान, धूपदान की एक क्षीण गन्ध धूम-रेखा, कुचले हुए फूलों का म्लान सौरभ और उत्सव के पीछे का अवसाद'। नाटक के अन्त में जब वह जीवन के भावी सुख, आशा और आकांक्षा, सबसे विदा लेती है तो मानों उसके अन्दर का रुदन फूट पड़ा हो—

"आह ! वेदना मिली विदाई !
मैंने भ्रम-वश जीवन-सञ्चित,
मधुकरियों की भीख लुटाई।"

इस नारी के जीवन की 'एकान्त व्याकुलता' ने नाटक को अवसाद में गहरा डुबो दिया है। उसके नारीत्व की महत्ता इसमें है कि वह एक क्षण के रुदन में अनन्त स्वर्ग का सृजन करना चाहती है।

वातावरण के निर्माण में प्रसाद ने भाषा के नव-नव प्रयोग किये हैं। प्रसाद की

भाषा साधारणतः एक ही स्तर पर चलती है, पर भावों के उद्वेलन को व्यक्त करने में वह अत्यन्त कुशल है। शब्दों के स्पर्श-मात्र से भाव टकरा उठते हैं, और केवल शब्द-चित्रों की नहीं, भाव-चित्रों की सृष्टि होने लगती है। मातृगुप्त के शब्दों में मनोहर स्वप्न देवसेना के शब्दों में करुणा की सजल राशि, बंधुवर्मा, धातुसेन आदि के शब्दों में राष्ट्रीय गौरव का उद्बोधन, प्रपञ्च बुद्धि, भट्टारक, विजया, अनन्तदेवी आदि के शब्दों में षड्यन्त्रों की अवतारणा मिलती है। भाषा के इस प्रयोग में प्रसाद की एक विशेषता गीतों की रचना है। जब मातृगुप्त अपना अतीन्द्रिय जगत की कल्पना ,को पकड़ना चाहता है, उसका स्वप्न टूट जाता है, वह गा उठता है—'मैं व्याकुल परिरम्भ-मुकुल में बन्दी अलि-सा काँप रहा।' देवकी और स्कन्दगुप्त भी जब अपने चारों ओर कुत्सा का वातावरण देखते हैं, तो व्यापक हो गीतों में बोल उठते हैं। देवसेना तो स्वयं एक करुण गीत है। विजया भी उन्मुक्त आकाश के नील-नीरद-मण्डल में दो बिजलियों के समान स्कन्दगुप्त के साथ क्रीड़ा करते-करते तिरोहित हो जाना चाहती है—

"अरुण घूर की श्याम लहरियाँ,
उलझी हों इन अलकों से।
मादकता लाली के डोरे,
इधर फँसे हो पलकों से॥"

नाटक के षड्यन्त्रपूर्ण वातावरण के निर्माण में तो प्रसाद ने दृश्यों की योजना के अतिरिक्त ऐसे कठोर शब्दों का प्रयोग किया है, जिनको अपने जीवन में, बोल-चाल, और व्यवहार में तो शायद ही उन्होंने कभी उच्चारण किया हो। इन शब्दों में इतना आक्रोश है कि वातावरण स्वयं मूर्त हो जाता है। इस भाषा का पात्रों के जीवन-स्तर से सामञ्जस्य कर दिया है। निम्न पशुओं (Lower Animals) का और उनकी विभिन्न कोटियों का जितना उल्लेख इस नाटक में मिलता है, उतना प्रसाद के किसी नाटक में नहीं। यहाँ नारकीय कीड़े, भेड़िये, राजपुत्र, श्मशान के कुत्तों से पतित मनुष्य, विषैले डंक के बिच्छू, धन-लोलुप शृगाल, काल-भुजङ्गी राष्ट्रनीति, राक्षस विभीषण, बन्दर सुग्रीव, और न जाने कितने ही प्रकार के निम्न कौवे, चूहे और अपदार्थ कीड़े मिलेंगे। प्रपञ्चबुद्धि 'क्रूर कठोर नर-पिशाच' है, 'उसकी आँखों में अभिचार का संकेत है; मुस्कराहट में विनाश की सूचना है, आँधियों से खेलता है, बातें करता है, और बिजलियों से आलिङ्गन।' फिर शर्वनाग है—'पिशाच की दुष्कामना से भी भयानक', 'रक्तपिपासु, क्रूरकर्मा मनुष्य, कृतघ्नता की कीच का कीड़ा, नरक की दुर्गन्ध।' और भट्टारक—'नीच, कृतघ्न, देश-द्रोही, राजकुल की शान्ति का प्रलय मेघ।' अनन्तदेवी तो एक 'दुर्भेद्य नारी हृदय', 'साहसशीला स्त्री', 'गुप्त साम्राज्य की कुञ्जी', जिसकी "आँखों में काम-पिपासा के संकेत अभी उबल रहे हैं। अतृप्ति की चञ्चल प्रवञ्चना कपोलों पर रक्त होकर क्रीड़ा कर रही है। हृदय में श्वासों

की गरमी विलास का सन्देश वहन कर रही है।" और विजया—"कृत्या अभिशाप की ज्वाला, पहाड़ी नदी से भयानक ज्वालामुखी के विस्फोट से वीभत्स और प्रलय की अनल-शिखा से भी लहरदार।"

वातावरण के निर्माण में प्रसाद ने भाषा का एक और प्रयोग किया है जिससे उसे तीव्रता मिल सकी है। यह प्रयोग प्रसाद की वे उक्तियाँ हैं जिनमें व्यङ्ग तो है ही किन्तु उसके अतिरिक्त एक प्रकार का विरोधाभास भी है जहाँ तुलना और विषमता के कारण भाषा में वक्रता आ गई है। विरोधी वस्तुएँ एक साथ उपस्थित कर दी गई हैं जिनके फलस्वरूप शब्द-विन्यास मार्मिक हो उठा है। इसके कुछ उदाहरण यहाँ दिये जा सकते हैं—

१. देवसेना—तुम वीणा ले लो तो मैं गाऊँ।
विजया—हँसी न करो राजकुमारी।
जयमाला—बुरा क्या है?
विजया—'युद्ध' और 'गान'!

२. जयमाला—'स्वर्णरत्न की चमक' देखने वाली आँखें बिजली-सी 'तलवारों के तेज' को कब सह सकती हैं। श्रेष्ठिकन्ये! हम क्षत्राणी हैं, 'चिर सङ्गिनी खड्गलता' से हम लोगों का 'चिर स्नेह' है। (विजया से)

३. विजया—आहा! कैसी 'भयानक' और सुन्दर 'मूर्ति' है। (स्कन्दगुप्त को देखकर)

४. शर्वनाग—देश के हरे कानन चिता बन रहे हैं। धधकती हुई नाश की प्रचण्ड ज्वाला दिग्दाह कर रही है। अपने 'ज्वालामुखियों' को 'बर्फ' की मोटी चादर से छिपाये हिमालय मौन है, पिघलकर क्यों नहीं समुद्र से जा मिलता? 'अरे जड़, मूक,/ बधिर, प्रकृति के टीले!'

५. मुद्गल—सम्राट् की उपाधि है 'प्रकाशादित्य' परन्तु प्रकाश के स्थान पर अँधेरा है। 'आदित्य में गर्मी नहीं। सिंहासन के सिंह सोने' के हैं।

६. स्कन्दगुप्त—वृद्ध पर्णदत्त, तात पर्णदत्त! तुम्हारी यह दशा! 'जिसके लोहे से आग बरसती थी, वह जङ्गल की लकड़ियाँ बटोरकर आग सुलगाता है।'

इस प्रकार वातावरण सृष्टि की दृष्टि से प्रसाद के नाटकों में 'स्कन्दगुप्त' का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें नाट्यकार ने दृश्य-योजना और भाषा के जो प्रयोग किये हैं वे उपयुक्त, मार्मिक और प्रौढ़ हैं।

६

'चन्द्रगुप्त' का तुलनात्मक अध्ययन

[गुलाबराय एम० ए०]

चन्द्रगुप्त का नाम भारतीय इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा। विदेशियों द्वारा लिखे हुए इतिहास में भी हम चन्द्रगुप्त का नाम सर ऊँचा करके पढ़ सकते हैं। पहले-पहल चन्द्रगुप्त का नाटक रूप में वर्णन विशाखदत्त ने अपने मुद्राराक्षस में किया है। आजकल भी चन्द्रगुप्त के नाम से दो नाटक निकले हैं किन्तु इनमें और 'मुद्राराक्षस' में अन्तर है। उस नाटक में चन्द्रगुप्त चाणक्य के हाथ में कठपुतली मात्र है। वह नाटक चाणक्य और राक्षस के राजनीतिक घात-प्रतिघात का खेल है। उसमें दो स्वामिभक्त खिलाड़ियों की शतरंज की चालें हैं। काठ की गोटों के स्थान में जीते-जागते पात्र हैं जिनमें प्रधान चन्द्रगुप्त है। नाटक के आरम्भ से ही चन्द्रगुप्त मगध सिंहासन पर है। राक्षस अपने स्वामी नन्द का पक्ष लेते हुए चन्द्रगुप्त के स्थान में किसी दूसरे को राजपद पर स्थापित करना चाहता है। चाणक्य चन्द्रगुप्त की रक्षा करता है। राक्षस अपनी स्वामिभक्ति में अटल रहता है। चाणक्य राक्षस की बुद्धि और स्वामिभक्ति का लोहा मानते हुए चन्द्रगुप्त के हित में यही चाहता है कि राक्षस उसका मंत्रीपद स्वीकार करलें। चाणक्य की सारी चालों का यही फल होता है। राक्षस मंत्रित्व स्वीकार करने को बाधित हो जाता है। यही इस नाटक की फल-सिद्धि है। इसमें केवल बुद्धि और कूटनीति का चमत्कार है। इस नाटक की कथावस्तु भी काफी पेचीदा है। इसमें कोमल भावों के लिए स्थान नहीं है। शृंगार का नितान्त अभाव है। चन्दनदास और राक्षस का सख्य तथा दोनों मंत्रियों की स्वामिभक्ति दर्शनीय है। इस नाटक में चन्द्रगुप्त को मुरा-पुत्र ही माना गया है।

चन्द्रगुप्त को ही लेकर आधुनिक युग के दो भिन्न-भिन्न प्रान्तों के महान् कलाकारों ने जिनमें एक हैं बंगाल के द्विजेन्द्रलाल राय और दूसरे बनारस के जयशङ्करप्रसाद—नाटक लिखकर अपनी-अपनी भाषा का गौरव बढ़ाया है। इन दोनों नाटकों का दृष्टिकोण 'मुद्राराक्षस' से भिन्न है। इन दोनों में चन्द्रगुप्त अपने गुरुदेव चाणक्य के अतिरिक्त अपना कुछ व्यक्तित्व रखते हैं (एक स्थान में 'मुद्राराक्षस' में भी चन्द्रगुप्त ने अपना व्यक्तित्व दिखलाया है किन्तु वह चाणक्य की मन्त्रणा से) और अपने पौरुष के साथ अपना साम्राज्य स्थापित करते हैं। दोनों ही नाटककारों ने यूनानी सेनापति सिल्यूकस की दुहिता से चन्द्रगुप्त का विवाह कराया है। किन्तु राय महोदय ने उसका नाम हैलेन रक्खा है,

प्रसाद जी ने उसका नाम कार्नेलिया रक्खा है। इन दोनों नाटकों में मन्त्रियों की चोट नहीं है वरन् भारत और यूनान की सभ्यताओं की चोट है अथवा दूसरे शब्दों में चाणक्य और अरस्तू की चोट है। दोनों ही में विवाह सम्बन्ध द्वारा भारत और यूनान में सन्धि स्थापित होती है।

उपर्युक्त बातों में समानता होते हुए भी बहुत सी बातों में भेद है। वास्तव में तुलना के लिए समान वस्तुएँ ही तराजू के पलड़े में रक्खी जाती हैं। प्रान्तीय साहित्यों में ऐसे तुलनात्मक अध्ययन का कम अवसर मिलता है क्योंकि दो भिन्न कलाकार एक ही विषय पर कम लिखते हैं। पहले यह बतला देना आवश्यक है कि राय महोदय ने मुगल-कालीन भारत के चित्रण में विशेषता प्राप्त की है और प्रसाद जी की प्रतिभा मध्यकालीन भारत के चित्रण में अधिक प्रस्फुटित हुई है।

यद्यपि राय महोदय की पुस्तक पहले की है तथापि प्रसाद जी की पुस्तक उसका अनुकरण नहीं कही जा सकती है। दोनों नाटकों में चन्द्रगुप्त के जन्म के सम्बन्ध में भेद है। राय महोदय ने विशाखदत्त के साथ सहमत होते हुए चन्द्रगुप्त को नन्द की दासी मुरा शूद्रारानी का पुत्र माना है और प्रसाद जी ने अपने नायक को मौर्य नामक क्षत्रिय सेनानायक का पुत्र माना है। बौद्ध इतिहासकार ऐसा ही मानते हैं। राय महोदय ने चन्द्रगुप्त को मुरा का पुत्र मानकर नाटक में शूद्र माता का स्वाभिमान दिखलाने का अच्छा अवसर पाया है। इस सम्बन्ध में नन्द और मुरा का वार्तालाप बड़ा आकर्षक है। प्रसाद जी ने इस प्रकार की वार्तालाप का मोह छोड़कर बौद्ध लेखकों के साथ सहमत होते हुए प्राचीन शास्त्रकारों के मत के अनुकूल अपने नायक को कुलीन नायक रखना अधिक श्रेयस्कर समझा। जब उसके लिए आधार है तो कुलीन ही क्यों न रक्खा जाय। इसके अतिरिक्त भाई के मारने में अधिक नृशंसता है। राय महोदय इस बात को स्वीकार करते हुए *चन्द्रगुप्त को अर्जुन की भाँति इस कार्य से विचलित भी कराते हैं। अन्त में नन्द को* क्षमा भी कराते हैं। यह सब स्वाभाविक है। दोनों ही नाटककारों ने नन्द का वध शकटार के हाथ से कराया है। यह ठीक है क्योंकि शकटार को ही नन्द से व्यक्तिगत द्वेष था। उसी के सात पुत्र मारे गये थे।

नन्द की हत्या में दोनों ही नाटककार चन्द्रगुप्त को भी निर्दोष रखते हैं। प्रसाद जी ऊपरी तौर से चाणक्य को भी निर्दोष रखते हैं। वह नागरिकों से नन्द के छोड़ दिये जाने *का प्रस्ताव करता है किन्तु शकटार सहसा आकर अपना बदला लेने को उसकी छाती में* छुरा भोंक देता है। राय महाशय चाणक्य और मुरा दोनों को ही कात्यायन के साथ नन्द की हत्या में लपेटते हैं। राय महोदय कात्यायन और शकटार को एक ही व्यक्ति मानते हैं किन्तु कात्यायन जैसे व्याकरण के पण्डित से वधिक का काम लेना जरा अनुचित-सा मालूम पड़ता है। राय महाशय ने चाणक्य की आज्ञा से नन्द की हत्या कराना

दिखाया है। यह चाणक्य के स्वभाव के विरुद्ध नहीं है किन्तु मुरा का बीच में आकर आदेश देना कुछ अस्वाभाविक मालूम पड़ता है। कम-से-कम मुरा के पूर्व कथित वाक्यों के सर्वथा विरुद्ध है। मुरा को मानसिक आघात ज़रूर पहुँचा था किन्तु चन्द्र के द्वारा कात्यायन के रोके जाने पर भी उसका (मुरा का) बीच में आ जाना और आग्रहपूर्वक वध की आज्ञा देना विमाता को उच्च भावों से वञ्चित कर देना है। उसका पीछे से रोना और यह कहना—'मैं तो इसकी रक्षा करने आई थी'—चाहे वास्तविक क्यों न हो विडम्बना मात्र दिखाई पड़ता है। इस सम्बन्ध में इतना कहना आवश्यक है कि राय महाशय ने राज्य-विप्लव के कार्य को एक गृह-युद्ध का रूप दिया है। उन्होंने प्रसाद जी की भाँति सब काम एक दिन में नहीं समाप्त किया। राय महाशय ने नन्द को बन्दी कराकर फिर वध कराया है। प्रसाद जी ने तुरन्त ही उसका काम तमाम कर दिया है। राय महाशय ने नन्द के लिए कोई रोने वाला नहीं रक्खा। प्रसाद जी ने नन्द की पुत्री कल्याणी की सृष्टि की है जो वास्तव में कल्याणी थी। अपने पिता के कुशासन का विरोध करते हुए भी और चन्द्रगुप्त से प्रेम करते हुए भी उसने पिता के वध होने पर आत्म-हत्या कर ली।

प्रसाद जी ने चन्द्रगुप्त के राक्षस और वररुचि (कात्यायन) दोनों ही अमात्य माने हैं। राय महोदय ने केवल कात्यायन जिसका उन्होंने शकटार के साथ तादात्म्य किया है मंत्री रक्खा है। शकटार को भी मन्त्री बनाने का प्रमाण है किन्तु यह नहीं मालूम कि राय महोदय ने शकटार और कात्यायन का किस आधार पर एकीकरण किया है। राय महोदय ने कात्यायन को चाणक्य से मिला दिया है अर्थात् दोनों ही के योग से नन्द का पतन होता है।

चाणक्य और नन्द के वैर में मूल कारण दोनों नाटककारों के भिन्न-भिन्न आधार पर चाणक्य और नन्द का वैर कात्यायन की साजिश से कराया है। राय महोदय ने चाणक्य को नन्द के यहाँ पुरोहित कर्म के लिए आमंत्रित कराकर नन्द के साले वाचाल द्वारा उसका अपमान कराया है। प्रसाद जी ने नन्द और चाणक्य का पुराना वैर दिखाया है। नन्द ने चाणक्य के पिता चणक का सर्वस्व हरण कर लिया था। इसलिए चाणक्य स्वयं ही नन्द से क्रोधित था और तक्षशिला से लौटने पर चाणक्य का नन्द की सभा में अपमान हुआ। इस बात ने चाणक्य के वैर-भाव को और भी उग्र बना दिया था।

यूनानियों के सम्बन्ध में राय महोदय चन्द्रगुप्त को भेदिये के रूप में सिकन्दर और सेल्यूकस के साथ स्टेज पर लाते हैं। चन्द्रगुप्त अपने वाक्चातुर्य तथा सिकन्दर की उदारता से कैदी होने से बच जाता है। प्रसाद जी इसके पूर्व की भी कथा बतलाकर पाठकों को आश्चर्य में नहीं रखते। राय महाशय सिकन्दर के सामने सेल्यूकस और एन्टीगोनस के साथ वाकयुद्ध कराते हैं। प्रसाद जी के नाटक में एन्टीगोनस का स्थान

फिलिप्स ले लेता है। प्रसाद जी के नाटक में चन्द्रगुप्त सिकन्दर के देखते-देखते अपने बाहुबल से अपने को मुक्त कर भाग जाता है, यह जरा अस्वाभाविक मालूम पड़ता है। प्रसाद जी का चन्द्रगुप्त इस मौके पर बड़ी निर्भयता से बातचीत करता है और सिकन्दर को लुटेरा तक कहने में नहीं चूकता। राय महोदय का चन्द्रगुप्त स्वाभिमान रखते हुए परिस्थिति से कुछ डरा हुआ प्रतीत होता है। प्रसाद जी का चन्द्रगुप्त सिंह की तरह निर्भय है। वह सिकन्दर से कहता है—"लूट के लोभ से हत्या-व्यवसायियों को बीच में एकत्रित करके उन्हें वीर सेना कहना रण-कला का उपहास करना है।" आम्भीक के कहने पर कि शिष्टता से बातें करो चन्द्रगुप्त उत्तर देता है कि वह भीरु कायरों की-सी वञ्चक शिष्टता नहीं जानता।

राय महोदय ने अपने नाटक में सिकन्दर के युद्ध और उसमें उसके जख्मी होने का कोई उल्लेख नहीं किया। प्रसाद जी ने उस ऐतिहासिक घटना का बड़ी सुन्दरता से वर्णन किया है इसमें चाहे ब्यौरे की भूल हो परन्तु वर्णन भारत के गौरव को बढ़ाने वाला है। इसमें भारतीयों की उदारता का परिचय दिया गया है।

सेल्यूकस की चढ़ाई के सम्बन्ध में दोनों लेखकों के वर्णन प्रायः एक-से ही हैं। केवल इतना ही अन्तर है कि राय महाशय की हेलेन विश्व-प्रेम से अधिक प्रेरित है। वह अपने पिता को इस युद्ध के लिए बहुत कुछ रोकती है, यहाँ तक कि कुछ अशिष्टता की भी बातचीत कर बैठती है यद्यपि पीछे से क्षमा माँग लेती है। प्रसाद जी की कार्नेलिया चन्द्रगुप्त के प्रति व्यक्तित्व आकर्षण से अधिक प्रेरित प्रतीत होती है।

राय महाशय का चन्द्रगुप्त चाणक्य के चले जाने से कुछ हताश-सा हो जाता है। बीच में ऐसी कमजोरी का आजाना अस्वाभाविक नहीं है। प्रसाद जी का चन्द्रगुप्त अविचलित रहता है। प्रसाद जी के चन्द्रगुप्त के चरणों में सफलता लोटती-सी मालूम पड़ती है। राय महोदय के चन्द्रगुप्त को सफलता कुछ परिश्रम के साथ मिलती है। दोनों ही नाटककारों ने शत्रु-सेना में राक्षस या कात्यायन के रूप में एक भेदिया पहुँचा दिया है। दोनों ही नाटककारों ने चन्द्रगुप्त और चाणक्य के वैमनस्य हो जाने का वर्णन किया है किन्तु दोनों का ही वर्णन विशाखदत्त के आधार पर है पर ब्यौरे में कुछ भेद है। 'मुद्राराक्षस' द्वारा हमको चन्द्रगुप्त में थोड़े स्वाभिमान की रेखा जाग्रत होने का पता चलता है किन्तु वह भी चाणक्य की कूटनीति का एक अङ्ग था जिससे कि राक्षस को यह धोखा हो जाय कि अब चाणक्य इसकी सहायता में नहीं है। 'मुद्राराक्षस' में जिस उत्सव का उल्लेख है वह वसन्तोत्सव है। इन नवीन नाटकों में स्वयं चन्द्रगुप्त का विजयोत्सव है। इस बात में मैं समझता हूँ कि विशाखदत्त ने अधिक बुद्धिमता से काम लिया है। सार्वजनिक उत्सव के बन्द होने से राजा को क्रोध आना स्वाभाविक-सा प्रतीत होता है। अपने विजयोत्सव पर भी क्रुद्ध होना कोई अस्वाभाविक नहीं है किन्तु उसमें अधिक बड़प्पन

नहीं दिखलाई पड़ता। प्रसाद जी ने चन्द्रगुप्त के मुख से उसके माता-पिता के रूठ जाने के ऊपर अधिक जोर दिखलाया है। दोनों ही नाटककारों का वर्णन प्रायः एक-सा है। दोनों ही में यह दिखलाई पड़ता है कि चन्द्रगुप्त को चाणक्य का नियंत्रण कुछ अखरता है। राय महोदय ने चन्द्रगुप्त को इतना उत्तेजित कर दिया है कि वह चाणक्य को कैद करने की आज्ञा दे देता है किन्तु चाणक्य के आतङ्क के कारण उसके रोक देने पर किसी की हिम्मत नहीं पड़ती कि उसे पकड़े। गुरुदेव को कैद करने की आज्ञा देना कुछ अनुचित प्रतीत होता है और अशिष्टता का परिचय देता है।

उत्सव के रोकने में चाणक्य की बुद्धिमत्ता का परिचय चन्द्रगुप्त को शीघ्र ही लग जाता है—इस बात को दोनों ही नाटककारों ने दिखलाया है और दोनों ही ने विशाखदत्त का आश्रय लिया है। किन्तु अन्तर इतना है कि प्रसाद जी ने चन्द्रगुप्त की रक्षा के लिए, उसी घटना में मालविका का बलिदान कराया है। इस बलिदान में त्याग और प्रेम की पराकाष्ठा अवश्य है किन्तु वह बहुत आवश्यक नहीं है। जैसा राय महोदय ने दिखलाया है वैसे बिना मालविका के बलिदान के ही चन्द्रगुप्त की रक्षा हो सकती थी।

मालविका के बलिदान से इतना लाभ अवश्य हुआ है कि कार्नेलिया का पथ निष्कण्टक हो जाता है और चन्द्रगुप्त तथा राज-माता के लिए यह धर्म-सङ्कट नहीं रहता कि किस के साथ विवाह किया जाय। मालविका यदि जीवित रहती तो कठिन समस्या आती—एक ओर तो मालविका का आत्म-बलिदान और प्रेम, दूसरी ओर कार्नेलिया और चन्द्रगुप्त का परस्पर प्रेम तथा राजनीतिक आवश्यकता। राय महोदय ने छाया और हेलेन (जो कि मालविका और कार्नेलिया के स्थानापन्न हैं) के सम्बन्ध में इस समस्या का बड़ी सुन्दरता के साथ हल किया है। उन्होंने दोनों ओर से उदारता की पराकाष्ठा दिखलाई है। हेलेन के मुख से क्या ही सुन्दर शब्दों में कहलाया है—"आओ बहिन, हम दोनों नदियाँ एक ही सागर में जाकर लीन हो जायें। सूर्य-किरण और वृष्टि मिल-कर मेघ के शरीर में इन्द्रधनुष की रचना करें। काहे का दुख है बहिन, एक ही आकाश में क्या सूर्य और चन्द्र दोनों नहीं उदय होते।" यह समझौता बड़ा सुन्दर और काव्य-पूर्ण है किन्तु इसमें दो विवाह का नैतिक प्रश्न रह जाता है और नाटक में जहाँ सभ्यताओं की चोट दिखाई है वहाँ दो विवाह की प्रथा से देश का नैतिक मान घटाना बहुत सुन्दर नहीं जँचता। अन्त में हम हेलेन अथवा कार्नेलिया और चन्द्रगुप्त के विवाह के सम्बन्ध में यह अवश्य कहेंगे कि राय की हेलेन विश्व-प्रेम से अधिक प्रेरित है। वह निजी आकर्षण से चन्द्रगुप्त के साथ विवाह करने के लिए इतनी लालायित नहीं जितनी कि वह दो महान् देशों में सन्धि-स्थापन के लिए। प्रसाद जी की कार्नेलिया चन्द्रगुप्त की ओर कुछ आकर्षित मालूम पड़ती है और वह इस विवाह को बलिदान नहीं समझती।

राय महाशय की हेलेन विश्व-प्रेम के आवेग में थोड़ी देर के लिए पितृ-स्नेह को

"विशाखदत्त द्वारा रचित देवीचन्द्रगुप्त नाटक के कुछ अंश, शृङ्गार प्रकाश और नाट्य-दर्पण से सन् १६२३ को ऐतिहासिक पत्रिकाओं में उद्धृत हुए। तब चन्द्रगुप्त द्वितीय के जीवन के सम्बन्ध में जो नई बातें प्रकाश में आई उनसे इतिहास के विद्वानों में अच्छी हलचल मच गई। शास्त्रीय मनोवृत्तिवालों को, चन्द्रगुप्त के साथ ध्रुवस्वामिनी का पुनर्लग्न असम्भव, विलक्षण और कुरुचिपूर्ण मालूम हुआ। यहाँ तक कि आठवीं शताब्दी के सञ्जान ताम्रपत्र के—

"हत्वा भ्रातरमेव राज्यमहरद्देवीं सदीनस्तया
लक्षं कोटिमलेखय् किल कलौ दाता स गुप्तान्वयः।"

के पाठ में सन्देह किया जाने लगा।

किन्तु जिस ऐतिहासिक घटना का वर्णन करते हुए सातवीं शताब्दी में बाणभट्ट ने लिखा है—

"अरिपुरे च परकलत्रकामुकं कामिनीवेशश्चन्द्रगुप्तो शकपतिमशातयत्।"

और ग्यारहवीं शताब्दी में राजशेखर ने भी लिखा है—

"दत्वा रुद्धगतिः खसाधिपतये देवीं ध्रुवस्वामिनीं।
यस्मात् खण्डितसाहसो निववृते श्रीरामगुप्तो नृपः॥"

वह घटना केवल जनश्रुति कहकर नहीं उड़ाई जा सकती।

विशाखदत्त को तो श्री जायसवाल ने चन्द्रगुप्त की सभा का राजकवि और उसके देवीचन्द्रगुप्त को जीवन-चित्रण नाटक भी माना है। यह प्रश्न अवश्य ही कुछ कुतूहल से भरा हुआ है कि विशाखदत्त ने अपने दोनों नाटकों के नायक चन्द्रगुप्त नामधारी व्यक्ति को ही क्यों बनाया है। परन्तु श्री तैलंग ने तो विशाखदत्त को सातवा शताब्दी के अवन्तिवर्मा का आश्रित कवि माना है। क्योंकि 'मुद्राराक्षस' की किसी प्राचीन प्रति में उन्हें मुद्राराक्षस के वाक्य 'पार्थिवः चन्द्रगुप्तः' के स्थान पर 'पार्थिवोऽवन्तिवर्मा' भी मिला, विशाखदत्त के आलोचक लोग उसे एक प्रामाणिक ऐतिहासिक नाटककार मानते हैं। उसके लिखे हुए नाटक में इतिहास के अंश कुछ न हों ऐसा तो नहीं माना जा सकता है। राखालदास बनर्जी, प्रोफेसर अल्टेकर और श्री जायसवाल इत्यादि ने अन्य प्रामाणिक आधार मिलने के कारण, ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त के पुनर्लग्न को ऐतिहासिक तथ्य मान लिया है। यह कहना कि रामगुप्त नाम का राजा गुप्तों की वंशावली में नहीं मिलता और न किसी अभिलेख में उसका वर्णन आया है, कोई अर्थ नहीं रखता। समुद्रगुप्त के शासन का उल्लङ्घन करके, कुछ दिनों तक साम्राज्य में उत्पात मचाकर, जो राजनीति के क्षेत्र से अन्तर्धान हो गया हो, उसका अभिलेख वंशावली में न मिले तो कोई आश्चर्य नहीं। हाँ, भाण्डारकर जी तो कहते हैं कि उसके लघुकाल-व्यापी शासन का सूचक सिक्का भी चला था। 'काच' के नाम से प्रसिद्ध जो गुप्त सिक्के मिलते हैं वे रामगुप्त के ही हैं। 'राम'

के स्थान में भ्रम से 'कान' पढ़ा जा रहा था। इसलिए बाणभट्ट की वर्णित घटना अर्थात् स्त्री-वेश धारण कर चन्द्रगुप्त का 'परकलत्रकामुक' शकपति को मारना और ध्रुवस्वामिनी इत्यादि के पुनर्विवाह इत्यादि के ऐतिहासिक सत्य होने में सन्देह नहीं रह गया है। और मुझे तो स्वयं इसका चन्द्रगुप्त की ओर से प्रमाण मिलता है। चन्द्रगुप्त के कुछ सिक्कों पर 'रूपकृती' शब्द का उल्लेख है। रूप और आकृति का ज्ञान एलेन ने खींच-तानकर जो शारीरिक और आध्यात्मिक अर्थ किया है वह व्यर्थ है। 'रूपकृती' विरुद का उल्लेख करके चन्द्रगुप्त अपने उस साहसिक कार्य की स्वीकृति देता है जो ध्रुवस्वामिनी की रक्षा के लिए उसने रूप बदलकर किया है और जिसका पिछले काल के लेखकों ने समय-समय पर समर्थन किया है।

युद्ध के स्थान के विषय में प्रसाद की कोई निश्चित धारणा सम्भवतः नहीं बँधी थी। भाण्डारकर और जायसवाल के मतों का उल्लेख उन्होंने किया है—भाण्डारकर जी का मत है कि यह युद्ध गोमती की घाटी में अल्मोड़ा जिले के कार्तिकेय नगर के समीप हुआ। जायसवाल जी का मत है कि यह युद्ध ३७४ ई० से ३८० के बीच काँगड़ा जिले के अलिवाल स्थान में हुआ था जहाँ कि प्रथम सिक्ख-युद्ध भी हुआ।" किन्तु ध्रुवस्वामिनी में वातावरण के जो संकेत उन्होंने दिये हैं उनसे यही प्रतीत होता है कि प्रसाद ने जायसवाल के मत को अधिक सम्भव समझकर स्वीकार किया है।

ध्रुवस्वामिनी का नाम साहित्य में 'ध्रुवदेवी' और 'ध्रुवस्वामिनी' दोनों रूपों में मिलता है। किन्तु वैशाली की मुद्रा तथा अन्य गुप्तकालीन शिलालेखों में नाम ध्रुवदेवी है। प्रसाद ने 'स्त्रीजनोचित सुन्दर, आदर-सूचक और सार्थक' होने से 'राजशेखर' से आये हुए ध्रुवस्वामिनी नाम का व्यवहार किया है।

ध्रुवस्वामिनी के गुप्तकाल में आने के लिए भी प्रसाद ने प्रयाग की प्रशस्ति में समुद्रगुप्त की राजनीति में विजित राजाओं से आत्मनिवेदन 'कन्योपायन दान' ग्रहण का उल्लेख कारण माना है और चन्द्रगुप्त के साथ उसके विवाह के समर्थन के लिए न केवल स्मृतियों और अर्थशास्त्र के प्रमाणों को ही दिया है वरन् समुद्रगुप्त की दिग्विजय में चन्द्रगुप्त के भी साथ रहने की सम्भावना गुप्त-युग के शिलालेखों से (मथुरा शिलालेख—सं० ४; स्कन्दगुप्त का बिहार का शिलालेख—सं० १२; भितरी का स्तम्भलेख—महाराजाधिराज) देखी है। कर्तृपुर के राजा ने 'कन्योपायन दान' में ध्रुवदेवी युवराज के निमित्त दी थी और उसे उस अवसर पर गुप्त शिविर में लाने के लिए चन्द्रगुप्त ही गया था।" इस कल्पना के द्वारा प्रसाद ने चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी के हृदयों में एक दूसरे के प्रति रूप के आकर्षण से प्रेम के बीज को बो दिया है। ध्रुवस्वामिनी जानती थी कि मैं युवराज को दी जा रही हूँ। सम्भवतः चन्द्रगुप्त को भी आशा के साथ विश्वास था कि आगे चलकर उसका विधिपूर्वक विवाह एक-न-एक दिन मेरे साथ होना है।

समुद्रगुप्त अपना उत्तराधिकारी चन्द्रगुप्त को चुन गया था किन्तु यह विज्ञप्ति सम्भवतः वह अपने दरबार में नहीं कर पाया था। गिने-चुने लोगों को ही (जिनमें चन्द्रगुप्त भी था) इस बात का पता था। रामगुप्त ने इस बात का लाभ उठाकर कुछ मन्त्रियों और ब्राह्मणों को अपनी ओर मिला समुद्रगुप्त की मृत्यु के पश्चात् केवल राज्यपद ही नहीं ग्रहण कर लिया वरन् चन्द्रगुप्त के ध्रुवस्वामिनी के स्वप्न को भी तोड़कर उसे अपने लिए रख लिया। चन्द्रगुप्त के स्वप्न-भंग करने के लिए ही और ध्रुवस्वामिनी के वेष से मोहित होकर ही, शायद रामगुप्त ने ऐसा किया हो। ध्रुवस्वामिनी से उसे प्रेम नहीं था। उसके प्रति दिखाई गई उदासीनता, अपने स्वार्थ के लिए उसे शत्रु के उपभोग तक की वस्तु बन जाने के लिए दे देने को तैयार हो जाना और "पर मुग्ध होकर कोई उसे अपने हृदय में डुबो नहीं सकता। सोने की कटार छाती में नहीं भोंकी जाती, मुझे तुमसे भी अधिक अपने प्राण हैं"—आदि शब्द उस ध्रुवस्वामिनी से कहना जो घुटने टेक आँचल पसार अपने स्त्रीत्व की मर्यादा-रक्षा की भीख रामगुप्त से माँग रही थी, यही प्रकट करता है। किन्तु उस कायर के हृदय कहाँ था जो पसीजता? जिसे (चन्द्रगुप्त) ध्रुवस्वामिनी से प्रेम था वह अपने प्राण तक उसके लिए उत्सर्ग करने को तैयार हो जाता है। और ध्रुवस्वामिनी उसके इस महान् त्याग तथा रामगुप्त के क्रूर स्वार्थ से चूर-चूर होकर नहीं चाहती कि चन्द्रगुप्त उसके लिए इतना त्याग करे।—"*मेरे क्षुद्र, दुर्बल, नारी-जीवन का सम्मान बचाने के लिए इतने बड़े बलिदान की आवश्यकता नहीं।*"

रामगुप्त की आँखों में चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी दोनों ही खटकते हैं वह दोनों से छुटकारा चाहता है। एक से राज्य के लिए, दूसरी से अपने प्राणों के लिए। उसकी इस भावना का पता ध्रुवस्वामिनी के उन शब्दों से चलता है जो वह चन्द्रगुप्त से तब कहती है जब चन्द्रगुप्त स्त्री-वेष में अकेले एक शिविर में जाना चाहता है—"कुमार! यह मृत्यु और निर्वासन का सुख तुम अकेले ही लोगे, ऐसा नहीं हो सकता। राजा की इच्छा क्या है, वह जानते हो? मुझसे और तुमसे एक साथ ही छुटकारा।"

इस ढंग से प्रसाद ने चन्द्रगुप्त से ध्रुवस्वामिनी के पुनर्लग्न के लिए मानव-भावनाओं की, स्वाभाविक नैतिक प्रेम-भूमि पहले से तैयार कर ली और तब कहीं स्मृतियों के उल्लेख तथा चाणक्य के अर्थशास्त्र को नैतिक बातों को पास फटकने दिया है। 'सूचना' में वे कहते हैं—

विशाखदत्त के देवीचन्द्रगुप्त नाटक का जितना अंश प्रकाश में आया है उसे देखकर और अबुलहसन की बकमारिसवाली कथा का मिलान करके कई ऐतिहासिक विद्वानों ने शास्त्रीय दृष्टिकोण रखने वाले आलोचकों का उत्तर देते हुए ध्रुवदेवी के पुनर्लग्न को ऐतिहासिक तथ्य तो मान लिया है; किन्तु भाण्डारकर जी ने पराशर और नारद की स्मृतियों से उस काल की सामाजिक व्यवस्था में पुनर्लग्न होने का प्रमाण भी दिया है। शास्त्रों में अनुकूल और प्रतिकूल दोनों तरह की बातें मिल सकती हैं; परन्तु जिस प्रथा के लिए विधि और निषेध दोनों तरह की

सूचनाएँ मिलें, तो इतिहास की दृष्टि से वह उस काल में सम्भाव्य मानी जायँगी। हाँ, समय-समय पर उसमें विरोध और सुधार हुए होंगे और होते रहेंगे। मुझे तो केवल यही देखना है कि इस घटना की सम्भावना इतिहास की दृष्टि से उचित है या नहीं।

भारतीय दृष्टिकोण को सुरक्षित रखने वाले विशाखदत्त-जैसे पण्डित ने अपने नाटक में लिखा है—

"रम्याऽञ्चारतिकारिणीञ्च करुणा शोकेन नीता दशां
तत्कालोपगतेन राहुशिरसा गुप्तेव चांद्री कला।
पत्युः क्लीवजनोचितेन चरितेन नेव पुंसः सतो
लज्जाकोपविषादभीत्यरतिभिः क्षेत्रीकृते ताम्यते॥"

तो इस नाटक के सम्पूर्ण सामने न रहने पर भी, जिससे कि उसके परिणाम का निश्चित पता लगे, उस काल की सामाजिक व्यवस्था का तो अंशतः स्पष्टीकरण हो ही जाता है।

नारद और पराशर के वचन—

"अपत्यार्थं स्त्रियः सृष्टा स्त्री क्षेत्रं बीजिनो नराः।
क्षेत्रं बीजवते देयं नाबीजः क्षेत्रमर्हति॥"—नारद
"नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते॥"—पराशर

के प्रकाश में देवीचन्द्रगुप्त नाटक के ऊपर वाले श्लोक का अर्थ किया जाय तो वह घटना अधिक स्पष्ट हो जाती है। 'रम्या है किन्तु अ-रतिकारिणी है' में जो श्लेष है उसमें शास्त्र-व्यवस्था-जनित ध्वनि है और पति के क्लीवजनोचित चरित का उल्लेख साथ-ही-साथ क्षेत्रकृता-जैसा पारिभाषिक शब्द नाटककार ने कुछ सोचकर ही लिखा होगा।

भाण्डारकर और जायसवाल जी दोनों ही ने अपने लेखों में विधवा के साथ पुनर्लग्न होने की ही व्यवस्था मानकर ध्रुवदेवी का पुनर्लग्न स्वीकार किया है। किन्तु स्मृति की उक्त व्यवस्था में अन्य पति ग्रहण करने के लिए जिन पाँच आपत्तियों का उल्लेख किया गया है उनमें केवल मृत्यु होने पर ही विधवा का पुनर्लग्न होगा, अन्य चार आपत्तियाँ तो पति के जीवन-काल में ही उपस्थित होती हैं।

उधर जायसवाल जी चन्द्रगुप्त-द्वारा रामगुप्त का वध भी नहीं मानना चाहते; तब देवीचन्द्रगुप्त नाटक की कथा का उपसंहार कैसे हुआ होगा? वैवाहिक विषयों का उल्लेख स्मृतियों को छोड़कर क्या और कहीं नहीं है? क्योंकि स्मृतियों के सम्बन्ध में तो यह भी कहा जा सकता है कि वे इस युग के लिए नहीं, दूसरे युग के लिए हैं। परन्तु इसी कलयुग के विधान-ग्रन्थ आचार्य कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मुझे इन स्मृतियों की पुष्टि मिली है।

किस अवस्था में एक पति दूसरी स्त्री ग्रहण कर सकता है, इसका अनुसन्धान

करते हुए, धर्म-स्थीय प्रकरण के विवाह संयुक्त में आचार्य कौटिल्य लिखते हैं—

"वर्षाण्यष्टावप्रजायमानामपुत्रां वन्ध्यां चाकांक्षेत् दशाविन्दुम् ।
द्वादशकन्या कन्याप्रसविनीं, ततः पुत्रार्थी द्वितीयां विन्देत् ॥"

८ वर्ष तक वन्ध्या, १० वर्ष तक बिन्दु अर्थात् नश्यत्प्रसूति, १२ वर्ष तक कन्याप्रसविनी की प्रतीक्षा करके पुत्रार्थी दूसरी स्त्री ग्रहण कर सकता है। पुरुषों का अधिकार बताकर स्त्रियों के अधिकारों की घोषणा भी उसी अध्याय के अन्त में है—

"नीचत्वं परदेशं वा प्रस्थितो राजकिल्विषी ।
प्राणाभिहन्ता पतितस्त्याज्यः क्लीबोपि वा पतिः ॥"

इसका मेल पराशर या नारद के वाक्यों से मिलता है। इन्हीं अवस्थाओं में पति छोड़ने का अधिकार स्त्रियों को था; क्योंकि अर्थशास्त्र में, आगे जो (Divorce) का प्रसंग आता है उसमें न्यायालय सम्भवतः 'अमोक्षा भर्तुरकामस्य द्विषती भार्या भार्यायाश्च भर्ता, परस्परं द्वेषान्मोक्षः' के आधार पर आदेश देता था। किन्तु साधारण द्वेष से भी जहाँ अन्य चार विवाहों में मोक्ष हो सकते थे वहाँ धर्मविवाह में केवल इन्हीं अवस्थाओं में पति त्याज्य समझा जाता था। नहीं तो 'अमोक्षो हि धर्मविवाहानां' के अनुसार धर्मविवाहों में मोक्ष नहीं होता था। दमयन्ती के पुनर्लग्न की घोषणा भी पति के नष्ट वा परदेश प्रस्थित होने पर ही की गई थी।

जायसवाल जी अबुलहसनअली की यह बात नहीं मानते कि चन्द्रगुप्त ने रामगुप्त की हत्या नहीं की होगी। उनका कहना है कि 'Very likely it came about in the form of popular rising.' अब नाटककार के अ-रतिकरण और क्लीव आदि शब्द इस घटना की परिणति की क्या सूचना देते हैं, यह विचारणीय है। बहुत सम्भव है कि अबुलहसन की कथा का आधार देवीचन्द्रगुप्त नाटक ही हो; क्योंकि अबुलहसन के लिखने के पहले उक्त नाटक का होना माना जा सकता है।

प्रसाद को केवल विधवा-विवाह की ही समस्या को नहीं देखना था वरन अत्याचार के नीचे पिसती हुई नारी की जीवन-समस्या को इतिहास के आलोक में समाज-हित के लिए देखना था। इसलिए रामगुप्त में पाये जाने वाले नीचत्व, क्लीबत्व और उसके राज-किल्विषी होने का जो समर्थन उन्हें प्राचीन इतिहास से मिला, उसके आधार पर उन्होंने ध्रुवदेवी का विवाह रामगुप्त की मृत्यु के बाद चन्द्रगुप्त से नहीं दिखाया है वरन् उसके जीते-जी उसकी आँखों के सामने उन्हीं धर्माचार्यों के द्वारा करवाया है जिन्होंने एक दिन ध्रुवस्वामिनी को रामगुप्त के साथ ब्याहे जाने के मन्त्र पढ़े थे। इस दृश्य को देखने के पश्चात् ही जब प्रजा के विद्रोह से राजच्युत किया हुआ रामगुप्त चन्द्रगुप्त को मारने दौड़ता है तो साथ का सामन्त रामगुप्त का बीच में ही अन्त कर चन्द्रगुप्त की रक्षा कर लेता है।

'ध्रुवस्वामिनी' का कथानक

'ध्रुवस्वामिनी' प्रसिद्ध गुप्त-कुल की वधू थी। वह समुद्रगुप्त की दिग्विजय में कन्योपदान में गुप्त-कुल में आई थी। चन्द्रगुप्त द्वितीय उसे खेमे में लाने के लिए गया था। समुद्रगुप्त ने उत्तराधिकार चन्द्रगुप्त को देने की सोची थी। कुछ लोगों को यह बात ज्ञात भी थी, पर इस बात की घोषणा परिषद् के सम्मुख नहीं हो पाई थी। समुद्रगुप्त की मृत्यु के बाद रामगुप्त ने धूर्तता से गद्दी पर अपना अधिकार कर लिया और ध्रुवस्वामिनी के साथ भी विवाह के मंत्र पुरोहितों से पढ़ा लिये। सब लोगों के विरोध करने पर भी शिखरस्वामी और पुरोहित ही इस कार्य में रामगुप्त के सहायक हुए।

फिर रामगुप्त चन्द्रगुप्त को बन्दियों की भाँति नियंत्रण में रखता है और ध्रुवस्वामिनी के हृदय में चन्द्रगुप्त के प्रति स्नेह का जो अंकुर रहा होगा, उसे समूल नष्ट कर देने के स्वप्न रामगुप्त देखा करता है पर चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी सदैव एक दूसरे के लिए आकुलता छिपाये चलते हैं। गुप्त-कुल की मान-मर्यादा को बनाये रखने के लिए चन्द्रगुप्त अपने अधिकारों व अपने हृदय के कोमल भावों तक की उपेक्षा-सी करने लगता है। किन्तु उसका त्याग—उसका तेजस्व—रामगुप्त की कायरता व धूर्तता के विरोध में और भी अधिक निखर उठता है।

अपने ही स्वार्थों का मोह जिसकी इन्द्रिय-लोलुपता को बढ़ाता रहता है वह क्लीव, कापुरुष धूर्त रामगुप्त स्नेह से ध्रुवस्वामिनी को सदैव वञ्चित रखता है वह उसकी उपेक्षा करता है और साथ ही यह भी चाहता है कि 'जगत् की अनुपम सुन्दरी' मुझे प्यार करे। उसे यह खलता है कि ध्रुवस्वामिनी उसे प्यार नहीं करती वरन् चन्द्रगुप्त को चाहती है।

"जगत् की अनुपम सुन्दरी मुझे स्नेह नहीं करती और मैं हूँ इस देश का राजाधिराज !"

"आह ! किन्तु ध्रुवदेवी ! उसके मन में टीस है, जो स्त्री दूसरे के शासन में रहकर और प्रेम किसी अन्य पुरुष से करती है; उसमें एक गम्भीर और व्यापक रस उद्वेलित रहता होगा। वही तो···नहीं; जो चन्द्रगुप्त से प्रेम करेगी वह स्त्री न जाने कब चोट कर बैठे !"

और इसीलिए वह ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करने की फ़िक्र में सदैव रहता है जिससे 'कुचक्रों' का चलना सम्भव न हो सके और चन्द्रगुप्त तथा ध्रुवस्वामिनी दोनों का सम्पर्क भी न हो। ध्रुवस्वामिनी के दास-दासियाँ गूँगे, बहरे, हिजड़े हैं, जिससे उसका दम घुटने लगता है। जीवन में एक निरन्तर अभाव की रेखा छिपाए अपने इस नीरव अपमान की भर्त्सना करती हुई वह मन-ही-मन सोचती है—"सीधा तना हुआ, अपने प्रभुत्व की साकार कठोरता, अभ्रभेदी उन्मुक्त शिखर और इन क्षुद्र

कोमल निरीह लताओं को इनके चरणों पर लोटना ही चाहिए न ? वह दास-दासियों से प्रश्न करती है। पर उत्तर कौन दे; ध्रुवस्वामिनी खीझ उठती है—"इस अन्तःपुर में न मालूम कब से मेरे लिए नीरव अपमान संचित रहा, जो मुझे आते ही मिला।" रामगुप्त के कभी दर्शन तक नहीं होते, विवाह के अवसर पर पुरोहितों के आशीर्वाद को अभिशाप समझती हुई वह अपनी व्यथा सुनना चाहती है—"उस दिन राजपुरोहित ने कुछ आहुतियों के बाद मुझे जो आशीर्वाद दिया था वह क्या अभिशाप था ?" पर सुनने वाला कौन है ?

ध्रुवस्वामिनी दासी से बहुत कुछ पूछना चाहती है किन्तु अवरोध के अन्दर मौन रहने वाली दासी झरने के पास चलने का संकेत करती है। वहाँ एकान्त पाकर दासी का मौन खुलता है। आश्चर्यचकित ध्रुवस्वामिनी इस कपटाचरण का कारण पूछती है तो दासी चन्द्रगुप्त की चर्चा चलाकर उसे बन्दीगृह से मुक्त करवाने की बात कहती है—

"प्रत्येक क्षण उनके प्राणों पर सन्देह करता है। उन्होंने पूछा है कि मेरा क्या अपराध है ?"····"राजाधिराज से कहकर क्या आप उनका कुछ उपकार करेंगी। दुखी ध्रुवदेवी कहती है—

"मुझ पर राजा का कितना अनुग्रह है, यह भी मैं आज तक न जान सकी। मैंने तो कभी उनका मधुर सम्भाषण सुना ही नहीं। विलासिनियों के साथ मदिरा में उन्मत्त, उन्हें अपने आनन्द से अवकाश कहाँ ?"

दासी चन्द्रगुप्त के प्रेम का संकेत देती हुई कहती है—"कुमार को तो इतने से ही सन्तोष होगा कि उन्हें कोई विश्वासपूर्वक स्मरण कर लेता है।" ध्रुवस्वामिनी के हृदय की असह्य पीड़ा साकार हो जाती है। रामगुप्त के प्रति उसकी घृणा तीव्रतम हो जाती है—"आह ! कितनी कठोरता है ! मनुष्य के हृदय में देवता को हटाकर राक्षस कहाँ से घुस आता है ! कुमार की स्निग्ध, सरल और सुन्दर मूर्ति को देखकर कोई भी प्रेम से पुलकित हो सकता है। किन्तु, उन्हीं का भाई ! आश्चर्य !"

रामगुप्त को जब शकपति से पाला पड़ता है तो मालूम होता है कि उसके प्राण अब संकट में नहीं। चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी दोनों को एक साथ ही दूर कर देने की भावना रामगुप्त के मन में चल रही थी। शकपति सन्धि करने के लिए तैयार था, इस शर्त पर कि ध्रुवस्वामिनी उसे मिल जाय। रामगुप्त इसके लिए भी तैयार हो जाता है और ध्रुवस्वामिनी के सामने प्रस्ताव रक्खा जाता है। यह था प्रथम सम्भाषण जिसके लिए कृतज्ञता प्रकट करती हुई ध्रुवस्वामिनी कहती है—"मैं यह जानना चाहती हूँ कि गुप्त-साम्राज्य क्या स्त्री-सम्प्रदान से ही बचा है ?" रामगुप्त को कुछ भी उत्तर नहीं सूझता है तो वह वहीं पास ही बैठे मन्त्री से पूछता है। 'कपटाचारी तथा धूर्त मन्त्री भी' सलाह देता है कि राज्य की रक्षा के लिए दो ही उपाय हैं—या तो प्राण दिए जायँ या

ध्रुवस्वामिनी। रामगुप्त को प्राण सम्मान तथा ध्रुवस्वामिनी से अधिक प्रिय थे इसलिए वह प्राणों की रक्षा के लिए ध्रुवस्वामिनी का उत्सर्ग करने को तैयार होता है। शिखर स्वामी आत्म-सम्मान के ठुकराए जाने से तिलमिला उठती है—"पुरुषों ने स्त्रियों को अपनी पशु-सम्पत्ति समझकर उन पर अत्याचार करने का अभ्यास कर लिया है, वह मेरे साथ नहीं चल सकता। यदि तुम मेरी रक्षा नहीं कर सकते, अपने कुल की मर्यादा नारी का गौरव नहीं बचा सकते, तो मुझे बेच भी नहीं सकते, हाँ, तुम लोगों को आपत्ति से बचाने के लिए मैं स्वयं यहाँ से चली जाऊँगी।"

परन्तु शिखरस्वामी तथा रामगुप्त ध्रुवस्वामिनी को देने पर ही उतारू हैं। शिखरस्वामी से चले जाने के लिए बड़े मार्मिक किन्तु ओजस्वी शब्दों में ध्रुवस्वामिनी कहती है—"मैं चाहती हूँ कि अमात्य अपने मन्त्रणा-गृह में जायँ। मैं केवल रानी ही नहीं स्त्री भी हूँ; मुझे अपने को पति कहने वाले पुरुष से कुछ कहना है, राजा से नहीं।" शिखरस्वामी के साथ रामगुप्त भी जाने लगता है। ध्रुवस्वामिनी रामगुप्त को रोक लेती है। उसे डराती है, धमकाती है, रोती और गिड़गिड़ाती हुई उससे पूछती है—"मेरा स्त्रीत्व क्या इतने का भी अधिकारी नहीं कि अपने को स्वामी समझने वाला पुरुष उसके लिए प्राणों का पण लगा सके?" पर रामगुप्त से यह सुनने पर कि सोने की कटार पर मुग्ध होकर उसे कोई अपने हृदय में डुबा नहीं सकता" उसका दिल टूट जाता है। किन्तु फिर भी वह रामगुप्त के चरण छूकर अन्तिम प्रयत्न करती हुई कहती है—

"मेरी रक्षा करो। मेरे और अपने गौरव की रक्षा करो, राजा, आज मैं शरण-प्रार्थिनी हूँ। मैं स्वीकार करती हूँ, कि आज तक मैं तुम्हारे विलास की सहचरी नहीं हुई; किन्तु वह मेरा अहंकार चूर्ण हो गया है। मैं तुम्हारी होकर रहूँगी। राज्य और सम्पत्ति रहने पर राजा को—पुरुष को—बहुत-सी रानियाँ और स्त्रियाँ मिलती हैं; किन्तु व्यक्ति का मान नष्ट होने पर फिर नहीं मिलता।"

रामगुप्त राज्य स्थिर चाहता है, अपने प्राण भी, किन्तु बिना कुछ किए ही। यदि वह कुछ किया चाहता है तो यही कि ध्रुवदेवी और चन्द्रगुप्त दोनों ही एक बार में राह से अलग हो जायँ! ऐसी भावना जिसके हृदय में हों उसका पुरुषत्व कब जाग्रत् हो सकता है, उसमें कहाँ हिम्मत हो सकती है कि वह अपनी कुल-मर्यादा नारी की रक्षा के लिए अपने प्राणों का पण लगा सके। केवल कायरता से अनधिकार प्रभुत्व चाहता है। ध्रुवस्वामिनी को अग्नि-साक्षी देकर उसने अपनी स्त्री बनाया था, सुख-दुःख मे उसका साथ न छोड़ने की प्रतिज्ञा की थी, इस बात तक से वह विमुख होना चाहता है—"रामगुप्त ने ऐसी कोई प्रतिज्ञा न की होगी। मैं तो उस दिन द्राक्षासव में डुबकी लगा रहा था। पुरोहितों ने न जाने क्या-क्या पढ़ा दिया होगा। उन सब बातों का बोझ मेरे सिर पर! कदापि नहीं।" स्त्रीत्व की रक्षा की आशा ऐसे व्यक्ति से करना

ध्रुवस्वामिनी के लिए एक दुराशा मात्र है।

ध्रुवस्वामिनी जब स्त्रीत्व की रक्षा होना दुर्लभ समझती है तब अपने आत्म-सम्मान को भी ठुकराकर सतीत्व की रक्षा की भीख माँगती है। उसकी काँपती हुई वाणी की चीत्कार भी रामगुप्त के पाषाण-हृदय को जब भेद सकने में समर्थ नहीं होती तब उसका दैन्य परमुखापेक्षी न रहकर स्वावलम्बी बन जाता है। आत्मसमर्पण के भाव एकाएक लुप्त हो जाते हैं और घने अन्धकार में फूट उठती है अन्तराल के विकीर्ण होने वाली आत्मज्योति। एक ही क्षण पहले जिसके सौन्दर्य को करुणा के कुहास ने आच्छादित कर दिया था, उसके मुखमण्डल पर अब असीम आत्म-दृढ़ता की सत्य-ज्योति जगमगाने लगती है।—"निर्लज्ज! मद्यप!! क्लीब!!! ओह, तो मेरा कोई रक्षक नहीं! नहीं, मैं अपनी रक्षा स्वयं करूँगी। मैं उपहार में देने की वस्तु, शीतल मणि नहीं हूँ। मुझ में रक्त की तरल लालिमा है। मेरा हृदय उष्ण है और उसमें आत्मसम्मान की ज्योति है। उसकी रक्षा मैं ही करूँगी," और अन्तिम अवलम्ब कटार निकालती है। रामगुप्त को भय होता है कि मेरी हत्या न कर दे। इस पर ध्रुवस्वामिनी कहती है—"तुम्हारी हत्या! नहीं तुम जिओ। मेढ़ की तरह तुम्हारा क्षुद्र जीवन! उसे न लूँगी। मैं अपना ही जीवन समाप्त करूँगी।" इस पर रामगुप्त और चिन्तित होकर चिल्ला उठता है—"किन्तु तुम्हारे मर जाने पर उस बर्बर शकराज के पास किसको भेजा जायगा? नहीं-नहीं, ऐसा न करो! हत्या, हत्या, दौड़ो, दौड़ो।"

बन्दीगृह में चन्द्रगुप्त सुन लेता है। शृङ्खलाओं को तोड़कर बाहर निकल आता है। ध्रुवस्वामिनी के हाथ में कटार देखकर कहता है—"यह क्या? महादेवी, ठहरिए।"

ध्रुवस्वामिनी को इस समय जब कि उसका आत्मसम्मान ठुकरा दिया गया हो, जब कि वह 'अपमान में निर्वसन' होने से 'मृत्यु को चादर' से अपने को ढँक लेना चाहती हो, चन्द्रगुप्त का आना खलता है। विक्षुब्ध होकर वह कह उठती है—"कुमार! इसी समय तुम्हें भी आना था। मैं प्रार्थना करती हूँ कि तुम यहाँ से चले जाओ। मुझे अपने अपमान में निर्वसना देखने का किसी पुरुष को अधिकार नहीं। मुझे मृत्यु की चादर से अपने को ढँक लेने दो।"

पददलित ध्रुवस्वामिनी के हृदय से निकली हुई इस आह में युग-युग की भर्त्सना भरी हुई है, जिसे सुनकर सम्पूर्ण पुरुष-जाति के प्रति घृणा-सी होने लगती है।

चन्द्रगुप्त कारण सुनने के लिए व्यग्र है। ध्रुवस्वामिनी से भी नहीं रहा जाता। आखिर वह खुल ही पड़ती है—"सुनोगे? अभी आत्महत्या नहीं करूँगी, जब तुम आ गये हो तो थोड़ा ठहरूँगी। यह तीखी छुरी इस अतृप्त हृदय में, विकासोन्मुख कुसुम में, विषैले कीट में डङ्क की तरह चुभा दूँ या नहीं, इस पर विचार करूँगी। यदि नहीं तो मेरी दुर्दशा का पुरस्कार क्या कुछ और है? हाँ, जीवन के लिए कृतज्ञ, उपकृत और

आभारी होकर किसी के अभिमानपूर्ण आत्मविज्ञापन का भार ढोती रहूँ, यही क्या विधाता का निष्ठुर विधान है ? छुटकारा नहीं ? जीवन नियति के कठोर आदेश पर चलेगा ही ? तो क्या मेरा यह जीवन भी अपना नहीं है ?"

चन्द्रगुप्त जीवन का अन्त कर देने (आत्महत्या) के इस गम्भीर प्रश्न पर प्रकाश डालता हुआ शान्त भाव से ध्रुवस्वामिनी को समझाने लगता है—"देवि, जीवन विश्व की सम्पत्ति है। प्रमाद से, क्षणिक आवेश से या दुःख की कठिनाइयों से उसे नष्ट करना ठीक तो नहीं। गुप्त-कुल-लक्ष्मी आज यह छिन्नमस्ता का अवतार किस लिए धारण करना चाहती है ? सुनूँ भी।"

चन्द्रगुप्त के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहता जब वह देवी से सुनता है कि शकराज को मेरी परम आवश्यकता है। यह अवरोध बिना मेरा उपहार दिये नहीं हट सकता। आज मुझे शक-शिविर में पहुँचाने के लिए उसी प्रकार तुमको मेरे साथ चलना होगा जिस प्रकार तुम प्रसन्नता से मुझे गुप्त-कुल में लाने के लिए मेरी शिविका के पीछे विश्वासपूर्ण मुखमण्डल से आए थे।

चन्द्रगुप्त विकल होकर कहता है—यह परिहास कैसा ?

अपने आँसुओं को अञ्चल से पोंछती हुई ध्रुवस्वामिनी कहती है—"परिहास नहीं, राजा की आज्ञा है।"

सुनते ही चन्द्रगुप्त आवेश में आ जाता है और वह करने के लिए तैयार है जो रामगुप्त के कारण मटियामेट किया जा रहा था। समुद्रगुप्त के स्वर्गीय गर्व और ध्रुवस्वामिनी के प्रेम की रक्षा के लिए वह अपने प्राणों की बाजी लगाने के लिए तैयार हो जाता है। अतीत की स्मृति और सोई हुई भावनाएँ जाग उठती हैं। अपनी आन्तरिक वृत्तियों की अधिक उपेक्षा अब वह नहीं करता—"यह नहीं हो सकता······मेरे जीवित रहते आर्य समुद्रगुप्त के स्वर्गीय गर्व को इस तरह पद-दलित न होना पड़ेगा······"

रामगुप्त और मन्त्री इस अवसर पर आत्महत्या को पाप बताने लगते हैं। उनके मुख से ये बातें सुनकर वीर चन्द्रगुप्त व्यंग्य करता है—'आप से तो यह भी नहीं होता।' रामगुप्त इसे छल समझता है। मन्त्री भी सम्भवतः कुछ ऐसा ही ख्याल कर विवाद करता है। रामगुप्त को अपने प्राणों का भय होने लगता है। सहसा एक हिजड़ा, एक कुबड़ा और बौना आकर परिस्थिति पर व्यंग्य करते हैं। चन्द्रगुप्त उन्हें कान पकड़ निकाल बाहर करता है। अब ध्रुवस्वामिनी चोट देती है—"कुमार किस-किसको निकालोगे, यहाँ पर एक भी तो नपुंसक नहीं है ?" यदि किसी भी पुरुषत्वपूर्ण व्यक्ति ने ये तिलमिला देने वाली पंक्तियाँ सुनी होतीं, तो उसकी सोई हुई प्रवृत्तियाँ जाग सकती थीं। परन्तु निर्लज्ज रामगुप्त के लिए वह कुछ भी न था, वह चुपचाप सुनता है।

चन्द्रगुप्त स्वयं ध्रुवस्वामिनी के वेष में शकराज के पास जाने को तैयार होता है। कहता है—"मैं सफल हुआ तब तो कोई बात ही नहीं। अन्यथा मेरी मृत्यु के बाद तुम लोग जैसा उचित समझो वैसा करना।"

ध्रुवस्वामिनी कुल, राष्ट्र तथा आत्मसम्मान के सामने एक तुच्छ राजत्व को महत्त्व न देने वाले इस चन्द्रगुप्त की गौरव-भावना के सामने झुक जाती है। वह उसे अपनी भुजाओं में भरकर कहती है—"मेरे क्षुद्र, दुर्बल नारी-जीवन का सम्मान बचाने के लिए इतने बड़े बलिदान की आवश्यकता नहीं।" रामगुप्त की आँखों के लिए यह दृश्य जहर का घूँट था। क्रोध से काँपकर वह कहता है—"सबके सामने यह कैसी निर्लज्जता!"

ध्रुवस्वामिनी चन्द्रगुप्त को छोड़ देती है और आवेश में आकर कहती है—"यह पाप है? जो मेरे लिए अपनी बलि दे सकता हो, जो मेरे स्नेह—अथवा इससे क्या? शकराज क्या मुझे देवी बनाकर भक्ति-भाव से पूजा करेगा? वाह रे लज्जाशील पुरुष! संघर्षपूर्ण वातावरण में अध्रुव की ओर ध्रुवदेवी जाने को बाध्य है।"

इसके पश्चात् चन्द्रगुप्त ध्रुवस्वामिनी के वेष में आता है और ध्रुवस्वामिनी से पूछता है कि मैं अकेले ही जाऊँगा। परन्तु ध्रुवस्वामिनी नहीं मानती। वह बड़े स्नेहयुक्त शब्दों में कहती है—"कुमार, यह मृत्यु और निर्वासन का सुख तुम अकेले ही लोगे ऐसा नहीं हो सकता। राजा की इच्छा क्या है, यह जानते हो? मुझ से और तुम से एक साथ ही छुटकारा! तो फिर वही क्यों न हो? हम दोनों ही चलेंगे। मृत्यु के गह्वर में प्रवेश करने के समय मैं भी तुम्हारी ज्योति बनकर बुझ जाने की कामना रखती हूँ। और भी एक विनोद, प्रलय का परिहास देख सकूँगी। मेरी सहचरी! तुम्हारा यह ध्रुवस्वामिनी का वेश, ध्रुवस्वामिनी ही न देखे तो किस काम का?"

दोनों जाते हैं एक मदान्ध राजा की इच्छा की पूर्ति के लिए। तदुपरान्त शकराज की बर्बरता के दर्शन होते हैं। शकराज की वाग्दत्ता पत्नी कोमा पौधों को सींचती हुई भावावेश में बड़बड़ाती है। कोमा को विचारों में डूबा देख शकराज समझता है यह रूठी है और रूठने का कारण पूछता है। गहरी चोट देती हुई अभागिन नारी को अन्तर्व्यथा का मर्म खोलती हुई वह कहती है—"मुझे रूठने का सुहाग मिला कब?"

इतने में ही दूत आकर सुनाता है कि सन्धि की शर्तें स्वीकार कर ली गई हैं। शकराज की प्रसन्नता सोने की झाँझवाले पारसीक नृत्य के लिए आज्ञा देने के रूप में व्यक्त होती है। और मन उसका कल्पना के संघर्ष में डूब जाता है। कोमा की बातों की उपेक्षा-सी करता हुआ कहता है—"तुम तो दार्शनिकों की-सी बातें कर रही हो।"...तुम इतनी अनुभूतिमयी हो, यह मैं आज जान सका।"

कोमा—सरलहृदया कोमा—अपने प्रेम को छिपाना नहीं जानती। कहती है—

"राजा, तुम्हारी स्नेह-सूचनाओं की सहज प्रसन्नता और मधुर आलापों ने जिस दिन मन के नीरस और नीरव शून्य में सङ्गीत की, वसन्त की और मकरन्द की सृष्टि की थी, उसी दिन से मैं अनुभूतिमयी बन गई हूँ। क्या वह मेरा भ्रम था? कह दो कि वह तेरी भूल थी।"

कोमा नारी-जीवन की साकार अनुभूति है इसलिए शकराज की ध्रुवस्वामिनी-विषयक धारणा के विषय में शकराज को सुझाती हुई वह स्नेहयुक्त शब्दों में कहती है—"मेरे राजा! आज तुम एक स्त्री को अपने पति से विच्छिन्न कराकर अपने गर्व की तृप्ति के लिए कैसा अनर्थ कर रहे हो! राजनीति का प्रतिशोध क्या एक नारी को कुचले बिना पूरा नहीं हो सकता?"

आचार्य मिहिरदेव भी कुछ ऐसे ही शब्दों में शकराज को सचेत करते हुए कहते हैं—"अरे क्या तुम इस क्षणिक सफलता से प्रमत्त हो जाओगे? राजा! स्त्रियों का स्नेह—विश्वास—भङ्ग कर देना, कोमल तन्तु को तोड़ने से भी सहज है; परन्तु सावधान होकर उसके परिणाम को भी सोच लो।"

कोमा तथा मिहिरदेव के चले जाने के बाद चन्द्रगुप्त तथा ध्रुवस्वामिनी वहाँ प्रवेश करते हैं। शकराज के सम्मुख चन्द्रगुप्त तथा ध्रुवस्वामिनी में विवाद होने लगता है—'मैं ध्रुवस्वामिनी, मैं ध्रुवस्वामिनी।' शकराज कहता है—क्या बुरा है, मैं दोनों को ही ध्रुवस्वामिनी समझ लूँ। चन्द्रगुप्त अवसर पाकर शकराज का अन्त कर देता है।

इसके बाद मन्दाकिनी, चन्द्रगुप्त, रामगुप्त, ध्रुवस्वामिनी, पुरोहित और कर्मचारी आदि दिखाई देते हैं। यहीं पर स्त्री-हृदय की समस्त आह तथा अस्तित्व का दिग्दर्शन कराया गया है। धर्माचार्य और प्रजा रामगुप्त का विरोध कर चन्द्रगुप्त के साथ ध्रुवस्वामिनी के विवाह की व्यवस्था देकर दोनों का विवाह कर देते हैं और रामगुप्त को पदच्युत कर चन्द्रगुप्त को गद्दी पर बिठा देते हैं।

ध्रुवस्वामिनी में नारी-जीवन का स्वरूप

प्रसाद ने ध्रुवस्वामिनी, रामगुप्त तथा चन्द्रगुप्त की कथा को जो रूप दिया है उसमें अन्य बातों के साथ प्रधान रूप से दो समस्याओं पर प्रकाश डाला है—(१) मोक्ष *तथा पुनर्लग्न भारतीय जीवन में भी वाञ्छनीय परिस्थितियों में नारी सामाजिक तथा* धार्मिक दृष्टि से आवश्यक तो है ही, किन्तु इस प्रकार की उदारता का समर्थन भी भारतीय इतिहास तथा नीतिशास्त्र से होता है, और (२) राजा को ईश्वर का अवतार जिस भारत ने बनाया है उसने राजा के मानवत्व और मानवसुलभ दुर्बलताओं की उपेक्षा कर राजा को सब प्रकार से मनमानी करने के लिए नहीं छोड़ दिया। लोकहितैषिणी वृत्ति की प्रधानता में भारत ने राजा को अष्ट दिक्पालों का अंश और विष्णु का अवतार माना है तो पुरुषार्थ तथा लोक-आराधना की भावना के अभाव वाले दुर्वृत्त राजा को

राज्यच्युत कर, आवश्यकता आने पर उसके वध तक कर देने की शक्ति प्रकृति (प्रजा) में निहित की है। शकपति को ध्रुवस्वामिनी को सौंपने के लिए तत्पर रामगुप्त को प्रजा ने राज्यच्युत ही नहीं किया, वरन् उसके सामने ही अपनी तथा ध्रुवदेवी की रक्षा करने वाले चन्द्रगुप्त को गद्दी पर भी बिठलाया और ध्रुवस्वामिनी का विवाह भी चन्द्रगुप्त के साथ कर दिया।

प्रसाद ने ध्रुवस्वामिनी नाटक में जो कुछ दिखलाया है वह आज के युग के लिए तो आवश्यक है ही, परन्तु इतिहास ने भी इसका कहाँ तक समर्थन किया है, विशेषकर उस इतिहास ने जिसका चित्रण प्रसाद ने ध्रुवस्वामिनी में किया है, इसे देख लिया जाय।

नियोग तथा विधवा-विवाह का तो समर्थन ऋग्वेद, अथर्ववेद, मनु-स्मृति, पाराशर-स्मृति, पाराशर-माधवी, वशिष्ठ-धर्मशास्त्र, बौधायन-धर्मशास्त्र, लघुशातातप-स्मृति, पद्मपुराण, महाभारत, हिन्दू लॉ आदि से होता ही है किन्तु इन ग्रन्थों तथा इतिहास से त्याग (Divorce) का भी समर्थन होता है। नीतिशास्त्र में जिन परिस्थितियों में मोक्ष तथा पुनर्लग्न का विधान है उनको भली भाँति रामगुप्त और ध्रुवस्वामिनी के सम्बन्ध में प्रसाद ने इतिहास तथा जीवन के अध्ययन से पाया है और इसीलिए उसका मर्मस्पर्शी स्वरूप ध्रुवस्वामिनी में खड़ा किया है। कुचली हुई नारी-शक्ति को, जिसके लिए सुमित्रानन्दन ने अभ्यर्थना की है—

"मुक्त करो नारी को मानव
चिर वन्दिनी नारी को,
युग-युग की बर्बर कारा से
जननि सखी प्यारी को!"

उज्ज्वल से उज्ज्वल वातावरण में खड़े होकर जीवन की साँस लेने का भारतीय-संस्कृति-अनुमोदित अवसर प्रसाद ने अपने साहित्य में दिया है। यद्यपि कामिनी से मानवी भूमि में भारतीय नारी को लाने के लिए प्रयत्न सूरदास के बाद, आधुनिक युग में अयोध्यासिंह उपाध्याय, प्रेमचन्द, मैथिलीशरण गुप्त और भगवतीचरण वर्मा ने भी कम नहीं किया है किन्तु प्रसाद से आगे इस दिशा में कोई हिन्दी का साहित्यिक सचाई के साथ नहीं बढ़ा है। कथा-कहानियों और उपन्यासों में तो प्रसाद ने इस समस्या को सुलझाया ही है किन्तु नाटकों में जिस सीमा तक नारी के निर्मल रूप को निखार दिया है वह देखने की ही नहीं, मनन-चिन्तन की भी वस्तु है। प्रसाद-साहित्य में नायक की नहीं, नायिकाओं की प्रधानता है। पुरुष के 'अभावों को परिपूर्ण करने का उष्ण प्रयत्न और शीतल उपचार' जिस नारी को प्रसाद ने माना है उसके जीवन की सर्वांगीणता को उन्होंने अपने नाटकों तथा अन्य रचनाओं में प्रदर्शित किया है। उसके जीवन की वास्तविकता, उसके सुख-दुःख, प्रसन्नता-विषाद, गौरव-ह्रास, सामाजिक तथा घरेलू जीवन,

और आशा-अभिलाषाओं को प्रदर्शित कर नारी के प्रति मानव की भावनाओं को बदल देने का शीतल उपचार प्रसाद ने किया है। जहाँ रूप और सौन्दर्य से गर्विता नारी अपने जीवन की स्वाभाविक शान्ति को छोड़कर घर की उपेक्षा कर सामाजिक क्षेत्र में पुरुष से स्पर्धा कर महत्त्वाकांक्षाओं का शिकार बनती हुई अपने ही लिए धूमकेतु बन जाती है, वहाँ प्रसाद की करुणा आँसू बहाती हुई उस अभागिन को सचेत कर कहती है—

"विश्व भर में सब कर्म सबके लिए नहीं हैं, इसमें कुछ विभाग हैं अवश्य। सूर्य अपना काम जलता-बलता हुआ करता है और चन्द्रमा उसी आलोक को शीतलता से फैलाता है। क्या उन दोनों में परिवर्तन हो सकता है? मनुष्य कठोर परिश्रम करके जीवन संग्राम में प्रकृति पर यथाशक्ति अधिकार करके भी एक शासन चाहता है, जो उसके जीवन का परम ध्येय है, उसका एक शीतल विश्राम है। और वह, स्नेह-सेवा-करुणा की मूर्ति तथा सान्त्वना के अभय-वरद हस्त का आश्रय मानव-समाज की सारी वृत्तियों की कुञ्जी विश्व-शासन की एकमात्र अधिकारिणी प्रकृति-स्वरूपा स्त्रियों के सदाचार-पूर्ण स्नेह का शासन है। उसे छोड़कर असमर्थता, दुर्बलता प्रकट करके इस दौड़धूप में क्यों पड़ी हो देवि! तुम्हारे राज्य की सीमा विस्तृत है और पुरुष की संकीर्ण। कठोरता का उदाहरण है—पुरुष, और कोमलता का विश्लेषण है—स्त्री जाति। पुरुष क्रूरता है तो स्त्री करुणा है—जो अन्तर्जगत् का उच्चतम विकास है, जिसके बल पर समस्त सदाचार ठहरे हुए हैं! इसीलिए *प्रकृति ने इतना सुन्दर और मनमोहन आवरण दिया है*—रमणी का रूप, सङ्गठन और आधार भी वैसे ही हैं, उन्हें दुरुपयोग में न ले आओ। क्रूरता अनुकरणीय नहीं है, उसे नारी-जाति जिस दिन स्वीकार कर लेगी, उस दिन समस्त सदाचारों में विप्लव होगा। फिर कैसी स्थिति होगी, यह कौन कह सकता है।"

किन्तु जहाँ 'व्यर्थ स्वतन्त्रता और समानता का अहङ्कार' छोड़कर 'पाशवी वृत्तिवाले क्रूरकर्मा' पुरुषों को 'स्नेह, शीतलता, सहनशीलता और सदाचार का पाठ' अपने त्याग-प्रेममय जीवन से सिखलाती तथा 'कुटिल जगत् की गृहस्थी के बीच' रहती हुई भी 'रोते हुए *हृदयों को हँसाने' का प्रयत्न करती हुई नारी 'प्रसाद' को दिखलाई देती है वहाँ* वे अपनी समस्त श्रद्धा, निर्मल प्रतिभा और सारी कोमल भावुकता उसके चरणों में अर्पित कर पाठकों के हृदयों को करुणा की मूर्ति के दिव्य आलोक के दर्शन करा देते हैं। जीवन के उत्थान-पतन की विभिन्न परिस्थितियों के बीच नारी को रखकर उसकी शक्ति की परीक्षा करते हुए वे कष्ट की कसौटी पर उसी के अनुभवों से उसे कसकर जीवन के आदर्श-पथ पर उसे लगा देते हैं। प्रसाद के इस प्रयत्न से उनका साहित्य एक साथ ही वास्तविकता से आदर्श की ओर प्रवाहित होता दिखलाई देता है। जीवन की इस सर्वाङ्गीणता को उनकी जटिल समस्याओं के मूल में बहनेवाले रस को पहचानकर प्रसाद ने गहरे-से-गहरे आदर्शरूप में दिखलाया है। जो लोग प्रसाद के जीवन की इस गहराई को भूलकर ऊपरी

दृष्टि से ही उनके साहित्य को देखकर छोड़ देते हैं उन्हें प्रसाद पलायनवादी ही नजर आ सकते हैं, किन्तु रूप के आवरण में छिपे रस की प्रकृति को पहचानने का ज़रा भी यत्न जो पाठक प्रसाद के साहित्य में करेगा उसको कभी यह धारणा नहीं हो सकती, वरन् उसे उन प्रगतिवादियों पर हँसी आयेगी जो प्रसाद पर पलायनवादी होने का दोष तो लगाते हैं किन्तु यह नहीं देखते कि प्रगति को पहचानने में उन्होंने भूल की है और प्रगति के आवरण में उन्होंने कुछ और ही ओढ़कर अपने वास्तविक स्वरूप को भी भुला दिया है। जिसने और कुछ न देखकर राज्यश्री-सुरमा, मल्लिका-मागन्धी, विजया-देवसेना, अलका-सुवासिनी, कार्नेलिया-कल्याणी, कोमा-ध्रुवस्वामिनी, वनलता-प्रेमलता, चन्द्रलेखा-कामना, लालसा-मनसा, सरमा-वपुष्मा और इड़ा-कामायनी को भी देखा हो वह भी आसानी से कह सकता है कि पुरुष नारी-जीवन और वर्तमान जगत् में विद्यमान संघर्ष की तह में छिपी शाश्वत समस्याओं को प्रसाद की अन्वेषिणी प्रतिभा की आँखों ने उसी खूबी के साथ देखा है जिस खूबी के साथ सूरदास ने बालक स्वभाव की एक-एक बारीकियों को देखा था।

ध्रुवस्वामिनी में नारी का वह स्वरूप है जिसके दर्शन जीवन में सदैव और प्रसाद-साहित्य में पहली बार होते हैं। स्नेह-सौहार्द और करुणा की साकार प्राणमयी मूर्ति कामिनी की उपासना प्रसाद ने अपनी सभी रचनाओं में की है। उसके जीवन की कोई-न-कोई समस्या प्रत्येक रचना में रखी है किन्तु नारी का जो स्वरूप 'ध्रुवस्वामिनी' में आया है वह अधिक-से-अधिक करुण और हृदयस्पर्शी होने से सबसे निराला है। मागन्धी के जीवन में नारी के जीवन का समाज-सापेक्ष उत्थान-पतन है, मल्लिका गौतम के आदर्शों की मूक मूर्ति है, कामायनी कल्पना से अनुप्राणित ऐतिहासिक रूप में मनोवैज्ञानिक कामिनी है और देवसेना असफल प्रेम की वह त्यागमय कोमल साधना है जिसका अनुसरण कुछ बदले हुए रूप में करके कोमा-ध्रुवस्वामिनी की मूक पीड़ा की अभिव्यक्ति और इसी-लिए उसके जीवन की पूर्ति भी है। कोमा के चरित्र की सार्थकता ही इसमें है कि वह ध्रुवस्वामिनी की पीड़ा और उसके कारण को व्यक्त करती है। ध्रुवस्वामिनी क्यों दुःखी है, यह नाटककार कोमा के चरित्र को सामने रखकर कहना चाहता है और नारी क्यों दुःखी है, वह ध्रुवस्वामिनी के चरित्र को सामने रखकर। अपने दुःख की और कोमा की सुख-शान्ति की गहराई मापती हुई ध्रुवस्वामिनी कोमा से कुछ जली-भुनी-सी स्थिति में कहती है—

"प्रेम के नाम पर जलना चाहती हो तो तुम उस शव को ले जाकर जलो। जीवित रहने पर मालूम होता है, तुम्हें अधिक शीतलता मिल चुकी है। अवश्य तुम्हारा जीवन धन्य है।"

ध्रुवस्वामिनी की पीड़ा इन शब्दों में सामने तड़पती दिखाई देने लगती है।

कोमा वह है जो नारी को होना चाहिए, जिसमें नारी-जीवन सार्थक और सुखी रह सकता है और ध्रुवस्वामिनी वही न हो सकी यही उसकी पीड़ा है।'[1]

चन्द्रगुप्त उसके जीवन में 'निरभ्र प्राची के बाल अरुण' के रूप में उस दिन पहले-पहले आया था जब समुद्रगुप्त की दिग्विजय में उपायन के रूप में ध्रुवस्वामिनी को उसके पिता ने गुप्तकुल में दिया था और अपनी शिविका के साथ चामर-सज्जित अश्व पर चढ़ आते हुए चन्द्रगुप्त के विश्वासपूर्ण मुखमण्डल की प्रसन्नता को उसने देखा था।

रामगुप्त के यहाँ आरम्भ से ही वह सन्दिग्ध-विषम स्थितियों के बीच अपने को हिजड़ों और बौनों से घिरी हुई पाती है। यह सब होने पर भी वह प्रसन्न रह सकती थी यदि कभी उसे रामगुप्त का प्रेम प्राप्त हुआ होता। प्रेम प्राप्त होने की बात तो अलग, रामगुप्त के दर्शन भी उसके लिए दुर्लभ हो रहे थे। घबराया हुआ प्रतिहारी ध्रुवस्वामिनी के सम्मुख आकर जब कहता है—"भट्टारक इधर आए हैं क्या?" तो व्यंग्य से मुस्कराती हुई ध्रुवस्वामिनी उत्तर देती है—

"मेरे अञ्चल में छिपे नहीं हैं। देखो किसी कुञ्ज में ढूँढ़ो।" अपने भाग्य पर रोती हुई वह जब अपने को नहीं थाम सकती है तब व्यथा का बाँध व्यंग्य की सीमाओं को भी तोड़कर फूटने लगता है—"मैंने तो कभी उनका मधुर सम्भाषण सुना ही नहीं। विलासिनियों के साथ मदिरा में उन्मत्त, उन्हें अपने आनन्द से अवकाश कहाँ?"

दम घुटा देनेवाले ऐसे सज्जित अपमान के वातावरण में भी दासी के मुख से चन्द्रगुप्त के प्रेम का सङ्केत पाने से पहले ही ध्रुवस्वामिनी कह उठती है—"तो जाने दो, छिपी हुई बातों से मैं घबरा उठती हूँ।" और रामगुप्त के विलासी जीवन से उपेक्षित ध्रुवस्वामिनी की स्मृति के सामने जब वैधम्य खड़ा कर देनेवाला चन्द्रगुप्त का ओजस्वी तेजोमय मुखमण्डल आता है तो वह सोचने लगती है—"*कुमार की स्निग्ध, सरल और* सुन्दर मूर्ति को देखकर कोई भी प्रेम से पुलकित हो सकता है।"

'एक पीड़ित की प्रार्थना' वह सुनती है किन्तु जो 'अपने ही प्राणों का मूल्य नहीं समझ पाती' वह विषम स्थिति में विश्वास छोड़ते हुए अपने प्रेम को अपने ही में समेटकर—"वह निरभ्र-प्राची का बाल अरुण! आह! राजचक्र सबको पीसता है, पिसने दो; हम निस्सहायों को और दुर्बलों को पिसने दो।" कह सकने के अतिरिक्त कर ही क्या सकती है?

किन्तु जब शिखरस्वामी रामगुप्त के इशारे से ध्रुवस्वामिनी को शकपति को देने

---

१. भोलादत्त नौटियाल—'प्रसाद की नारी'।

की बात सामने रखता है तो चोट खाई हुई सर्पिणी की भाँति वह क्रोध से तिलमिलाकर पूछ बैठती है—

"मैं जानना चाहती हूँ कि किसने सुख-दुःख में मेरा साथ न छोड़ने की प्रतिज्ञा अग्निवेदी के सामने की है !"

किन्तु रामगुप्त जब साफ कतर जाता है तो ध्रुवस्वामिनी शिखरस्वामी से कुछ कड़ुता के साथ कहती है—

"आर्य समुद्रगुप्त के पुत्र को पहचानने में तुमने भूल तो नहीं की ! सिंहासन पर भ्रम से किसी दूसरे को तो नहीं बिठा दिया !" पर इस पर भी रामगुप्त को बुद्धि ठिकाने नहीं आती। क्लीवों की भाँति वह 'क्या ? क्या !! क्या !!!' ही जब करते रह जाता है तब अपने पत्नीत्व के अधिकार के भरोसे पर ध्रुवस्वामिनी कहने लगती है—

"पुरुषों ने स्त्रियों को अपनी पशु-सम्पत्ति समझकर उन पर अत्याचार करने का अभ्यास बना लिया है, वह मेरे साथ नहीं चल सकता। यदि तुम मेरी रक्षा नहीं कर सकते, अपने कुल की मर्यादा—नारी—का गौरव नहीं बचा सकते, तो मुझे बेच भी नहीं सकते।"

पर जिसने केवल रूप पर मुग्ध होकर ही ध्रुवस्वामिनी के साथ विवाह के मन्त्र पढ़वाए थे और घर में रखकर पत्नी की तरह उसे कभी देखा ही नहीं, उस कापुरुष पर इन बातों का भी कुछ असर नहीं होता। तब भी नहीं जब घुटने टेककर अपने स्त्रीत्व की रक्षा की भीख माँगती हुई ध्रुवस्वामिनी कहती है—

"देखिए, मेरी ओर देखिए। मेरा स्त्रीत्व क्या इतने का भी अधिकारी नहीं कि अपने को स्वामी समझने वाला पुरुष उसके लिए प्राण का पण लगा सके।"

उलटे उसके मुख से पाषाण से भी धिक्कार दिला देने वाले शब्द निकलते हैं—

"तुम सुन्दर हो, ओह, कितनी सुन्दर ! किन्तु सोने की कटार पर मुग्ध होकर उसे कोई अपने हृदय में डुबो नहीं सकता।"

जब सब प्रकार से असफल होकर दुःखी ध्रुवस्वामिनी अपने जीवन का अन्त करने को उद्यत होती है तो रामगुप्त की वाणी नीचता के गहरे गर्त से चीख उठती है—

"तुम्हारे मर जाने पर बर्बर शकराज के पास किसे भेजा जायगा।"

इस घोर पतन और निराशा के अन्धकार में सहसा ही चन्द्रगुप्त का प्रेममय आलोक होता है। जो आत्म-गौरव, कुल-मर्यादा और प्रेम के लिए अपने प्राणों पर खेल जाने के लिए तैयार है। ध्रुवस्वामिनी नहीं चाहती कि उसके लिए इतना बड़ा त्याग किया जाय। किन्तु चन्द्रगुप्त नहीं मानता; वह स्पष्ट शब्दों में कहता है—

"यह नहीं हो सकता। महादेवि ! जिस मर्यादा के लिए—जिस महत्त्व को स्थिर रखने के लिए—मैंने राजदण्ड ग्रहण न करके अपना मिला हुआ अधिकार छोड़ दिया;

उसका यह अपमान। मेरे जीवित रहते आर्य समुद्रगुप्त के स्वर्गीय गव को इस तरह पददलित न होना पड़ेगा। और भी एक बात है। मेरे हृदय के अंधकार में प्रथम किरण-सी आकर जिसने अज्ञात भाव से अपना मधुर आलोक डाल दिया था, उसको भी मैंने केवल इसीलिए भूलने का प्रयत्न किया—" और अंत में वह अपने कुल के गौरव की वीरता से रक्षा कर ही लेता है।

आत्महत्या करने का मनुष्य को अधिकार नहीं, इस तथ्य पर प्रसाद ने बड़े सुन्दर शब्दों में चन्द्रगुप्त से प्रकाश डलवाया है। वह कहता है—"जीवन विश्व की सम्पत्ति है। प्रमाद से, क्षणिक आवेश से, या दुःख की कठिनाइयों से, उसे नष्ट करना ठीक तो नहीं।"

प्रसाद ने नारी को घर के घेरे में ही सिमटे रहने की संकीर्णता नहीं दिखलाई है। कार्नेलिया, मल्लिका, देवसेना जीवन के व्यापक क्षेत्र में कार्य करती हुई दिखलाई गई हैं। किन्तु घर से सम्बन्ध-विच्छेद कर जहाँ नारी-जीवन की क्रूर विभीषिका में समानाधिकार की प्रतिद्वन्द्विता को ले महत्त्वाकांक्षिणी बनकर आई है वहाँ प्रसाद ने उसकी दुर्गति दिखलाकर यह अवश्य संकेत दिया है कि सुधार का आरम्भ घर से ही होता है। पुरुष के संरक्षण में रह घर में सुख-शांति और माधुर्य की सृष्टि करते हुए जीवन बिताना नारी की (कम-से-कम भारतीय नारी की) पहली आवश्यकता है। संरक्षण का पूरा ध्यान प्रसाद ने रक्खा है। 'प्रसाद सदैव सजग रहे हैं कि वह छत्रछाया, जिसके संरक्षण में उनकी नारी निवास करती है, प्रबल तथा शीतल हो। उसमें नारी की रक्षा करने का साहस हो। प्राणों पर खेलकर वह नारी गौरव तथा पतिव्रता की रक्षा करे; यदि वह ऐसा नहीं कर सकता तो चाहे पति ही क्यों न हो नारी को उसका त्याग कर देने का अधिकार है। इस सिद्धान्त का सुन्दर विवेचन प्रसाद ने अपने 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक में किया है। जहाँ पुरुगुप्त की विवाहिता पत्नी, यद्यपि यह विवाह केवल लौकिक रीति से ही हुआ है, आत्मा तथा शरीर का इससे कुछ भी सम्बन्ध नहीं, अपने कायर पति द्वारा सहर्ष शत्रु के भोग-विलास की सामग्री बनने भेज दी जाती है। उस समय अपना सब आत्मगौरव तथा मान-अपमान भूलकर ध्रुवस्वामिनी किस कातरतापूर्वक स्वामी के चरणों में लोट-लोटकर अपनी रक्षा की भीख माँगती है, अपने नारीत्व का प्रतिदान चाहती है, अपनी पवित्रता की रक्षा की प्रार्थना करती है, परन्तु कायर पुरुगुप्त का हृदय नहीं पसीजता। परन्तु चन्द्रगुप्त यह सब नहीं देख सकता, और प्राणों पर खेलकर वह, नारी-सुलभ पवित्रता तथा गौरव की रक्षा करता है; और ध्रुवस्वामिनी कायर पुरुगुप्त के जीते-जी, धर्माचार्यों तथा परिषद् की सम्मति से अपने रक्षक, आराध्यदेव को वरण करती है।'[1]

प्रेम प्रसाद की रचनाओं का सुन्दर-से-सुन्दर और कोमल-से-कोमल अङ्ग है।

---

१. श्री भागीरथीचन्द, बी० ए०, डी० वी०—'नाटककार प्रसाद'।

इसकी संयमपूर्ण तपस्या से ही प्रसाद जी की रचनाएँ अधिक-से-अधिक मार्मिक हुई हैं। स्कन्दगुप्त की देवसेना हमारे हृदय पर इसीलिए एक अमिट छाप छोड़ती है कि उसने अपने प्रेम को त्याग में परिणित कर दिया। अपने को भस्मीभूत कर विश्व को अमृत दिया।

देवसेना में प्रेम की तपस्या मिलती है, पर पथ-भूला प्रेम ध्रुवस्वामिनी की ही विशेषता है। ध्रुवस्वामिनी के अतिरिक्त और कहीं भी प्रसाद की रचनाओं में वह नहीं मिलता।

नारियाँ तो प्रसाद जी ने कई बनाईं पर ध्रुवस्वामिनी उन सब से भिन्न है। नारी का एक ही स्वर्ग है—और वह है पुरुष के व्यक्तित्व में अपने व्यक्तित्व को डुबोकर उसका अवलम्बन बन रहना। कामायनी में श्रद्धा ने अपने को मनु के हाथों में सौंपते हुए कहा था—

> "दया, माया, ममता लो आज
> मधुरिमा लो अगाध विश्वास;
> हमारा हृदय-रत्न निधि स्वच्छ,
> तुम्हारे लिए खुला है आज।
> बनो संसृति के मूल रहस्य
> तुम्हीं से फैलेगी वह बेल।"

यह नारी का अर्थ है और इसी में उसका कल्याण है जिसकी परिभाषा अन्यत्र पुरुष के 'कुतूहल और उसके अभावों को परिपूर्ण करने का उष्ण प्रयत्न और शीतल उपचार' के रूप में प्रसाद ने की है। ध्रुवस्वामिनी इस अर्थ में पूर्ण नारी बनने में पहली बार समर्थ नहीं हो पाई। इसीलिए वह अपनी सम्पूर्णता के लिए छटपटाती दिखाई देती है। उसकी धुन अपनी और सहेलियों से बिलकुल निराली है। जिस परिपूर्णता को पाकर वे अपनी यात्रा शुरू करती हैं, वही ध्रुवस्वामिनी की मंज़िल बनकर रह जाती है।[1]

इतना विषाद होते हुए भी ध्रुवस्वामिनी मर नहीं जाती, उसमें प्राण हैं, प्यास है और परिस्थितियों से भिड़ने की शक्ति भी। नारी होकर वह नारी-जीवन की बेबसियों की भक्ष्य तो बन चुकी है। पर एक ही मार से घायल होकर बैठ जाने वाली नारियों में वह नहीं है। वह विद्रोह किया चाहती है 'पराधीनता की एक परम्परा-सी उनकी चेतना में न जाने कब से घुस गई है।' और उसका हृदय वह चुपचाप सहन करने के लिए तैयार नहीं—'सीधा तना हुआ, अपने प्रभुत्व की साकार कठोरता—अभ्रभेदी शिखर! और इन क्षुद्र निरीह लताओं और पौधों को उसके चरण में लोटना ही चाहिए न!' पुरुष की परम्परागत कठोरता पर आघात करती हुई ध्रुवस्वामिनी पहले ही दृश्य में सामने

१. भोलादत्त नौटियाल—'प्रसाद की नारी'।

आती है। महादेवी के रूप में, अपनी दबी इच्छा के प्रतिकूल विलासी रामगुप्त की भेंट में समर्पित, कुछ गौरव से भरी हुई, कुछ कुचले अरमानों से कही हुई और प्रभात के बालसूर्य की-सी प्रगतिशील प्रतिमा लिये हुए। नाटक का पहला ही वाक्य एक विद्रोह की सूचना देता है, एक नारी की कामनाओं का विद्रोह। स्कन्दगुप्त की विजया के मुख से सुना था 'प्रणय-वञ्चिता रमणियाँ अपनी राह के रोड़े दूर करने के लिए वज्र से भी दृढ़ होती हैं।' वही दृढ़ता लिये हुए यह नारी पहले दृश्य में हमारे सामने आती है।

"आपका कर्मकाण्ड और आपके शास्त्र क्या सत्य हैं, जो सदैव रक्षणीया स्त्री की यह दुर्दशा हो रही है।" पुरोहित से किये हुए इस प्रश्न में हृदय के सत्य पर आवरण डालने वाले मिथ्याचार के प्रति विरोध स्पष्ट झलक रहा है और ध्रुवस्वामिनी अपने विरोध में सफल होती है। पुरोहित तो स्पष्ट शब्दों में अभय होकर कहता है—

"यह रामगुप्त मृत और प्रव्रजित तो नहीं पर गौरव से नष्ट आचरण से पतित और कर्मों से राजकिल्विषी क्लीव है। ऐसी अवस्था में रामगुप्त का ध्रुवस्वामिनी पर कोई अधिकार नहीं। मैं स्पष्ट कहता हूँ कि धर्मशास्त्र रामगुप्त से ध्रुवस्वामिनी के मोक्ष की आज्ञा देता है।"

और प्रजा-परिषद् 'पतित और क्लीव रामगुप्त गुप्त-साम्राज्य के पवित्र राज्य-सिंहासन पर बैठने का अधिकारी नहीं' की घोषणा कर उसे पदच्युत कर चन्द्रगुप्त को गद्दी पर बिठला देता है।

८

प्रसाद जी का 'कंकाल'

[गंगाप्रसाद पाण्डेय]

साहित्य में प्रसाद जी सदैव अतीत के सम्पन्न आँचल की ओट से अभिव्यक्त हुए हैं, यहीं तक वे जीवन के कवि हैं। कवि की कल्पना चिर संगिनी है किन्तु द्रष्टा को कल्पना का साथ छोड़कर अनुभूति (वास्तविक) का साथ देना पड़ता है। समाज के लिए साहित्य की यही सब से बड़ी देन है। वास्तविकता का अर्थ इन्द्रिय-ग्राह्य सांसारिक सत्य होगा इसे स्मरण रखना चाहिए। जिसे हम आँखों से देखकर उसका दर्शन लाभ कर सकते हैं, उसके कोमल-कठोर स्पर्श का अनुभव कर सकते हैं, तर्क और बुद्धि से परीक्षित प्रामाणिकता का आरोप कर सकते हैं—वही हमारे लिए वास्तविक है।

इसके परे भी एक स्थिति है, चाहे हम उसे मानसिक कहें, आध्यात्मिक कहें या मनोवैज्ञानिक कहें, उसका अस्तित्व अक्षुण्ण है। यथार्थ और आदर्श की सीमाएँ भी इसी सत्य से अनुप्राणित हैं। आदर्श की सम्भावनाएँ जीवन को गति देती हैं और यथार्थ की जीवन को दौड़ (व्यायाम)। आज का सारा संसार जैसे मार-मारकर सैनिक बनाया गया है। जीवन में चलने, दौड़ने दोनों की आवश्यकता है, ऐसे ही यथार्थ और आदर्श की।

साहित्य का मर्मी परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों के विश्लेषण से उतनी ममता नहीं रखता जितनी उनके समन्वय की सुरुचि से। प्रसाद जी साहित्य की इसी श्रेणी के मनीषी हैं। आध्यात्मिक दर्शन और भौतिक दर्शन के समीकरण से जीवन की जिस दिशा का उन्होंने संकेत किया है, उसे अवास्तविक कहना सम्भव नहीं। आदर्शोन्मुख साहित्य जीवन को गति और उत्कर्ष दोनों देता है, इस विचार से प्रसाद आदर्शवादी हैं।

उन्होंने साहित्य में यथार्थ की स्थिति का मानसिक संस्कार किया है। जमीन पर पैर टेककर आकाश का कवि-अवलोकन किया है। यथार्थवादियों की अदूरदर्शिता जब जीवन की गति की तीव्रता में स्थिति की उपेक्षा कर जाती है तब भी आदर्शवादी की साधनाशील सम्भावनाएँ गति के साथ स्थिति का समर्थन करने की शक्ति रखती हैं। ऐसी सम्भावनाओं को असत्य नहीं कहा जा सकता, अन्यथा जीवन, जीवन न रहकर यंत्र मात्र रह जायेगा। साहित्य न तो आध्यात्मिक दर्शन—न केवल जगत् वरन् जगत् ही सत्य का—सम्बल ग्रहण कर सकता। उसे तो दोनों के बीच की सचाई ग्रहण करनी है।

'कामायनी' में प्रसाद की इस चेतना का दर्शन हमें काव्य के माध्यम से होता है और 'कंकाल' में सामाजिक निरूपण से। प्रसाद दोनों जगह आधुनिक युग में अकेले हैं।

'कंकाल' का सामाजिक दृष्टिकोण भारत का ही नहीं विश्व-मानवता का भावी दृष्टिकोण है। द्रष्टा को इसी कारण त्रिकालदर्शी कहा गया है, यों भी व्यतीत (अतीत) और व्यक्त (वर्तमान) की स्थिति भविष्य में अपना विकास करेगी, भाव-योगियों से यह छिपा नहीं। भारतीय संस्कृति और आध्यात्म के आधार से व्यक्ति और समाज का, यथार्थ और आदर्श का, स्थूल और सूक्ष्म का जो सुन्दर स्वरूप 'कंकाल' के द्वारा संसार के सामने रखा गया है वह व्यक्ति और समाज को दूध और पानी की तरह अपने में मिलाये हुए है। उनके चरित्र, शरीर कम और शक्ति अधिक हैं। देश की सामाजिक स्थिति और विकृति का ही चित्रण 'कंकाल' में नहीं है, धार्मिकता की भी धज्जियाँ उड़ाई गई हैं। सब से बड़ी विशेषता उसका भारतीय वातावरण है। समाज के एक विशेष स्थिति के पात्र इस विचार-धारा के वाहन हैं, उन्हीं के द्वारा इस सत्य की प्रतीति पुष्टि पाती है।

'कंकाल' के सामाजिक विचार, स्त्री-पुरुष सम्बन्ध पर एक गहरा अध्ययन उपस्थित करते हैं। इसका कारण है। प्रसाद जी जीवन मे आनन्द के उपासक और उद्भावक हैं और प्रेम उनका आधार है। अतः प्रेम का स्वस्थ उष्ण स्पन्दन उनकी कृतियों में अवश्यं-भावी रहता है। 'कंकाल' में प्रेम के दो सामाजिक विभाग हैं; विवाहित और अविवाहित। इसके प्रायः पात्र जारज (वर्णशंकर) हैं।

उपन्यास की नायिका तारा और नायक विजय दोनों ही जारज हैं और तारा का पुत्र भी जारज है। पात्रों का चुनाव बहुत ही प्रगतिशील है, सन्देह नहीं। समाज में विवाह एक समझौता है, यदि वह अपना स्वरूप बदलकर जीवन को पंगु बना देने वाला बन्धन बन जाय तो क्या व्यक्ति उसे तोड़ देने के लिए तैयार न हो जायगा? भारतीय समाज में विवाह की यही स्थिति है। 'विजय' के माध्यम से नवयुग की चेतना जैसे बोल उठी है—"घन्टी! जो कहते हैं अविवाहित जीवन पाशव है, उच्छृंखल हैं, वे भ्रान्त हैं। हृदय का सम्मिलन ही तो व्याह है। मैं सर्वस्व तुम्हें अर्पण करता हूँ और तुम मुझे, इसमें किसी मध्यस्थ की आवश्यकता क्यों? मन्त्रों का महत्त्व कितना? झगड़े की विनिमय की यदि सम्भावना रही तो वह समर्पण ही कैसा? मैं स्वतंत्र प्रेम की सत्ता को स्वीकार करता हूँ, समाज न करे तो क्या?" आज का समाजवादी भी तो यही कहता है।

व्यक्ति स्वातंत्र्य की इस सामाजिकता के साथ प्रसाद जी उसका राजनीतिक पहलू भी सामने रखते हैं। "प्रत्येक समाज मे सम्पत्ति, अधिकार और विद्या ने भिन्न देशों में जाति-वर्ण और ऊँच-नीच की सृष्टि की। जब आप उसे ईश्वरकृत विभाग समझने लगते हैं तब यह भूल जाते हैं कि इसमें ईश्वर का उतना सम्बन्ध नहीं जितना उनकी विभूतियों का। कुछ दिनों तक उन विभूतियों के अधिकारी बने रहने पर मनुष्य के संस्कार भी वैसे ही हो जाते हैं और वह प्रमत्त हो जाता है। प्राकृतिक ईश्वरीय नियम विभूतियों का दुरुपयोग देखकर विकास की चेष्टा करता है, वह कहलाती है, उत्क्रान्ति। उस समय

केन्द्रीभूत विभूतियाँ मानव-स्वार्थ के बन्धनों को तोड़कर समस्त भूतहित बिखरना चाहती हैं। यह समदर्शी भगवान् की क्रीड़ा है।" इसीलिए 'भारतसंघ' सर्व-साधारण के लिए मुक्त है, वह वर्गवाद, धार्मिक पवित्रतावाद, अभिजात्यवाद इत्यादि अनेक रूपों में फैले हुए सब देशों के भिन्न-भिन्न प्रकार के जातिवादों की अत्यन्त उपेक्षा करता है। यही व्यक्ति की राजनीतिक स्वतन्त्रता है।

व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के इस उद्बोधन में स्त्री-पुरुष का भेद-भाव नहीं पाया जाता। उपन्यास की मूल धारणा का आधार स्त्री-पुरुष सम्बन्ध ही है। इसके द्वारा लेखक ने सुन्दर-असुन्दर सत्य के दोनों स्वरूपों का विशद विवेचन किया है। उपन्यासों के पात्र केवल आदर्श की आकुलता से संचालित नहीं होते, वे यथार्थ का भी स्पर्श करते हैं। सभी पात्र हमीं-आप में से लिये गये हैं, उनमें साधारण मनुष्यों की महानता और हीनता, दोनों के दर्शन होते हैं। यदि अपवादों को छोड़ दिया जाय तो आज का सामाजिक प्राणी पतन की ओर अधिक उन्मुख है। भारतीय स्त्री अपनी हृदय की दुर्बलता और पुरुष स्वार्थ की क्रीड़ा का शिकार है। इसके उद्घाटन में प्रसाद नितान्त यथार्थवादी हैं किन्तु अल्ट्रारियलिस्ट की भाँति वे मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते। नाटकों में प्रसाद ने प्राचीन भारत की महत्ता का निदर्शन किया है और उपन्यासों में अर्वाचीन भारत की सामाजिक विपन्नता का।

प्रसाद के नाटकों की समालोचना करते हुए प्रेमचन्द ने लिखा था कि इन पुरानी बातों से देश का क्या लाभ होगा? गड़ा मुर्दा उखाड़ने से क्या कल्याण? इन प्रश्नों का उत्तर प्रसाद ने अपने उपन्यासों के द्वारा दिया है। उनके उपन्यासों के सभी पात्र समाज के अभिशाप से संतप्त और व्यक्ति के विकास की आस्था से आश्वस्त हैं। पात्रों की जीवन-लीला का परिवेक्षण करने के पश्चात् सामाजिक कुरीतियों के प्रति घृणा का भाव उभाड़ने में लेखक ने कमाल हासिल किया है। उपन्यासों के निष्कर्ष नवयुग के पोषक हैं। पात्रों की बातचीत में नवयुग के अन्तःकरण से निकली हुई वाणी की प्रतिध्वनि प्रत्यक्ष हो उठती है। जिसमें प्रेम को व्यवसाय के ऊपर स्थान दिया गया है और व्यापारिक विवाह की भावना पर जिसने हमारे जीवन को मृतक-सा बना दिया है कुठाराघात किया गया है। स्वतन्त्र प्रेम की सम्भावना तभी हो सकती है जब स्त्री-पुरुष दोनों स्वतन्त्रता का अनुभव करेंगे। स्वतन्त्रता का आधार उच्छृंखलता नहीं, संयम है।

इसी के सुदृढ़ आधार पर खड़ा होकर 'कंकाल' में समाज से विद्रोह के साथ लेखक, व्यक्ति की निवृत्ति-साधक संस्कृति की अव्यावहारिकता पर भी अपना आक्रोष प्रकट करता है। इस प्रकार 'कंकाल' स्त्री-पुरुष सम्बन्ध की व्यावहारिक स्वतन्त्रता और व्यक्तिगत विकास की कर्मठ प्रेरणा का शक्तिशाली आयोजन करता है। उसका कला-पक्ष सौन्दर्यमय और निर्माण-पक्ष व्यक्तिमय है। किसी भी सामाजिक संस्था, प्रणाली या व्यवस्था में उसकी

आस्था नहीं है। उसका दृष्टिकोण एकान्त व्यक्तिवादी या एनार्किस्ट है। प्रसाद और प्रेमचन्द के समाज में मूलतः कोई अन्तर नहीं किन्तु प्रेमचन्द ने उसकी ऊपरी सतह का विवेचन अधिक किया है और प्रसाद ने उसकी अन्तरात्मा को स्पर्श करने की चेष्टा की है। प्रेमचन्द की गति वहाँ नहीं, वे सामाजिक व्यवस्था के आगे नहीं बढ़ सके किन्तु उनके बहुत आगे जाकर समाज की रूढ़ पद्धति को तोड़कर नवीन विचार स्वातंत्र्य और मानवीयता का, प्रसाद ने उद्घाटन किया है। जनसतात्मक भावों की स्थापना प्रसाद के साहित्य में है। प्रेमचन्द यदि आधुनिक भारतीय समाज के चित्रकार हैं तो प्रसाद आधुनिक मानवता के उद्बोधक।

अंग्रेजी-साहित्य में गाल्सवर्दी के नाटक, व्यक्ति पर समाज के बोझ का दुष्परिणाम दिखाते हैं किन्तु अर्थ-कष्ट की समस्या से आगे उनका क्षेत्र नहीं है। प्रसाद जी जिस समाज-पीड़ा का उल्लेख करते हैं वह हमारे जीवन की प्रत्येक संधि में समाई हुई है। उसकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया व्यक्ति के मन में समाजोच्छेदन के अतिरिक्त कुछ और हो ही नहीं सकती। व्यक्ति, अपनी शक्ति से समाज-पीड़ा को पार करने का उपक्रम करता है। एनार्किस्ट बेकुनिन भी शासन-सत्ता का सर्वथा विनाश करना चाहता था, प्रिन्स क्रोपाटकिन की भी कुछ ऐसी ही मंशा थी। प्रसाद भी सामाजिक तथा राजनीतिक कुसंस्कारों का प्रतिकार करने के लिए व्यक्ति-स्वातंत्र्य का प्रतिपादन करते हैं। यह स्वातन्त्र्य बुद्धिजन्य होते हुए भी हृदय के संस्कारों का विरोधी नहीं है, अधिकार-पक्ष और कर्तव्य-पक्ष दोनों का निर्वाह उसमें है। चरित्रों की सृष्टि स्वयं समाज के प्रति व्यंगमय और व्यक्ति के प्रति कर्तव्य मय है। जातीयता की दृष्टि से वे सब वर्णशंकर हैं, व्यक्ति के हिसाब से सब उच्छृङ्खल।

'कंकाल' की सबसे भारी विशेषता यह है कि इस पश्चिमी सभ्यता से आकंठमग्न युग में भी इसका सम्पूर्ण वातावरण और -विचार-पद्धति शुद्ध भारतीय है। इसी कारण उसका उद्देश्य सुधार नहीं, क्रान्ति है। वर्ण-व्यवस्था, जाति-व्यवस्था, जन्म-जात अभिमान व्यवस्था आदि सभी प्रभावों में 'कंकाल' क्रान्ति की लहर फैलाना चाहता है। सामन्ती दर्शन, त्याग और संतोष का उसमें आभास नहीं है। 'कंकाल' हृदय-परिवर्तन और समाज-सुधार के लिए तर्क नहीं देता बल्कि एक संघर्ष का आयास करता है। प्रमुखतः स्त्री-पुरुष सम्बन्ध के माध्यम से कथानक को गति मिलती है। उपन्यास के प्रारम्भ में 'तारा' की उक्ति इसके औचित्य का अन्यतम उदाहरण है। "भगवान् जानते होंगे कि तुम्हारी शैय्या पवित्र है। कभी मैंने स्वप्न में भी तुम्हें छोड़कर इस जीवन में किसी से प्रेम नहीं किया और न ही मैं कलुषित हुई।" यद्यपि वह, समाज का सार्टीफिकेट विवाह के रूप में नहीं प्राप्त कर सकी थी किन्तु उसका जीवन प्रथम प्रेम की उपासना में अटल था। विवाह-बन्धन में इसकी अनुभूति कहाँ?

जहाँ एक ओर हमें प्रेम की स्वतन्त्रता को स्वीकार करना पड़ता है वहाँ दूसरी

और किशोरी और श्रीचन्द के विवाहित जीवन में विवाह-संस्था की अपूर्णताओं का अध्ययन करने का अवकाश भी मिलता है। पुत्र-कामना से प्रेरित किशोरी को निरंजन जैसे महान् धूर्त महात्मा की शरण लेनी पड़ती है। उपर्युक्त विवशताओं के प्रदर्शन, चित्रण से प्रसाद का उद्देश्य सामाजिक जीवन में अनियम फैलाने और वर्णशंकरता को प्रश्रय देने का नहीं है। वे तो प्रेम को अपने उच्च आसन पर बैठाने के पश्चात् जीवन को संयमित तथा नियमित देखने की आकांक्षा रखते हैं। इसी कारण मंगल और गाला को प्रेम-सूत्र में बाँधकर एक सामाजिक रूप देने की उन्होंने चेष्टा की है, जहाँ न कोई बाह्य आडम्बर है और न व्यवसाय। व्यक्तियों का यह निरूपण सम्पूर्ण मानवता की सेवा का साधन हैं, शिव और शक्ति का सम्मेलन है।

'कंकाल' का दूसरा दृष्टिकोण, हिन्दू समाज में स्त्रियों की स्थिति का मार्मिक चित्रण करना है। आरम्भ में गुलेनार के रूप में तारा पुरुषों के मनोविनोद का साधन थी; उसका कोई अपना अस्तित्व नहीं था वह केवल कामी पुरुषों के हाथ की कठपुतली थी। गुलेनार का जीवन अबला स्त्री के पतन की पराकाष्ठा है और तारा का समस्त जीवन अबला के रुदन का इतिहास। तारा ने केवल एक भूल की थी —"मैंने केवल एक अपराध किया है—वह यही कि प्रेम करते समय साक्षी इकट्ठा न कर लिया और कुछ मंत्रों से लोगों की जीभ पर उसका उल्लेख नहीं करा लिया, पर किया था प्रेम।" इसी एक भूल के कारण तारा की सारी सामाजिकता विलीन हो गई। एक जगह घंटी कहती है—"हिन्दू स्त्रियों का समाज ही कैसा है, इसमें उनके लिए कोई अधिकार हो तब तो सोचना-विचारना चाहिए। और जहाँ अंध-अनुसरण करने का आदेश है, वहाँ प्राकृतिक, स्त्री-जनोचित प्यार कर लेने का जो हमारा नैसर्गिक अधिकार है उसे क्यों छोड़ूँ ! स्त्रियों को मरना पड़ता है, तब इधर-उधर देखने से क्या ? 'मरना है' यही सत्य है, उसे दिखाने के आदर से ब्याह करके मर लो या व्यभिचार कहकर तिरस्कार से।" जमुना का कथन भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है—"कोई समाज स्त्रियों का नहीं बहन ! सब पुरुषों के हैं, स्त्रियों का एक धर्म है, आघात सहने की क्षमता रखना। दुर्दैव के विधान ने उनके लिए यही पूर्णता बता दी है।" प्रसाद ने कई स्थलों पर स्त्री-पुरुषों की असमानता पर कठोर व्यंग किया है—पुरुष उन्हें इतनी शिक्षा और ज्ञान देना चाहते हैं जितना उनके स्वार्थ में बाधक न हो, घरों के भीतर अंधकार है, धर्म के नाम पर ढोंग की पूजा है और शील तथा आचार के नाम पर रूढ़ियों की। बहनें अत्याचार के पर्दे में छिपाई जा रही हैं। नारी-जाति का निर्माण विधाता की एक झुँझलाहट है।

इस प्रकार प्रसाद ने सामाजिक असमानताओं, कुरीतियों और धार्मिक दुर्व्यवहारों के प्रति घृणा उत्पन्न करके उस नये पथ का भी संकेत किया है जहाँ से मनुष्य मात्र नव-जीवन का प्रसार और प्रचार कर सकता है। इसके लिए झूठी महत्ता का त्याग करके

वर्गवाद और जातिवाद को जड़ से उखाड़कर फेंक देना होगा। स्त्रियों को उनके उचित अधिकार देकर उनके साथ न्याय करना होगा। 'भारत-संघ' की स्थापना का यह उद्देश्य स्मरणीय है—"घरों के पर्दे की दीवारों के भीतर नारी जाति के सुख, स्वास्थ्य और संयत-स्वतन्त्रता की घोषणा करें। उनमें उन्नति, सहानुभूति, क्रियात्मक प्रेरणा का प्रकाश फैलायें। हमारा देश इस संदेश से—नवयुग के संदेश से—स्वास्थ लाभ करे। आर्य-ललनाओं का उत्साह सफल हो, यही भगवान् से प्रार्थना है।" यही भारत के उज्ज्वल भविष्य का आदर्श है। इसी पर समाज की नींव पड़ सकती है। 'कंकाल' का मुख्य सन्देश है—स्त्रियों का सम्मान करना, उनकी समानता को स्वीकार करना और धर्म के नाम पर होने वाले अत्याचारों को सक्रिय विरोध के द्वारा रोकना। जातिवाद, वर्गवाद और धार्मिक संकीर्णता के ऊपर स्त्री-पुरुष के नैतिक आभिजात्य और उसके व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का समर्थन पानी में तेल की तरह उतराता है। वास्तव में 'कंकाल' जागरण युग की श्रेष्ठ साहित्यिक कृति है।

विचारों की इस महत्ता के बाद 'कंकाल' को उसकी औपन्यासिकता के दृष्टिकोण से भी देखना अनुपयुक्त न होगा। यह एक घटना प्रधान उपन्यास है, बहुत सी घटनायें घटती हैं। देवनिरंजन और किशोरी की एक कथा है, मंगल और तारा की एक दूसरी। दोनों कथाओं को कुशल चित्रकार की भाँति, रंगों को मिलाने की चेष्टा है। इसके भीतर दो-तीन उपकथाएँ भी हैं। इस कारण इसकी कथा-वस्तु में एक शिथिलता है, विशृंखलता है, सारी कथा एक कथानक का विकास नहीं है, एक दूसरे का सम्बन्ध घटनाचक्र द्वारा होता है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि प्रसाद सबसे पहले कवि हैं, बाद को कुछ और। उनकी कृतियों में काव्य की भावात्मकता अनिवार्य है, 'कंकाल' भी इसका अपवाद नहीं। प्रगतिशील ओजमय विचारों की काव्य-लड़ियाँ 'कंकाल' में यत्रतत्र फैली हैं, उनके संगठन से प्रसाद के महान् व्यक्तित्व का पता चलता है और हम सभी उनकी शक्तिशाली प्रतिभा के कायल हो जाते हैं, पर कानों में जैसे धीरे से कोई कह जाता है—"काश कि 'कंकाल' भी काव्य होता!"

विचारों के महत्त्व से नहीं, किन्तु कथानक की सुसंगति और स्वाभाविक विकास की दृष्टि से 'तितली' अधिक सफल उपन्यास है। 'तितली' एक ग्राम का चित्र है, इसमें एक ग्राम के दो प्राणियों के चारों ओर सारा चक्र चलता है। बंजो और मधु अर्थात् तितली और मधुवन इसके प्रधान पात्र हैं। तितली का स्वभाव ही मधुवन में नृत्य करना है और बाकी सब पात्र इस नृत्य के दर्शक हैं। इन्द्रदेव, शैला, माधुरी, स्वरूपकुमारी और अनवरी आदि नगर से आते हैं और लौट जाते हैं। 'कंकाल' में घटनाओं की प्रधानता है और 'तितली' में कथा का प्राधान्य है।

इसे यों भी कहा जा सकता है कि 'कंकाल' का कथानक घटनाओं से बनता है

और 'तितली' की घटनायें कथानक से बनी हैं। 'कंकाल के पात्र कुछ दार्शनिक विचित्रता लिये हैं किन्तु 'तितली' के सभी पात्र स्वाभाविक हैं। 'कंकाल' के गोस्वामी जी और 'तितली' के बनजरिया वाले बाबा जी में अद्भुत साम्य है। 'तितली' में प्रेमचन्द के उपन्यासों 'रंगभूमि', 'गोदान' के सभी प्रसंगों का समावेश मिल जाता है किन्तु सत्याग्रह-आन्दोलन का स्पर्श प्रसाद ने नहीं किया। चरित्र-चित्रण, कथावस्तु का विकास और उसका नाटकीय निर्वाह 'तितली' की अलग विशेषता है। पात्रों के मानसिक घात-प्रतिघात का विश्लेषण इसमें प्रेमचन्द से अधिक है। जीवन-यात्रा के बाह्य उपकरणों का प्रसाद ने उतना ध्यान नहीं रखा जितना आन्तरिक अवस्थाओं का। 'तितली' में आज के भारतीय नर-नारी का यथार्थ चित्रण है।

६

'तितली'

[पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश']

प्रसाद जी की प्रतिभा बहुमुखी है। जिस क्षेत्र में उन्होंने पदार्पण किया उसमें वे इतनी दूर तक पहुँच गये कि देखने वाले को आश्चर्य होता है। साहित्यकार और कलाकार ऐसे होते हैं, जिनकी प्रतिभा साहित्य की विभिन्न दिशाओं में आगे बढ़ती है पर वे उन सभी दिशाओं में समान रूप से साधिकार भ्रमण कर सकें ऐसा सौभाग्य सबको प्राप्त नहीं होता। विरले ही ऐसे प्रतिभा-सम्पन्न कलाकार होते हैं। प्रसाद ऐसे ही विरले कलाकार थे। क्या कविता, क्या नाटक, क्या कहानी, क्या उपन्यास, क्या निबन्ध, कोई ऐसी धारा नहीं जिसमें प्रसाद गहरे उतरकर नवीन उद्‌भावना के मोती न लाये हों। प्रत्येक क्षेत्र में उन्होंने अपने व्यक्तित्व की छाप छोड़ी है।

उपन्यास के क्षेत्र में प्रसाद ने सर्वप्रथम 'कंकाल' की देन दी थी। समाज के यथार्थ रूप का दिग्दर्शन उनका लक्ष्य था और हमारी समझ में प्रेमचन्द के आदर्शवाद के जवाब में प्रसाद ने यथार्थवाद का समर्थन 'कंकाल' द्वारा किया था। 'कंकाल' का यथार्थ ऐसा भयंकर है कि उसे स्वीकार करने की शक्ति उस समय, जब कि वह प्रकाशित हुआ था, लोगों में नहीं थी और उसके प्रकाशन से हिन्दी जगत् में हलचल मच गई थी। स्वयं प्रेमचन्द ने 'कंकाल' की प्रमुख नारी घंटी के सम्बन्ध में लिखा था कि घंटी का चरित्र बहुत ही सुन्दर हुआ है। उसने एक दीपक की भाँति अपने प्रकाश से इस रचना को उज्ज्वल कर दिया है। अल्हड़पन के साथ जीवन पर ऐसी तात्विक दृष्टि यद्यपि पढ़ने में कुछ अस्वाभाविक मालूम होती है पर यथार्थ में सत्य है। यह समाज, जो ऊपर से धार्मिक आडम्बर और नाना प्रकार के विधि-निषेधों के लबादे ओढ़े हैं, भीतर अपने यथार्थ रूप में पशुता और कामुकता का पुंजीभूत रूप है। प्रसाद जी ने 'कंकाल' द्वारा इसी बात को स्पष्ट किया है। 'तितली' उनका दूसरा उपन्यास है, जिसका लक्ष्य ग्राम्य-जीवन का चित्र अंकित करना है, पर जो यथार्थ 'कंकाल' का आधार है वह 'तितली' का भी है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रसाद अपने उपन्यासों द्वारा समाज की स्थिति को ही दिखाना चाहते थे। इसीलिए 'तितली' का प्रतिपाद्य ग्राम्य-जीवन होने पर भी प्रेमचन्द की भाँति वे केवल जमींदारों और सरकारी अफसरों के अत्याचार से पीड़ित किसानों की दुरवस्था का चित्रण करके ही अपने कर्तव्य की इतिश्री नहीं समझ लेते वरन् वे समाज, पारिवारिक समस्या और स्त्री-पुरुष की मूल प्रवृत्तियों की छानबीन भी करते हैं। जैसा कि हम आगे चलकर

देखेंगे 'तितली' में भी 'कंकाल' की भाँति समाज की जर्जर अवस्था का चित्र ही अधिक रंगीन है। प्रसाद जैसे समाज को ही लक्ष्य बनाकर चले हों। राजनीति उनके स्वभाव में नहीं थी। वैसे उनको वर्तमान समाज में सुधार की आशा भी अधिक नहीं थी। वे अतीत युग के स्वप्नों में विचरण करने वाले थे। यही कारण है कि अपने तीसरे अधूरे 'इरावती' उपन्यास में वे फिर अपने अतीत के आनन्द-लोक में लौट गये। मानो आधुनिक नगर तथा ग्राम के नग्न यथार्थ को देखकर उनका मन काँप गया हो और उसके पुनर्निर्माण के लिए कोई उपयोगी मार्ग न पाकर वे भारत के इतिहास के स्वर्ण-युग को अवतीर्ण करने के लिए विकल हो गये हों। उनके नाटकों में अतीत के भारतीय जीवन का जो चित्र है, वही 'इरावती' की पृष्ठभूमि में व्याप्त है। लेकिन इससे एक बात स्पष्ट है और वह यह कि भले ही प्रसाद अतीत युग में लौट गये हों और समाज की वर्तमान पतित दशा के लिए कोई हल न सुझा गये हों, उनके उपन्यासों में यथार्थ का ऐसा चित्रण है जो अन्यत्र मिलना कठिन है। प्रसाद के उपन्यासों का ऐतिहासिक महत्त्व यही है कि वे हिन्दी के प्रथम यथार्थवादी उपन्यासकार हैं।

प्रसाद के उपन्यासों के विषय में इतना जान लेने पर 'तितली' के सम्बन्ध में विस्तृत विचार किया जा सकता है। आइए हम देखें कि 'तितली' है क्या ! जैसा कि पहले कहा जा चुका है 'तितली' में एक ग्राम का चित्र है। इसका केन्द्र-बिन्दु धामपुर गाँव की थोड़ी-सी बंजर-भूमि है। इस बंजर-भूमि को बनजरिया कहते हैं। यहाँ रामनाथ नाम के एक बाबा जी हैं, जो संस्कृत के ही पण्डित नहीं हैं, विचारों से बड़े क्रान्तिकारी भी हैं। सेवा और स्वावलम्बन के भारतीयता के प्रचार में उनको जीवन की सार्थकता दिखाई देती है। उनके साथ एक लड़की है—बंजो, जो उनके पूर्व आश्रयदाता और धामपुर के ही खाते-पीते किसान देवनन्दन की अनाथ कन्या है। बंजो को बाबा रामनाथ ने भ्रमण करते हुए उज्जैन जाते हुए पाया था—भूखों मरते देवनन्दन से। देवनन्दन भूखों क्यों मरा, इसके लिए धामपुर की नील कोठी का मालिक वाटसन जिम्मेदार है, जिसके कर्ज को चुकाने में देवनन्दन के जीवन का अन्त हुआ। बंजो के साथ बाबा रामनाथ के पास एक और लड़का है मधुआ। यह मधुआ धामपुर के पास शेरकोट के ध्वस्त दुर्ग राजा का असहाय वंशज है, जिसकी समस्त सम्पत्ति उसके पिता द्वारा मुकदमे में स्वाहा हो जाने से कुछ भी उसके पास नहीं है और वह बाबा जी के साथ दस बीघे की बंजरिया में ही कुछ तरकारी आदि उगाकर और उसे बाजार में बेचकर पेट भरता है। बंजो और मधुआ एक दिन कुतूहल में तितली और मधुबन के रूप में बदल जाते हैं और परस्पर तथा दूसरों द्वारा इन्हीं नामों से पुकारे जाते हैं। शेरकोट का सूना खण्डहर आबाद करने आती है—मधुआ की विधवा बहन राजकुमारी, जो मधुआ की देखभाल करने लगती है। बंजरिया के पास ही धामपुर के जमींदार इन्द्रदेव की छावनी है, जिसमें बड़ी और छोटी

दो कोठियाँ हैं। पहले बड़ी में इन्द्रदेव स्वयं रहते थे पर अब वे छोटी में चले गये हैं क्योंकि बड़ी में उनकी माँ और बहन माधुरी आकर रहती हैं। इन्द्रदेव के अलग रहने का कारण यह है कि वे इंग्लैण्ड से अपने साथ एक युवती ले आए हैं—शैला। इसके कारण अनेक प्रवाद इधर-उधर प्रचलित हैं। लन्दन के भिखारियों में रहने वाली और इन्द्रदेव द्वारा दयावश अपने लिए लन्दन में देखभाल के लिए रखी जाने वाली शैला का सम्बन्ध उजड़ी हुई नील कोठी से है, जहाँ उसके माता-पिता रहते थे। वह भारतीयता के रंग में रंगी हुई है। प्रवादों के कारण वह नील कोठी में बैंक, अस्पताल, पाठशाला आदि ग्रामीण जनोपयोगी कार्यों को चलाने के लिए रहने लगती है। उसको इन्द्रदेव से दूर हटाने में बड़ा भारी हाथ है अनवरी नामक एक नर्स का, जो शहर से गाँव की जलवायु मे स्वास्थ्य सुधारने के लिए आई इन्द्रदेव की माँ के इलाज के बहाने प्रवेश करती है और गृह-कलह का मूल कारण बनती है। अनवरी माधुरी की सहानुभूति प्राप्त करती है—उस माधुरी की जिसका पति श्यामलाल कलकत्ते में जुआरी और शराबी का जीवन बिताता है और जिसके प्रति दयार्द्र माँ श्यामदुलारी इन्द्रदेव को शैला के कारण घृणा से देखती हुई अपना सब कुछ दुखी लड़की को दे देना चाहती है। इन्द्रदेव के यहाँ दो व्यक्ति हैं एक उनका रसोइया सुखदेव चौबे और दूसरा तहसीलदार। सुखदेव चौबे वहाँ का है, जहाँ राजकुमारी ब्याही थी। वह उसकी ससुराल के पुरोहित-वंश का है और राजकुमारी से भाभी का रिश्ता मानता है। शेरकोट मे आकर जब राजकुमारी रहने लगती है तब सुखदेव चौबे उसकी स्थिति से सहानुभूति प्रदर्शित कर उसे प्राप्त कर लेने का प्रयत्न करता है। दूसरी ओर वह इन्द्रदेव को शैला से छुड़ाने के लिए तितली से इन्द्रदेव की शादी का सुझाव रखता है। पर तितली मधुवन की है और एक दिन बाबा रामनाथ उन दोनों का विवाह कर देते हैं। उनके विवाह के ही दिन शैला हिन्दू धर्म की दीक्षा लेकर नील कोठी के सेवा-प्रतिष्ठान मे लग जाती है। तहसीलदार पहले मधुबन के यहाँ रह चुका है और अब उसकी बंजरिया को छीनकर नमकहरामी का सबूत देना चाहता है। माधुरी का पति श्यामलाल गाँव में आता है तो सारे गाँव की बहू-बेटियों पर अपनी वासना-दृष्टि डालता है। यहाँ तक कि कहारी मलिया से बलात्कार करने की चेष्टा करता है। अनवरी के साथ तो उसका ऐसा सम्बन्ध हो जाता है कि उसे लेकर कलकत्ते भाग जाता है। इन्द्रदेव जो इस गृह-कलह और षड्यन्त्र से पहले ही उदासीन थे, अब बनारस जाकर बैरिस्टरी करना आरम्भ करते हैं। श्यामदुलारी भी शहर लौट जाती है—माधुरी के नाम समस्त सम्पत्ति की रजिस्ट्री करने। गाँव मे रह जाता है तहसीलदार का एकछत्र राज्य, और उनके सहायक हैं चौबे जी। छावनी उजड़ जाती है। तहसीलदार के अत्याचार बढ़ते हैं। मधुवन के साथी रामजस के सब खेत बेदखल हो जाते हैं तो वह गाँव छोड़ने से पहले फ़ौजदारी कर बैठता है, जिसमें वह स्वयं घायल हो जाता है और

मुखदेव चौबे के भी गहरी चोट आती है, चौबे को आश्रय मिलता है धामपुर के महन्त के यहाँ। यह महन्त महन्त नहीं महाजन भी है, जो बिहारी जी के नाम पर लोगों को ऋण देता है। रामजस की फ़ौजदारी में मधुवन की प्रेरणा समझकर तहसीलदार बंजरिया और शेरकोट को हथियाना चाहता है। राजकुमारी इससे घबराकर महन्त के पास रुपया माँगने जाती है। महन्त उसके स्वीत्व को लूटने के बदले रुपये देने को तैयार होता है पर उसके चीखने पर मधुवन वहाँ पहुँच जाता है और महन्त का गला दबा, रुपयों की थैली ले भागता है और पहुँचता है मैना वेश्या के यहाँ। यह मैना वेश्या एक बार मधुवन के कुश्ती जीतने पर अपनी प्रीति को व्यक्त करने के लिए भरे दंगल में आम का बौर दे चुकी थी। उसे रुपये देकर वह भागता है बनारस की ओर जहाँ चुनार में उसकी भेंट होती है रामदीन से, जिसे बिना बात रिफार्मेटरी में भिजवा दिया गया था। वे भागकर हावड़ा स्टेशन पर लोको में कोयला झोंकने की नौकरी पा जाते हैं। तितली चीरता के साथ बंजरिया में रहती है और राजकुमारी को सँभालती है। शैला अनवरी के श्यामलाल के साथ भाग जाने के बाद से श्यामदुलारी और माधुरी का हृदय जीतने में सफल होती है और समस्त जमींदारी की रजिस्ट्री माधुरी के नाम कराने में श्यामदुलारी की मदद करती है। बनारस इसी निमित्त पहुँचकर वह इन्द्रदेव से मिलती है, जहाँ मन्दरानी, जो मुकुन्दलाल नामक सम्पन्न परिवार की स्त्री है, शैला और इन्द्रदेव को विवाह-बन्धन में बाँध देनी है। शैला का सेवा-कार्य उसका बूढ़ा बाप, जो सहसा धामपुर में आ पहुँचता है, सँभालता है। उधर कलकत्ते में मधुवन एक गिरहकट गिरोह के आदमी के साथ मारपीट कर उसकी थैली छीन बीरू बाबू नामक एक बदमाशों के सरदार के हाथ पड़ जाता है। वहाँ उसे रिक्शा चलाना पड़ता है। एक दिन रात को वह श्यामलाल और मैना को शराब पिये देखता है, जो उसी के रिक्शे में बैठकर अनवरी के दवाखाने में पहुँचना चाहते हैं। वह उन्हें गिरा देता है, वह पुलिस द्वारा पकड़ा जाता है। १० वर्ष की सजा होती है। जेल में अच्छे व्यवहार के कारण वह दो वर्ष पहले ही छूट जाता है। संयोग से बीरू बाबू के दल के नन्दीगोपाल से जो अब साबुन की दुकान खोल लेता है, उसकी भेंट हो जाती है और आनन्द मेले में जा पहुँचता है। वहाँ धामपुर के महन्त की मण्डली में तहसीलदार, सुखदेव चौबे और मैना हाथी के बिगड़ने से मर जाते हैं। मधुवन वहाँ से चल देता है। इधर तितली बिना किसी का सहारा लिये अनाथ बच्चों की देखभाल करती हुई स्वावलम्बन का जीवन बिताती है और मधुवन की एक मात्र स्मृति मोहन को जो अब १४ वर्ष का है, पालती है। मोहन से लोग पूछते हैं कि तेरा पिता कहाँ है और मोहन वही प्रश्न अपनी माँ से करता है। एक दिन वह मोहन को सुलाकर गंगा में डूबने जाती है, पर उसे द्वार से सटा मिल जाता है मधुवन। यहीं दोनों का मिलन हो जाता है और उपन्यास समाप्त हो जाता है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से देखें तो इस उपन्यास के पात्रों में सबसे प्रमुख पात्र तितली (बंजो) ही ठहरती है। आरम्भ में सुखदेव चौबे को नीम की जड़ में उलझकर गिरने पर उसने जो आतिथ्य किया है, वह उसके उज्ज्वल चरित्र का आभास दे देता है। उसके बाद से वह मधुवन के साथ मिलकर खेती का काम करती है। चंचल और स्फूर्तिमयी तितली बाबा रामनाथ और मधुवन की देखभाल करने के साथ-साथ परिश्रमी भी है। मधुवन से शादी होने के बाद जब बाबा रामनाथ चले जाते हैं तो वही बाबा रामनाथ के मिशन को पूरा करती है। पाठशाला चलाती है, दीन-दुखियों को शरण देती है और जो कुछ बंजरिया में पैदा होता है उसी से अपनी गुजर करती है। न वह शैला का अहसान लेती है न इन्द्रदेव का। एक बार बनारस वह इन्द्रदेव के पास जाती अवश्य है पर चुपचाप चली आती है। मधुवन की विधवा बहन राजकुमारी अपनी नन्द को भी वह अपनी शरण में रखकर धीरज देती है। मधुवन यदि न भागता तो शायद वह धामपुर को गांधी के स्वप्नों का गाँव ही नहीं बना देती, जैसा कि उसने किया है, उसे और भी सुन्दर रूप देती। मधुवन के विषय में नाना प्रकार के प्रवाद उसे उसके प्रति अटूट प्रेम से विचलित नहीं कर पाते और जब वह आता है तब उसे वह उसकी धरोहर मोहन को सौंपकर धन्य हो उठती है। वह आदर्श चरित्र की मूक, सेवा-भावी, उदार, स्वाभिमानी और दृढ़ नारी है, जो अपने कार्य में स्वावलम्बन के साथ जुटी रहती है। इसके साथ ही शैला का चरित्र है। शैला का भारत से सम्बन्ध है, उसके माँ-बाप यहाँ रह चुके हैं और उसके मामा वाटसन की नील कोठी का उजाड़ खण्डहर अब भी उसकी पुरातन स्मृति को जीवित रखे हुए है। वह अपनी माँ की तरह ही दयालु है। बाबा रामनाथ से वह संस्कृत पढ़ती है, वह भी उसको इन्द्रदेव ने सिखा ही दी थी। साड़ी भी उसे अच्छी लगती है और उसके व्यवहार से वह भारतीय ही जान पड़ती है। मधुवन और तितली के विवाह के पहले उसको हिन्दू धर्म में दीक्षित भी कर लिया गया है। वह गम्भीर प्रकृति की नारी है। नील कोठी में बैंक, अस्पताल, ग्राम-सुधार कार्यालय और प्रचार-विभाग में इतने काम वह करती है। साथ ही तितली की सहायता करती है। अपने कारण इन्द्रदेव की पारिवारिक प्रतिष्ठा को जो धक्का लगा है, उसी को देखकर वह अलग हो जाती है पर इन्द्रदेव को अपने प्राणों से अलग नहीं कर पाती। चकबन्दी अफ़सर वाटसन की ओर वह झुकती अवश्य है पर उसका कारण इन्द्रदेव की उदासीनता और विरक्ति है। जो माधुरी और श्यामदुलारी उससे घृणा करती हैं, वे ही अन्त में उसे समस्त सम्पत्ति सौंपकर घर की रानी बना देती हैं। यह उसके चरित्र की महत्ता है। अन्य नारी पात्रों में किसी का चरित्र ऐसा नहीं जो बहुत विकसित कहा जा सके। अनवरी एक नर्स के रूप में आती है पर कलह उत्पन्न कर अपनी विलास-वृत्ति के कारण श्यामलाल जैसे शराबी के साथ भाग जाती है। [illegible]

के साथ विश्वासघात करती है और किसी की नहीं है । रूप का सौदा करना ही उसका ध्येय है । श्यामदुलारी कट्टर हिन्दू महिला है, जो छूतछात में बुरी तरह विश्वास रखती है। माधुरी शराबी पति से परेशान ईर्ष्यालु महिला है, जो स्वयं अधिकार की लालसा से अपने भाई इन्द्रदेव की सम्पत्ति को हड़पने का यत्न करती है पर नासमझ इतनी कि अनवरी जैसी चंट नारी की बातों में आ जाती है । राजकुमारी बाल-विधवा है, जो सुखदेव चौबे की ओर खिंचकर अपने जीवन को सुख से बिताना चाहती है। मलिया नीच जाति की है पर श्यामलाल की वासनामयी दृष्टि का तिरस्कार कर मेहनत-मजदूरी करना पसन्द करती है, जमींदार की खाती-पीती नौकरानी नहीं। यों तितली और शैला को छोड़कर अन्य नारी पात्रों की पूरी रूपरेखा नहीं है। उनके जीवन की एक-दो घटनाएँ ही वहाँ हैं। उनसे ही उनके चरित्र का आभास मिल सकता है, पर वे घटनाएँ हैं ऐसी, जो उनके चरित्र की मुख्य विशेषता को स्पष्ट करती हैं।'

पुरुष पात्रों में आरम्भ में सबसे प्रमुख आकर्षण बाबा रामनाथ हैं। अपने आश्रयदाता देवनन्दन की अनाथ कन्या को अपनी बेटी की भाँति पालने वाले बाबा रामनाथ भारतीय संस्कृति के पुजारी हैं और परिश्रम करने में हिचकते नहीं। वे हल चलाने को गौरव की बात समझते हैं और गाँव के लोगों को स्वावलम्बन का पाठ पढ़ाते हैं। यही कारण है कि मधुवन जिसका वंश बड़ा ऊँचा है, तरकारियाँ उगाकर शहर में बेचने जाता है और इसमें लज्जा का अनुभव नहीं करता । स्वयं तितली बंजरिया को एक स्वावलम्बी परिवार बना देती है। बड़े स्वतंत्र विचार हैं बाबा रामनाथ के। बनारस में शास्त्रार्थ हुआ तो सनातनी गुरु के विरुद्ध आर्यसमाजी विचारों का समर्थन करने में भी न चूके और चले आए। निश्चय ऐसा दृढ़ कि राजकुमारी और सुखदेव चौबे के लाख समझाने और धमकी देने पर भी तितली का विवाह मधुवन से कर दिया। उनका व्यक्तित्व इतना तेजोमय और प्रदीप्त है कि शैला भी उनसे प्रभावित हो हिन्दू धर्म की दीक्षा ले लेती है। तितली और मधुवन को विवाह-बन्धन में बाँधकर वे संन्यास ले लेते हैं। उसके बाद मधुवन आता है। मधुवन एक बहुत बड़े जमींदार का लड़का है, जिसके पिता ने मुकदमे में सब कुछ स्वाहा कर उसे कंगाल बना दिया है। इसलिए उसमें वंश-गौरव पर्याप्त मात्रा में है। यद्यपि वह साधारण मजदूर की भाँति हड्डियाँ तोड़ता है तथापि अन्याय बरदाश्त नहीं कर सकता। उसके चरित्र के विकास का अवसर बाबा रामनाथ के चले जाने के बाद आता है। जब वह दंगल में बाबू श्यामलाल के पहलवान को पछाड़ देता है और उससे तहसीलदार और सुखदेव चौबे जलने लगते हैं। उसके बाद तो जहाँ अन्याय होता

कटों के झगड़े को देखकर लाठी के कौशल दिखाने लगता है, एक घिरे हुए व्यक्ति की रक्षा करता है, श्यामलाल और मैना को रिक्शे से गिरा देता है, सजा भुगतता है पर अपनी टेक नहीं छोड़ता। 'तितली' में मधुवन के चरित्र की रेखायें बड़ी स्पष्ट हैं। इन्द्रदेव शान्त स्वभाव के व्यक्ति हैं। जिन्हें अपनी अमीरी का कोई अभिमान है न शिक्षा का। ग़रीबों के प्रति दया और प्रेम तथा सम्पत्ति से विराग उनके चरित्र की विशेषतायें हैं। लन्दन से शैला जैसी अनाथ भिखारिन को अपने साथ ले आते हैं बिना इस बात की चिन्ता किये कि घर में इससे क्या हलचल मचेगी ? उसके कारण उन्हें घर छोड़ना पड़ता है पर बिना किसी कठिनाई के घर छोड़ देते हैं। और बनारस में प्रेक्टिस से काम चलाते हैं। शैला के लिए सेवा करने के समस्त साधन जुटाते हैं और तितली को ग्राम-सुधार में पूरी-पूरी सहायता देते हैं। वे तहसीलदार और सुखदेव चौबे जैसे मुँहलगे नौकरों की बातों में कभी नहीं आते और अपनी प्रजा के हित का सदैव ध्यान रखते हैं। वस्तुतः रामनाथ, शैला, मधुवन और तितली को उन्हीं के त्याग और सेवा-भावना द्वारा अपने विकास का क्षेत्र मिलता है। अन्त में वे शैला के साथ विवाह कर रहने लगते हैं। वाट्सन बड़े कर्त्तव्यपरायण और पवित्र आचरण के व्यक्ति हैं। वे चाहते तो शैला की कमजोरी का फायदा उठा सकते थे पर उन्होंने स्वयं शैला को इन्द्रदेव के साथ जाकर रहने की प्रेरणा देकर उसका भ्रम दूर कर दिया। वे तितली की सहायता करते हैं। महन्त अपनी जाति के अनुसार विलासी हैं। सुखदेव चौबे और तहसीलदार भी कामुक और नीच प्रवृति के व्यक्ति हैं। श्यामलाल बाबू तो वासना के कीड़े ही हैं। अपनी पत्नी और बच्चे की उपेक्षा कर वे वेश्याओं के पीछे लगे रहते हैं। दुश्चरित्रता की सीमा तो तब होती है जब वे अपनी ससुराल में कहारी मलिया पर बलात्कार करना चाहते हैं। अनवरी को तो लेकर ही भाग जाते हैं। हद दर्जे के बेशर्म और निकम्मे आदमी के रूप में श्यामलाल बाबू का चित्र स्पष्ट है। अन्य पात्रों में गाँव में रामजस और महँगू महन्तों का और शहर में गिरहकटों के सरदार रामाधार पाण्डे और चारसौ बीस करके पैसा कमाने वालों में बीरू बाबू के चरित्र अपनी जगह खूब हैं। इन सभी पात्रों में रामजस का चरित्र सबसे सुन्दर है।

लेकिन 'तितली' उपन्यास का महत्त्व पात्रों के चरित्र-विकास की दृष्टि से न होकर ग्राम्य-चित्रण की दृष्टि से है। प्रसाद जी ने इसमें सामन्तीय वातावरण का चित्र दिया है। उन्होंने दिखाया है कि अब यह व्यवस्था बहुत जल्द समाप्त होने वाली है। इस उद्देश्य को स्पष्ट करने के लिए प्रसाद जी ने एक ओर तो जमींदारों का मिटना बताया है और दूसरी ओर भूमिहीन किसानों के भीतर विद्रोह की भावना दिखाई है। मधुवन, जिसके पिता शेरकोट के किले में राजा की तरह रहते थे, आज बीघा-दो बीघा खेत से पेट भरता है। मधुवन की स्थिति देखिए—'शेरकोट के कुलीन जमींदार मधुवन के पास अब तीन

चौबे खेत है और यही खण्डहर-सा शेरकोट है, इसके अतिरिक्त और कुछ चाहे न बचा हो किन्तु पुरानी गौरव-गाथाएँ तो आज भी सजीव हैं। किसी समय शेरकोट के नाम से लोग सम्मान के साथ सर झुकाते थे।" ('तितली' पृष्ठ ५१) भूमिहीन किसानों के विद्रोह का पता बेदखली के शिकार रामजस के उन शब्दों से लगता है, जो उसने गाँव छोड़कर जाते हुए सुखदेव चौबे से कहे हैं। वह जाते समय खेत में लड़कों के साथ मोज कर रहा है। सुखदेव चौबे उसे समझाने आता है और जेल की धमकी देता है तो वह कहता है—"यह खेत तुम्हारे बाप का है? मैंने इसे छाती का हाड़ तोड़कर जोता-बोया है, मेरा अन्न है, मैं लुटा देता हूँ। तुम होते कौन हो?" ('तितली' पृष्ठ १७६) यही नहीं; वह लाठी से उसका सर भी फोड़ता है।

सामन्तीय व्यवस्था के पतन की सूचना के साथ प्रसाद जी ने ग्राम्य-जीवन के और भी चित्र दिये हैं। उनमें ग्रामों की दयनीय दशा का चित्र खींचते हुए प्रसाद जी ने जमींदारों और उनके कारिन्दों के अत्याचारों तथा महाजनों के शोषण की ओर संकेत किया है। 'तितली' में महाजन का कार्य महन्त से लिया गया है, जो बिहारी जी के नाम पर अनाप-सनाप सूद लेता है। ऐसा करके प्रसाद ने धर्म को शोषण का प्रमुख साधन बना दिया है। तहसीलदार किस प्रकार मधुवन और रामजस का गाँव में रहना मुश्किल कर देता है, यह उनके खेत की बेदखली से मालूम हो जाता है। यही क्यों बहू-बेटियों की इज्जत भी गाँव मे नहीं बच पाती। महन्त परिस्थिति का लाभ उठाकर राजकुमारी के चरित्र को भ्रष्ट करना चाहता है और श्यामलाल बाबू मुलिया कहारी पर बलात्कार करने पर उद्यत हैं और इसमें जमींदारों के सुखदेव चौबे जैसे गुर्गे सहायक होते हैं। बाबा रामनाथ जैसे तपस्वी यदि गाँवों में बुराइयों को दूर कराने जायँ तो उनका जीवन भी संकट में पड़ जाता है। शैला से मधुवन कहता है—"मेम साहब! गरीब की कोई सुनता है? आप ही कहिए न। किसी ब्याह में रमुआ ने दस रुपये लिये। वह हल चलाता मर गया। जिसका ब्याह हुआ उस दस रुपये से, वह भी उन्हीं रुपयों से हल चलाने लगा। उसके भी लड़के यदि हल चलाने के डर से घबराकर कलकत्ते भाग जायँ तो इसमें बाबा जी का क्या दोष है?" ('तितली' पृष्ठ ६६) प्रसाद जी ने गाँव छोड़कर शहर भागने वालों के जीवन की करुण दशा की ओर भी यहाँ संकेत किया है। प्रेमचन्द के 'गोदान' में उनके नायक होरी का लड़का 'गोबर' भी गाँव की इसी विषम परिस्थिति से परेशान होकर शहरी जीवन को अच्छा बताने लगता है। वस्तुतः स्थिति ही ऐसी है। लेकिन इन कठिनाई में भी खलिहानों में रसीले गीत गूँजते हैं और अलाव पर चलते हुए चिलम के दौरों के साथ ढोल-मजीरा का सम्मिलित स्वर गूँजता है—"निर्धन किसानों में किसी ने अपनी पुरानी चादर को पीले रंग में रंग लिया तो किसी की पगड़ी ही बचे हुए पीले रंग में रंगी है। आज बसन्त पंचमी है न! सबके पास कोई न कोई पीला कपड़ा है।

दरिद्रता में भी पर्व और उत्सव तो मनाये ही जायँगे। महँगू महतो के अलाव के पास भी ग्रामीणों का एक ऐसा ही झुण्ड बैठा है। जौ की कच्ची बालों को भूनकर गुड़ मिलाकर लोग 'नवान' कर रहे हैं, चिलम ठण्डी नहीं होने पाती। एक लड़का जिसका कण्ठ सुरीला था, वसन्त गा रहा था—"गाती कोयलिया डार-डार।" ('तितली'; पृष्ठ १३३)। यह विनोद भी वे स्वतन्त्रता से नहीं कर पाते। 'तितली' में भी जब किसान यह आनन्द मना रहे हैं तब तहसीलदार आकर कहता है—"महँगू !" और सभा विशृंखल हो जाती है। प्रसाद जी का ग्राम्य-जीवन का चित्र उतना गहरे रंग का तो नहीं है, जितना प्रेमचन्द का होता है पर फिर भी उन्हें सफलता अवश्य मिली है। उनके चित्रों के हलके होने का एक कारण यह भी है कि प्रसाद ने ग्रामों को नागरिक की दृष्टि से देखा था। जब कि प्रेमचन्द ने उन्हें एक ग्रामीण की दृष्टि से देखा था। इसलिए उनका कहना था कि गाँवों के सुधार के लिए "कुछ पढ़े-लिखे लोगों को नागरिकता के प्रलोभनों को छोड़कर देश के गाँवों में बिखर जाना चाहिए।" ('तितली'; पृष्ठ २०६)। लेकिन सब जानते हैं कि यह बीमारी का स्थायी इलाज नहीं है। इस प्रकार के प्रयत्नों द्वारा जिस आदर्श ग्राम का चित्र प्रसाद जी ने दिया है ('तितली'; पृष्ठ २६५) वह बिना अर्थ-व्यवस्था बदले सम्भव नहीं। हाँ, उसकी कल्पना के लिए यह एक अच्छा चित्र है। इस पर गांधी विचारधारा का प्रभाव तो स्पष्ट है ही।

'तितली' यद्यपि ग्राम्य-चित्र है तथापि उसमें प्रसाद जी ने अपनी प्रकृति के अनुकूल भारतीय संस्कृति की महत्ता और सामाजिक तथा पारिवारिक विषमता का भी दिग्दर्शन कराया है। भारतीय संस्कृति की उच्चता शैला और इन्द्रदेव के मिलन और बाबा रामनाथ तथा शैला के वार्तालाप में दिखाई देती है। शैला का संस्कृत की ओर झुकना और हिन्दू धर्म में दीक्षा लेना इसका प्रमाण है। एक बार जब इन्द्रदेव शैला के संस्कृत पढ़ने को स्वाँग कहते हैं तो शैला कहती है—"यह स्वाँग नहीं है, मैं तुम्हारे समीप आने का प्रयत्न कर रही हूँ—तुम्हारी संस्कृति का अध्ययन करके।" बाबा रामनाथ के रूप में तो स्वयं प्रसाद जी ही बोल रहे हैं। बाबा रामनाथ और शैला का भारतीय तथा यूरोपीय संस्कृति पर पूरा वार्तालाप (पृष्ठ ६४ से ६६ तक) आर्य संस्कृति की महत्ता का शंखनाद है। वहाँ प्रसाद जी ने बाबा रामनाथ के मुँह से कहलाया है—"आज सब लोग कहते हैं कि ईसाई धर्म सेमेटिक है किन्तु तुम जानती हो यह सेमेटिक धर्म क्यों सेमेटिक जाति के द्वारा अस्वीकृत हुआ ? नहीं, वास्तव में वह विदेशी था। उनके लिए, वह आर्य-सन्देश था। और कभी इस पर भी विचार किया है तुमने कि वह क्यों आर्य जाति की शाखा में फला-फूला ? वह उसी जाति के आर्य संस्कारों के साथ विकसित हुआ, क्योंकि तुम लोगों के जीवन में ग्रीस और रोम का आर्य संस्कृति का प्रभाव सोलह आने था हाँ, उसी का यह परिवर्तित रूप संसार की आँखों में चकाचौंध उत्पन्न कर रहा है। किन्तु

व्यक्तिगत पवित्रता को अधिक महत्त्व देने वाला वेदान्त आत्मशुद्धि का प्रचारक है, इसी-लिए इसमें संघबद्ध प्रार्थनाओं की प्रधानता नहीं। ('तितली'; पृष्ठ ६५)

सामाजिक विषमता की ओर प्रसाद ने 'तितली' के विलासी और कामुक पात्रों के चित्रों से संकेत किया है। समाज का यह यथार्थ चित्र है जो 'कंकाल' चित्र जैसा ही है। श्यामलाल बाबू, महन्त, सुखदेव चौबे, अनवरी, मैना, राजकुमारी सब वासना के कारण मतवाले हैं। मैना तो वेश्या ही है, अनवरी भी किसी वेश्या से कम नहीं है। लेडी डाक्टरों और नर्सों में अधिकांश की यही अवस्था है। राजकुमारी जैसी बाल-विधवायें प्रयत्न करने पर भी अवसर आने पर अपनी वासना के वेग को दबा सकने में असमर्थ रहती हैं। प्रसाद ने इनमें से किसी पात्र के चरित्र में हृदय-परिवर्तन के सिद्धान्त को नहीं अपनाया। केवल राजकुमारी ही तितली के कारण संयमित मिलती है, अन्यथा शेष सभी पात्र अपने वास्तविक रूप में बने रहते हैं।

पारिवारिक कलह के कारण सम्मिलित कुटुम्ब-प्रथा जर्जर हो रही है, इस पर प्रसाद जी ने बहुत जोर दिया है। ऐसा लगता है कि स्वयं ये इसका अनुभव कर चुके थे। माधुरी के पति के विलास ने उसे असहाय बना दिया था। जिसके कारण वह अपने और अपने पुत्र के भविष्य के विषय में चिन्तित थी। इसी के परिणामस्वरूप उसने अपने भाई की सम्पत्ति पर अधिकार करने का विचार किया था। उसकी आर्थिक पराधीनता ने उसे पारिवारिक कलह और षड्यन्त्र के लिए उकसाया। अनवरी ने इसका लाभ उठाकर उसे और पथभ्रष्ट किया। पारिवारिक कलह के कारणों पर प्रकाश डालते हुए वे एक स्थान पर कहते हैं—"प्रत्येक प्राणी अपनी व्यक्तिगत चेतना के उदय होने पर, एक कुटुम्ब में रहने के कारण अपने को प्रतिकूल परिस्थिति में देखता है इसलिए सम्मिलित कुटुम्ब का जीवन दुःखदायी हो रहा है।" ('तितली'; पृष्ठ १०६)। इस प्रसंग में माधुरी और श्यामदुलारी दोनों की मनोवृत्तियों का बड़ा सुन्दर चित्रण हुआ है।

एक बात प्रसाद ने और की है और वह यह कि तितली की पृष्ठभूमि ग्राम की होते हुए भी नगर के लोगों की मनोवृत्ति पर भी उन्होंने पर्याप्त प्रकाश डाला है। मुकुन्दलाल और नन्दरानी जहाँ उच्च वर्ग के नागरिकों के प्रतिनिधि हैं, वहाँ रामाधार पाण्डेय और बीरू बाबू निम्न वर्ग के। लन्दन में भी वे दरिद्रों की ओर दृष्टिपात करने में पीछे नहीं रहे हैं और कलकत्ते में भी बीरू बाबू के घर में निर्धनता का नंगा नाच दिखाने में नहीं चूके। लेकिन जैसे गाँव में मधुवन परिश्रम में विश्वास रखता है वैसे ही बीरू बाबू के दल का ननी गोपाल धोखेबाज़ी को छोड़कर ईमानदारी की कमाई में विश्वास रखता है।

कला की दृष्टि से देखें तो 'तितली' बड़ा सुन्दर उपन्यास है। पूरे उपन्यास को चार खण्डों में बाँटा गया है। प्रथम खण्ड में उपन्यास के सभी प्रमुख पात्रों का परिचय है।

रामनाथ' तितली (बंजो), इन्द्रदेव, शैला, श्यामदुलारी, माधुरी, श्यामलाल बाबू, मधुवन (मधुआ), राजकुमारी, मलिया, रामदीन, शैला के माता-पिता और नील कोठी आदि कोई ऐसी चीज नहीं जिसका परिचय नहीं। दूसरे खण्ड में कथा का विकास होता है। शैला का हिन्दू धर्म में दीक्षित होना, मधुवन और तितली का विवाह, राजकुमारी और चौबे का सम्बन्ध, सुखदेव चौबे और तहसीलदार की बदमाशियाँ, श्यामलाल की विलासिता, अनवरी की कूटनीतिज्ञता सब अपना-अपना रंग लाती हैं। संघर्ष बढ़ता है। तीसरी कथा के प्रमुख पात्रों की चारित्रिक विशेषताएँ और स्पष्ट होती हैं। इन्द्रदेव घर छोड़कर बैरिस्टरी करने चले जाते हैं, शैला ग्राम-सुधार में लगती है, मधुवन और तितली बंजरिया को आबाद करते हैं, रामनाथ संन्यासी हो जाते हैं। सुखदेव चौबे की पिटाई होती है और तहसीलदार के आतंक का विरोध आरम्भ होता है। चतुर्थ खण्ड में राक्षस वृत्ति के पात्र महन्त, चौबे,तहसीलदार, मैना आदि हाथी से कुचलकर मरते हैं, इन्द्रदेव, शैला का विवाह होता है और माधुरी को उन्हें सौंपकर श्यामदुलारी स्वर्ग जाती है, तितली धामपुर को आदर्श ग्राम बनाती है, जिसमें शैला का भी पर्याप्त सहयोग रहता है, मधुवन लौट आता है। कुछ बातें खटकने वाली हैं। एक तो हाथी के बिगड़ने का वर्णन दो स्थानों पर हुआ है। पता नहीं प्रसाद जी ने नहीं दोबारा हाथी इसलिए तो नहीं बिगड़वाया कि एक बार मधुवन द्वारा जिस मैना वेश्या की हाथी से रक्षा की गई थी, कहीं दोबारा उसी को हाथी से मरवाने की भावना तो उनमें नहीं थी। सोचा हो विश्वासघाती मैना के साथ अब की बार धूर्त सुखदेव चौबे और क्रूर तहसीलदार और विलासी महन्त को भी कुचलवा दिया जाय। हावड़े में गिरहकटों के बीच लड़ाई में मधुवन को न फँसाकर बीरू बाबू वाले प्रसंग से भी काम चलाया जा सकता था। प्रसाद जी के संयोग तत्व ने भी कुछ अस्वाभाविकता ला दी है। शैला को इन्द्रदेव लाते हैं और वह भारत से सम्बन्धित निकलती है, इसी प्रकार उसका बाप भी अचानक आ पहुँचता है। मधुवन बिहारी जी के मन्दिर के पास खड़ा है ताकि महन्त द्वारा अपनी बहिन पर बलात्कार किये जाते समय पहुँचकर उसका गला दबाने के लिए ऊँची दीवार को फाँदकर निकल जाय। वह जब घर से भागता है तो उसे रामदीन मिल जाता है चुनार में। वह न भी मिलता तो क्या था! इसी प्रकार जेल से छूटने पर ननी गोपाल मिलता है मानो वह उसकी प्रतीक्षा ही कर रहा हो।

भाषा-शैली के लिए तो कुछ कहना व्यर्थ है। प्रसाद ने शैला और तितली के रूप-वर्णन और प्रकृति-चित्रण में अपनी भावुकता का पूरा परिचय दिया है। इन्द्रदेव, मधुवन, शैला और तितली के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण तो अत्यन्त ही सुन्दर है। उससे उनके चरित्रों में विशेष आकर्षण आ गया है। कहीं-कहीं तो परिस्थिति से भयभीत मनुष्य का चित्र अद्वितीय बन पड़ा है। तितली के विवाह के समय, जब वह वेदी पर थी,

अनवरी, सुखदेव और राजकुमारी वाट्सन से विवाह को रोकने के लिए कहते हैं तो तितली की दशा ठीक गाँव के समीप रेलवे लाइन के तार को पकड़े हुए उस बालक सी थी, जिसके सामने से डाकगाड़ी भक-भक करती हुई निकल जाती है—सैकड़ों सिर खिड़कियों से निकलते रहते हैं, पर पहचान में एक भी नहीं आते, न तो उनकी आकृति या वर्ण-रेखाओं का ही कुछ पता चलता है । वह अपनी सारी विडम्बना को हटाकर अपनी दृढ़ता में खड़ी रहने का प्रयत्न करने लगी। ('तितली' पृष्ठ ११६;) जीवन के तथ्यों को प्रकट करने वाली सूक्तियों की भरमार से तो 'तितली' भरी पड़ी है। इन सूक्तियों से कथोपकथन तो शक्तिशाली बने हैं पात्रों के चरित्रों को भी विकसित होने में भी सहायता मिली है। 'मानव स्वभाव है; वह अपने सुख को विस्तृत करना चाहता है। और भी, केवल वह अपने सुख से ही सुखी नहीं होता, कभी-कभी दूसरों को दुःखी करके, अपमानित करके, अपने मान को, सुख को प्रतिष्ठित करता है।' (पृष्ठ ४७) 'अन्य लोगों के कलह से थोड़ी देर मनोविनोद कर लेने की मात्रा मनुष्य की साधारण मनोवृत्तियों में प्रायः मिलती है।' (पृष्ठ ५४) 'दूसरों से वही बात सुनने पर जिसे कि अपनों से सुनने की आशा रहती है—मनुष्य के मन में एक ठेस लगती है।' (पृष्ठ ७६) 'प्रेम चतुर मनुष्य के लिए नहीं वह तो शिशु से सरल हृदयों की वस्तु है। (पृष्ठ ११३) 'अपनी किसी भी वस्तु की प्रशंसा कराने की साध बड़ी मीठी होती है, चाहे उसका मूल कुछ भी न हो।' (पृष्ठ १५५) 'दूसरों की दया सब लोग खोजते हैं और स्वयं करनी पड़े तो कान पर हाथ रख लेते हैं।' (पृष्ठ १८२) 'मनुष्य अपने त्याग से जब प्रेम को आभारी बनाता है तब उसका रिक्त कोष बरसे हुए बादलों पर पश्चिम के सूर्य के रत्नलोक के समान चमक उठता है।' (पृष्ठ २०५) 'वृद्धावस्था में मोह और भी प्रबल हो जाता है।' (पृष्ठ २३८) इनमें प्रसाद की सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि का पता चलता है। जीवन के अनुभवों का उनका ज्ञान कितना गहरा था यह इस उदरण से पता लगता है—'विरोधी कभी-कभी बड़े मनोरंजक रूप में मनुष्य के पास धीरे से आता है और अपनी काल्पनिक सृष्टि में मनुष्य को अपना समर्थन करने के लिए बाध्य करता है—अवसर देता है—प्रमाण ढूँढ़ लाता है। और फिर; आँखों में लाली, मन में घृणा, लड़ने का उन्माद और उसका सुख—सब अपने-अपने कोनों से निकलकर उसके हाँ में हाँ मिलाने लगते हैं।' (पृष्ठ ६२) चित्रात्मक भाषा का उदाहरण देखना हो तो इन पंक्तियों में देखिये—'शैला ने अपनी भोली आँखों को एक बार ऊपर उठाया, सामने से सूर्योदय की पीली किरणों ने उन्हें धक्का दिया, वे फिर नीचे झुक गईं।' (पृष्ठ ३२) या 'कुतूहल से भरी ग्राम-वधुएँ, एक दूसरे की आलोचना में हँसी करती हुईं, अपने रंग-बिरंगे वस्त्रों में टीक शस्य श्यामल खेतों की तरह तरंगायित और चंचल हो रही थीं।' (पृष्ठ १५५) कहीं-कहीं वाक्य-विन्यास पूर्ण हो गया है। 'उसकी आँखों से आँसू

निकल रहा था।' (पृष्ठ १३६) और 'भइया, सबका दिन बदलता है' (पृष्ठ २१६) ऐसे ही प्रयोग हैं। इतना होने पर प्रसाद की भाषा-शैली का अपना एक अलग सौन्दर्य है, जिसका प्राण है कल्पना की रंगीनी और भावुकता की गहराई। 'तितली' में ये दोनों बातें पर्याप्त मात्रा में हैं।

१०

प्रसाद की अधूरी 'इरावती'

[प्राणमोहन सिंह]

जीवन जगत का मौलिक संघर्ष चिरन्तन है। बाह्य रूप समय की प्रतिच्छाया से परिवर्तित होता रहता है। युग प्रवर्तक वर्तमान संघर्षों के मौलिक उद्‌गमों का अन्वेषण युग के पीछे भौतिक आवरणों से निकलकर करता है। स्वर्गीय जयशंकर प्रसाद ऐसे ही एक महान् अन्वेषक थे। जीवन, कला और दर्शन का साक्षात्कार इन्होंने इतिहास के रहस्यमय पृष्ठों पर किया है। इन अन्वेषणों मे इन्होंने जो कुछ पाया उसकी अभिव्यक्ति हिन्दी-साहित्य के विभिन्न अंगों को प्राप्त है।

अभिव्यक्ति की पावन लहरें समष्टि-सागर से व्यष्टि तट की ओर आतीं, और तट की छाप लेकर पुनः जगत सागर की ओर लौट जाती हैं। यद्यपि तट की ओर जाने वाली व्यग्र लहरें बड़ी सतर्कता से तट की ओर जाती हैं, पर भौतिक साधनों की निःसार्थकता के कारण कुछ अधूरी ही रह जाती हैं। इन अपूर्ण कल्पना-लहरों के प्रति हमारी करुणा और सहानुभूति सहज और स्वाभाविक हो जाती है। प्रसाद की 'इरावती' ऐसी ही एक अपूर्ण अभिव्यक्ति की लहर है, जो तट छूते-छूते नियति के कठोर शासन में विशृंखल होकर विलीन हो जाती है। 'चित्र बनते-बनते बिगड़ जाता है।' लेखक का यह वाक्य कितना व्यापक अर्थ रखता है। इन्हें क्या पता था कि जिन बनते-बिगड़ते चित्रों के लिए इन्होंने कूची उठाई थी, वह चित्र भी बनते-बनते बिगड़ जायगा या अपूर्ण ही रह जायगा।

कलाकार अपनी अमूर्त कल्पना को कला के अनन्त पट पर चित्रित करते-करते परिश्रान्त हो जाता है, फिर भी वह अपने हृदय के सारे रंग उस पर नहीं चढ़ा सकता है। इसलिए कलाकार का जीवन सदा अतृप्त रहता है; लेकिन सच कहा जाय तो यही अतृप्ति कलाकार का जीवन है। एक चित्र का निर्माण हो जाने के बाद ही कलाकार के उर्वर मस्तिष्क में दूसरे की कल्पना आ जाती है। यह कोई निश्चित नहीं कि दूसरी कल्पना सर्वथा मौलिक ही हो। उसमें प्रथम की कुछ अमूर्त समस्याएँ भी रह जाती हैं। और सच तो यह है कि कलाकार को निर्मित चित्र की अपेक्षा कल्पित अधिक भाता है।

प्रसाद की 'इरावती' इनकी पूर्व रचना 'कामायनी' की उठी समस्या का निदान है। 'कामायनी' का 'मनु' विनष्ट सृष्टि में मानव का बीजारोपण करता है और नारी 'श्रद्धा' अपने अमूल्य त्याग और ममता से उसका लालन-पालन करती है। विनाश के अवशिष्ट कण द्वारा सृष्टि का निर्माण होना है, पर 'इरावती' में मानवता—जो मानव की सर्वश्रेष्ठ

वस्तु है विवेक की अतिवादिता से मानवता को विनष्ट करती है, तथा उसी विनाश से पुनः चिरन्तन सत्य को लेकर मानवता का निर्माण करती है। जैसा उनके संकेत पत्र से विदित होता है। "मानवता ने अपने युगों के जीवन में सृष्टि का विनाश और विनाश से सृष्टि की है। चित्र बनता-बनता बिगड़ जाता है। जैसे प्रत्येक रेखाएँ नपी-तुली होने पर भी कृत्रिमता से असङ्गत हो जाती हैं। फिर से चित्र बनाने के लिए चित्रकार कूचियों को दूसरे पट पर पोंछने लगता है और तब ! हाँ सचमुच वह फूल-सा बन जाता है। अति सुन्दर बनाने के लोभ में प्रायः वस्तु को वीभत्स बना दिया जाता है। फिर तो उससे नाता तोड़ लेना आवश्यक हो जाता है।"

मानवता के विनाश का यही मूल कारण है। युग मानवता (सत्य) के रूप को और अधिक निखारने के लिए उस पर अपनी अनुभूतियों का रंग चढ़ाने लगता है। युग के संघर्षों में मानवता दब जाती है और उस पर व्यक्तिगत विवेक का ढोंग अपना आधिपत्य जमा लेता है। *जीवन देवता की निष्कलंक प्रतिमा कृत्रिम आवरणों से इतनी धूमिल हो* जाती है कि उससे सम्बन्ध स्थापित परखना असम्भव ही नहीं असह्य हो उठता है। पर चिरन्तन रहस्य निर्मूल नहीं होता। उसकी जीर्ण भित्ति पर पुनः मानवता नये चित्रकार की पोंछी हुई कूची से फूल-सी खिल उठती है।

प्रसाद जी की यह भाव-पीठिका इतिहास के ऐसे ही संगम पर अवस्थित भी है जहाँ एक उन्नत मानवता (बौद्ध धर्म) का विध्वंसात्मक रूप दिखाई पड़ रहा है और क्रमशः वह पतन की ही ओर जा रही है। भगवान् तथागत का वह पथ जो एक दिन सम्पूर्ण मानव का गन्तव्य और प्रशस्त पथ था, जिस पर संसार चलने में अपने को सौभाग्यशाली समझता था, वही पथ सम्राट् अशोक की मृत्यु के बाद कण्टकपूर्ण तथा पतन की ओर ले जाने वाला बन जाता है। जहाँ अहिंसा मानवता की सहचरी बनकर स्वच्छन्द विहार करती थी वहीं अब हिंसा अहिंसा का गला घोंट रही है। अमात्य कुमार बृहस्पतिमित्र अहिंसा की गद्दी पर हिंसात्मक प्रवृत्ति लेकर बैठता है। भोग और विलास की एकत्र वस्तु ही विनाश की चिनगारी बनती है। वृद्ध महाराज शान्तनु की काम-तृप्ति के लिए लाई गई युवती 'कालिन्दी' बल और पौरुष का विनाश करती है। महाविहार और उसके भिक्षुणी भी साम्राज्य का वैभव समझी जाती है।

सम्पूर्ण आर्यावर्त स्थान वीर-विहीन दिखाई पड़ता है। जैसा महाकाल के पुजारी ब्रह्मचारी के शब्दों से जान पड़ता है। वे अग्निमित्र से कहते हैं—"मुझे अपनी आँखों से देखना होगा कि आर्यावर्त्त में कहीं पौरुष बच गया है! कहीं तेज किसी राख में छिपा तो नहीं है। मैंने इन कई महीनों में शास्त्रों का अध्ययन करके जो रहस्य समझ पाया है उसका प्रचार करने के लिए कहीं क्षेत्र है कि नहीं।"

यहीं मानवता के विनाश और सृजन का संगम है जहाँ एक ओर आर्यों में अहिंसा,

अनात्म और अनित्यता के नाम पर कायरता, अविश्वास और निराशा फैली हुई है वह ! दूसरी ओर आत्मज्ञान की आशा, जीर्ण और शिथिल चिरन्तन रहस्य पर नवीन आवरण चढ़ाने का उपक्रम कर रही है। परन्तु पुरातन की पूर्ण उपेक्षा भी नहीं है क्योंकि उसने मानवता को नये विचारों और नयी योजना का दान दिया है।

इन्हीं उत्थान और पतन के बीच मानवता पलती है। वर्तमान युग का गाँधीवाद उसी रहस्य का एक नया रूप है जिसमें वाणी की शुद्ध, आत्मा को निर्मल और जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने की क्षमता है।

कला-सौन्दर्य और नारी का अपमान ही मानवता को विनाश की ओर ले जाता है। महाकाल-विग्रह के समस्त उन्मुक्त नृत्य करने वाली 'इरावती' मदान्ध बृहस्पतिमित्र की आँखों में गड़कर भिक्षुणी विहार में आडम्बरपूर्ण संयम और शून्य की उपासना के लिए प्रेरित की जाती है। कला, सौन्दर्य और अभिव्यक्ति की परतन्त्रता से आनन्द की निश्पत्ति में बाधा उत्पन्न होती है। यही बाधा मानव की प्रगति को रोककर नीचे की ओर जाने की प्रेरणा देती है। कर्त्तव्यनिष्ठ एवं मानवता का पुजारी अग्नि-मित्र मायावी मोह-ममता में पड़कर कर्तव्य-च्युत हो जाता है। मोह, ममता और वासना में पड़कर भी 'मानव' की सृष्टि 'मनु'-जैसा कर सकता है परन्तु मानवता की सृष्टि मानव, काम और तृष्णा में पड़कर नहीं कर सकता है, और ऐसे समय में जब अहिंसा हमारी हिंसा करने लगती है, प्रेम हमी से द्वेष करने लगता है और धर्म पाप बन जाता है।

सच कहा जाय तो प्रसाद की वह महान् कल्पना अभी तक केवल भूमिका मात्र ही तैयार कर सकी थी। मानवता का वह मन-भवन जिसमें वर्तमान युग की विकल मानवता कुछ क्षण विश्राम पा सकती आज अपूर्ण पड़ा है। प्रसाद जी का औपन्यासिक क्षेत्र में ऐतिहासिक मार्ग द्वारा प्रथम प्रवेश भी कम महत्त्व नहीं रखता। 'कंकाल' और 'तितली' की अपूर्ण आकांक्षा ही 'इरावती' का ऐतिहासिक प्रणय है। वर्तमान और भविष्य की रूपरेखा, अतीत के टूटे-फूटे खण्डहरों में अपनी अनुभूतियों की ज्योति जलाकर प्रकाश करना प्रसाद जी की प्रवृति रही है। इसलिए इतिहास में वे जितने पीछे जा सके उतनी ही अधिक सफलता उन्हें मिली। यहाँ तक कि वे सृष्टि के आदि युग की ओर जाते हैं, जहाँ उन्हें 'मनु' और 'श्रद्धा' मिलते हैं, जिससे वे अपने जीवन की उत्कृष्ट कल्पना को 'कामायनी' का रूप दे सके। 'इरावती' को लेकर भी प्रसाद जी बड़ी सफलता के साथ मानवता के विनाश और सृष्टि के संगम की ओर जा रहे थे, परन्तु नियति के कठोर नियमों के चलने में वे आगे नहीं बढ़ सके और जीवन की संचित अनुभूतियों का अन्तिम चित्र भी अपूर्ण ही रह गया। चित्र बनते-बनते बिगड़ गया।

११

ऐतिहासिक कृति 'आँसू'

[विनयमोहन शर्मा]

प्रसाद हिन्दी के भावुक कवि और कुशल कलाकार हैं। इसे कोई यदि उनकी एक ही रचना में देखना चाहे, तो उसे 'आँसू' की ओर ही इंगित किया जा सकता है। 'आँसू' की ओर सहसा आकर्षण के दौड़ने के दो ही कारण हैं—एक तो उसमें प्रेम की स्मृति इतनी सत्यता के साथ अभिव्यक्त हुई है कि हमारा कवि के साथ अविलम्ब साधारणीकरण हो जाता है। हम कवि की स्मृति के साथ अपनी सोई हुई वेदना को अपनी ही आँखों में छाई हुई पाते हैं, जो उनके आँसुओं के साथ ही बहने लगती है। दूसरा गुण है, उसकी अभिव्यंजना-प्रणाली। यद्यपि विहारी के दोहों मे गागर में सागर लहर चुका था, पर प्रसाद ने सागर को इतना प्रच्छन्न रखा है कि वह हर पात्र में समाकर भी अपनी असीमता कायम रखता है। उसमें इतनी व्यापक अभिव्यक्ति है तभी स्व० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है—"अभिव्यंजना की प्रगल्भता और विचित्रता के भीतर प्रेम वेदना की दिव्य विभूति का, विश्व के मंगलमय प्रभाव का, सुख और दुःख दोनों को अपनाने की उसकी अपार शक्ति का और उसकी छाया में सौन्दर्य और मंगल के संगम का भी आभास पाया जाता है।"

श्री इलाचन्द्र जोशी के शब्दों में प्रसाद जी की आँसुओं की पंक्तियों ने हिन्दी जगत् को प्रथम बार उस वेदनावाद की मादकता से विभोर किया, भयंकर बाढ़ में सारे युग को परिप्लावित कर देने की जैसी क्षमता प्रसाद जी के इन आँसुओं में रही है, वह हमारे साहित्य के इतिहास में वास्तव मे अतुलनीय है।

हम तो यहाँ तक कहेंगे कि यदि 'आँसू' का प्रकाशन न होता तो 'छायावाद' की भूमि ही निर्दिष्ट रह जाती, अन्तर्भावनाओं की—उन भावनाओं की जो यौवन को झकझोरा करती हैं—अभिव्यक्ति स्पष्ट न हो पाती। यह छायावाद-युग की प्रतिनिधि-रचना है। 'कामायनी' में काव्य दार्शनिकता का स्पष्ट आवरण भी ओढे हुए है। 'आँसू' की दार्शनिकता *प्रासंगिक है और वह वहीं ऊपर उठती है, जब हम 'आँसुओं' का अन्तिम* चरना देखते हैं—कवि उन्हें व्यापक बनाने के लिए अपनी ही व्यथा के आघात तक अपने को सीमित न रखकर विश्वपीड़ा के साथ समरस होना चाहता है। यों तो प्रारम्भ के आधे से अधिक छन्दों में हम केवल काव्य और कला का ही सौन्दर्य देखते हैं, और मुग्ध हो उठते हैं। हम उन्हीं की 'ध्वनि' को मानो अपने में ही सुनने लगते हैं—कवि, तुम अपने'

जरा-से पात्र में रस कहाँ से भर लाये जो बरबस समा नहीं रहा है—हम चकित हैं, समझ नहीं पाते—ऐसा मधुवन तुम में कहाँ छिपा था !

आचार्यों ने कविता के तीन पक्ष माने हैं—वे (१) भाव-पक्ष, (२) विभाव-पक्ष और (३) कला-पक्ष। भाव-पक्ष से कवि का हृदय उद्वेलित होता है, विभाव-पक्ष हृदय के उद्वेलन का कारण है और कला-पक्ष भाव-पक्ष का व्यक्त रूप है।

आँसू का आलम्बन—सबसे पहले हम 'आँसू' के विभाव-पक्ष पर दृष्टिपात करेंगे—यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि कवि के हृदय को कहाँ से ठेस पहुँच रही है, उसकी भावनाओं का आलम्बन क्या है ! 'आँसू' की पूर्व रचना—'झरना' में कवि ने गाया था—

"कर गई प्लावित तन मन सारा,
एक दिन तव अपांग की धारा,
हृदय से झरना—
बह चला जैसे दृगजल ढरना,
प्रणय वन्या ने किया पसारा,
कर गई प्लावित तन मन सारा।"

इस तव में किसकी ओर संकेत है ? किसके कटाक्ष रस से सारा तन-मन प्लावित हो उठा ! यह 'तव' यहाँ का इहलोक का हाड़-माँस का पुतला हो सकता है और उस लोक का भी, जो केवल कल्पना से ही स्थित है—जिस तक हमारी वृत्तियाँ सहज केन्द्रित होना नहीं चाहतीं, नहीं जानतीं।

प्रसाद के एक आलोचक लिखते हैं—"जीवन के प्रेम-विलासमय मधुर पक्ष की ओर स्वाभाविक प्रवृत्ति होने के कारण वे उसे 'प्रियतम' के संयोग-वियोगावलि रहस्य-भावना में—जिसे स्वाभाविक रहस्य-भावना से अलग समझना चाहिए—प्रायः रमते पाये जाते हैं। प्रेम-चर्चा के शारीरिक व्यापारों और चेष्टाओं (अश्रु, स्वेद, चुम्बन, परिरम्भण, लज्जा की दौड़ी हुई लाली इत्यादि) रंगरेलियों और अठखेलियां, वेदना की कसक और टीस इत्यादि की ओर इनकी दृष्टि विशेष जमती थी। इसी मधुमयी प्रवृत्ति के अनुरूप उनकी प्रकृति के अनन्त क्षेत्र भी वल्लरियों के दान, कलिकाओं की मन्द मुस्कान, सुमनों के मधु-पात्रों पर मँडराते मलिन्दों के गुञ्जार, सौरभहर समीर की लपक-झपक पराग-मकरन्द की लूट, ऊषा के कपोलों पर लज्जा की लाली, आकाश और पृथ्वी के अनुरागमय परिरम्भ, रजनी के आँसू से भीगे अम्बर, चन्द्रमुख पर शरद्घन के सरकते अवगुण्ठन, मधुमास की मधु-वर्षा और झूमती मादकता इत्यादि पर अधिक दृष्टि जाती थी। दूसरे आलोचक भी इसी बात को इन शब्दों में कहते हैं—"प्रसाद जी का काव्य मूलतः मानवीय है।" इसके विपरीत ऐसे भी आलोचक हैं, जो प्रसाद की रचनाओं में

रहस्यवाद ही पाते हैं, वे इसे विरह-काव्य तो मानते हैं पर विरह में अलौकिकता का आरोप कर आत्मा को परमात्मा के विरह में आँसू बहाता पाते हैं। हाल ही एक समाचारपत्र में 'आँसू' के कथानक की रोचक खोज पढ़ने को मिली। उसे हम यहाँ मनोविनोद के लिए दे रहे हैं। इसमें (आँसू) सृष्टि के मिलन और विरह का आख्यान है। सवाल उठता है, सृष्टि का यह मिलन और विरह किससे ? 'सुन्दर' से निर सुन्दर से। (फिर सवाल उठता है, यह सुन्दर चिरसुन्दर कौन ? इसका उत्तर आगे ब्रह्म कहकर दिया गया है।)

'आँसू' की कथा लेखक यों देते हैं—

"सृष्टि की एक महामिलन की अवस्था थी। उसमें सर्वतो सुन्दर का विस्तार था। सृष्टि और सुन्दर एक दूसरे से परे पड़े थे। (मिलन की अवस्था थी और परे भी पड़े थे, यह विरोधाभास भी रहस्यमय ही है) आगे और भी सुनिये—वस्तुतः सृष्टि और सुन्दर दो चीजें नहीं थीं। एक ही वस्तु थी—सुन्दर केवल विस्तार पदार्थ का असीम समूह। महामिलन की यह अवस्था एक लम्बे युग तक चलती रही। फिर पदार्थ का पृथक्करण होना शुरू हुआ। पृथ्वी आकाश से अलग हो गई, (तो क्या आकाश और पृथ्वी भी एक थे ?) नक्षत्र अलग हो गये। यह प्रतिक्रिया भी एक लम्बे समय तक चलती रही। भीषण आँधियाँ उठीं, बर्फ की चट्टान पिघल-पिघलकर सागर, सरिता, सरोवर आदि के रूपों में बहने लगी। भीषण आँधियाँ आई, अँधेरा छाया, बिजलियाँ कड़कीं। संक्षेप में सृष्टि विभिन्न तत्त्वों में बँट गई। फिर सृष्टि चेतना-तत्त्व का विकास हुआ और—सुन्दर—तिरोहित हो गया। तब से सृष्टि का सुन्दर से विरह हो गया। विरह का आविर्भाव क्यों हुआ ? चेतना के कारण। चेतनाशून्य अवस्था में द्वन्द्व का अस्तित्व न था, . सर्वत्र एक ही तत्त्व था—चिरसुन्दर। पर चेतना के उदय के साथ सुख-दुख का भेद प्रकट होने लगा। अब हजारों सालों से सृष्टि की यह विरहावस्था चली आ रही है। उस सुन्दर का, जो सृष्टि के महामिलन की अवस्था में सर्वत्र विद्यमान था, ज्ञान कवि को प्रतिभा को होता है। उसकी पूर्व-स्मृति जाग उठती है। कवि सृष्टि के महामिलन की अवस्था का ध्यान करके अब चतुर्दिक विरह का प्रसार देकर नौ-नौ (?) आँसू बहाता है। अन्त में उसे इस बात से आश्वासन प्राप्त होता है कि फिर प्रलय के बादल उठेंगे, भीषण वर्षाएँ होंगी, आँधियाँ आयेंगी, बिजलियाँ चमकेंगी, द्वित्व समाप्त हो जायगा, चेतना सुप्त हो जायगी। फिर महामिलन की अवस्था आयेगी, सर्वत्र सुन्दर का विस्तार प्रस्तावित होगा, आपने प्रथम 'सृष्टि' को प्रेमिका और सुन्दर को प्रियतम का प्रतीक माना, फिर शीघ्र ही अपने विचार को बदल दिया, या यों कहिये सृष्टि प्रेमी है, सुन्दर प्रेम-पात्र। सृष्टि का प्रतिनिधि कवि स्वयं है। आपकी सम्मति में आँसू, सृष्टि, की उत्पत्ति और प्रलय का रूपक है। इसके समर्थन में आप 'आँसू' से निम्न पंक्तियाँ भी

उद्धृत करते थे—

"बुलबुले सिन्धु के फूटे,
नक्षत्र मालिका टूटी,
नभ मुक्त कुन्तला धरणी,
दिखलाई देती लूटी।
छिल छिलकर छाले फोड़े,
मल मलकर मृदुल चरण से,
घुल घुलकर रह बह जाते,
आंसू करुणा के कण से।"

और इनका इस प्रकार अर्थ करते हैं—

'महामिलन की अवस्था' में पदार्थ का प्रबल उष्ण पदार्थ का (शायद आप उस धारणा का उल्लेख करते हैं, जिसमें सृष्टि को आदिमावस्था में आग का गोला कहा गया है) एक असीम समूह था। उसका कुछ हिस्सा फफोलों की तरह फूट गया (यह छिल-छिलकर छाले-फोड़े, का अर्थ लगाया गया है और सागर के रूप में वह चला। पदार्थ के उस असीम समूह से प्रकाश पुञ्ज के पिण्ड-पिण्ड अलग हो गये। ये सब नक्षत्र बन गये। (यह सम्भवतः नक्षत्र मालिका टूटी का अर्थ है) बेचारी यह पृथ्वी नभ-मुक्त होकर यानी पदार्थ के उस बृहत्तम समूह से अलग होकर शोभा-विहीन बिखरे बाल हैं, जिसके ऐसी, एक विधवा की तरह लूटी हुई, दिखाई देने लगी। बर्फ की चट्टानों पर चट्टानें फिसलने लगीं और फिसलकर पृथ्वी के ऊपर सरिता, सागर और सरोवर के रूप में बन गई। मानों आनन्द की उस महा सम्पत्ति के लुट जाने पर ये सब आँसू बहा रहे थे।"

'आँसू' को ध्यान से पढ़ने पर लेखक द्वारा निर्दिष्ट 'रूपक' की संगति नहीं बैठती। न कहीं बर्फ की चट्टानों के पिघलने का उल्लेख है, न कहीं आँधी और बिज-लियों के चलने-गिरने का। लेखक ने

"झंझा झकोर गर्जन, बिजली है, नीरद माला।
पाकर इस शून्य हृदय को, सबने आ डेरा डाला।।"

से पहली पंक्ति के 'झंझा झकोर, बिजली और नीरद माला', शब्दों को लेकर यह कल्पना तो करली कि यह सृष्टि पर होने वाले प्रलय का वर्णन है, पर उसी की दूसरी पंक्ति 'पाकर इस शून्य हृदय को, सबने आ डेरा डाला,' को सर्वथा विस्मृत कर दिया। यदि वे तनिक विचार करते तो उन्हें झंझा, बिजली और नीरदमाला, भावों की हलचल वेदना और उदासी के प्रतीक जान पड़ते, जो वियोग की दशा में कवि के हृदय को अभिभूत किये हुए थे।

इसी प्रकार—'छिल-छिलकर छाले फूटे', का (सृष्टि !) प्रबल उष्ण पदार्थ का कुछ हिस्सा फफोले की तरह फूट गया—अर्थ लेखक की दिमागी कसरत ही प्रतीत होती है। बुलबुले सिन्धु के फूटे, नक्षत्र मालिका टूटी का अर्थात् उस असीम समूह से प्रकाश-पुञ्ज के पिण्ड के पिण्ड अलग हो गये। ये सब नक्षत्र बन गये, यह भी असंगत है। पंक्ति में नक्षत्रमालिका के बनने का भाव कहा है ! यहाँ तो उसके टूटने की चर्चा है। आगे नभ-मुक्त कुन्तला धरणी का अर्थ बेचारी यह पृथ्वी नभ-मुक्त होकर यानी पदार्थ के उस वृहत्तम समूह से अलग होकर किया गया है। इससे क्या यह समझा जाय कि नभ पृथ्वी के समान ठोस विस्तृत पदार्थ है, जिसका एक टुकड़ा यह पृथ्वी है ! यह बात विज्ञान से सिद्ध नहीं होती। फिर मुक्त-कुन्तला का विश्लेषण हो जाने पर उसका 'नभ' से क्या सम्बन्ध जोड़ा गया है, यह स्पष्ट नहीं है। इतनी खींचतान करने पर भी लेखक अन्त तक सृष्टि के सर्जन और विसर्जन (प्रलय) की वैज्ञानिक कहानी का पूर्ण निर्वाह नहीं कर पाये। अतः अन्त में उन्होंने यह लिखकर झंझट से छुट्टी पा ली कि, 'आँसू के कथानक में वैज्ञानिकता-अवैज्ञानिकता दोनों हैं। "यह सब गड़बड़झाला इसलिये हो गया कि लेखक ने प्रसाद के प्रतीकों को ठीक रूप में पकड़ने की चेष्टा नहीं की और न उनकी संगति ही वे जमा पाये। कवि की अभिव्यक्ति व्यापक होती है। पाठक उसे अपनी बुद्धि के अनुसार अर्थ देने के लिए स्वतन्त्र हैं, पर अर्थ ऐसा हो जो संगति के चारों खूँटे घेर ले।" 'आँसू' में कला की सजगता इतनी अधिक है कि पाठक उसमें मनमाना अर्थ खोज सकता है पर वही अर्थ मान्य होना चाहिए जिसका अन्त तक निर्वाह हो सके। इसीलिए हमने उसे मानवीय काव्य माना है—रहस्यवादी नहीं। शुद्ध रहस्यवादी रचनाओं में 'अन्नमयकोष' के प्रति विरक्ति पाई जाती है, चैतन्य मनोमय, और 'आनन्दमय' कोषों में एकता का अनुभव करता है। अन्तिम कोटि की रचनाएँ चाहे जो कहलावें, काव्य के अन्तर्गत नहीं आतीं। उनसे बुद्धि का कुतूहल दूर हो सकता है, हृदय की प्यास नहीं बुझ सकती।

'आँसू' में व्यक्ति के प्रति ही आकांक्षा प्रकट की गई है। इसमें अन्नमय कोष का स्थूल सौन्दर्य का आकर्षण प्रबल है, जो निम्न उद्गारों से स्पष्ट है :—

"(१)—इस हृदय कमल का घिरना,
अलि-अलकों की उलझन में,
(२)—बाँधा था विधु को किसने,
इन काली जंजीरों से,
(३)—पी किस अनंग के धनु की,
वह शिथिल शिंजनी दुहरी,
अलबेली बाहु लता या,
तनु छवि-सर की नव लहरी ?"

आदि शब्दों में—स्थूल शरीर का नखशिख वर्णन ही है। अतः 'आँसू' का आधार असीम व्यक्ति है, जिसके मिलन सुख की स्मृति ने कवि के हृदय में वेदना-लोक की सृष्टि की है। यह अवश्य है कि कवि ने यत्र-तत्र परोक्ष का संकेत कर उसे अलौकिकता की आभा से दीप्त करने का प्रयास किया है, जिससे ऐसा भासने लगता है कि कवि का उस विराट से साक्षात्कार हो चुका है। निम्न पंक्तियों में कुछ ऐसा ही संकेत है—

"(१)—कुछ शेष चिन्ह हैं केवल,
मेरे उस महामिलन के
(२)—आती है शून्य क्षितिज से
क्यों लौट प्रतिध्वनि मेरी ?"

परन्तु इन संकेतों ने विद्यमान रहते हुए भी रचना का आधार एक दम पारलौकिक नहीं माना जा सकता। प्रेमी के लिए उसके प्रिय का क्षणिक मिलन—ऐसा मिलन, जिसे वह अन्तिम समझ चुका है, महामिलन, ही है, और आँसू, की 'स्मृतियों की बस्ती, में तो हमें प्रिय की पार्थिव अंग शोभा ही नहीं,' प्रेमी और प्रिय, के शरीर—व्यापारों की झाँकी भी मिलती है—

"परिरम्भ कुम्भ की मदिरा,
निश्वास मलय के झोंके,
मुख-चन्द्र चाँदनी जल से,
मैं उठता था मुंह धोके।"

इसके साथ ही जब हम यह पढ़ते हैं—

"निर्मम जगती को तेरा,
मंगलमय मिले उजाला,
इस जलते हुए हृदय की,
कल्याणी शीतल ज्वाला।"

तब जान पड़ता है, आँसू का आलम्बन, जन समूह भी है।

तो क्या हम आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की भाँति यह मान लें कि 'आँसू' की वेदना की कोई निर्दिष्ट भूमि नहीं, और उसका कोई एक समन्वित प्रभाव निष्पन्न नहीं होता? पुस्तक को ऊपरी दृष्टि से—सरसरी तौर पर देखा जाय तो ये आक्षेप ठीक प्रतीत होंगे, *किन्तु उसकी मनोभूमि में प्रविष्ट होने पर हमें उसमें जीवन की एक मनोवैज्ञानिक कहानी* अन्तर्हित दिखलाई देती है। उसकी निर्दिष्ट भूमि भी मिलती है।

'आँसू' के नायक को दुर्दिन में अपने गत वैभव-विलासमय जीवन का स्मरण हो आता है, उसकी प्रेयसी की मदमाती छवि उसकी आँखों में बस जाती है। उसे याद आता है, मानो दारिद्र के शब्दों में माराओं के अभाव में सम्राट् एक ही था। जिनकी में

वे हजारों थे, मगर उसके दिल को चुराने वाला एक ही था, स्मृति के जाग्रत होते ही वह उदास हो जाता है, अपने प्रिय के प्रथम आगमन—प्रथम परिचय की अवस्था को रह-रहकर विसूरने लगता है। कभी सोचता है, वह इस पृथ्वी की न थी, स्वर्गिक आभा थी, जो उससे मिलने को नीचे आई थी। उसका मधुराका को लजाने वाला मुख देखते ही वह उसकी ओर खिन्च गया था। (लव एक फर्स्ट साइट) इसी को कहते हैं। उसमें वह अपना अस्तित्व ही भूल गया। उसने उस पर पूर्ण अधिकार जमा लिया। जब मनुष्य के मन में किसी की स्मृति तीव्रतम हो उठती है, तो वह स्मृति के आधार की आकृति, उसकी बातों, उसके व्यापारों—कार्य-कलाप का—बहुत विस्तार के साथ मनन करने लगता है। तभी हम 'आँसू' के नायक को अपने 'प्रिय' के शारीरिक सौन्दर्य-वर्णन में—नहीं, नहीं, उसके साथ मिलन-क्रीड़ाओं का उल्लेख करने में भी—हर्ष विकम्पित पाते हैं। चाँदनी की चाँदी भरी रातें सुख के सपनो की अधिक समय तक उसके कुञ्ज में वर्षा नहीं करने पाई। वह 'प्रिय' से बिछुड़ जाता है और वह उससे मुँह भी मोड़ लेती है। तब उसका हृदय स्वभावतः जलता है, तड़पता है। उसमें आशा-निराशा की आँख-मिचौनी-सी होती रहती है, जब सशरीर अपने निकट उसे देखने की आशा का अन्त हो जाता है, तब वह प्रकृति के व्यापारों द्वारा उसके सान्निध्य-सुख का अनुभव करने लगता है—

"शीतल समीर आता है, कर पावन परस तुम्हारा;
मैं सिहर उठा करता हूँ, बरसाकर आँसू धारा।"

जैसे उद्‌गार इसी परिस्थिति के द्योतक हैं—

"निष्ठुर, यह क्या, छिप जाना ? मेरा भी कोई होगा,
प्रत्याशा विरह-निशा की हम होंगे औ' दुख होगा।"

दर्द का हद से गुजरना है—दवा हो जाना—के अनुसार वह निराशा को त्याग देता है, दुखी मनुष्य का दुख दूसरों के दुख को देखकर घट जाता है। 'आँसू' के नायक ने जब देखा कि संसार में वही दुखी नहीं है, उसके चारों ओर मानव-जाति पीड़ा से कराह रही है। तब वह अपनी व्यथा को भूलने लगता है, दूसरों के दुख-दर्द में आपकी सहानुभूति प्रकट करने लगता है और प्रकृति से भी प्रार्थना करता है कि वह भी संसार के दुख को कम करने में सहायक बने। वह अपनी वेदना से भी कहता है—तुम अपनी ही उलझनों को सुलझाने में व्यग्र न रहो, अपने ही अभावों में न जलो। तुम्हारे चारों ओर जो हाहाकार मचा हुआ है, उसे भी अनुभव करो। संसार के सभी सुखी-दुखी प्राणियों के दुख में अपने आँसू बहाओ।

'आँसू' में मानव-जीवन का व्यक्ति का समष्टि की ओर विकास भी दिखलाई देता है। पहले हम भौतिक सौन्दर्य की ओर एकदम खिंच जाते हैं, उसी को परमात्मा मान लेते हैं—स्वर्ग और परलोक की सारी कल्पनाओं का उसी में आरोप कर देते हैं, उसकी

आराधना में ही हम सब कुछ भूल जाते हैं। हमारी दुनियाँ—दो—ही में समा जाती है। परन्तु जब भौतिक सुख छिन जाता है, तो हम पहले तो उसकी याद में तड़पते हैं, रोते हैं, आशा-निराशा में उतराया करते हैं और फिर ज्यों-ज्यों उसके अप्राप्य बनते रहने की सम्भावना बढ़ती जाती है, हमारी मोह-निद्रा टूटती जाती है, हम वस्तु-स्थिति को पहचानते हैं और अपनी सहृदयता को अपनी ही ओर केन्द्रित न रखकर संसार में बिखेर देते हैं, लोक-कल्याण में हम अपने जीवन का अन्तिम ध्येय अनुभव करने लगते हैं। दूसरे शब्दों में 'आँसू' में पहले उठते यौवन की मादकता—बेचैनी—फिर प्रौढ़ता का चिन्तन और अन्त में ढलती आयु का निर्वेद दिखलाई देता है।

'आँसू' की 'आत्मा' को देखने पर उसमें तारतम्य जान पड़ता है। अतः वह 'प्रबन्धमय' है, पर 'आँसू' के अनेक पद्य ऐसे हैं कि उन्हीं पर मन को केन्द्रित करने से वे प्रत्येक अपने में पूर्ण प्रतीत होते हैं। इस तरह, 'आँसू' उस मोतियों की लड़ी के समान है जिसका प्रत्येक मोती पृथक् रहकर भी चमकता है और लड़ी के तार में गुँथकर भी 'आब' देता है, वस्तुतः उसमें मुक्तत्व और प्रबन्धत्व दोनों हैं।

भाव-पत्त

हमारे हृदय में अनेक भावों की स्थिति है, परन्तु वे कुछ एक—नौ—में परिगणित कर लिये गये हैं। और वे ही हमारे मूल भाव माने जाते हैं। शेष समय-समय पर तरंगित हो उठते हैं। साहित्य में वे ही भाव—वे ही भावनाएँ मान्य हैं। जो अपने 'आश्रय' के सुख-दु:ख तक ही सीमित नहीं हैं, प्रत्युत जिनकी व्याप्ति विश्व में समाई हुई है, जो केवल कवि में उदित नहीं होते, समाज परिस्थिति में अन्य व्यक्तियों में भी जाग उठते हैं। दूसरे शब्दों में जिन भावों में साधारणीकरण की अवस्था पैदा करने की सामर्थ्य नहीं, वे व्यक्ति विशेष के भाव हो सकते हैं, साहित्य के नहीं।

प्रसाद के 'आँसू' उनकी ही आशा-निराशाओं के 'स्फुलिंग' नहीं हैं। उनमें हमारी आशाएँ-निराशाएँ भी प्रतिबिम्बित जान पड़ती हैं। वे हम में पीड़ा भरकर भी अनिर्वचनीय आनन्द की सृष्टि करते हैं। परन्तु 'आँसू' के भावों की एक विशेषता है—वे सीधे निःसृत होकर सीधे ही प्रविष्ट नहीं होते। वे कला का सुन्दर अवगुण्ठन डालकर आते हैं। जब तक हम कवि के सश्रम निर्मित अवगुण्ठन को पहचान नहीं पाते, वे हमारे मन में रस-बूँद नहीं बरसा पाते, हमें आत्मविभोर नहीं बना पाते। यही कारण है, 'आँसू' में बहुतों को दुरूहता दिखाई देती है। सच बात तो यह है कि अप्रच्छन्न होकर प्रसाद ने बहुत कम कहा है। कई बार वे शब्दों का चित्र खींचकर ओझल हो जाते हैं और हमें अपनी भावनाओं का रंग भरने को स्वतन्त्र छोड़ देते हैं। कभी-कभी ऐसा भी प्रतीत होने लगता है कि कवि स्वयं अनुभव नहीं कर रहा है, उसकी बुद्धि अनुभव का अभिनय कर रही है। जहाँ कवि अपनी 'मीड़' को भूल जाता है, वहाँ उसकी बुद्धि जाग उठती है

और विवेक के गीत गाने लगती है। अंग्रेजी का प्रसिद्ध आलोचक रिचार्ड्स् आधुनिक श्रेष्ठ कवि टी० एस० इलियट की रचनाओं के सम्बन्ध में लिखता है कि उसके काव्य में विचारों का संगीत झरता है।

उसके साथ हमारा मन चिन्तनशील नहीं बनता, बहता है। 'आँसू' में जहाँ बुद्धितत्त्व है, वह इसी कोटि का है। कवि जहाँ अपनी वेदना को विश्व में बिखेरने के लिए अपने चारों ओर आँखें दौड़ाते हैं, वहाँ उनमें भावावेश का वह अंश सो जाता है जिसका संसार अपने तक ही रहता है। बुद्धि ही बहिर्मुखी बनाती है। कवि के बहिर्मुखी होने पर भी उनके अनुभूत गीतों में शुष्कता नहीं है। संसार की स्वार्थपरता और कृतघ्नता पर ये पंक्तियाँ क्या हमारे मर्म तन्तुओं को नहीं हिलातीं?

"कलियों को उन्मुख देखा,
सुनते वह कपट कहानी;
फिर देखा उड़ जाते भी,
मधुकर को कर मनमानी।"

इनमें कोई उपदेश नहीं है, आदेश नहीं है। फिर भी ये बुद्धि पर विचार का भार न लादकर भी हमें उपदेश देती है और निर्देश भी। पर उपदेश और निर्देश हमारा अचेतन मन ही ग्रहण करता है।

हम पहले कहीं कह आये हैं कि प्रसाद समय की व्यापक चेतना के प्रति जागरूक रहे हैं अतः जहाँ 'आँसू' में उनकी करुण अनुभूति की सिसक और कसक है, वहाँ चिर-संचित भूलों की प्रलय दशा ने भी उनकी 'आँखों' को गीला बनाया है। यही जागरूकता ही मन के तोल को सँभालती है—बुद्धि के उदय का आभास देती है।

'आँसू' का मुख्य भाव विरह-शृंगार है। जो करुणा के सिंचन से निखर गया है और लोक-कल्याण की शान्त कामना से पूत हो उठता है। 'आँसू' के पूर्व ही 'राज्यश्री' में कवि का अन्तर-स्वर सुन पड़ा था—

"दुख परितापिता धरा को,
स्नेह जल से सींच।
स्नान कर करुणा सरोवर,
धुले तेरा कीच॥"

विरह में 'स्मृति' का ही प्राधान्य होता है, अतः आँसू में हम 'प्रेमी' और 'प्रिय' के मिलन-सुख का भी रंगीन चित्र पाते हैं, जो काव्य में सम्भोग-शृंगार कहलाता है। 'परिरम्भ-कुम्भ की मदिरा' आदि पद्यों की तन्मयता भवभूति के राम-सीता मिलन का निःश्वास छोड़ रही है, कितनी दृढ़, कितनी मधुर, प्रिय के नख-शिख वर्णन में यद्यपि नूतनता नहीं है। फिर भी आँखों की अञ्जन रेखा के आकर्षण में काले पानी की सजा की

सूझ प्रसाद के मस्तिष्क में ही उग सकती थी।

प्रिय के प्रथम दर्शन में मधुराका की मुस्कुराहट खेल रही थी—इतना सौन्दर्य शून्य हृदय को आत्म-विभोर बनाने के लिए बहुत था। तभी वह एकदम उसके साथ 'एक' हो गया और कहने लगा—

"परिचित से जाने कब के,
तुम लगे उसी क्षण हम को।"

आकर्षण की तीव्रता की यही अनुभूति हो सकती थी। यद्यपि अनुभूति की यही व्यंजना पहले-पहल प्रसाद ने नहीं की, पर इसमें सन्देह नहीं, अनुभूति उनकी उधार ली हुई नहीं है। विरह की अवस्था में प्रलाप, निद्रा-भंग ग्लानि, चिन्ता, स्मृति, दीनता, व्रीड़ा, आदि भावों का संचार, 'आंसू' में मिलता है। शास्त्रीय भाषा में ये विप्रलम्भ शृंगार के संचारी भाव कहे जाते हैं। यहाँ कतिपय संचारी भावों के उदाहरण दिये जाते हैं—

मोह— "इस विकल वेदना को ले,
किसने सुख को ललकारा॥"
वह एक अबोध अकिञ्चन,
बेसुध चैतन्य हमारा।

स्मृति— "मादक थी—मोहमई थी,
मन बहलाने की क्रीड़ा।
अब हृदय हिला देती है,
वह मधुर प्रेम की पीड़ा॥"
(स्मृति के कई पद 'आंसू' में मिलते हैं।)

ग्लानि— "बेसुध जो अपने सुख से,
जिनकी हैं सुप्त व्यथाएं।
अवकाश भला है किन को,
सुनने को करुणा कथाएँ॥"

धृति— "निष्ठुर, यह क्या, छिप जाना ?
मेरा भी कोई होगा।
प्रत्याशा विरह-निशा की,
हम होंगे औ' दुःख होगा॥"

व्रीड़ा— "रो-रो कर सिसक-सिसक कर,
कहता मैं करुण कहानी।
तुम सुमन नोचते सुनते,
करते जानी अनजानी॥"

इसमें निष्ठुरता का भाव तो स्पष्ट है पर प्रेमी की प्रेम भरी बातें सुनने से प्रेमिका का दुर्लच्य प्रदर्शित करने में लज्जा का संचारी भाव भी ध्वनित होता रहा है। यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि काव्य में रस की तरह संचारी भाव भी ध्वनित होते हैं। करुण भाव की यत्र-तत्र पर्याप्त झलक दिखलाई देती है, वह उसी में व्याप्त है। एक जगह प्रसाद ने शृंगार में ,बीभत्स को समाविष्ट कर दिया है—

"छिल-छिल कर छाले फोड़े,
मल-मल कर मृदुल चरण से।
धुल-धुल कर वह रह जाते,
आँसू करुणा के कण से।।"

इसमें फारसी काव्य का रंग स्पष्ट है।

वस्तु-वर्णन में कवि ने 'प्रिय' के नख-शिख का सुन्दर वर्णन किया है, जो 'आँसू' के पृष्ठ सं० २१ से प्रारम्भ होता है और २४ पृष्ठ तक चला जाता है। वर्णन परम्पराजन्य होते हुए भी कवि ने नई कल्पनाओं की भी उद्भावना की है। प्रिय की आंखों में काजल की रेख लगी हुई है, जिसे देखकर वहाँ से मन नहीं हटता। उस रेख को अण्डमान के काले पानी का किनारा कहकर कवि ने केवल 'दूर की कौड़ी' लाने की ही चेष्टा नहीं की, भावानुभूति में भी गहराई भर दी है, कानों का वर्णन भी नवीनता लिये हुए है।

'आंसू' में बाह्य-प्रकृति स्वतन्त्र रूप से प्रायः आँखें नहीं खोल सकी, वह अन्तर-प्रकृति से मिलकर उसे खिलाने में सहायक मात्र हुई है।

'सिन्ध का फूल' कुसुमाकर, रजनी के पिछले पहरों में खिल और प्रातः धूल में मिलकर प्रेमी के मन की रात और प्रातकालीन अवस्था को ही प्रकट करता है। कवि की दृष्टि प्रकृति के व्यापारों पर जाकर शीघ्र ही अपने में लौट आती है, मानों उसे वहाँ कोई भूली चीज याद आ गई हो और उसे पाने को वह विह्वल हो अपने घर की ही छान-बीन कर रहा हो। रात का आंशिक वर्णन अवश्य भाव और कल्पनापूर्ण है, उसके स्पर्शहीन अनुभव का स्पन्दन अपूर्व है—

बाँधा था विधु को किसने,
इन काली जंजीरों से...आदि,
× × ×
चञ्चला स्नान कर आवे
आलोक मधुर थी ऐसी।

"तुम स्पर्श हीन अनुभव सी,
नन्दन तमाल के तल से;
जग छा दो श्याम-लता सी,
तन्द्रा पल्लव विह्वल से।
सपनों की सोनजुही सब,
बिखरे, ये बनकर तारा;
सित-सरसिज से भर जावे,
वह स्वर्गङ्गा की धारा॥"

प्रसाद निशा के अमानव रूप पर अपने को अधिक समय तक नहीं ठहरा सके—उन्होंने उसे नीलिमा-शयन पर आसीन कर अपांग की चेष्टाओं में रत कर ही दिया—वह एक वैभवशालिनी नेत्रों में कटाक्ष भरी सुन्दरी बनकर चित्रित हो जाती है। यही रोमांटिक कवि का कल्पना-वैभव है—

"नीलिमा शयन पर बैठी,
अपने नभ के आँगन में;
विस्मृति का नील नलिन रस,
बरसो अपांग के घन से।"

कला-पक्ष

इसमें भावों की अभिव्यक्ति का रूप सामने आता है। भावों की अभिव्यक्ति भाषा द्वारा होती है तथा भाषा शब्दों से बनती है, जिनके अर्थ की दृष्टि से तीन भेद हैं—(१) वाचक, (२) लक्षक और (३) व्यंजक। वाचक शब्दों से उनका कोषादि में वर्णित अर्थ प्रकट होता है। लक्षक शब्दों से वाचक अर्थ नहीं, उससे सम्बन्धित रूढ़ि या प्रयोजन से दूसरा अर्थ प्रकट होता है। जो अर्थ वाचक शब्द से प्रकट होता है, उसे शब्दों की अभिधा-शक्ति का परिणाम कहा जाता है और जो अर्थ लक्षक-शब्दों से जाना जाता है, उसे शब्दों की लक्षणा-शक्ति का फल कहा जाता है, जो अर्थ शब्दों की अभिधा या लक्षणा-शक्ति से प्रकट न होकर प्रसंग-सन्दर्भ आदि से प्रकट होता है, उसे व्यंजना-शक्ति का परिणाम कहा जाता है। 'आँसू' में शब्दों की लक्षणा-शक्ति से विशेष काम लिया गया है। उसमें हमारे परिचित सृष्टि के सादृश्य और साधर्म्य व्यापारों के साम्य दिये गये हैं। इसे यों भी कह सकते हैं कि कवि ने सार्वभौमिक प्रतीकों को अधिक अपनाया है—जैसे सुख-दुःख के लिए क्रमशः चन्द्रिका और अँधेरी; भावनाओं के लिए कलियाँ 'लहर' आदि के प्रभाव-साम्य मिलते हैं, प्रथम पद्य ही प्रतीक और लक्षणा के साथ प्रवाहित होता है—

"इस करुणा कलित हृदय में,
अब विकल रागिनी बजती।"

में रागिनी लक्षक शब्द है। हृदय ऐसी चीज़ नहीं है, जिसमें तार लगे हों और किसी की अँगुलियों के चलने से राग निकलें। अतएव जब वाच्यार्थ से अभिलषित अर्थ असम्भव हो जाता है तब हमें लक्षणा-शक्ति का आश्रय लेना पड़ता है। रागिनी से हम दुःख का पैदा होना अर्थ लेगें रागिनी-स्वर उसास का प्रतीक है। इसी प्रकार, वेदना असीम गरजती—में वेदना, कोई शोर नहीं है जो गरजे। अतः लक्षणा से हमें वेदना की अत्यधिक तीव्रता का अर्थ ग्रहण करना पड़ता है।

'ये सब स्फुलिंग हैं मेरी, इस ज्वालामई जलन के' में स्फुलिंग गर्म आँसू का प्रतीक है। स्मृति से हृदय में जलन बढ़ गई। परिणामतः गर्म-गर्म आँसू आँखों से निकलने लगे। अग्नि की चिन्गारियाँ स्फुलिंग कहलाती हैं, अतः गर्म आँसू और स्फुलिंग का गुण-साम्य होने से स्फुलिंग गर्म आँसू का प्रतीक बना लिया गया है। इससे वेदना की गहनता भी व्यंजित होती है।

"निर्झर-सा झिर-झिर करता, माधवी कुञ्ज छाया में।"

'माधवी कुञ्ज' प्रिय का प्रतीक है और छाया 'सान्निध्य' का। माधवी कुञ्ज में कोमलता, सुन्दरता, मोहकता आदि गुणों का समावेश प्रिय के रूप, स्वभाव आदि का द्योतक है। इसमें उपमेय-प्रिय का लोप होकर उपमान, ही कथित होने से साध्यवसाना लक्षणा है। माधवी कुञ्ज शब्द-प्रयोग प्रिय के सौन्दर्य की बड़ी सुन्दर प्रतिमा खड़ी कर देता है। झिर-झिर करता में लक्षणा से मन के सरस रहने, आनन्दित रहने का भाव लक्षित होता है।

'बाँधा था विधु को किसने, इन काली जंजीरों से'—में विधु लक्षक शब्द है जिसमें साध्यवसाना अगूढ़ प्रयोजनवती लक्षणा है। विधु का उपमेय मुख पृथक् न कहकर उसका अध्यवसान रूप में कर दिया गया है। कवि का प्रयोजन मुख का अधिकाधिक सौन्दर्य प्रदर्शित करना स्पष्ट ही है। 'काली जंजीरों से' कवि का प्रयोजन केशों की श्यामता दिखलाता है। इसलिए यहाँ साध्यवसाना लक्षणा-लक्षणा है। इसी प्रकार 'मणि वाले फणियों का मुख क्यों भरा हुआ हीरों से' में भी साध्यवसाना लक्षणा है। 'नीलम की नाव निराली में' उपमान मात्र का उल्लेख होने से साध्यवसाना लक्षणा है।

'विद्रुम सीपी सम्पुट में, मोती के दाने कैसे?'—में मूँगे की सीपी के वाच्यार्थ से अभिलषित अर्थ स्पष्ट नहीं होता, अतः लक्षणा से मूँगे के समान लाल अधर-पुट प्रकट हुआ। चूँकि उपमेय अकथित है इसलिए उसका अध्यवसान उसके सम्मान में होने से यहाँ साध्यवसाना लक्षणा हुई।

इसी प्रकार दाँत उपमेय का 'मोती' उपमान में अध्यवसान होने से 'मोती' के दाने

में साध्यवसाना लक्षण-लक्षणा हुई। लक्षण-लक्षणा में लक्षक शब्द अपना अर्थ छोड़कर दूसरा अर्थ देता है। 'मोती के दाने' का जब अर्थ 'दाँत' लिया गया तब स्पष्ट लक्षण-लक्षणा है।

'आँसू' के चरण-चरण में लक्षणा और प्रतीक का कलापूर्ण सौन्दर्य चमककर सहृदय पाठक को चमत्कृत और बहुधा भाव-विमोर बनाता है।

कवि ने स्थूल के सूक्ष्म और सूक्ष्म के स्थूल उपमान भी यत्र-तत्र रखे हैं। साथ ही सूक्ष्म के सूक्ष्म और स्थूल के स्थूल उपमान भी पाये जाते हैं।

स्थूल का सूक्ष्म उपमान—

"मादकता से आये तुम, संज्ञा से चले गये थे।"

सूक्ष्म के स्थूल उपमान—

(१) मकरन्द मेघमाला-सी, वह स्मृति मदमाती आती,

(२) क्यों व्यथित व्योम गंगा-सी, छिटका कर दोनों छोरें।
चेतना-तरंगिन मेरी, लेती है मृदुल हिलोरें।

(यहाँ चेतना सूक्ष्म उपमेय का, व्योम गंगा स्थूल उपमान है)

सूक्ष्म के सूक्ष्म उपमान—

(१) प्रतिमा में सजीवता-सी, बस गई सुछवि आँखों में,

सुछवि उपमेय (सूक्ष्म) का उपमान सजीवता (सूक्ष्म) है।

(२) जो घनीभूत पीड़ा थी, मस्तक में स्मृति-सी छाई,

पीड़ा (सूक्ष्म) का उपमान स्मृति (सूक्ष्म) है।

स्थूल के उपमान—

(१) आकाश दीप-सा तब वह तेरा प्रकाश झिलमिल हो।

(२) काली आँखों में कितनी यौवन के मद की लाली,
मानिक मदिरा से भरदी, किसने नीलम की प्याली ?

(३) काला पानी बेला-सी, है अञ्जन रेखा काली,

(४) मछली-सी आँखें—

उपमा अलंकार के अतिरिक्त रूपक और रूपकातिशयोक्ति के उदाहरण भी अधिक पाये जाते हैं। सूर के समान प्रसाद ने लम्बे-लम्बे रूपक बाँधने की चेष्टा नहीं की। वे दो पंक्तियों में ही सुन्दर रूपक-चित्र उपस्थित कर देते हैं—

(१) मुख कमल समीप सजे थे, दो किसलय से पुरइन के;
जलबिन्दु सदृश ठहरे कब, उन कानों में दुख किन के ?

मुख में कमल का आरोप कर देने के पश्चात् कानों को उसके पत्ते कहकर रूपक की सार्थकता सिद्ध की गई है।

(२) कामना सिन्धु लहराता, छवि पूरनिमा थी छाई।
(३) इस हृदय कमल का घिरना, अलि-अलकों की उलझन में,
आँसू-मरन्द का गिरना, मिलना निश्वास पवन में।
(४) बाड़व ज्वाला सोती थी, इस प्रणय-सिन्धु के तट में।

विरोधाभास—

(१) जीवन में मृत्यु बसी है, जैसे बिजली हो घन में।
(२) बस गई एक बस्ती-सी, स्मृतियों की इसी हृदय में,
नक्षत्र-लोक फैला है, जैसे इस नील निलय में।

'आँसू' में अलंकार-योजना प्रायः भावों का उत्कर्ष बढ़ाने में सहायक हुई है; प्रायः इसलिए कि ऐसे भी स्थल हैं, जहाँ अलंकारों ने भाषा की ही श्री-वृद्धि की है।

कला-पक्ष का विवेचन करते समय हमें 'आँसू' के छन्द पर भी विचार करना होगा। *अवध उपाध्याय के कथनानुसार, इसे 'आँसू' छन्द भी कहा जा सकता* है। पर वास्तव में यह आनन्द छन्द है जो २८ मात्राओं पर विराम होता है। प्रसाद को ही इसे अत्यधिक प्रचलित करने का श्रेय है। 'आँसू' के प्रकाशित होने के पश्चात् महादेवी आदि की रचनाओं में बहुत समय तक, आनन्द छन्द में भावों का कल-कल निनाद सुनाई दिया। बिहारी ने जिस प्रकार दोहा, छन्द में भावों का सागर लहराने का यत्न किया उसी प्रकार प्रसाद ने आनन्द छन्द में लक्षणा के सहारे भावों की संहति प्रदर्शित की है। तभी हमने प्रारम्भ में कहा है कि स्वर्गीय प्रसाद हिन्दी के भावुक कवि और कुशल कलाकार हैं। इसे यदि कोई उनकी एक ही रचना में देखना चाहता है तो उसे 'आँसू' की ओर इंगित किया जा सकता है।

'आँसू' पर बंगला का प्रभाव

'आँसू' की मौलिकता की चर्चा करते हुए एक लेखक ने उस पर बंगला का प्रभाव प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है। पर उसके अधिकांश उदाहरण ऐसे हैं, जो किसी भी विरह काव्य में खोजे जा सकते हैं—

"विष-प्याली जो पी ली थी
वह मदिरा बनी हृदय में।"

लेखक ने इसके जोड़ में चण्डीदास की यह पंक्ति प्रस्तुत की है—

"के जाने खाइले गरल हइबे पाइबे एतेक दुखे।"

(मुझे क्या पता था कि गरल खाने पर इतना दुख झेलना पड़ेगा।)

प्रसाद में विष का मदिरा में परिणत होने का जो भाव है और उसमें उसमें जो उत्कृष्टता, गहनता आगई है वह चण्डीदास में कहाँ है। चण्डीदास को विष दुःख देता है। प्रसाद बार-बार विष पीने को ललचते हैं। जिस तरह मदिरा पी-पीकर भी और,

और की ललक बनी रहती है उसी प्रकार प्रसाद में विष पीने की चाह प्रति बार उल्लास भरती जाती है।

बंगला से इन्दिरा देवी की यह पंक्ति उद्धृत है—

"आकाश भरे उठत तारो, फुटत हास चांदेर मुखेर,"

और उसी जोड़ में प्रसाद की यह पंक्ति दी गई है—

"मधुराका मुसकाती थी पहले देखा जब तुम को।"

हम यह मानने को तैयार नहीं हैं कि इन्दिरा देवी के 'चांदेर मुख से' हास फुटते' देखकर प्रसाद को 'मधुराका मुसकाने' की कल्पना हुई होगी। प्रसाद के काव्य में प्रकृति का मानवीकरण 'आँसू' से पहले भी मिलता है।

राका का मुसकाना कोई बंगला की ही अभिनव कल्पना नहीं है, कहीं-कहीं बंगला कवि और प्रसाद के भावों में टक्कर भी दिखाई देती है—

(१) "छाया नट छवि पर्दे में, सम्मोहन वेणु बजाता।"

—प्रसाद

"छन्द गीतेर आनन्दमय मधुर छाया नटे
जागिएदित जीवन-वीणामय राग रागिणी तार,
मर्म माझे मुखर पीडेर मूर्छना झंकार।"

(२) "चातक की चकित पुकारें, श्यामा-ध्वनि सरस रसीली,
मेरी करुणार्द्र कथा की, टुकड़ी आंसू से गीली।"

—प्रसाद

"मौमाछि देर गुन्जरणे जागल श्याम कुंजबने,
स्वप्नसम तार काहिनी आज के प्रिये द्विप्रहरे।"

करुणानिदान वन्द्योपाध्याय

(३) तुम खिसक गये धीरे से, रोते अब प्राण विकल से,

—प्रसाद

ए हरि कहलुम तुया पाश लागि,
सो अब जीवइ रवहुं पुन भागी,

—घनश्यामदास

(तुम मुझे छोड़कर भाग गये और मैं पड़ी रोती रह गई।)

प्रसाद की पंक्तियां हैं—

"थक जाती थी सुख—रजनी, मुखचन्द्र हृदय में होता,
श्रम-सीकर सदृश नखत से अम्बर-पट गीला होता।"

इन्हें पढ़कर लेखक को आंग्ल-कवि मौरिस की निम्न पंक्तियों का स्मरण हो आता है—

"तुम नहीं जानते कि रात होने पर मेरी प्रियतमा भी निकट आ जाती है। आपस में मधुर सम्भाषण और क्षमा प्रदान होता है। आधी रात के अंधकार में उसके चुम्बन शरीर में स्फूर्ति उत्पन्न कर देते हैं।" प्रसाद की पंक्तियों का भाव-साम्य उधार की सामग्री ही है, यह नहीं कहा जा सकता। रवि बाबू की गीताञ्जलि में कबीर के भावों की छाया देखकर जब कुछ लोगों ने उन्हें कबीर का ऋण स्वीकार' करने को कहा तो उन्होंने बहुत स्पष्टता से कहा कि मैंने गीताञ्जलि की रचना के बहुत बाद कबीर का अध्ययन किया था। प्रसाद, टटपुँजिए कवि नहीं थे कि वे भानमती का कुनबा जोड़ते रहते थे। उनकी प्रेमानुभूति सहज गहन थी। अतः अन्य अनुभूतिशील कवि के उद्‌गारों में यदि उन्हीं जैसे भावों का साम्य है तो क्या आश्चर्य है ?

श्रीमती शचीरानी ने अपने 'साहित्य-दर्शन' में गेटे के वेर्टेर की तुलना प्रसाद के 'आंसू' से करते हुए लिखा है—

"ठीक जिस परिस्थिति में गेटे द्वारा वेर्टेर की रचना हुई उसी परिस्थिति में 'आँसू' भी लिखा गया। किन्तु वेर्टेर में धधकती अग्नि सुलग रही है, जिसकी आँच दूसरों को भी दग्ध करती है और 'आँसू' में शीतल ज्वाला है, जिसका धुआँ अन्दर ही अन्दर उठकर रम जाता है। वेर्टेर में प्रचण्डता और दाह है, 'आँसू' में रोदन और करुणा। वेर्टेर में मस्तिष्क की आँधी तूफान बनकर प्रकट हुई है, 'आँसू' में प्रशांत भाव-धारा अश्रुकणों में बिखरकर फूट पड़ी है। पर इस तुलना का यह आशय नहीं कि प्रसाद के 'आँसू' पर गेटे की किसी कृति का प्रभाव पड़ा है। प्रसाद का जीवन गेटे के समान बिछलन भरा भी नहीं रहा। प्रसाद ने स्त्री में अनन्त सौन्दर्य, अनन्त प्रेम और पवित्रता के दर्शन किये थे। तभी एक साधक के समान उन्होंने उसके गौरव के गीत गाये हैं।"

१२

'कामायनी' : कुछ नये विचार

[गजानन्द माधव मुक्तिबोध]

सभ्यता, समीक्षा और इड़ा

युग तथा साहित्य के घनिष्ठ परस्पर—सम्बन्धों के वास्तविक स्वरूप को समझने की दिशा में प्रयास करते हुए, हमारे दृष्टि-मार्ग मे दो विशेष प्रकार का साहित्य उपस्थित होता है। एक वह जिसमें युग-प्रवृत्तियों का मात्र प्रतिबिम्ब हो अर्थात्, आपेक्षिक रूप से, युग-प्रवृत्तियों को जागरूक प्रकार से न किया जाकर, एक विशेष मानसिक निष्क्रियता के वशीभूत हो, मात्र उनका संस्कृत अथवा विकृत प्रतिबिम्ब उपस्थित कर दिया जाता है। दूसरा साहित्य इस प्रकार का होता है कि जिसमें इन युग-प्रवृत्तियों के अभिप्राय, गर्भितार्थ, उनके प्रभावकारी अथवा विनाशकारी आशय आदि को जागरूक प्रकार से ग्रहण किया जाकर वर्तमान के पार मानव-भविष्य को निहारा जाता है। निश्चय ही, ऐसे साहित्य का उद्देश्य है मानव-चेतना का परिष्कार।

किन्तु, बहुत बार यह भी देखा गया है कि महान-से-महान् साहित्यकार (जैसे टाल्स्टाय) सारे समाज की चित्रात्मक समीक्षा कर चुकने के बाद, जीवन-सम्बन्धी जिन अन्तिम निष्कर्षों पर पहुँचता है (उनका सर्वमान्य होना या न होना अलग बात है, किन्तु) उनसे डर तो यह हो जाता है कि कहीं वे अन्तिम निष्कर्ष हानिप्रद तो नहीं हैं? यह भय स्वाभाविक भी है। समीक्षा जीवनगत तथ्यों की हुआ करती है अतः (साहित्य में चित्रात्मक समीक्षा का स्थान बहुत ऊँचा होते हुए भी) समीक्षित तथ्यों के उपरान्त, जब साहित्यकार उन तथ्यों पर आधारित सामान्यीकरणों के क्षेत्र में अपनी स्वभावगत तथा प्रभावगत प्रवृत्तियों के वशीभूत हो, साहसपूर्ण अथवा दुस्साहसपूर्ण कदम उठाते हुए, अन्तिम निष्कर्षों की ओर दौड़ लगाता है तब उसके चरम-निर्णयों को ज़रा सावधानी से जागरूकतापूर्वक लेना और उनका उचित विश्लेषण करना एकदम आवश्यक हो उठता है, साहित्य-समीक्षाकार की सफलता, उसके स्वयं के जीवन-विवेक की अनुभव-जन्य व्यापकता के साथ हो, उन तत्वों पर मूलतः आधारित है, जिन्हें दृष्टिकोण शब्द के अन्तर्गत रखा जा सकता है। चूँकि मानव-चेतना का परिष्कार न केवल साहित्यकार ही करता है, वरन् भौतिक तथा सामाजिक विज्ञानों के अधिकारियों द्वारा भी वह सम्पन्न होता है। (उनके सहकार्य के बिना, यह असम्भव भी है) अतएव, समीक्षक के लिए यह देखना आवश्यक हो जाता है कि समीक्ष्य-वस्तु और उसके निर्माता के निर्णय, सामान्यीकरण

और अन्तिम निष्कर्ष अद्यतन तर्क-शुद्ध और अनुभव-सिद्ध ज्ञान के प्रतिकूल तो नहीं जा रहे हैं ? (चूँकि चेतना परिष्कार का सम्बन्ध मानव-स्थिति के उत्थान, उच्चतर रूपान्तर और विकास से है, इसलिए) समीक्षक का दायित्व साहित्यकार के प्रति न्याय; सहानुभूति-औदार्य आदि तक ही सीमित न रहकर, उसके आगे बहुत बढ़ जाता है। यही कारण है कि देश तथा विश्व की वर्तमान स्थिति में, समीक्षक की दृष्टि समीक्ष्य साहित्य के अन्तः सौन्दर्य में ही समाहित न होकर, साहित्यकार के अन्तिम निष्कर्षों की मंजिल के अन्दर जाकर यह देखने की कोशिश करती है कि क्या वह मंजिल न्यायोचित, उपादेय और लाभप्रद है ?

इस प्रकार के समीक्षा-सम्बन्धी प्रयास 'कामायनी' के लिए तो अत्यन्त उपयुक्त हैं, चाहे वे सफल रहे या असफल। 'कामायनी' में इड़ा, श्रद्धा और मनु को लेकर, प्रसाद जी जिन निष्कर्षों पर पहुँचे हैं, उनका क्षेत्र बहुत ही व्यापक है। पुरुष, स्त्री, व्यक्ति, समाज-सभ्यता, मुक्ति आदि सभी विषय प्रसाद जी की विश्लेषणमयी काव्यानुभूति के अन्दर आ जाते हैं।

मुख्य प्रश्न

'कामायनी' के सम्बन्ध में सबसे बड़ा सवाल है इड़ा के प्रति प्रसाद जी के रुख का। पूरी 'कामायनी' में बुद्धि (जिसकी प्रतीक-चरित्र इड़ा है) के बारे में कठोरता बरती गई है। बुद्धि का प्रसंग आते ही, प्रसाद जी आलोचनातुर हो उठते हैं। अपनी भूमिका में भी, प्रसाद जी ने बुद्धि के विरुद्ध श्रद्धा के प्रति अपने पक्षपात की ओर इशारा कर दिया है। 'कामायनी' के कथानक में भी, इड़ा (न्याय का पक्ष लेते हुए भी) पराजिता बतलाई गई है, स्वयं इड़ा श्रद्धा के सम्मुख है कि प्रसाद जी बुद्धिवाद-विरोधी श्रद्धावाद के समर्थक है। लेकिन सवाल यह भी है कि बुद्धि और उसके व्यवहार-क्षेत्र को हीन-भाव से देखने के क्या माने हैं ? क्या अपने इस रुख से प्रसाद जी तत्सामयिक सांस्कृतिक विचार-विकास शृंखला के बहुत पीछे की कड़ी की ओर तो नहीं जा रहे हैं ? रवीन्द्र और उसके पूर्व रामकृष्ण, रामतीर्थ, महाराष्ट्र के चिपलूणकर, आगरकर बुद्धि की निर्माण-कारी सत्ता को मानते थे। भारत के राष्ट्रीय उत्थान का, रमण और जगदीशचन्द्र बोस और रामानुजन की कीर्ति-गाथाओं का, गांधीवाद-प्रणीत राष्ट्रभाव के भव्य उत्कर्ष का वह काल था। ऐसे समय, नई सभ्यता का निर्माण करने वाली स्वप्न-दर्शी इड़ा के तिरस्कार का अर्थ साम्राज्यवाद-विरोधी रागवादी आन्दोलन के रामराज्य के स्वप्न से प्रसाद प्रभावित क्यों नहीं हो रहे थे ? क्या वे राष्ट्र-निर्माण के मानवीय प्रयासों से नाराज होकर इड़ा से विद्रोह कर बैठे थे ? अथवा, इड़ा के पीछे और कोई रहस्य है ?

इड़ा-प्रणीत सभ्यता

एक बात स्पष्ट है, और वह यह कि तत्सामयिक राष्ट्रवादी आन्दोलन की सामयिक

भूमि से, उसकी वास्तविकताओं से, प्रसाद जी का आदर्शवाद प्रभावित न था। हाँ, उस सामाजिक राष्ट्रवादी वास्तविकता का जो उन्होंने विश्लेषण किया वह 'कामायनी' में चित्रित होकर आज भी उतना ही सच है जितना कि प्रसाद जी के जमाने में था। निश्चय ही, इड़ा-आगमन-पूर्व मनु के सभ्यता-निर्माण के प्रयास का तथा इड़ा-प्रणीत सभ्यता के ह्रास-मूलक स्वरूप का चित्र प्रसाद जी के व्यक्तिगत अनुभव की कठोर शिला पर आधारित है। अगर यह न होता, तो प्रसाद जी विश्लेषणों और सामान्यीकरणों की तीव्रता और प्रचुरता का प्रदर्शन न कर पाते। विश्लेषण और सामान्यीकरण तथ्यों का हुआ करता है। ये तथ्य निश्चय ही लेखक के सामाजिक तथा व्यक्तिगत अनुभवों की सुदृढ़ शिला पर खड़े कल्पनामूलक नहीं हैं यदि वे हुए हैं—वे कल्पनामूलक होते तो न उस विश्लेषण और न उस सामान्यीकरण में गहराई आ पाती, न आवेग, और न तीव्रता। किन्तु प्रसाद जी की विश्लेषणात्मक अनुभूति प्रतीकों, उपमाओं, चित्रों आदि के तीव्र आवेग के बीच, ऐसे-ऐसे सत्य समान्यीकरणों को जन्म देती है कि दंग रह जाना पड़ता है। मज़ा यह है कि ये सामान्यीकरण, निष्कर्ष तथा निर्णय हमारे देश तथा विश्व की वर्तमान स्थिति में और भी अधिक सत्य होगये हैं। *'कामायनी' में वर्णित सभ्यता-प्रयासों के पीछे प्रसाद जी का* अपना जीवनानुभव, अपने युग की वास्तविकता, परिस्थिति, अपने समय की सामाजिक दशा बोल रही है। यह निर्विवाद है।

'कामायनी' में इड़ा के स्वरूप की पहचान उस सभ्यता के रूप के विश्लेषण द्वारा भी हो सकती है, जिसके निर्माण में इड़ा का भी योग था। 'कामायनी' में अंकित, इस *सभ्यता की विशेषताएँ* इस प्रकार हैं—*विभेद, वर्ग-संघर्ष, शासनादेश, घोषणा, विजयी* की हुँकार, युद्ध, रक्त, अग्नि की वर्षा, भय की उपासना, प्रणति भ्रान्त, भीति-विवश कम्पित होकर काम करते जाना, भूख से विकल दलित, राष्ट्र के भावों का नियमों में रूपान्तर, नियमों का दण्डों में रूपान्तर, और दण्डों के कारण सबका कराहना नियम-सृष्टाओं द्वारा आतंक-विप्लवों की दृष्टि, सुविभाजनों का विषम होना, नियमों का नित्य *टूटना और बनना, अन्धकार में दौड़, विनाश का मुख हमेशा खुला होना, मस्तिष्क का* हृदय से विरोध, ज्ञान, इच्छा तथा क्रिया में परस्पर-विरोध-वैषम्य, श्रद्धा का अन्ध-श्रद्धा में रूपान्तर (श्रद्धावंचक बनकर अधीर, मानव सन्तति ग्रह-रश्मि-रज्जु से भाग्य बाँध पीटे लकीर) दलित दारिद्रय, कलह, असफलता मूलक आँसू, अहंकार, दम्भ, कष्ट-सन्तार और मृत्यु इत्यादि।

प्रसाद जी द्वारा वर्णित इस सभ्यता के विष-बीज मनु के इड़ा आगमन-पूर्व प्रारम्भिक प्रयासों में लक्षित हो चुके थे। इस हिंसा-मूलक सभ्यता के प्रधान कारण ये हैं—(१) विभेद, वर्गों की खाई, (२) शासनकर्ता की आतंकवादी नीति, भय की उपासना और सत्तावाद, (३) श्रम-भाग वर्ग बन गया जिन्हें, अपने बल का है गर्व उन्हें, (४)

बनावटी नियम, कृत्रिम सीमाएँ और दण्ड, (५) शोषण तथा दारिद्रय।

इस सभ्यता का, व्यक्तिगत मानसिक स्तर पर इस प्रकार प्रभाव है—(१) मनुष्य का कृत्रिम स्वरूप, (२) ज्ञान, इच्छा और क्रिया मे परस्पर विरोध-विषमता, और (३) दम्भ, लालसा, असफलता, आँसू, अहंकार आदि।

प्रसाद जी मूलतः यह मानते हैं कि सामंजस्य-विरोधी विघटन की प्रतिक्रिया व्यक्तिगत स्तर पर भी गतिमान है। किसी 'संकुचित असीम अमोघ शक्ति की भेद से भरी भक्ति' ही यह विघटन की प्रक्रिया है, जो जीवन के हर क्षेत्र में सक्रिय है। प्रसाद जी विघटन की इस प्रक्रिया को मूलतः (१) वर्ग भेद, वर्ग संघर्ष, (२) अहंकार मानते हैं।

सारी 'कामायनी' मे नवीन सभ्यता के उत्कर्ष, सुखोल्लास और सफलताओं पर कोई सर्ग नहीं। श्री वृद्धि और विज्ञानोन्नति, और सत्ता ये चार बातें नई सभ्यता की सफलताओं में गिनाई जा सकती हैं किन्तु अपने जन्म से ही यह बालक रोगग्रस्त रहा। प्रसाद जी बार-बार यह कहते हैं कि यह समाज विनाश के मुँह में चला जा रहा है।

प्रसाद जी की सभ्यता—समीक्षा के प्रधान तत्व ये हैं—(१) वर्गभेद का विरोध और भर्त्सना, अहंकार की निन्दा। यह प्रसाद जी की प्रगतिशील प्रवृत्ति है। (२) शासक-वर्ग की जनविरोधी आतंकवादी नीतियों की तीव्र निन्दा। यह भी प्रगतिशील प्रवृत्ति है। (३) वर्गभेद का विरोध करते हुए भी, मेहनतकशों के वर्ग—संघर्ष का तिरस्कार यह; एक प्रतिक्रियावादी तत्त्व है। (४) वर्गहीन सामंजस्य और समरसता का अमूर्त आदर्शवाद यह तत्त्व अपने अन्तिम अर्थों मे, इसलिए प्रतिक्रियावादी है कि (क) वर्ग-वैषम्य से वर्गहीनता तक पहुँचने के लिए उसके पास कोई उपाय नहीं। इस उपाय-हीनता का आदर्शीकरण है, आदर्शवादी रहस्यवादी विचारधारा (ख) इस उपायहीनता का एक अनिवार्य निष्कर्ष यह भी है कि वर्तमान वर्ग-वैषम्यपूर्ण अराजक स्थिति चिरजीवी है। (ग) इस यथार्थ की भीषणता मे अगर कुछ कमी की जा सकती है तो वह शासक की अच्छाई और उसके उदार दृष्टिकोण द्वारा ही सम्पन्न हो सकती है। श्रद्धा अपने पुत्र को इड़ा के पास इसीलिए रखती है। (घ) इस विचारधारा के द्वारा, यथार्थ और आदर्श के बीच अनुल्लंघनीय खाई पड़ जाती है।

ध्यान रहे कि प्रसाद जी के सम्मुख उनके अपने आज की ही दुनिया थी। वे इस आज की वास्तविकताओं से इतने ज्यादा परिचित थे कि वे स्वयं भारतीय कीर्ति के उद्गाता होकर भी, राष्ट्रीय उत्थान और साम्राज्यवाद-विरोधी वायुमण्डल के बावजूद, इस बात को कतई न भूल सके कि यह नवीन पूँजीवादी समाज और राष्ट्र भयानक रूप मे रोग ग्रस्त है। इड़ा सर्ग की शाप-वाणी सुनिये। यह शाप-वाणी सन् १९५२ की वास्तविकताओं को भी ठीक चित्रित करती है—सिवाय एक बात के। नई ऐतिहासिक शक्तिसम्पन्न विकासमान श्रमिक वर्गों को बल-वृद्धि और आत्म-विश्वासमयी क्रान्तिकारी प्रवृत्ति वे देख

न सके। उनके जमाने में सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में इस क्रान्तिकारी प्रवृत्ति का कोई निर्णायक (और व्यापक) प्रभाव भी न था। प्रसाद जी की महत्ता इसी में है कि उन्होंने नवीन राष्ट्रीय पूँजीवादी यथार्थ के ह्रासग्रस्त स्वरूप की तीव्रतम शब्दों में निन्दा की। भारतीय समाज के अन्दर मार्क्सवादी विचारधारा का उनके जमाने में कोई निर्णायक प्रभाव न होने के कारण तथा तत्कालीन सामाजिक विकास-स्तर की सीमाओं से ग्रस्त होकर, वे इस वर्ग-वैषम्यपूर्ण अराजक भयानकता के विश्व को चिरन्तन मान बैठे।

इड़ा का स्वरूप

ऐसी सभ्यता की फिलासफी की एक प्रतीक इड़ा, मनु के अतिचारी कार्यों की न्यायपूर्ण भर्त्सना के बावजूद, (और अपनी निविड़ आत्म-आलोचना के बावजूद) प्रसाद जी की अन्तिम सहानुभूति खो बैठी है। यह इड़ा बुद्धि की प्रतीक नहीं। (प्रसाद जी ने उसे बुद्धि का प्रतीक-चरित्र माना है) वह तो पूँजीवादी समाज की मूल विचार-धारा की प्रतीक है। इड़ा बुद्धिप्रधान अवश्य है। वह विज्ञानोन्नति और वर्ग-विभाजन के आधार पर, नवीन सभ्यता खड़ी करती है। जीवन के लिए संघर्ष और योग्यतम की विजय तथा शेष का तिरोधन उसका प्रमुख सिद्धान्त है। इस संघर्ष को वह चिति-केन्द्रों का 'संघर्ष' कहती है। यह संघर्ष, इड़ा के अनुसार, लोगों को आपस में मिला देता है (लोग संगठित हो जाते हैं) किन्तु, इस संघर्ष के कारण, व्यक्ति चेतना राग-पूर्ण होकर भी द्वेष-पंक में सन जाती है, तथा वह गिरती-पड़ती अपनी मंजिल की ओर चली चलती है। यही जीवन-उपयोग है, यही बुद्धि-साधना है और अपना जिसमें श्रेय हो, वही सुख की आराधना है (देखिये संघर्ष सर्ग, पृष्ठ २००-२०१)।

इड़ा स्वयं भी रहस्यवादी है। वह जीवन-संघर्ष में योग्यतम की विजय, वाले सिद्धान्त को विश्व का चिरन्तन मूल नियम मानती है किन्तु (पूँजीवादी) नियम विधान के प्रतिकूल जाने वाले के लिए, उसके मन में कोई सहानुभूति नहीं। वह यह नहीं समझ पाती कि वर्गभेद के आधार पर उसके 'सुविभाजन विषम' क्यों हो गये हैं और नियम क्यों टूटते हैं और नये क्यों बनते हैं। वह अपनी अवनति, अपना ह्रास स्वीकार करती है और श्रद्धा को अमूर्त समरसता का सिद्धान्त मान लेती है।

निश्चय ही, श्रद्धा और प्रसाद जी 'जीवन-संघर्ष में योग्यतम की विजय' के सिद्धान्त को बिलकुल नहीं मानते। यह एक घनघोर प्रतिक्रियावादी मान्यता है, जो मनुष्यता के मानवीय स्वरूप के एकदम विपरीत है। वह सिद्धान्त स्वार्थ-लोलुप साम्राज्यवादी पूँजीवाद का वैचारिक अस्त्र है। इस वैचारिक मनोभूमि से ग्रस्त इड़ा और उसकी नवीन सभ्यता श्रद्धा और प्रसाद जी के लिए अत्यन्त गर्हणीय है। किन्तु अपनी उपायहीनता के कारण, इस सभ्यता को उन्हें चिरन्तन मान लेना पड़ता है। उसकी विषमता और सन्ताप को कम-से-कम करने के लिए, अच्छे शासक की जरूरत है। सो, श्रद्धा अपना पुत्र इड़ा

को सौंप देती है। वर्ग-संघर्ष के प्रति तिरस्कार का भाव रखते हुए भी, श्रद्धा वर्गहीन सामंजस्यपूर्ण समाज का समर्थन करती है, किन्तु इड़ा का सामंजस्य वर्ग मैत्री के आधार पर स्थित है। (इस अर्थ में, इड़ा का चरित्र श्रद्धा से हजार गुना प्रतिक्रियावादी है।)

उपर्युक्त विश्लेषण से यह बात स्पष्ट हो गई है कि श्रद्धा के इड़ा-विरोध का अर्थ अ-बुद्धिवाद नहीं, न बुद्धि-विरोधवाद है। इड़ा में निर्माणात्मक प्रतिभा होने के बावजूद, उसके सिद्धान्त शुद्ध पूँजीवादी प्रतिक्रियावादी हैं—जिसे श्रद्धा ही क्या, कोई भी मानव-वादी स्वीकार नहीं कर सकता। अतः ऐसी इड़ा का तिरस्कार कर, प्रसाद जी अपने युग-विचारों को पीछे की ओर नहीं ले जा रहे थे, वरन् वे, वास्तविकताओं के विश्लेषण के द्वारा, हिन्दी भाषा-भाषी विश्व के ज्ञान-कोष में वृद्धि ही कर रहे थे।

किन्तु इड़ा को बुद्धि-तत्त्व का प्रतीक मानकर तथा श्रद्धा को श्रद्धा-तत्त्व का प्रतीक मानकर, प्रसाद ने जिस प्रकार भ्रम-प्रसार किया वह वस्तुतः अत्यन्त शोचनीय है, विशेषकर इसलिए कि हिन्दी जगत् में बुद्धि-विरोधी श्रद्धावाद को भारतीय परम्परा का नाम देकर जो एक प्रतिक्रियावादी-वायुमण्डल तैयार किया गया, उसके फलस्वरूप हिन्दी के प्रतिक्रियावादी क्षेत्रों में ही 'कामायनी' अधिक लोकप्रिय हो सकी, और उसके अन्तर्गत प्रखर प्रगतिशील तत्त्वों के प्रति पूर्ण उपेक्षा बरती गई।

क्रान्तिकारी-शुद्ध वैज्ञानिक विचारधारा के अभाव की स्थिति में साहित्यकार किस प्रकार प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से ठीक उसी घनघोर वास्तविकता से समझौता कर लेता है, जिस वास्तविकता का वह भयानक शत्रु है, इसका उदाहरण है स्वयं श्रद्धा और उसके कल्पक-निर्माता प्रसाद जी। मनु-पुत्र को इड़ा के पास सौंपना और स्वयं हिमालय पर जाकर अमूर्त समरसता और सामंजस्य के वातावरण में रहना क्या आशय रखता है? यदि प्रसाद जी के पास युगान्तरकारी वैचारिक अस्त्र होते, तो श्रद्धा के सम्मुख आत्म-आलोचना-ग्रस्त इड़ा के मन को, वैचारिक ऊहापोहों के द्वारा ऐसे स्तर पर भी पहुँचाया जा सकता था, जहाँ से वर्ग-विभाजनहीन नवीन लोक-राज्य और नवीन जन-सभ्यता के सिंहद्वार की ओर जाने वाले प्रशस्त क्रान्तिकारी पथ के दर्शन हो सकते थे, अगर मनु-सहित इड़ा—श्रद्धा उस राह पर चल सकते थे। ध्यान रहे कि छायावादी काव्य में 'कामायनी' ही एक ऐसा ग्रन्थ है, जो समाज-नीति और राजनीति के क्षेत्र में, नये साहस प्रयासों को लेकर निर्द्वन्द्व रूप से आगे बढ़ता है। अतः उपरिलिखित मन्तव्य उसके लिए अत्यन्त आवश्यक है।

१३

कामायनी की दार्शनिक पृष्ठभूमि

[विजयेन्द्र स्नातक]

कामायनी एक ऐतिहासिक महाकाव्य है। ऐतिहासिक होने के कारण इसका आधार अनिवार्यतः सैद्धान्तिक है। इतिहास को दर्शन का बहिर्विकास स्वीकार करने के कारण कवि का ध्यान भौतिक घटनाओं के मूल में सन्निविष्ट उन सिद्धान्तों की ओर सतत बना रहा है जिनके द्वारा जगत् और जीवन की गतिविधि का यथार्थ रूप में आकलन होता है। मनु और श्रद्धा की ऐतिहासिक कथा के साथ इसमें मानव-मन के विकास और मुक्ति की मनोवैज्ञानिक कथा भी है। अतएव इसका दार्शनिक आधार अपेक्षाकृत व्यक्त और स्पष्ट है। मनु अर्थात् मनन-शक्ति (मन) के साथ श्रद्धा अर्थात् हृदय की भावनात्मक सत्ता, *विश्वास समन्वित रागात्मिका वृत्ति तथा इड़ा अर्थात् व्यवसायात्मिका बुद्धि* के संघर्ष और समन्वय का विवेचन ही कामायनी का दार्शनिक आधार है। देव-सृष्टि के ध्वंस के उपरान्त अभिनव मानव-सृष्टि का सूत्रपात करने वाले मनु, वेद, ब्राह्मण आदि ग्रन्थों के अनुसार एक विख्यात ऐतिहासिक पुरुष भी हैं और साथ ही उनकी कथा मानव विकास-रूपक का सुदृढ़ आधार भी है। कामायनी की कथा का परिनिर्वाण मनु अर्थात् मन की आनन्दोपलब्धि के साथ होता है। अतएव इसमें आनन्दवाद की प्रतिष्ठा सर्वथा असंदिग्ध है। यह आनन्दवाद दार्शनिक सिद्धान्त या वाद की दृष्टि से प्रसाद जी की अपनी मौलिक सृष्टि है जिसके निर्माण में उन्होंने मुख्य रूप से शैव दर्शन, बौद्ध-दर्शन, वेदान्त-दर्शन, उपनिषद् तथा वर्तमान युग की साम्यवादी प्रवृत्तियों का आवश्यकतानुसार उपयोग किया है। किसी एक मतवाद को पकड़कर उसी की अन्ध-उपासना प्रसाद जी को अभीष्ट न थी।

कामायनी का आधारभूत सिद्धान्त आनन्दवाद है। मन के सामरस्य दशा में अवस्थित होने पर ही आनन्द-प्राप्ति होती है। मानव-मन का परम ध्येय है *शाश्वत् आनन्दोपलब्धि। आस्तिक-नास्तिक सभी दर्शनों में अविरोध पाया जाता है।* प्रसाद जी ने कामायनी में आनन्द को साध्य मानकर जिस साधना को प्राथमिकता दी है, वह है श्रद्धा और इड़ा की समन्वय भावना। श्रद्धा और इड़ा में समन्वय उत्पन्न होने पर इच्छा, क्रिया और ज्ञान में सामरस्य उत्पन्न होता है और यह सामरस्य ही दुःख-नाश के उपरान्त अनन्त आनन्द का पथ प्रशस्त करता है। जब मन पूर्णतः श्रद्धावान होकर *लक्ष्याभिनिवेशी होता है, तभी आनन्द की प्राप्ति सम्भव है।* अतः आनन्दवाद की स्थापना में श्रद्धा का महत्त्वपूर्ण योग है।

श्रद्धा शब्द का तात्विक अर्थ है विश्वास समन्वित रागात्मिका वृत्ति । कामायनी में श्रद्धा को विश्वास, प्रेम, सहानुभूति, दया, सौख्य आदि उदात्त भावों का प्रतीक कहा गया है । वह जगद्धात्री, सर्वमंगला, अमृतधाम आदि रूपों में भी स्थान-स्थान पर वर्णित हुई है । वेद, उपनिषद्, गीता, योगदर्शन, त्रिपुरा रहस्य आदि शास्त्रों में श्रद्धा को लोक-कल्याण-प्रवर्तन की मूल वृत्ति के रूप में स्वीकार किया गया है । 'श्रद्धादि जगतां धात्री, श्रद्धाहि सर्वस्य जीवनम्' कहकर ही सन्तोष नहीं हुआ, श्रद्धा के अभाव में जगत् की स्थिति भी सम्भव नहीं मानी गई—'श्रद्धा वैधुर्य योगेन विनश्येज्जगतां स्थितिः श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्' कहकर गीता में श्रद्धा का परम पुरुषार्थ-मोक्ष से सीधा सम्बन्ध स्थापित किया गया है । श्रद्धामूलक साधना से श्रद्धानुरूप फल-प्राप्ति भर गीता में बताई गई है—'श्रद्धामयोयं पुरुषः यो यच्छ्रद्धः स एव सः' ऋग्वेद में श्रद्धा का गौरव और महत्त्व विस्तारपूर्वक वर्णित है जिसमें श्रद्धा को अभीष्ट फलदात्री तथा वैभव की अधिष्ठात्री देवी कहा गया है—

"श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते,
श्रद्धां हृदय्ययाकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु ।"

—ऋग्वेद संहिता १०-१५-१४

वैदिक काल से लेकर महाभारत काल तक श्रद्धा अपने गौरवपूर्ण आसन पर समासीन रही और उसके महत्त्व का आख्यान होता रहा । गोस्वामी तुलसीदास ने भी अपने काव्य रामचरितमानस को हृदयंगम कर लाभ उठाने के लिए सबसे पहले श्रद्धा का होना अनिवार्य बताया—

"जे श्रद्धा संबल रहित, नहिं सन्तन कर साथ,
तिन कहँ मानस अगम अति, जिन हिन प्रिय रघुनाथ ।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रद्धा अपने तात्विक अर्थ के साथ व्यावहारिक रूप में भी जो उपयोगिता रखती है वह किसी प्रकार भी उपेक्षणीय नहीं । कामायनी में तो श्रद्धा का प्रभाव आदि से अन्त तक छाया हुआ है, उसके प्रति निष्ठावान् हुए बिना काव्य के मर्म को समझना भी सम्भव नहीं ।

मानव-मन के मस्तिष्क पक्ष-से सम्बन्ध रखने वाली दूसरी वृत्ति है इड़ा अर्थात् बुद्धि । यह वृत्ति व्यवसायात्मिका है जो तर्क-वितर्क में उलझाकर मानव को आनन्द-प्राप्ति के पथ से हटाने में लीन रहती है । ऋग्वेद में इड़ा-सम्बन्धी एक सूक्त है जिसमें इड़ा को बौद्धिक ज्ञान का प्रतीक कहा गया है । बुद्धि का प्रतीक होने के कारण इड़ा का बुद्धिवाद श्रद्धा और मनु के बीच व्यवधान बनाने में सहायक होता है । फिर बुद्धि के विकास में, अधिक सुख की खोज में, दुःख मिलना स्वाभाविक है । यथार्थ वस्तुस्थिति यह है कि इड़ा (बुद्धि) मन को उत्तेजित करने में तो समर्थ है किन्तु मन को परितुष्ट करने की क्षमता उसमें नहीं है । यही कारण है कि श्रद्धाहीन बुद्धि केवल क्लेश, सन्ताप और संघर्ष

को ही जन्म देने में निरत रहती है। तर्क-वितर्क और विघटन की ऊहापोह के कारण बुद्धि का स्वतन्त्र व्यक्तित्व इस संसार में कुछ भी कल्याणकारी निर्माण नहीं कर पाता। कामायनी के इड़ा सर्ग में प्रसाद जी ने इसका स्वरूप और स्वभाव इस प्रकार वर्णन किया है—

"हाँ, अब तुम बनने को स्वतन्त्र,
सब कलुष ढालकर औरों पर रखते हो अपना अलग तन्त्र,
द्वन्द्वों का उद्गम तो सदैव शाश्वत रहता वह एक मन्त्र।
तुमने तो प्राणमयी ज्वाला का प्रणय प्रकाश न ग्रहण किया,
हाँ, जलन, वासना को जीवन भ्रम तम में पहला स्थान दिया।
अब विकल प्रवर्तन हो ऐसा जो नियति चक्र का बने तन्त्र,
हो शाप भरा तव प्रजातन्त्र।"

× × ×

"यह अभिनव मानव प्रजा सृष्टि,
द्वयता में लगी निरन्तर ही वर्णों की करती रहे वृष्टि,
अनजान समस्याएँ गढ़ती रचती हों अपनी ही विनष्टि।
कोलाहल कलह अनन्त चले, एकता नष्ट हो बढ़े भेद,
अभिलषित वस्तु तो दूर रहे, हाँ मिले अनिच्छित दुखद खेद।
हृदयों का हो आवरण सदा अपने वक्षस्थल की जड़ता,
पहचान सकेंगे नहीं परस्पर चले विश्व गिरता पड़ता।
सब कुछ भी हो यदि पास भरा पर दूर रहेगी सदा तुष्टि,
दुख देगी यह संकुचित दृष्टि।"

उपर्युक्त पंक्तियों में इड़ा (बुद्धि) की उन मूल प्रवृत्तियों की ओर कवि ने संकेत किया है, जिनसे इड़ा का व्यक्तित्व निर्मित हुआ है। द्वन्द्व और संघर्ष के बीच पलने और ईर्ष्या-द्वेष में लिप्त इड़ा केवल अनियन्त्रित जीवन का ही पोषण करने में समर्थ है। भेद-बुद्धि उत्पन्न करके वर्गों की सृष्टि करने में लीन यह बुद्धिवाद, प्रेम, ममता, समवेदना और सद्भाव से दूर स्वार्थान्ध एवं संकीर्ण जीवन ही प्रदान करता है। 'बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल', शीर्षक गीत में इड़ा का बाह्य रूप जिस प्रतीकात्मक शैली से कवि ने अंकित किया है वह उसके स्वरूप और व्यक्तित्व का अच्छा परिचायक है। हृदय की स्निग्ध भावनाओं के अभाव में वह सुख, शान्ति और सन्तोष देने में सर्वथा असमर्थ रहती है। कामायनी के दर्शन सर्ग में श्रद्धा ने इड़ा को सम्बोधित करके कहा है—

"श्रद्धा बोली बन विषम ध्वान्त,
सिर चढ़ी रही पाया न हृदय,
तू विकल कर रही है अभिनय।"

इड़ा के कार्य-व्यापार और स्वरूप का उपरिलिखित वर्णन पढ़कर यह जिज्ञासा उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि यदि सचमुच बुद्धि का यही व्यवसाय और प्रयोजन है तो उसकी यथार्थ उपादेयता क्या है ? इस प्रश्न के प्रस्तुत होने पर बुद्धि की उपयोगिता की बात निस्सन्देह जटिल बन जाती है। किन्तु बुद्धि मानव-मन के विकास में सर्वथा व्यवधान या व्यर्थ की वस्तु नहीं है। उसे हम अवांछनीय वस्तु कहकर छोड़ नहीं सकते। उसका अपना एक विशेष प्रयोजन है और वह यह कि उसके द्वारा राग की परिपक्वता प्राप्त होती है। उसके संसर्ग से श्रद्धा दृढ़ होती है। राग को लक्ष्य के प्रति प्रेरणीय बनाने में बुद्धि का विपुल प्रयोजन है, अतः यह कहना अनुचित न होगा कि बुद्धि नियन्त्रित श्रद्धा के द्वारा ही मन समरसता की स्थिति को प्राप्त होता है। श्रद्धा अखण्ड आनन्द की दशा में पहुँचाने का साधन है। कामायनी में यदि आनन्दवाद साध्य है तो समरसता उसकी प्राप्ति का साधन है। इसलिए श्रद्धा और इड़ा के समन्वय तथा सामरस्य दशा की प्राप्ति उन गुत्थियों को सुलझा देती है जो दर्शन की परिभाषा में सच्चिदानन्द-प्राप्ति या ब्राह्मी स्थिति कहलाती है। कामायनी के दर्शन की इस प्रारम्भिक सीढ़ी को पार कर लेने के बाद समरसता का रहस्य और उसका प्रभाव जान लेना भी आवश्यक है।

'समरसता'—समरसता शब्द और समरसता का सिद्धान्त प्रसाद जी ने शैव-दर्शन से ग्रहण किया। शिव-तत्त्व और शक्ति-तत्त्व का सामरस्य शैव-दर्शन की आधारभूत मान्यताओं में है और इसका प्रतिपादन स्थान-स्थान पर किया गया है। समस्त सुख-दुःख के बीच एक रस रूप शिव विद्यमान है जिनकी प्रत्यभिज्ञा से समरसता आती है तथा सामरस्य की प्रतीति होने पर द्वैत भी आनन्द निस्पन्द हो जाता है—

"जाते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोपमम्।
मित्रयोरिव दम्पत्योः जीवात्मा परमात्मनोः ॥"

शैवागमों में इस समरसता का वर्णन शिव के विभिन्न रूपों को लेकर किया गया है और उसके द्वारा जगत् के वैषम्य को सार्थक बनाते हुए यह प्रदर्शित किया गया है कि इस वैषम्य में समत्व किस प्रकार स्थापित करके शिवत्व प्राप्त किया जाय। कामायनी में इसी तत्त्व को प्रसाद जी ने श्रद्धा और इड़ा के संघर्ष और समन्वय द्वारा प्रतिपादित किया है। बुद्धिवृत्ति की एकांगिता को श्रद्धा के समन्वय से ही सार्थक बनाया जा सकता है। समरसता का प्रारम्भ इन दोनों के यथोचित मिलन से ही प्रारम्भ होता है। सारस्वत प्रदेश में मानव को उपदेश देती हुई श्रद्धा कहती है कि—

"सब की समरसता का प्रचार,
मेरे सुत सुन माँ की पुकार।"

कामायनी के रहस्य सर्ग में त्रिपुर की अवतारणा करते हुए कवि ने समरसता का दार्शनिक विवेचन प्रस्तुत किया है। इच्छा, कर्म और ज्ञान यह तत्त्व मानव-मन की

शाश्वत प्रवृत्ति तथा गतिविधि का मनोवैज्ञानिक लेखा है, अतः इनमें सामरस्य स्थापित करने की चेष्टा ही मन को परिपूर्णता की स्थिति तक पहुँचाना है। जब तक इन तीनों में अभिन्नत्व न होगा आनन्द की प्राप्ति क्योंकर सम्भव हो सकती है?

"ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है,
इच्छा क्या पूरी हो मन की।
एक दूसरे से न मिल सके,
यह विडम्बना है जीवन की॥"

इन तीनों के सामरस्य की स्थिति पर आते ही एक दिव्य स्वर-लहरी का संचार हो जाता है। मनु योगियों की परमानन्द दशा अनाहतनाद में लीन हो मुक्ति-सुख में विचरण करने लगते हैं।

"स्वप्न स्वाप जागरण भस्म हो,
इच्छा, क्रिया, ज्ञान मिल लय थे।
दिव्य अनाहत पर निनाद के,
श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे॥"

योगियों को निर्विशेष या निर्विकल्प समाधि में स्थित होने पर जैसी विशुद्ध अनुभूति होती है वैसी ही अनुभूति इस सामरस्य दशा में हो जाती है। ध्याता, ध्येय और ध्यान तीनों एक होकर जैसे अखण्ड आनन्द में योगी को पहुँचा देते हैं वैसे ही इच्छा, क्रिया और ज्ञान में समत्व आने पर भेद-बुद्धि निःशेष हो जाती है। शैवागमों में इस स्थिति को चिदानन्द-प्राप्ति कहते हैं। यह समरसता के मार्ग से ही उपलब्ध होती है।

समरसता का यह सिद्धान्त केवल आध्यात्मिक पक्ष में ही चरितार्थ नहीं होता वरन् लौकिक पक्ष में व्यावहारिकता की दृष्टि से यह पूर्णरूपेण उपादेय सिद्ध होता है। कामायनी में कवि ने वर्तमान वैज्ञानिक युग के बुद्धिवादी प्रभाव को अपने मन में धारण करके उसके द्वारा उत्पन्न सामाजिक संघर्ष और विनाश का चित्रण किया है। कदाचित् इसी कारण समरसता के प्रतिपादन में उसने प्रकृति और पुरुष की अध्यात्म-परक समरसता तक अपने को सीमित नहीं रक्खा। व्यक्ति और समाज की समरसता का विशद रूप से उसने वर्णन और समर्थन किया है। लौकिक पक्ष में भी इस समरसता को अधिकाधिक व्यवहार्य बनाने का प्रयत्न स्थान-स्थान पर परिलक्षित होता है। श्रद्धा के द्वारा कवि ने इस संसार के वैषम्य का वर्णन कराकर शिवत्व या समरसता का निरूपण किया है। श्रद्धा कहती है—वैषम्य से आगे बढ़ने पर तुम्हें सदा एक-रस रहने वाले शिव का दर्शन प्राप्त होगा। प्रत्येक जीव का शिव-स्वरूप होने की समरसता (शिवत्व) में नित्य अधिकार है। जिस प्रकार कारण व्यापक रहकर प्रत्येक कार्य में अनुस्यूत रहता है उसी प्रकार समरसता व्यापक होकर सबके मूल में स्थित है। जैसे समुद्र परम व्यापक होने के कारण चारों

ओर से उमड़ता हुआ दिखाई पड़ता है और उसमें उठने वाली लोल लहरियों के मध्य ज्योतिष्मान मणि-समूह बिखरते हुए दिखाई देते हैं, वैसे ही अत्यन्त व्यापक समरसता में उठने वाली दुख की नील लहरियों के बीच मणिगण के समान चमकीले सुख-स्वप्न भंग होते रहते हैं। अतः तुम्हें क्षणिक सुख-दुःख की चिन्ता छोड़कर समरसता की ओर बढ़ना चाहिए। शैवागमों के अनुसार यही लोक का कल्याण भी है, संक्षेप में, जो सामरस्य लोक-कल्याण का पथ प्रशस्त करने वाला साधन है, वही शाश्वत सुख या आनन्द का विधायक भी है। आनन्द ही प्रसाद जी का परम ध्येय और अभीष्ट है, और वही साध्य है।

समरसता के मार्ग से जिस कोटि की आनन्दोपलब्धि का वर्णन प्रसाद जी ने कामायनी में किया है वह सगुणोपासक वैष्णव भक्तों का आनन्द नहीं है। सूर, तुलसी, मीरा आदि भक्तों के समान आनन्द का आलम्बन अपनी आत्मा से बाहर चराचर जगत् में स्थापित न करके अपनी अन्तरात्मा में ही आनन्द की अनुभूति करना इनका लक्ष्य है। योग-शास्त्र का ध्यान, धारणा, समाधि आदि साधनों का उपयोग भी उसमें निहित है। निर्गुण भक्ति-पद्धति में जिस प्रकार निराकार-निरञ्जन की उपासना द्वारा अन्तरात्मा दिव्य शक्ति के आलोक से आलोकित हो जाता है, उसी प्रकार आनन्दवाद की साधना-पद्धति में भी अन्तरात्मा शाश्वत सुख और आनन्द से परिपूर्ण हो उल्लसित हो जाता है। आनन्द-प्राप्ति के लिए साधक को वराह, नरसिंहावतार आदि बाह्य आलम्बनों की अपेक्षा नहीं होती। उसका आनन्द आश्रय-निष्ठ और आभ्यन्तर है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—"कामायनी में प्रसाद जी ने अपने प्रिय आनन्दवाद की प्रतिष्ठा दार्शनिकता के ऊपरी आभास के साथ कल्पना की मधुमति भूमिका बनाकर की है। यह आनन्दवाद वल्लभाचार्य के काम या आनन्द के ढंग का न होकर तान्त्रिकों और योगियों की अन्तर्भूमि-पद्धति पर है।" अपने आनन्दवाद की सृष्टि प्रसाद जी ने प्रमुख रूप से शैवागमों के प्रत्यभिज्ञा दर्शन के आधार पर की है। किन्तु भारतीय दर्शनों तथा उपनिषदों से भी उपयोगी तत्त्वों का उन्होंने चुनाव किया है। वेदान्त और बौद्ध दर्शन से कुछ तत्त्वों को ग्रहण किया और कुछ स्थलों पर इनसे स्पष्ट पार्थक्य रखा। जगत् को ब्रह्ममय स्वीकार करने पर भी उन्होंने अद्वैत मतानुसार उसे मिथ्या या असत् नहीं माना। माया का प्रभाव भी वे अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार नहीं मानते—शैवाद्वैत में माया के स्थान पर शक्ति-सिद्धान्त का प्रतिपादन है और इसे मानने पर जगत् को मिथ्या मानना आवश्यक नहीं रह जाता। सांख्य या बौद्ध-दर्शन की तरह वे संसार को दुःखमय भी नहीं मानते—हाँ, जगत् की प्रतिक्षण परिवर्तनशीलता उन्हें स्वीकार्य है। वे इस दृश्यमान जगत् को आनन्दमूर्ति शिव का विग्रह मानकर सत्य (सत्) स्वयं आनन्दमय मानते हैं। बौद्धों के नैरात्म्यवाद में भी उसका विश्वास नहीं, कामायनी का दर्शन आत्मवाद की सुदृढ़ भूमि पर

प्रतिष्ठित है। कामायनी में ज्ञान को प्रधानता न देकर श्रद्धा को प्रधानता दी गई है। शांकर मत में, 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' है तो प्रसाद मत में, 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्', का सन्देश है।

जैसा कि ऊपर की पंक्तियों में कहा गया है कि कामायनी के आनन्दवाद की सृष्टि में शैवागमों की प्रधानता है, वह सापेक्षिक है, यह समझ लेना सर्वथा भ्रमपूर्ण होगा कि कामायनी की दार्शनिक विचारधारा सर्वतोभावेन शैव विचारधारा है। यह ठीक है कि प्रसाद जी शिव के अनन्य भक्त और आराधक थे, अतः शैव-दर्शन से प्रेरणा ग्रहण करना उनके लिए सहज सम्भाव्य था। किन्तु शैवागमों के साथ वेद, ब्राह्मण, उपनिषद् तथा अन्य शास्त्रों का भी वे सतत् अनुशीलन करते रहे जिसका परिणाम यह हुआ कि किसी एक शास्त्र की संकीर्ण विचार-शृंखला उन्हें बाँध न सकी। समरसता और आनन्दवाद के मूल उपकरण शैवागमों से लेकर भी वे वेदान्त और उपनिषद् में प्रतिपादित ब्रह्म और उसकी सर्वव्यापकता की उपेक्षा न कर सके। महाचिति अथवा चैतन्य का वर्णन प्रसाद जी ने शैवागमों के आधार पर ही किया है। चैतन्य के अतिरिक्त इस विश्व में किसी की भी सत्ता नहीं, ऐसा शैवागमों का कथन है। शिव की शक्ति के असंख्य रूप होने पर भी शैव-दर्शन में परमेश्वर की पाँच शक्तियों का वर्णन किया गया है। कामायनी में भी शिव के पाँच रूप, संहारक, सृष्टा, मायायोगी, मन्त्रिवत् और नटराज, प्रस्तुत किये गये हैं। शक्ति की दृष्टि से शिव पाँच रूपों में सामने आते हैं—प्रकाशरूपा चित्-शक्ति, स्वातन्त्र्य-शक्ति (आनन्द-शक्ति), तच्चमत्कार। (इच्छा-शक्ति), आकर्षात्मकता (ज्ञान-शक्ति) और सर्वाकार योगित्व (क्रिया-शक्ति)। कामायनी के श्रद्धा सर्ग में इस महाचिति शक्ति की महिमा का वर्णन है। महाचिति लीलामय आनन्द कर रही है, उसके नेत्र खुलने पर ही विश्व का सुन्दर उन्मीलन होता है—

> "कर रही लीलामय आनन्द महाचिति सजग हुई-सी व्यक्त।
> विश्व का उन्मीलन अभिराम इसी में सब होते अनुरक्त॥"

शिव-शक्ति के सविस्तर वर्णन को पढ़कर पाठक के मन में यह भ्रान्ति होना स्वाभाविक है कि कामायनी की दार्शनिक पृष्ठभूमि शैव-दर्शन है और उसके मूलाधार ग्रन्थ शैवागम हैं। इससे आगे बढ़कर पाठक यह भी सोच सकता है कि शैव-सिद्धान्तों की विवृति के लिए ही प्रसाद जी ने मनु और श्रद्धा के इतिवृत्त को कामायनी में अवतरित किया है। किन्तु शैवागमों से कामायनी के दार्शनिक विचारों का मौलिक मतभेद जाने बिना इस प्रकार की धारणा बना लेना उचित नहीं। शैव-दर्शन सामाजिक दर्शन नहीं है, वह व्यष्टि-दर्शन है। समष्टि-विकास के सिद्धान्तों की अपेक्षा व्यष्टि-विकास पर ही उसका बल है। इसके विपरीत कामायनी का दर्शन सामाजिक दर्शन है, व्यष्टि-विकास से ही वह सन्तुष्ट नहीं होता। समष्टिमूलक-विकास भावनाओं के साथ उसका विस्तार होता है। अतः

उसकी परिधि अपेक्षाकृत व्यापक हो जाती है। कामायनी के कर्म सर्ग में इस सिद्धान्त को बड़े स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया गया है—

"अपने में सब कुछ भर कैसे व्यक्ति विकास करेगा ?
यह एकान्त स्वार्थ भीषण है, अपना नाश करेगा ?
औरों को हँसते देखो मनु हँसो और सुख पाओ,
अपने सुख को विस्तृत करलो सब को सुखी बनाओ।"

समष्टि-विकास के सिद्धान्त का प्रतिपादन कामायनी के श्रद्धा सर्ग में भी कवि ने उपनिषदों के 'भूमा' शब्द के द्वारा बड़ी ही सुन्दर शैली से किया है। नारद और सनत्कुमार संवाद में भूमा की महिमा वर्णन करते हुए कहा गया है कि इस संसार में जो भूमा है—व्यापक और महान् सुख है—वही अमृत है। 'यो वै भूमा तत्सुखम्'—नाल्पे सुखमस्ति, भूमा वै सुखम्' व्यष्टि सुख का तिरस्कार करती हुई समष्टि या व्यापक सुख की ओर ही प्रवृति करने वाली वृत्ति ही भूमा है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि व्यष्टिगत सुख को समष्टिगत सुख में पर्यवसित कर देना ही भूमा है और यही कामायनी की सामाजिकता का आधार है। श्रद्धा सर्ग के अन्तिम पद की अन्तिम पंक्ति तो समष्टिगत सौख्य की पुकार से गूँज रही है—'समन्वय उसका करे समस्त, विजयिनी मानवता हो जाय' संक्षेप में, कामायनी का यह समष्टि-विकास-भाव शैव-दर्शन के व्यष्टि-विकास से मेल नहीं खाता। और प्रसाद जी के दर्शन को अपेक्षाकृत व्यापक बना देता है। इसके अतिरिक्त कामायनी का दर्शन केवल आध्यात्मिक दर्शन ही न रहकर व्यावहारिक भी है। उसके व्यावहारिक होने का कारण है उसमें वर्तमान युग की सामाजिक भावनाओं का ग्रहण और समर्थन। आधुनिक युग की पदार्थ-प्रियता, जिसका दायित्व भौतिक विज्ञान पर है— कामायनी के कवि को इष्ट नहीं। वर्ग-संघर्ष और सामाजिक वैषम्य द्वन्द्वात्मक संघर्षों का प्रभाव भी कवि के मन पर पड़ा है और अपने समन्वय तथा सामरस्य के सिद्धान्तो के प्रतिपादन में उसका ध्यान इन समस्याओं की ओर गया है। वर्ग-वैषम्य ने किस प्रकार सामाजिक जीवन को कुण्ठित बनाया हुआ है और उससे किस प्रकार त्राण पाया जा सकता है, यह कामायनी के संघर्ष सर्ग में कवि ने बताया है। बुद्धि की विगर्हणा मे भी कवि सांकेतिक शैली से यह काम करना चाहता है कि केवल तर्क-संकुल शुष्क ऊहापोह से जीवन में आनन्द की प्रतिष्ठा सम्भव नहीं। भौतिक विज्ञान के प्रभाव में आधुनिक युग मे हम इस तथ्य को भूल रहे हैं, अतः सर्वांगीण जीवन-दर्शन का निर्माण भी नहीं कर पाये हैं। सर्वांगीण विकास के लिए जिस कोटि के जीवन-दर्शन की आज आवश्यकता है वह भौतिक साधनो तक सीमित रहने से ही उपलब्ध नहीं हो सकता। शुद्ध निर्लेप चैतन्य का शाश्वत और अखण्ड आनन्द-प्राप्ति यदि चरम ध्येय है तो हमे लौकिक तथा पारलौकिक दोनों ही क्षेत्रों में समन्वय और समरसता को स्वीकार करना

होगा। श्रद्धा के संसर्ग से बुद्धि (इड़ा) का संस्कार करके शुद्ध चैतन्य द्वारा भावना, ज्ञान और क्रिया में सामरस्य उत्पन्न करके अखण्ड आनन्द प्राप्त किया जा सकता है।

संक्षेप में, कामायनी की कथा ऐतिहासिक होने के साथ एक मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक चेतना की सुदृढ़ एवं शाश्वत भावभूमि पर प्रतिष्ठित है। श्रद्धा नियोजित सन्तुलित बुद्धि के सहयोग से मनु (मानव) उस मार्ग पर चलने योग्य होता है जो जीवन का चरम साध्य है। जब वह लक्ष्य तक पहुँच जाता है तब उसका मन पूर्णरूपेण स्वस्थ, शुद्ध और चैतन्य के आलोक से पूर्ण होकर आनन्दलीन हो जाता है; ताप, शाप, दुख, दैन्य, संघर्ष और वैषम्य की जड़ता तिरोहित हो जाती है और आनन्द की अजस्रधारा प्रवाहित होने लगती है—

"शापित न यहाँ है कोई, तापित पापी न यहाँ है,
जीवन वसुधा समतल है, समरस है जो कि जहाँ है।
समरस थे जड़ या चेतन, सुन्दर साकार बना था,
चेतनता एक विलसती आनन्द अखण्ड घना था॥"

चतुर्थ खण्ड

कला (समालोचनात्मक अध्ययन)

१

प्रसाद की एकांकी कला

[रामचरन महेन्द्र]

हिन्दी एकांकी का सन् १६२५ से नवीन सूत्रपात होता है। इस नवीन उत्थान मे प्रसाद प्रतिनिधि रूप से अग्रसर हुए। प्रसाद जी ने कई प्रकार के नाटकों के प्रयोग किये थे इनमें एकांकी नाटक भी थे। प्रारम्भ में आप भारतेन्दु-शैली से प्रभावित थे, और संस्कृत नाट्यशैली के उपकरणों का प्रयोग करते थे: यथा—'सज्जन', 'विशाख' तथा 'राज्यश्री' के प्रथम संस्करण में, किन्तु बीसवीं शताब्दी की पाश्चात्य नाट्य-चेतना ने उनके नाटकों के स्वरूप में परिवर्तन करने प्रारम्भ किये। यद्यपि उन्होंने अपने कथानक पौराणिक और ऐतिहासिक हिन्दू-काल से ग्रहण किये, जिनसे उनकी सांस्कृतिक अभिरुचि का ज्ञान होता है, किन्तु चरित्रों पर नवीन मनोवैज्ञानिक प्रकाश डालकर उन्होंने नाट्यकला को यथार्थवादी भावनाओं से सुगठित किया। उन्होंने भारत के प्राचीन आदर्श एवं वर्तमान जीवन की सहानुभूतिशील वास्तविकता का सम्मिश्रण किया। वे स्वभावतः कवि थे। अतः रसानुभूति एवं सौन्दर्यशील गीतिकाव्य ने उनके नाटकों में विशिष्ट स्थान प्राप्त किया। 'करुणालय' एकांकी गीति-नाट्य की पद्धति में उनकी भावात्मक रुचि का द्योतक है, मानों प्रत्यक्ष जीवन के चित्रपट पर वे परोक्ष मानव कल्पनाओं को प्रधानता देते थे। प्रसाद का नाटकीय मनोविज्ञान सहृदय के काव्यपक्ष को जाग्रत करता है।

१. सज्जन, २. करुणालय, ३. गीति एकांकी: तथा प्रायश्चित प्रसाद की एकांकी जगत् में प्रयोगात्मक रचनाएँ हैं। उनके ४. एक घूँट से एकांकियों के विकास में एक नया युग प्रारम्भ होता है। एक घूँट नवीन दिशा का पथ-प्रदर्शक एकांकी नाटक बना। नई शैली के वास्तविक हिन्दी एकांकी का प्रारम्भ प्रसाद के एक घूँट (१६२६) से होता है। वर्तमान एकांकी टेकनीक का इसमें पूर्णरूप से निर्वाह हुआ है तथा इसी कारण यह एक सफल एकांकी है। प्रसाद जी के अन्य नाटकों की भाँति यह भी संस्कृत-परिपाटी के अनुसार प्रणीत है। हम[1] इस मत से कुछ अंशों में सहमत नहीं हैं। यद्यपि संस्कृत-परिपाटी के अनुसार उसका प्रणयन हुआ है, तथापि इस नाटक पर पाश्चात्य

---

१. श्री सत्येन्द्र शरत एम० ए०: 'हिन्दी एकांकी' सम्मेलन-पत्रिका।

प्रभाव स्पष्ट दीख पड़ता है। आधुनिक एकांकी की टेक्नीक का 'एक घूँट' में पूरा निर्वाह है। यह[1] मत ठीक है क्योंकि इस नाटक में कुछ अंशों में वे सभी तत्त्व उपलब्ध हैं जो आगे चलकर हिन्दी एकांकी में विकास पर आये। इसमें प्रसादत्व का रंग भी गहरा है और संकलनत्रय का भी निर्वाह है।

प्रसाद की सर्वतोमुखी प्रतिभा तथा नाटकीय पर्यवेक्षण के सम्मुख पुरानी बाधाएँ न ठहर सकीं तथा पाश्चात्य टेक्नीक के प्रभाव से हिन्दी एकांकी साहित्य पुनः वेग से प्रवाहित हो पड़ा। भारतेन्दु युग से विकसित होकर प्रसाद-युग तक हिन्दी एकांकी में पर्याप्त परिपक्वता आ गई थी। भारतेन्दु के एकांकियों का विकसित और समृद्धिशाली रूप प्रसाद के एकांकी-साहित्य में उपलब्ध है। अनेक अभावों का निराकरण प्रसाद के एकांकियों में हुआ। यदि हम यह मान लें कि हिन्दी साहित्य में आधुनिक एकांकी की नींव भारतेन्दु ने डाली, तो हमें यह मानना होगा कि प्रसाद जी ने उसे पुष्पित और फलित किया। हिन्दी एकांकी को आगे बढ़ाया।

उनके एकांकियों में प्राचीन भारतीय इतिहास का जो पुनरुत्थान हुआ है, प्राचीन हिन्दू संस्कृति के जिन उज्ज्वल चित्रों की अवतारणा हुई है, भारतीय इतिहास के साथ कवित्व तथा दार्शनिकता का जो मधुर साहित्यिक और कलात्मक योग हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। प्रसाद जी ने भारतेन्दु-युग की पौराणिक-ऐतिहासिक सुधारवादी एकांकियों की प्राचीन गद्य-पद्यमय परिपाटी तो छोड़ दी, किन्तु अधिकांशतः गद्य के ही माध्यम को सांकेतिक बनाने की परिपाटी प्रारम्भ की। उनके 'एक घूँट' से आधुनिक हिन्दी एकांकी के विकास का नया पृष्ठ उलटता है।

प्रसाद जी पर डी० एल० राय का प्रभाव भी स्पष्ट है। अंग्रेजी टेक्नीक का प्रभाव सीधा न पड़कर ऋजु और कुन्तल गलियों से उनके एकांकी साहित्य पर पड़ रहा था। बंगला द्वारा, साथ-साथ संस्कृत के भी लेखकों का अच्छा अध्ययन होने के कारण उनके एकांकी साहित्य पर संस्कृत-नाट्य-प्रणाली का भी कुछ प्रभाव चलता दीखता है, परन्तु पिछले दिनों के नाट्यकारों में संस्कृत से सम्बन्ध-विच्छेद तथा पाश्चात्य प्रणाली के सम्मिलन से एक नई नाट्य-प्रणाली को ढूँढ़ निकालने की प्रवृत्ति भी दृष्टिगोचर होती है। 'प्रसाद तक हिन्दी एकांकी साहित्य पर बंगला द्वारा आया हुआ शेक्सपियर के नाटकों का अंग्रेजी प्रभाव था।'[2]

प्रसाद जी की एकांकी रचना-पद्धति का विकास क्रमशः हुआ था। हिन्दी नाट्य-*साहित्य की समृद्धि के निमित्त वे निरन्तर विभिन्न नाटकीय शैलियों के प्रयोग कर रहे थे।* प्रारम्भ में उन्होंने चार प्रयोगात्मक एकांकी लिखे—'सज्जन, कल्याणी परिणय, करुणालय

---

१. डा० नगेन्द्र : 'आधुनिक हिन्दी नाटक'।

२. प्रो० अमरनाथ गुप्त : 'हिन्दी एकांकी नाटक सप्तक' भूमिका से।

तथा प्रायश्चित।' कला की दृष्टि से इन प्रारम्भिक प्रयोगात्मक एकांकियों का अधिक महत्त्व नहीं है, किन्तु प्रसाद की नाट्य-कला के विकास की ये आवश्यक कड़ियाँ हैं।''[1] 'एक घूँट' जो 'सज्जन' के १९ वर्ष के दीर्घकालीन अध्ययन तथा अनुभव के पश्चात् लिखा गया था, एक सफल सांकेतिक एकांकी नाटक है। यह नाटक एकांकी के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

उनकी नाट्य-कला के विकास की दृष्टि से हम उनके सम्पूर्ण नाट्य-साहित्य को इस प्रकार तीन कालों में विभक्त कर सकते हैं। इनमें उनके एकांकियों के स्थान वर्णनीय है—

काल	नाटक	संवत्	सन्	
प्रयोग काल सन १९१५ तथा पूर्व	१. सज्जन	संवत् १९६७	सन् १९१०	एकांकी
	२. कल्याणी परिणय	संवत् १९६९	सन १९१२	एकांकी
	३. प्रायश्चित्	संवत् १९७१	सन् १९१४	एकांकी
	४. राज्यश्री	संवत् १९७२	सन् १९१८	
मध्य काल सन् १९१६ से १९२७ तक	५. विशाख		सन् १९२१	
	६. अजातशत्रु		सन् १९२२	
	७. जन्मेजय का नागयज्ञ		सन् १९२३	
	८. कामना		सन् १९२६	
उत्तर काल सन् १९२७ से १९३३ तक	९. स्कंदगुप्त		सन् १९२८	
	१०. चन्द्रगुप्त		सन १९२८	
	११. एक घूँट		सन् १९२९	
	१२. ध्रुवस्वामिनी		सन् १९३३	

उपरोक्त तालिका को देखने से ज्ञात होता है कि उनके तीन एकांकी नाटक 'सज्जन', 'कल्याणी परिणय' तथा 'कलामय गीतिनाट्य' प्रारम्भिक युग की देन हैं। 'चित्राधार' में संग्रहीत दोनों एकांकी उनकी प्रथम रचनाओं में से हैं।[2] इनमें एकांकी कला के साधारण प्रयोग मात्र हैं। प्रकाशन की तिथि के चक्र में न पड़े तो हम यह कह सकते हैं कि इन एकांकियों में प्रसाद के प्राचीन से अर्वाचीन की ओर उत्तरोत्तर प्रसाद की प्रथम अवस्था का परिचय प्राप्त हो जाता है। इनकी रचना संस्कृत तथा हिन्दी की पुरानी पारसी शैली की है। प्रसाद की प्रतिभा विकास पर है। प्रथम अवस्था में ही आपके एकांकियों मे कलात्मक प्रयास दृष्टिगोचर होता है, साथ ही अध्ययन और संघर्ष के चित्रण के भी चिह्न मिलते हैं। 'विशाख के पश्चात्' धीरे-धीरे उन में एक ही प्रकार की शैलियाँ और विचार-पद्धति के विकास और परिपक्वता के उपकरण मिलते हैं।' उनमें नाट्य-साहित्य की यह विशेषता महान है।[3]

१. डा० सोमनाथ गुप्त : 'हिन्दी नाटक का इतिहास'; पृष्ठ २४१।
२. प्रो० रामकृष्ण शिलीमुख : 'प्रसाद की नाट्य कला'; पृष्ठ ५२।
३. राजेन्द्र सिंह गौड़ : 'आधुनिक कवियों की काव्य-साधना'; पृष्ठ २४१।

प्रयोगात्मक एकांकियों में निम्न विशेषताएँ स्पष्ट हैं—

१. इनकी रचना संस्कृत तथा हिन्दी की पुरानी नाट्य-शैलियों के अनुसार है। प्रारम्भ में नान्दी का विधान है। तत्पश्चात् सूत्रधार आता है और नटी से नाटक के अभिनय का आग्रह करता है। अभिनय होना निश्चित होता है। इनके अन्त में भरत वाक्य का प्रयोग किया गया है।

२. पद्यों में संस्कृत छन्दों का प्रयोग है। यह सिद्ध करता है कि प्राचीन गद्य-पद्य में एकांकी के प्रति प्रसाद की सहानुभूति थी। प्राचीन नाटकों की शैली पर खड़ी बोली गद्य के भीतर पद्य की कविताओं का प्रयोग ब्रजभाषा में है। सम्भाषणों में छन्दबद्ध कविता का प्रयोग है। भिन्न-भिन्न प्रकार के चरित्रों द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार की भाषा काम में लाई गई है।

३. इन एकांकियों के प्राकृतिक दृश्यों के वर्णनों में संस्कृत में कविकुल शिरोमणि कालिदास एवं हिन्दी में तुलसीदास आदि जैसे श्रेष्ठ प्रयोग उपलब्ध हैं।

४. एकांकियों में छन्दों का प्रयोग संस्कृत नाट्य-परम्परा से लिया गया है। पं० बद्रीनाथ भट्ट, माखनलाल चतुर्वेदी, माधव शुक्ल प्रभृति द्वितीय उत्थान के नाटककारों ने भी इस पद्धति का अनुकरण किया है। द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों में भी इस पद्धति का पूर्ण निर्वाह है।[1]

५. इनमें मानसिक संघर्ष का बड़ा दुर्बल प्रयोग है। कथा में तीव्रता कम है। भाषा शुद्ध परिमार्जित है। छन्द की गति में सर्वत्र मन्थरता है।

६. संस्कृत नाट्यशास्त्र के विरुद्ध इन एकांकियों में कहीं-कहीं वर्जित दृश्य का भी समावेश है जैसे 'प्रायश्चित' में जयचन्द से आत्महत्या कराई गई है।

७. इन एकांकियों पर न्यूनाधिक रूप में भरतमुनि की शास्त्रीय पद्धति का अनुकरण किया गया है। उनके नाटकों में पहले फलागम का ज्ञान नहीं होता, पर संघर्ष अभिवृद्धि पर रहता है तथा अन्त में नायक को शान्ति प्राप्त होती है।

प्रसाद के एकांकियों पर एक आलोचनात्मक दृष्टि

'सज्जन'—प्रसाद का 'सज्जन' (१६१०) प्रथम मौलिक एकांकी है। इसमें प्राचीन तथा नवीन नाट्य-प्रणालियों का सम्मिश्रण किया गया है। इस एकांकी के द्वारा हमें उनके प्राचीन से अर्वाचीन की ओर उत्तरोत्तर विकास की प्रथम अवस्था का परिचय प्राप्त होता है। 'सज्जन' लगभग २० पृष्ठों का एकांकी रूपक है। इसकी रचना संस्कृत तथा प्राचीन हिन्दी नाट्य-शैली पर है। प्रारम्भ नान्दी से होता है। तत्पश्चात् सूत्रधार आता है तथा अपनी पत्नी से नाटकाभिनय का प्रस्ताव करता है। कथोपकथन में चातुरी

---

१. डा० सोमनाथ गुप्त : 'हिन्दी नाटक का इतिहास'; पृष्ठ २४१।

से सज्जनता का संकेत हो जाने पर पत्नी का 'सज्जन' का स्मरण हो आता है तथा उसके अनन्तर दुर्योधन की सभा दृष्टिगोचर होती है। 'सज्जन' के कथोपकथनों में पद्य का यथेष्ट प्रयोग है। पात्र अपनी गद्योक्ति को पुष्ट करने के लिए पद्य का प्रयोग करते हैं, जो दृष्टान्त रूप में होता है। इन पद्यमय अंशों की शैली भी संस्कृत जैसी है। प्राकृतिक वर्णनों में प्रायः नीति का कोई सत्य निरूपण करने की चेष्टा की गई है। जैसे—

"जे जाई पश्चिम दिशा मद मोद माते,
ह्वै वारुणी विवश मोह तरंग राते।
देखे तिन्हें पतित लोग सब हँसाही,
प्राची दिशा शशि मिले हँसतो सदा ही।"

प्राचीन परिपाटी के हिन्दी एकांकियों में जैसे खड़ीबोली गद्य के भीतर पद्य ब्रजभाषा में प्रयुक्त हैं, उसी प्रकार के कतिपय प्रयोग 'सज्जन' में हैं। कथोपकथन सादा और संक्षिप्त हैं, पात्रगण सारयुक्त वक्तव्यों का प्रयोग करते हैं। संक्षिप्त होते हुए भी इस एकांकी में कार्य-व्यापार की न्यूनता नहीं है। अभिनय की उद्भावना एवं संक्षिप्त कथोपकथनों के उपकरण आधुनिकता के सूचक हैं। उसका अन्त भरत वाक्य से होता है। 'सज्जन' की कथावस्तु संक्षिप्त है। अपने आगे के नाटकों में प्रसाद जी ने नान्दी का कार्य प्रथम अंक के प्रथम दृश्य से निकाला है।

'करुणालय'—करुणालय एक गीति एकांकी है। यह वैदिक काल की विश्रृंखल कार्य-भावना पर एक करुण व्यंग्य है। यह एक छोटा-सा दृश्य नाट्य है, जो तुकान्तविहीन मात्रिक छन्दों में विरचित है। इसमें इच्छानुकूल विराम-चिह्नों का प्रयोग किया गया है। न कवित्व और न नाट्यकला की दृष्टि से ही इसे सफल कहा जा सकता है। कथानक कुछ बेतुका-सा है। इसमें राजा हरिश्चन्द्र तथा रोहित के जीवन की एक कथा का, जहाँ पुत्र को निज अधिकारों का ज्ञान होता है, मार्मिक चित्रण है। "इस नाटक में गीतिनाट्य के प्राण तत्त्व, मानसिक संघर्ष का दुर्बल प्रयोग है। हरिश्चन्द्र की कर्त्तव्य-भावना और पुत्र-प्रेम के बीच संघर्ष बड़ा शिथिल है। लगभग नहीं के बराबर है। हाँ, रोहित की जीवन-लालसा और पिता के प्रति कर्त्तव्य के मध्य जो संघर्ष हुआ है, उसमें कुछ दम है, विद्रोह की शक्ति है, '''शास्त्रीय दृष्टि से प्रभाव-एक्य ढूँढ़ भी निकाला जाय, परन्तु वह बड़ा क्षीण है। फिर भी यह एकांकी कवित्व से शून्य नहीं है। प्रथम दृश्य में मनोरम प्राकृतिक सौन्दर्य की कोमल अभिव्यंजना मिलती है। भाषा मँजी हुई शुद्ध है, छन्द की गति में सर्वत्र ही मन्थरता है। इस गीति-नाट्य में प्रसाद के प्रसादत्व की एक झलक भर है।''

इस नाटक पर अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि वर्डस्वर्थ और बँगला के माईकेल मधुसूदनदत्त का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। वार्णिक वृत्तों का विशेष विधान है। प्रसाद ने अंग्रेजी से

प्रभावित होकर करुणालय की सृष्टि की है, किन्तु इसके अनन्तर उन्होंने अपना यह मार्ग परिवर्तित कर दिया था। करुणालय मे जिस गीति नाटकों वाली शैली का अनुसरण किया गया है, यह प्रसाद को नवीन-सी प्रतीत हुई, क्योंकि उस काल में नाट्यकार नौटंकी की शैली पर गीति-नाटकों की सृष्टि किया करते थे। सत्य हरिश्चन्द्र के कथानक को लेकर आधुनिक नाट्यकारों ने गीति-नाट्य की परिपाटी को अक्षुण्ण रक्खा है।

'चित्राधार' के एकांकी प्रसाद जी ने २०-२२ वर्ष की आयु मे रचे थे। इस संग्रह से उनकी उदीयमान प्रतिभा का सहज ही में अनुमान हो सकता है तथा उन पर क्रमशः अंग्रेजी टेकनीक का भी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

'एक घूंट'—प्रसाद के एकांकियों मे 'एक घूंट' का विशेष स्थान है। उसका एक ऐतिहासिक महत्त्व है। कुछ आलोचकों, जिनमें श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त, सत्येन्द्र शरत्, प्रो० सद्गुरुशरण अवस्थी, डा० नगेन्द्र आदि है, ने उससे नई शैली के आधुनिक हिन्दी एकांकी का प्रारम्भ माना है। कुछ आलोचकों की सम्मति इस प्रकार है—

"यों तो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बदरीनारायण गोस्वामी, बालकृष्ण भट्ट, प्रताप-नारायण मिश्र और राधाकृष्णदास ने पिछली शताब्दी में ही ऐसे रूपक लिखे थे जो आजकल के एकांकियों से मिलते-जुलते हैं, परन्तु उन्हें आदर्श एकांकी नहीं कह सकते। हिन्दी एकांकी का प्रादुर्भाव जयशंकर प्रसाद के 'एक घूंट' से होता है।"[1]

"सचमुच हिन्दी एकांकी का प्रारम्भ प्रसाद के 'एक घूंट' से हुआ है। प्रसाद पर संस्कृत का प्रभाव है। इसलिए वे हिन्दी एकांकी के जन्मदाता नहीं कहे जा सकते, यह बात मान्य नहीं है। एकांकी की टेकनीक का 'एक घूंट' में पूरा निर्वाह है।"[2]

"'एक घूंट' एक सुन्दर साहित्यिक पुष्प है, जिसका रसास्वादन विद्वान्, तर्कशील और गम्भीर पाठक ही कर सकते हैं। चूंकि प्रसाद जी के नाटक विद्वानों के लिए रचे गये शात होते हैं, उन पर दुरूहता का आरोप लगाना व्यर्थ-सा प्रतीत होता है। अभिनय के अनुपयुक्त होने पर भी स्थान-स्थान पर अभिनय का पूर्ण आयोजन 'एक घूंट' में है।"[3]

"प्रसाद जी का 'एक घूंट' हिन्दी एकांकियों के विकास की द्वितीय अवस्था का अग्रणी है। यह अवस्था संवत् १९८६ से प्रारम्भ होकर सन् १९३२ तक मानी जाती

---

१. डा० हरदेव बाहरी एम० ए० डी० लिट० : 'चुने हुए एकांकी नाटक'; भूमिका पृष्ठ ६।

२. डा० नगेन्द्र : 'आधुनिक हिन्दी नाटक'; पृष्ठ १३१।

३. प्रो० सद्गुरुशरण अवस्थी : 'एक घूंट' की आलोचना से।

चाहिए। प्रसाद का 'एक घूँट' १९८६ संवत् में प्रकाशित हुआ था। प्रथम अवस्था 'एक घूँट' के लिखे जाने के पूर्व तक मानी जानी चाहिए।"[1]

"प्रसाद जी ने साहित्यिक नाटक को हिन्दी के ऊँचे आसन पर बैठाया। आपका 'एक घूँट' सफल एकांकी नाटक है। यहाँ जीवन की विनोद और काव्यपूर्ण झाँकी हमें मिलती है और उत्कृष्ट कोटि के हलके रेखाचित्र भी।"[2]

"नई शैली के वास्तविक हिन्दी एकांकी का प्रारम्भ भी जयशंकर प्रसाद के 'एक घूँट' से होता है।" वर्तमान एकांकी टेकनीक का इसमें पूर्ण निर्वाह हुआ है और इसी कारण यह एक सफल एकांकी नाटक है। इस पर पाश्चात्य प्रभाव स्पष्टतः दीख पड़ता है। अतः इस स्कूल के आलोचकों के विचार सत्य कहे जा सकते हैं। 'एक घूँट' ने हिन्दी एकांकी की एक नई परम्परा को जन्म दिया और एक नवीन दिशा की ओर पथ-प्रदर्शन किया।

दूसरे स्कूल के आलोचकों, जिनमें प्रो० अमरनाथ गुप्त एम० ए० प्रमुख हैं, कहना है कि प्रसाद जी पर संस्कृत की परिपाटी का प्रभाव अधिक है। वे पथ-प्रदर्शक के रूप मे हिन्दी भाषा-भाषियों के सम्मुख उपस्थित न हो सके। हिन्दी साहित्य के पश्चिम से प्रभावित एकांकी के जन्मदाता प्रसाद जी नहीं हैं। इसका कथानक भी ऐतिहासिक है। जीवन की विनोदपूर्ण और काव्यमय झाँकी हमें मिलती है।

इस मत में कई भ्रमपूर्ण कथन हैं। इसके कथानक को ऐतिहासिक बताया गया है जब कि उसमें कुछ भी ऐतिहासिक नहीं है। इसमें पाश्चात्य नाटक की टेकनीक स्पष्ट दीखती है। इसमें दृश्य-परिवर्तन नहीं है, पात्रों में गति है, घटना की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है और जो संघर्ष प्रारम्भ हुआ है, वह धीरे-धीरे शक्तिवान होता है। अन्त में एक पक्ष अनुभूति के आधार पर निर्बल होकर क्षुब्ध हो गया, और दूसरा पक्ष प्रबल होकर चरमोत्कर्ष पा गया है। नाटक में संकलन भी निर्दोष है। प्रसाद जी का यह नाटक बिलकुल पाश्चात्य ढंग का तो नहीं है पर उसकी ओर विकास की एक बड़ी मंजिल पूरी करता है। पात्रों के मनोवैज्ञानिक चित्रण, घटना का संघर्षों में से होकर चरम सीमा प्राप्त करना, कथोपकथनों में वाक् वैदग्ध्य, अस्वाभाविक प्रसाधनों का न्यूनतम उपयोग, रंगसंकेतों की व्यापकता तथा गानों का कलात्मक प्रयोग इत्यादि सभी दृष्टिकोणों से प्रसाद के 'एक घूँट' में हिन्दी एकांकी एक विकसित अवस्था में दृष्टिगोचर होता है। ये सभी प्रवृत्तियाँ उभरती हुई मिलती हैं। अभिनय की दृष्टि से यह लम्बा और गम्भीर, तर्क तथा दार्शनिकता से बोझिल अवश्य है किन्तु इसमें चरित्र चित्रण की एकता एवं लक्ष्य की

---

१. डा० सत्येन्द्र : 'हिन्दी एकांकी'; पृष्ठ २८।

२. प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त एम० ए० : 'हंस' का एकांकी नाटक अंक।

और वेग सम्पन्न प्रवाह है, वस्तु-निर्माण में कलात्मकता है। एक कोणीय प्रदर्शन में इस एकांकी की ऐतिहासिक महत्ता है, और इसी में प्रसाद की एकांकी कला की सफलता है।

'एक घूँट' में प्रसाद जी के रंगमंच के नियमों की अवहेलना हुई है, यद्यपि पात्र-चित्रण मनोवैज्ञानिक है। प्रसाद जी ने एकांकी नाटकों की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। चरित्र-निरूपण तथा व्यक्ति-संघर्ष ही उनका आदर्श रहा, उस क्षेत्र में वे अद्वितीय हैं।'[1]

प्रसाद के एकांकियों की कथावस्तु सामग्री तीन प्रकार की है—(१) ऐतिहासिक जैसे 'प्रायश्चित', (२) पौराणिक जैसे 'सज्जन' तथा 'करुणालय', (३) भावात्मक आदर्श-वाद जैसे 'एक घूँट'। आपने ऐतिहासिक तथा पौराणिक एकांकियों में प्राचीन संस्कृति और वैभव का नवीन स्वप्न देखा है और उसे अपनी कोमल भावनाओं से अनुरंजित किया है। अपनी प्रतिभा द्वारा शुष्क इतिहास तथा भूले हुए पौराणिक उपाख्यानों को साहित्य का सुघरा रूप भी प्रदान किया है। "अपने इस प्रयत्न में सफलता प्राप्त करने के लिए उन्होंने अपनी ओर से कथावस्तु की ऐतिहासिकता में कुछ परिवर्तन भी किया है, पर एक सीमा के भीतर और कलात्मक ढंग से। उनकी समस्याएँ बहुमुखी हैं—पतितों को उठाना, निराशा के गर्त में गिरे हुए प्राणियों की पीड़ित मानवता का विश्व मंगलकारी आशावाद का संदेश सुनाना···उनके नाटकों में राजनैतिक द्वन्द्व, प्रणय के घात-प्रतिघात तथा आध्यात्मिक उत्थान के साथ-साथ एक नया आकर्षण है, ओज है और आदर्श है।"[2]

प्रसाद ने अपने एकांकियों में चरित्र-चित्रण के लिए चार उपकरण अपनाये हैं। वार्तालाप, स्वगत-कथन, दूसरों के कथन और कार्य-व्यापार। दो प्रकार के पात्र विशेष रूप से मिलते हैं। स्वाभाविक एवं परिस्थितिजन्य। उनके कुछ आदर्श पात्र बाह्य संग्राम के साथ स्वयं अपने मन की अशुभ वृत्तियों के साथ भी लड़ते हैं और आत्मचिन्तन करते हुए कर्त्तव्य-पथ की ओर अग्रसर होते हैं। उदाहरणस्वरूप 'एक घूँट' के आनन्द तथा कुंज रसाल इत्यादि। प्रसाद के एकांकियों की नारी पात्र वनलता, प्रेमलता इत्यादि पुरुषों को उनके कर्त्तव्य-मार्ग पर परिचालित करती हैं। 'एक घूँट' के सब पात्र मध्यवर्ग के हैं जिनके आदर्श हैं सरलता, स्वास्थ्य और सौन्दर्य। अरुणाचल आश्रम के रूप में प्रसाद ने एक ऐसी जीवन-यात्रा की कल्पना की है, जो नागरिक और ग्रामीण जीवन की संधि है। इस आश्रम में किसी साधारण कार्य करने वाले को लज्जित होने की आवश्यकता नहीं है। सभी कुछ न कुछ करते हैं। प्रसाद के कथोपकथन में सब कुछ है पर उनकी भाषा कुछ क्लिष्ट है। 'एक घूँट' में अर्थ सम्बन्धी कठिनाई का अनुभव नहीं करना पड़ता

---

१. श्री नर्मदाप्रसाद खरे।

२. श्री राजेन्द्र सिंह गौड़।

है। शिष्टता और सुरुचि का सर्वत्र ध्यान रखा गया है। उचित सीमा के अन्दर प्रसाद ने भाव-व्यंजक और संघर्षमय कथोपकथनों की सृष्टि की है। गीतों का बाहुल्य इन नाटकों को मृदुल सरसता और रसात्मकता से परिपूरित कर देता है।

प्रसाद ने गीत को एकांकी के लिए आवश्यक माना है। 'एक घूँट' का प्रारम्भ गीत से होता है—

> खोल तू अब भी आँखें खोल,
> जीवन उदधि हिलोरें लेता, उठती लहरें लोल।
> छवि की किरनों से खिल जा तू,
> अमृत झड़ी सुख से मिल जा तू,
> इस अनन्त स्वर में मिल जा तू, वाणी में मधु घोल।
> जिससे जाना जाता सब यह, उसे जानने का प्रयत्न। अहः
> भल अरे अपने को मत रह जकड़ा, बन्धन खोल।
> खोल तू अब भी आँखें खोल।

इस गीत के अर्थ पर नाटक चलता है। सांकेतिक रूप में बन्धनों को खोल देने की ओर संकेत है। इसी प्रकार अन्य गीत 'जीवन वन मे उजियाली है' तथा 'जलधर की माला' सांकेतिक हैं। इनमें रहस्यवाद की भी झलक है जिससे रस परिपाक में दुरूहता आती है, जैसे—

> जलधर की माला
> घुमड़ रही जीवन-घाटी पर जलधर की माला।
> आशा-लतिका कँपती थर-थर,
> गिरे कामना कुंज हहर कर,
> अंचल में है उपल रही भर यह करुणा बाला।
> यौवन ले आलोक किरन की,
> डूब रही अभिलाषा मन की,
> क्रन्दन चुम्बित निठुर निधन की, बनती वनमाला।
> अंधकार गिरि शिशिर घूमती,
> असफलता की लहर घूमती,
> क्षणिक सुखों पर सतत झूमती शोकमयी ज्वाला।

नाटक का अन्त भी एक गीत द्वारा ही होता है, जिसमें नाटक का लक्ष्य स्पष्ट किया गया है। प्रेम के अखण्ड स्रोत को एक ही दिशा में बहाकर, एक ही केन्द्र तक पहुँचाकर, प्रेम कृतकार्य होता है। गीत की अन्तिम पंक्ति सुनिश्चित लक्ष्य पर प्रकाश डालती है—

"तरु लतिका मिल ले गले, सकते कभी न छूट,
इसी स्निग्ध छाया तले पी···लो · न एक घूंट।"

संक्षेप में जिस समय प्रसाद जी ने एकांकियों में अपने प्रयोग किये थे, हिन्दी नाटकों पर बंगाली नाट्यकार द्विजेन्द्रलाल राय के अंग्रेजी से प्रभावित नाटकों का प्रभाव बहुत अधिक पड़ चुका था। प्रसाद ने अपने अनेक नाटकों में द्विजेन्द्रलाल राय की रचना-पद्धति, कृत्रिम भावात्मकता, अस्वाभाविक बहिरंग, स्वगत में अतिरंजित भावावेश, अर्धभावनाओं का अनुकरण किया।

उन पर द्विजेन्द्रलाल राय के माध्यम द्वारा शेक्सपीयर का प्रभाव स्पष्ट है। शेक्सपीयर की सफलता का श्रेय उस युग विशेष को भी है जिसमें उनका जन्म हुआ था। रंगमंच की अपरिपक्वता तथा काव्य की भरमार हम सहन कर लेते हैं, किन्तु प्रसाद ने जिस युग के लिए नाटक लिखे वह बुद्धिवादी हो चुका था और मनोवैज्ञानिक मापदण्ड से चरित्रों की परख करता था। प्रसाद ने कथानक तो भारतीय इतिहास से लिये पर इस देश के, जीवन-दर्शन को वे बराबर छोड़ते गये हैं।" उनके एकांकी अतिरंजित भावनामय तथा काल्पनिक भाव-जगत् एवं आदर्शवाद पर खड़े होते हैं। शेक्सपियर के नाटकों के साथ जब प्रसाद के नाटक रखे जायेंगे तब स्वगत की वही अतिरंजना, वही काव्यमयी कृत्रिमता, मनोविज्ञान या लोकवृत्ति के अनुभव का वही अभाव, संघर्ष और द्वन्द्व की वही आँधी; प्रेम के नाम पर वासना और कर्म के स्थान पर आत्महत्या वाला पलायन दिखाई पड़ेगा।

२

प्रसाद जी का कृतित्व

[डाक्टर देवराज]

सृजनात्मक साहित्य के क्षेत्र में प्रसाद जी अपने युग के सर्वश्रेष्ठ हिन्दी लेखक हैं। उत्तर-भारतेन्दुकाल के सबसे मौलिक नाटककार हैं, उनकी नाट्य-शैली ने हिन्दी के प्रायः सभी ऐतिहासिक नाटककारों—जैसे श्री रामकुमार वर्मा, जगदीशचन्द्र माथुर आदि को प्रभावित किया और जहाँ उनके उपन्यासों के महत्त्व में सन्देह किया जा सकता है, वहाँ हिन्दी कहानी के इतिहास में, अपनी निराली रोमांटिक शैली के कारण, उनका स्थान सुरक्षित है। वे छायावाद के अन्यतम कवि भी हैं।

ऊपर की अधिकांश मान्यताएँ सर्वस्वीकृत-सी हैं। अपने कतिपय माननीय मित्रों से जहाँ हमारा मतभेद है वह प्रसाद के काव्य की अपेक्षित स्थिति को लेकर; विशेषतः 'कामायनी' के सम्बन्ध में हमारे विचार प्रचलित मान्यताओं से काफी भिन्न हैं।

आलोचना का उद्देश्य रस-संवेदना का शिक्षण और परिष्कार है, अर्थात् रसानुभूति को सचेत बनाना। वह कोई बाजीगर का तमाशा या जादू नहीं है जो कुछ को कुछ दर्शित कर दे। अन्ततः उसकी प्रवृत्ति जातीय मस्तिष्क में उच्च सांस्कृतिक मानों की चेतना उत्पन्न करने के लिए है।

'कामायनी' के कुछ अंशों के सम्बन्ध में हमने 'छायावाद'—पुस्तक में जहाँ-तहाँ विचार प्रकट किये हैं, उनमें संशोधन करने की विशेष आवश्यकता हम आज भी नहीं देखते। किन्तु 'कामायनी' पर विस्तृत निर्णय देने से पहले हम प्रसाद के काव्यगत कृतित्व का सामान्य रूप समझने की चेष्टा करेंगे।

भाव-चेतना की दृष्टि से महादेवी और प्रसाद में दो ध्रुवों का अन्तर है; एक की संवेदना सुकुमार तन्तुओं और सूक्ष्म रेखाओं से निर्मित है तो दूसरे की वितत चित्रों और पृथुल स्पर्शों से। मध्यम परिमाण के पक्षपाती पन्त की स्थिति इन दोनों के बीच में है।

महादेवी और प्रसाद का यह वैषम्य दोनों के प्रेम अथवा विरह-काव्य की तुलना से स्पष्ट हो जायगा। महादेवी की छुईमुई जैसी प्रणयिनी सशक्त सम्पर्क की सम्भावना से घबराती है, वह तपोवन की साधिका है जो अपने एकान्त को लालसा और विलास की उन्मत्त क्रीड़ा से सुरक्षित रखना चाहती है (यामा—नीहार, पृ० ३८)। प्रियतम से उसका छाया-सम्बन्ध अँधेरे के स्मित-विभासित रहस्य में घटित होता है। इसके विपरीत प्रसाद का प्रणयी चित्त नितान्ततः उद्दाम और विलासी है। शायद युग की मनोवृत्ति को ध्यान में

रखते हुए उन्होंने इस प्रणय के वियोग-पक्ष का ही विशेष वर्णन किया है।

प्रसाद की काव्य-कृतियों में 'आँसू' का विशिष्ट स्थान है। इसमें जिस अतीत प्रणय-सम्बन्ध के तिरोहित हो जाने की वेदना का वर्णन है वह एक 'महामिलन' के रूप में अनुष्ठित हुआ था। उसका स्पर्श मलय-पवन की भाँति सम्पूर्ण अस्तित्व को छूने वाला विपुल स्पर्श था—

"छिप गईं कहाँ छूकर वे,
मलयज की मृदुल हिलोरें ?"

और उसका सम्भाव्य सुख भी प्रचुर सुख है—

"इतना सुख जो न समाता,
अन्तरिक्ष में, जल-थल में।"

कवि का विपुल दुःख 'ऊषा की मृदु पलकों में,' और उसका सुख 'सन्ध्या की घन अलकों में' छलकता है—वह हृदय के निभृत क्षुद्र कोने की चीज नहीं है। जब दुःख ने हृदय पर आक्रमण किया तो एक चुभनेवाले क्षुद्र शूल की भाँति नहीं, अपितु एक विराट महासंकट के रूप में—

"झंझा झकोर गर्जन था,
बिजली थी नीरद माला,
पाकर इस शून्य हृदय को,
सबने आ डेरा डाला ॥"

यदि कभी इस उद्दाम प्रेमी को प्रेमपात्र दिखाई दे गया तो वह उसे विस्तृत विपुल धरातल पर पकड़ बैठेगा—

"चमकूँगा धूल कणों में,
सौरभ हो उड़ जाऊँगा,
पाऊँगा कहीं तुम्हें तो,
ग्रह-पथ में टकराऊँगा।"

'आँसू' काव्य की प्रधान विशेषता इस प्रकार का ओज और शक्ति है, वह प्रसाद की भाव-संवेदना की भी व्यापक विशेषता है। 'बादल-राग' और 'राम की शक्ति-उपासना' के गायक निराला में भी यह विशेषता पाई जाती है। इसे हम सुन्दर से भिन्न उदात्त या विराट् (Sublime) की चेतना भी कह सकते हैं।

सम्भवतः निराला की उदात्त चेतना प्रसाद की तुलना में अधिक गत्यात्मक है, वह शक्तिपूर्ण क्रिया या व्यापार में अधिक गत्यात्मक और स्वभावतः विद्रोही अर्थात् शक्तिपूर्ण है।

प्रसाद ने सौन्दर्य के कोमल पक्ष से सम्बद्ध गीत भी लिखे हैं, और उस पक्ष का जहाँ-तहाँ वर्णन भी किया है। 'आँसू' में रूप-चित्र खड़े करने वाले कतिपय सुन्दर पद्य हैं, जैसे—'शशिमुख पर घूँघट डाले', 'बाँधा था विधु को किसने इन काली जंजीरों से',

आदि। इन वर्णनों में प्रसाद जी जब-तब निपुण वक्ता का भी समावेश कर देते हैं, जैसे 'काली जंजीरों' वाले पद्य में। कहीं-कहीं वे नितान्त नवीन और मार्मिक उपमाओं द्वारा रूप को प्रत्यक्ष करते हैं यथा—

"मुख-कमल समीप सजे थे,
दो किसलय से पुरइन के।"

—आँसू

और

"खिला हो ज्यों बिजली का फूल,
मेघ-वन बीच गुलाबी रंग।"

—कामायनी

पहले अवतरण में कानों का वर्णन है जो एकदम नया है, दूसरे में श्रद्धा के वक्षभाग के आभापूर्ण सौन्दर्य का संकेत है। पन्त का हृदय प्रकृति में अधिक रमता है, प्रसाद का नारी (अथवा प्रेमपात्र के) सौन्दर्य में। उन्हें प्रकृति जहाँ सुन्दर लगती है वहाँ वह मानो नारी के ही रूप की झलकें दिखलाती है—प्रकृति का सौन्दर्य भी मूल में नारी का ही सौन्दर्य है।

"कुटिल कुन्तल से बनाती काल मायाजाल,
नीलिमा से नयन की रचती तमिस्रा माल।"

—कामायनी : वासना

प्रसाद जी प्रकृति के व्यापारों में अकसर मानव-जीवन के प्रति संकेत देखते हैं और वे प्रकृति-वर्णन में प्रायः जीवन-सम्बन्धी विचारों या भावनाओं का मिश्रण कर देते हैं।

"हे सागर संगम अरुण नील,
अतलान्त महागम्भीर जलधि,
तज कर यह अपनी नियत अवधि
लहरों के भीषण हासों में,
आकर खारे उच्छ्वासों में,
युग-युग की मधुर कामना के—
बन्धन को देता जहाँ ढील।"

नारी-रूप के साथ प्रसाद जी यौवन के कवि भी हैं, उसके आलोड़न की अभिव्यक्ति उन्हें रुचिकर है।

"आह रे, वह अधीर यौवन !
अधर में वह अधरों की प्यास,
नयन में दर्शन का विश्वास।"—इत्यादि

—लहर

हमने प्रसाद जी के अनुभूति-क्षेत्र का संकेत करने का प्रयत्न किया। हमें कहना है कि यह क्षेत्र मुख्यतः वैयक्तिक चेतना का क्षेत्र है। क्या 'कामायनी' में प्रसाद ने सामाजिक जीवन की चेतना का, मानवी सम्बन्धों की मार्मिक अवगति का, परिचय दिया है? दूसरा प्रश्न यह है कि विशिष्ट क्षेत्रों में प्रसाद जी की अभिव्यक्ति कितनी सबल और परिष्कृत हुई है?

कामायनी

केवल 'आँसू', 'लहर' आदि संग्रहों के बल पर, शायद, कोई समीक्षक प्रसाद को पन्त और महादेवी से महत्तर घोषित करने का साहस नहीं करेगा। इस प्रकार की घोषणा का आधार उनका 'कामायनी' काव्य ही समझा जाता है। इस सिलसिले में दो चीज़ों पर गौरव दिया जाता है—कहा जाता है कि कामायनी महाकाव्य है, फुटकर गीतों का संग्रह मात्र नहीं; और यह कि उसमें उदात्त मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक सत्यों का निरूपण है।

'कामायनी' का आख्यान ऋग्वेद, शतपथ आदि प्राचीन ग्रन्थों से संकलित किया गया है। उक्त काव्य का मुख्य उद्देश्य मनु एवं श्रद्धा की कथा कहना है किन्तु यदि ये पात्र सांकेतिक मनोवैज्ञानिक अर्थों को भी व्यक्त करें तो कवि को 'कोई आपत्ति नहीं।' व्याख्याताओं का अनुमान है कि इस काव्य के श्रद्धा, इड़ा आदि पात्र मनोवृत्तियों के भी नाम हैं। सर्गों का नामकरण भी मनोवृत्तियों के आधार पर हुआ है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कहा जा सकता है कि इस काव्य में लज्जा आदि कतिपय विकारों के सफल चित्र अंकित किये गये हैं। किन्तु यह कार्य चार-छः लम्बी कविताओं में भी सम्पन्न हो सकता था और केवल इतने से उक्त काव्य को प्रथम श्रेणी की रचना नहीं माना जा सकता। वृत्तियों में लज्जा के मूर्तीकरण में ही विशेष सफलता मिली है। काम, वासना आदि के वर्णन में कोई नवीनता नहीं है। चार-छः पद्य चिन्ता पर चित्रण-परक कहे जा सकते हैं।

किन्तु यह सफलता बड़ी महँगी पड़ी है। वृत्तियों के निरूपण के चक्कर में कथा-सूत्र बुरी तरह उलझ गया है और पात्रों का व्यक्तित्व धुँधली कल्पनाओं में खो गया है। मनु, श्रद्धा, इड़ा सबका व्यक्तित्व अधूरा और अशक्त जान पड़ता है। प्रसाद के नाटकों की कतिपय नारियाँ जैसी सजीव हैं श्रद्धा और इड़ा वैसी ही निष्प्राण और काल्पनिक प्रतीत होती हैं। उनका चरित्र एकदम पहेली जैसा जान पड़ता है।

मनु का चरित्र भी वैसा ही है। देव-सृष्टि के ध्वंस का स्मरण करके वे चिन्ता करते हैं, अपने को अपमानमय विध्वम्भ कहते हैं, विश्व-शक्ति का जिसके शासन में वरुण आदि घूम रहे हैं बखान करते हुए घोषित करते हैं कि 'सब परिवर्तन के पुतले हैं'। इसके बाद, क्रमशः श्रद्धा का परिचय और परिणय करके, वे एकाएक घोर अहंकारी,

आत्मकेन्द्रित और ईर्ष्यालु बन जाते हैं। उनका यह परिवर्तन एकदम आकस्मिक और अबुद्धिगम्य है।

सबसे अबुद्धिगम्य है मनु की ईर्ष्या। परिणय से पहले ही, किसी प्रतिद्वन्द्वी के अभाव में, उनमें 'ईर्ष्या का दृप्त फण' (वासना-पद्य १८) उत्थित होता है। बाद में, श्रद्धा को कार्य-मग्न पाकर, वे ईर्ष्या और क्रोध से जलने लगते हैं। श्रद्धा जिस प्रकार, केवल अपने कल्पित आनन्द का हवाला देती हुई, भावी शिशु के बारे में बातें करती है वह एकदम अस्वाभाविक है—कोई भी भारतीय नारी कभी ऐसी बातें नहीं करती, यदि करेगी भी तो पति के सम्मुख नहीं, और फिर 'हमारे शिशु' की चर्चा करेगी, 'मेरे शिशु'-की नहीं। हमारा अनुमान है कि संसार के किसी साहित्यकार ने, जो थोड़ा भी महत्त्वपूर्ण है, किसी होने वाली माँ के मुख से ऐसी अमनोवैज्ञानिक बातें नहीं कहलवाईं और किसी भी महत्त्वपूर्ण कथा का कोई नायक इतने तुच्छ कारण से पत्नी को छोड़कर नहीं चला गया। मनु की ईर्ष्या और रोष एकदम पहेली जान पड़ते हैं।

मनु के श्रद्धा-परित्याग की यह घटना क्या हमारे युग के किसी महत्त्वपूर्ण द्वन्द्व या प्रश्न पर प्रकाश डालती है? क्या वह युग के बढ़ते हुए सन्देह या नास्तिकता की प्रतीक है? श्रद्धा छूटने की? बढ़ती हुई अधिकार-भावना की? 'कामायनी' के इस निर्जीव प्रसंग में ऐसे किसी भी अर्थ को ध्वनित करने की शक्ति नहीं है।

मनु और इड़ा के प्रसंग को लीजिए। यदि इड़ा मनु पर मोहित नहीं है, उनकी ओर आकृष्ट भी नहीं है, तो वह क्यों उनका पथ-प्रदर्शन करती हुई उनके द्वारा सारस्वत नगर की स्थापना कराती है? 'इड़ा ढालती थी वह आसव जिसकी बुझती प्यास नहीं'—यह कौनसा आसव था? ऐसा आसव तो, काव्य की मर्यादा के अनुसार, साकी या प्रेयसी ही ढाला करती है। किन्तु प्रसाद जी शायद काव्य से भिन्न कोई ज्यादा महत्त्वपूर्ण चीज लिख रहे हैं! (यह श्रद्धा का स्वप्न था जो सत्य निकला।)

मनु का नर-पशु हुँकार उठा है, वे इड़ा का आलिंगन करना चाहते हैं। इतने में प्रजा आ पहुँची। क्या हुआ—क्या कोई शत्रु चढ़ आया? नहीं—अलौकिक रुद्र का अलौकिक क्रोध। पता नहीं प्रकृति का कोप देखकर प्रजा अपने-अपने घरों में न बैठकर मनु के द्वार पर क्यों पहुँची। और इड़ा काव्य के अन्दर, मनु की दुहिता कैसे बन गई? मनु बेचारे कैसे जानते कि वह उनकी कन्या है?

श्रद्धा इड़ा के घर, घायल मनु के पास पहुँची। अभी उसकी घायल पति से बात भी नहीं हुई कि गाने लगी—'मैं हृदय की बात रे मन!' क्या सचमुच यह गाने का अवसर था, या मनोवैज्ञानिक पूछताछ अथवा मरहमपट्टी का?

और इड़ा बालक मनु-पुत्र को तिरछी दृष्टि से देखने लगी। 'कामायनी' में इड़ा को यौवन-प्राप्त तरुणी के रूप में चित्रित किया गया है (देखो—बिखरीं अलकें ज्यों

तर्कजाल—पर) और मनु-कुमार को बालक। मनु और श्रद्धा के मिलन के अवसर पर भी वह बालक ही है और वैसी ही बातें करता है—

'माँ जल दे, कुछ प्यासे होंगे,
क्या बैठी कर रही यहाँ ?।'
मुखर हो गया सूना मंडप,
यह सजीवता रही कहाँ ?

रेखांकित पंक्ति में मनु-पुत्र के बचपन का स्पष्ट संकेत है। युवती इड़ा का बालक के प्रति इस प्रकार आकृष्ट होना अस्वाभाविक है।

और सहसा कामायनी सर्वज्ञान-निधि गुरु बनकर मनु को महाचिति शिवशक्ति के लोक की ओर ले चली—वही कामायनी जो लज्जा से अपना कर्तव्य पूछती थी और मन्दाकिनी से सुख-दुख की आपेक्षिक स्थिति।

मानव-सम्बन्धों की विवृति के रूप में 'कामायनी', हमारी समझ में, एक नितान्त असफल प्रयत्न है। अधिक-से-अधिक यही कहा जा सकता है कि एक फुटकर संग्रह की कुछ रचनाओं की भाँति उसके कुछ अंश, अपने अकेले रूप में, सुन्दर और ग्राह्य हैं। 'चिन्ता' के कुछ अंश, श्रद्धा-सम्बन्धी कतिपय वर्णन, लज्जा-प्रकरण, इड़ा-खंड के दो-चार गीत और अन्तिम तीन सर्गों का ओजपूर्ण मंथन—कुल मिलाकर कामायनी में यही उज्ज्वल अंश हैं। अन्तिम सर्गों के अतिरिक्त प्रायः इन सब स्थलों का सौन्दर्य प्रगीत काव्य का सौन्दर्य है, और वह भी साधारण से कुछ ही ऊँची कोटि का है।

अब हम कामायनी के दर्शन-पक्ष की चर्चा करें। दर्शन-खंड का उत्तम अंश वहाँ से शुरू होता है जहाँ श्रद्धा और मनु इड़ा तथा अपने पुत्र से विदा होकर चल देते हैं। यहाँ से आनन्द के अन्त तक प्रसाद जी प्रायः एक उदात्त धरातल का निर्वाह कर सके हैं। (यह बात बाकी सर्गों में नहीं है)। अभिव्यक्ति का प्रवाह सहज, ओजपूर्ण और गम्भीर है, हल्के चित्रों और व्यंजनाओं का अभाव है। यहाँ प्रसाद की वाणी अपने पूर्ण मनोज्ञ रूप में दिखाई पड़ती है। कवि का गम्भीर-गहन व्यक्तित्व यहाँ अपनी पूर्णता में प्रस्फुटित है।

"निस्तब्ध गगन था, दिशा शान्त,
वह था असीम का चित्र कान्त,
× × ×
ये चमक रहे दो खुले नयन,
ज्यों शिलालग्न अनगढ़े रतन,
× × ×

सत्ता का स्पन्दन चला डोल,
आवरण पटल की ग्रन्थि खोल।"

नटराज के नृत्य का उदात्त वर्णन देखिये—

"आनन्दपूर्ण तांडव सुन्दर,
झरते थे उज्ज्वल श्रमसीकर,
बनते तारा, हिमकर, दिनकर,
उड़ रहे धूलिकण से भूधर,
संहार सृजन से युगल पाद,
गतिशील, अनाहत हुआ नाद।"

और

"विद्युत कटाक्ष चल गया जिधर,
कंपित संसृति बन रही उधर।"

'रहस्य' में कर्मलोक का अर्थपूर्ण वर्णन है—

मनु यह श्यामल कर्मलोक है, धुंधला कुछ-कुछ अंधकार-सा

× × ×

श्रममय कोलाहल पीड़न मय विकल प्रवर्तन महायन्त्र का,
क्षणभर भी विश्राम नहीं है प्राण दास है क्रियातन्त्र का,
यहाँ सतत संघर्ष विकलता कोलाहल का यहाँ राज है,
अन्धकार में दौड़ लग रही मतवाला सारा समाज है।

काव्य का सौन्दर्य 'विशेष' की पकड़ और व्यंजना में प्रतिष्ठित है, सामान्य सिद्धान्तों का वहाँ संकेत भर रहता है। प्रसाद जी ने इन सर्गों में एक विशिष्ट दार्शनिक दृष्टि या सिद्धान्त को प्रतिफलित किया है। यह विशेष महत्त्व की बात नहीं—वैसी बात तभी हो सकती है जब वह दृष्टि या सिद्धान्त कवि-युग के यथार्थ में ओतप्रोत अथवा उससे निस्सृत होता, जब वह अपने युग के द्वन्द्वों को सांकेतिक करता हुआ उसके कर्मपथ को उद्भासित कर सकता। इस दृष्टि से प्रसाद जी ने वर्तमान युग के प्रति जो संकेत दिये हैं वे बहुत विरल और अशक्त हैं।

वस्तुतः प्रसाद की रोमांटिक काव्य-संवेदना वस्तुनिष्ठ यथार्थ के आकलन और तज्जन्य जीवन-विवेक के प्रतिपादन के लिए उपयुक्त अस्त्र नहीं है। तभी तो अपने नाटकों में इब्सन और शॉ की भाँति युगीन यथार्थ का चित्रण न करके वे अतीत में शरण लेते पाये जाते हैं। 'कामायनी' के प्रकाशन से कुछ पहले यूरोप में हिटलर और मुसोलिनी का तानाशाही नृत्य शुरू हो गया था—उस समय नटराज के नर्तन में आस्था रखने का

साहस भारतीय शिक्षित वर्ग में नहीं रह गया था। आज तो वह और भी दूर का अन्धविश्वास मालूम पड़ता है।

पन्त की ज्योत्स्ना में भी यथार्थ जीवन की उस पकड़ का अभाव है जो सफल नाटककार बनने की आवश्यक शर्त है। वहाँ पन्त ने नव-निर्माण का कार्य 'स्वप्न' और 'कल्पना' को सौंपा है। किन्तु यथार्थ का अन्तरंग परिचय नव-निर्माण की आवश्यक शर्त है—काडवेल के शब्दों में—to probe deep into the world of being, lay bare its causal structure, and draw from that causal structure the possibility of future being.[1]

इसका क्या कारण है कि 'कामायनी' के अन्तिम सर्गों में प्रसाद की अभिव्यक्ति इतनी पूर्ण और सशक्त हो सकी? हमारा अनुमान है कि वहाँ नटराज की लीला-सृष्टि उनके लिए एक जीवन्त तथ्य थी वहाँ श्रद्धा, इड़ा आदि स्वयं उनके लिए भी धूमिल सत्ताएँ ही बनी रहीं, वे खुलकर यह निर्णय न कर सके कि उन्हें मानव-रूप में चित्रित किया जाय या वृत्ति-रूप में। मनोवैज्ञानिक रूपक के आग्रह ने उनके काव्य की नाटकीयता अथवा मानवीयता को एकदम नष्ट कर दिया।

कालिदास के ग्रन्थों के कम-से-कम एक दर्जन प्रसंग हमारे मन पर अमिट छाप डालते हैं—वशिष्ठाश्रम-वर्णन; इन्दुमती-स्वयंवर; अज का जगाया जाना; अज-विलाप; वसन्त-वर्णन; समुद्र-वर्णन (रघुवंश में); हिमालय-वर्णन; पार्वती के सौन्दर्य और तपस्या का वर्णन; अनंग-दहन का प्रसंग (कुमारसम्भव में); और मेघदूत। मैं हिन्दी-आलोचकों से पूछता हूँ कि क्या वे ईमानदारी से यह कह सकेंगे कि प्रसाद के काव्य-साहित्य में इसमें चौथाई भी वैसे पूर्ण वर्णन या प्रसंग हैं? प्रायः प्रसाद जी दो-चार पंक्तियों या पद्यों द्वारा मर्म-प्रसंग का संकेत कर देते हैं, रसपूर्ण विशद वर्णन की क्षमता उनमें नहीं है। मानवीय दृष्टि से मार्मिक प्रसंगों—जैसे मनु और श्रद्धा का पुनर्मिलन—को प्रायः वे गोल कर गये हैं। 'कामायनी' के अंतिम अंशों की तुलना के लिए तो कालिदास के विष्णु और शिव-सम्बन्धी स्तुति-प्रसंग ही पर्याप्त हैं। वस्तुतः कालिदास से तुलना करने लायक सामग्री प्रसाद में बहुत कम है।

प्रसाद-सम्बन्धी यह वक्तव्य समाप्त करने से पहले हमें एक और अप्रिय बात कहनी पड़ेगी। ओजस्वी संभाव-वेदना के प्रकाशन के लिए जैसी सघन, अर्थपूर्ण शैली की अपेक्षा होती है उसका निर्वाह प्रसाद जी कम कर पाते हैं। इस दृष्टि से 'कामायनी' की गठन नितान्त दुर्बल है—वहाँ पद-पद पर प्रसाद की अभिव्यक्ति के उच्च धरातल से

१. Caudwell, Studies in a dying culture; पृ० ६०

स्खलन कर जाते हैं।[1] अन्त के सर्ग ही इसका अपवाद हैं। सघन भाव योजना की दृष्टि से महादेवी जी अपने काव्य को दृढ़तर रूप दे सकी हैं। नीचे की कोटि की आपाततः अर्थवती पंक्तियाँ प्रसाद में दुर्लभ हैं—

"झर गये खद्योत तारे,
तिमिर वात्याचक्र में सब,
पिस गये अनमोल तारे,
बुझ गई पवि के हृदय में काँप कर विद्युत शिखा रे !
साथ तेरा चाहती एकाकिनी बरसात !"

सामान्यतः आप इस लेख में उद्धृत 'आँसू' आदि के अवतरणों से महादेवी जी के उद्धरणों की तुलना कर सकते हैं—सर्वत्र ही हमने श्रेष्ठतम उदाहरण चुनने का प्रयत्न किया है।

पन्त और महादेवी के संग्रहों में से दुर्बल रचनाओं को निकाला जा सकता है, दुर्भाग्यवश कामायनी के साथ यह नहीं किया जा सकता। उसके कर्म, ईर्ष्या, स्वप्न, संघर्ष और निर्वेद स्वर्ग बहुत कमजोर हैं और अन्य सर्गों में भी निःशक्त पद्य और भरती की पंक्तियाँ जहाँ-तहाँ बिखरी हैं। काश कि मनोवैज्ञानिक रूपक प्रस्तुत करने की आलोचनात्मक भूल न करके नाटकों की भाँति कामायनी में भी मानव-पात्रों के चित्रण का प्रयत्न करते !

प्रसाद जी की मौलिकता की प्रशंसा की गई है। अवश्य ही उनकी प्रतिभा उद्भावनाशील है। किन्तु उद्भावना की नूतनता अपने में विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं; युग-प्रकाशन का अस्त्र बनकर ही वह महत्त्वशालिनी होती है। महान् कलाकार वह नहीं जो, आत्मकेन्द्रित रहता हुआ, निराली या विचित्र बातें कहता है, बल्कि वह जो युग-जीवन की अनदेखी या उपेक्षित शतशः वास्तविकताओं और उनके मर्म-सम्बन्धों की विवृति करता है।[2] महती प्रतिमा अहन्ता के एकान्त में नहीं अपितु विश्व के अशेष विचारकों और

---

१. सोदाहरण विश्लेषण के लिए देखिये, छायावाद का पतन; पृ० ६३ और आगे।

२. तु० की० For originality, rightly understood, seldom concerns itself with inventing a new and particular medium of its own. The notion that invention is a mark of high originality is one of the vulgar errors that die hard.

मानवता के समस्त शुभचिन्तकों के बीच अपनी शक्तियों को व्यापृत और प्रकाशित करती है। अन्ततः प्रतिभा काल-विशेष के जीवन को समझने और मानव-कल्याण के लिए नियन्त्रित करने का अस्त्र है, व्यक्ति के निरालेपन के विकास और स्थापन का उपकरण नहीं। बड़ी-से-बड़ी प्रतिभा को नम्र होना चाहिए और दूसरों के सहयोग का कांक्षी, क्योंकि जीवन की जटिलता और विस्तार एक-दो नहीं दस-बीस प्रतिभाओं के लिए भी दुर्धर्ष और दुरासद है। आज शायद संसार में कोई भी ऐसा चिन्तक नहीं है जो युद्ध के समस्त हेतुओं को जानता हो और उसे रोकने के उपायों का निर्देश कर सकता हो। मनुष्य बड़ा हो सकता है, प्रतिमा महत् और वरेण्य होती है, पर वास्तविकता उनसे महत्तर है; सच यह है कि वास्तविकता के आकलन और नियमन का साधन होने के कारण ही प्रतिमा का मान होता है। 'कामायनी' में हमें युग-जीवन की जटिल परिस्थितियों की स्पष्ट, दृढ़ और मार्मिक चेतना प्रायः कहीं भी उपलब्ध नहीं होती। कारण यह है कि उसके सृष्टा की चेतना और साधना अहं की आत्मनिष्ठ परिधि में बन्दी या सीमित रही है, वह विश्व-मानव की दृष्टि और साधना को आत्मसात् करके समृद्ध नहीं बन सकी है। फिर भी यदि प्रसाद जी अन्य छायावादी कवियों की तुलना में ज्यादा ऊँची सांस्कृतिक उड़ान भरते पाये जाते हैं तो इसका कारण उनका भारतीय संस्कृति से अधिक गहरा परिचय है। यह समझना भूल होगी कि यह परिचय पूर्ण है; भारतीय संस्कृति की विविधता और विस्तार प्रसाद और रवीन्द्र दोनों ही की पकड़ का अतिक्रमण करते पाये जाते हैं। दोनों ही में गहरे मध्ययुगीन संस्कार हैं, इसलिए दोनों ही आधुनिक भारत का नैतिक नेतृत्व करने में असमर्थ हैं। प्रसाद की अपेक्षा रवीन्द्र का नर-काव्य (शृंगार काव्य) अधिक लौकिक या 'नार्मल' है (तु० की० 'चित्रा' और 'कामायनी'); रावीन्द्रिक रहस्यवाद, उपनिषदों के निकट परिचय से प्रभावित होने के कारण, अधिक ऋजु और मनोरम है; इसके विपरीत प्रसाद का रहस्यवाद अधिक साम्प्रदायिक या 'टेकनीकल' है। युगोचित नैतिक चेतना गांधी जी में ही पाई जाती है। साहित्य-क्षेत्र में समृद्ध भारतीय संस्कृति का सम्पूर्ण प्रकाशन कालिदास की वाणी में ही हुआ है।

(Convention & Revolt in Poetry by J. L. Lowes)

'कामायनी' में और आधुनिक प्रयोगवादी काव्य में प्रायः 'नये-निराले' के समावेश का आग्रह पाया जाता है, युग-जीवन के मार्मिक अथवा ममता-मय प्रकाशन का प्रयत्न नहीं दीखता। संसार के समस्त उल्लेखनीय नाटकों और महाकाव्यों में नर-चरित्र का गान किया गया है, मनोवृत्तियों का जीवन-विच्छिन्न निरूपण नहीं।

३

प्रसाद की नाट्य-कला के मूल तत्त्व

[राजेश्वरप्रसाद अर्गल]

देश-प्रेम

प्रसाद जी का 'अजातशत्रु' नाटक महायुद्ध के अन्तिम काल में लिखा गया था। चन्द्रगुप्त उसके बाद की कृति है और स्कन्दगुप्त १६२८ में प्रकाशित हुआ। इस काल में भारतवर्ष में नहीं, सारे संसार में भयानक आँधियाँ उठती रहीं जिनकी शान्ति के लिए नये-नये आदर्शों की कल्पना की गई, भारतेन्दु-काल से ही भारतवर्ष में देशभक्ति की एक नई भावना जाग्रत हो गई थी। परन्तु बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ होते न होते इस भावना ने एक दूसरा ही रूप धारण कर लिया। भारतेन्दु-काल में अंग्रेजी सत्ता में विश्वास था, पश्चिमी सभ्यता के नये प्रकाश में आकर्षण था। परन्तु बंगाल-विभाजन के पश्चात् देश में जो स्वदेशी और स्वराज्य की लहर देश के एक कोने से दूसरे कोने तक फैली उसमें पश्चिमी सभ्यता की प्रतिक्रियात्मक रूप से भारत में अपनत्व की चेतना जाग्रत होने लगी। भारतीय संस्कृति, भारतीय आदर्श, भारतीय शिक्षा-प्रणाली की तुलना पश्चिमी आदर्शों से की जाने लगी और इस तुलना में भारतीयता अधिक गौरवशाली जान पड़ने लगी। इसी प्रभाव के कारण ही अग्निमानन्द जी ने राष्ट्रीय पाठशाला खोली जो बाद में शांतिनिकेतन के नाम से विख्यात हुई। इसी आदर्श को सामने रखते हुए १६१६ में कर्वे महोदय ने स्त्रियों के लिए भी एक भारतीय विश्वविद्यालय खोला।

बीसवीं शताब्दी की इस राष्ट्रीय भावना से यहाँ का साहित्य अछूता न बचा। साहित्य के महारथियों ने एक ओर तो आधुनिक भारत की दयनीय दशा की ओर संकेत किया और दूसरी ओर प्राचीन भारत के गौरव-चित्र अंकित किये। प्रेमचन्द ने पहला कार्य लिया और प्रसाद जी ने दूसरा। प्रसाद जी के साथ देने वाले कविवर मैथिलीशरण गुप्त भी हैं। जिनका भारतवासी—

"हम कौन हैं, क्या हो गये हैं और क्या होंगे अभी?"

की भावना लेकर चला था, इसमें भारत के अतीत और वर्तमान दोनों पर प्रकाश डाला गया था। लेकिन बाद में साकेत, यशोधरा, द्वापर और जयद्रथवध अतीत भारत के ही सुन्दर चित्र हैं।

प्रसाद जी ने जो कार्य अपने हाथ में लिया, उसमें वे पूर्ण रूप से सफल हुए हैं। भारत के इतने अधिक गौरवपूर्ण चित्र उन्होंने अपने नाटकों में भर दिये हैं कि हमारे

सामने काल अपना अंचल हटाकर हमारे अतीत की झाँकी उपस्थित कर देता है। हम अपने भारतीय महान् विभूतियों के आदर्शों से, उनकी वीरता से, उनकी कार्यक्षमता से विस्मित हो उठते हैं। देश-प्रेम की एक अलौकिक धारा हमारे हृदय में बहने लगती है। और हम कार्नीलिया के साथ ही गाने लगते हैं—

"अरुण यह मधुमय देश हमारा,
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।"

भारत का प्राचीन गौरव हमें स्फूर्ति से भर देता है। हम सोचने लगते हैं—"हम भी तो वीर-पुत्र हैं, हम भी तो आर्य-सन्तान हैं फिर क्यों न स्वतन्त्रता से पुण्य-पथ पर आगे बढ़ चलें"। राष्ट्रीय भावना से भरा हुआ उत्साह और नवीन जीवन प्रदान करता हुआ प्रसाद जी का यह गीत कितना सुन्दर है—

"हिमाद्रि तुङ्ग शृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती।
स्वयं प्रभासमुज्ज्वला स्वतन्त्रता पुकारती॥
अमर्त्य वीर-पुत्र हो, दृढ़ प्रतिज्ञ सोच लो।
प्रशस्त पुण्य पंथ है बढ़े चलो बढ़े चलो॥
असंख्य कीर्ति-रश्मियाँ विकीर्ण दिव्य दाहसी।
सपूत मातृभूमि के रुको न वीर साहसी॥
अराति सैन्य सिन्धु में सुवाड़वाग्नि से जलो।
प्रवीर हो, जयी बनो, बढ़े चलो बढ़े चलो॥"

प्रसाद जी का देश-प्रेम नाटक के केवल गीतों तक ही सीमित नहीं है। उनकी नाट्य-कला पर इस देश-प्रेम का बहुत ही अधिक प्रभाव पड़ा है। भारतीय आदर्श स्थापित करने में वे जितने सफल हुए हैं उतना हिन्दी संसार में अन्य कोई नहीं। चरित्र-चित्रण पर इसकी गहरी छाप है। देवकी, देवसेना, अलका, वासवी—नारियों के नहीं—भारतीय देवियों के चित्र हैं; जहाँ पारिवारिक सुख के लिए, समाज की शान्ति के लिए और देश की उन्नति के लिए कठोर-से-कठोर बलिदान भी फूल-से कोमल रहते हैं। गौतम, चन्द्रगुप्त, चाणक्य सिंहरण, स्कन्द, बन्धुवर्मा भारतीय महान् विभूतियों के चित्र हैं जिन्होंने भारत के संघर्षकाल में, जब भारतीय सत्ता को विनाश-काल ही दीख रहा था, भारत की बागडोर अपने हाथ में ले भारतीय संस्कृति, भारतीय आदर्शों का पुनरुत्थान किया। आधुनिक अवनत भारत में उनका ही उदाहरण सहायक हो सकता है। स्कन्द और चन्द्रगुप्त को जिन भीषण परिस्थितियों का सामना करना पड़ा था क्या वे आधुनिक भारत की परिस्थितियों से भिन्न हैं? देश में अन्तर्विद्रोह है, विदेशियों से वह आपद्ग्रस्त है। तब प्रसाद की कृतियाँ क्या आधुनिक आंदोलनों का चित्र नहीं हैं? क्या उनमें वही देश-प्रेम की पुकार नहीं है? नाटककार ने विशाख की भूमिका लिखते हुए इस बात को स्वीकार भी किया है। 'मेरी इच्छा भारतीय

इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकांड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है जिन्होंने कि हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया है।'

इसी कारण प्रसाद जी का देश-प्रेम ही उनके कथानक का मुख्य अंग है। भारत का जो कुछ अपना था वह मुसलमानी आक्रमणों के बहुत पहले ही लोप हो चुका था। सम्राट् हर्ष की मृत्यु के बाद भारत का अवनति-काल प्रारम्भ होता है। अतएव भारत-गौरव-गुणगान के लिए सम्राट् हर्ष के पूर्व का ही भारत उपयुक्त था। "इसके लिए उसने महाभारत-युद्ध के बाद से लेकर हर्षवर्धन के राज्यकाल तक के भारतीय इतिहास को अपना लक्ष्य बनाया है। क्योंकि यही भारतीय संस्कृति की उन्नति और प्रसार का स्वर्णयुग कहा जाता है। जन्मेजय परीक्षित से आरम्भ होकर यह स्वर्णयुग हर्षवर्धन तक आया है। बीच में बौद्धकाल, मौर्य और गुप्तकाल ऐसे हैं जिनमें आर्य संस्कृति अपने उच्चतम उत्कर्ष पर पहुँची है। अतएव तत्कालीन उत्कर्षापकर्ष के यथार्थ विभाग के अभिप्राय से लेखक ने कुछ विशिष्ट प्रतिनिधियों को चुनकर उनके कुल-शील और जीवन-वृत्त के द्वारा उस रसोद्‌बोधन की चेष्टा की है जो वर्तमान को जीवित रखने में सहायता कर सके।"[1] इसी से प्रसाद जी ने अपने नाटकों के कथानक पूर्व युगों से लिये हैं। करुणालय में वैदिककाल की घटना है। 'जन्मेजय का नागयज्ञ' पुराणों की वस्तु है; 'अजातशत्रु' बौद्धकाल के आरम्भ की; 'चन्द्रगुप्त' मौर्यकाल के आरम्भ की और 'स्कन्दगुप्त' गुप्तकाल के अन्तिम समय की वस्तु है। 'राज्यश्री' का कथानक हर्षकाल का है। आधुनिक युग की समस्याओं को हल करने के उद्देश्य से प्रसाद जी ने उपर्युक्त कालों की केवल उस सामग्री को बटोरा है, जो हलचलपूर्ण थी, जहाँ भारत का गौरव विलीन होने की समस्या आ रही थी। स्कन्दगुप्त ने डगमगाते गुप्त-साम्राज्य के पोत को पार लगाने का भार अपने ऊपर लिया था; चन्द्रगुप्त ने विलासी नन्द से मगध को बचाकर भारत का मस्तक ऊपर उठाया था और जिसकी स्वयं सिकन्दर महान् को प्रशंसा करनी पड़ी।

नाट्य-रचना में इस देश-प्रेम की भावना का अधिक प्रभाव पड़ा है। भारतीय गौरव-चित्रण करने के लिए प्रसाद जी ने दृश्य के दृश्य रच डाले हैं। विदेशियों द्वारा भारत-वर्णन तो इनके प्रायः सभी नाटकों में मिलता है। राज्यश्री में चीनी सुएनच्वांग भारतीय दान देखकर अवाक् रह जाता है।

हर्ष—(सब मणिरत्न दान करता हुआ अपना सर्वस्व उतार देता है। राज्यश्री से) दो बहिन एक वस्त्र! (राज्यश्री देती है।)

---

१. डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा : प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन; पृष्ठ २५५।

क्यों मेरी इसी विभूति और प्रतिपत्ति के लिए हत्या का जा रही थी न? मैं आज सब से अलग हो रहा हूँ। यदि कोई शत्रु मेरा प्राणदान चाहे, तो यह भी दे सकता हूँ।

"जय महाराजाधिराज हर्षवर्धन की जय !"

सुएन०—यह भारत का देव-दुर्लभ दृश्य देखकर सम्राट् ! मुझे विश्वास हो गया कि यही अमिताभ की प्रसव-भूमि हो सकती है।

स्कन्द में धातुसेन और चन्द्रगुप्त में सिकन्दर महान् और कार्नीलिया भी इसी देश को एक कल्पना-लोक ही समझते हैं।

प्रसाद जी की इस प्रवृत्ति के कारण नाटक में कुछ दोष भी आ गये हैं। उनके ऐतिहासिक चरित्र कुछ अस्वाभाविक-से मालूम होते हैं। विशेषकर सिकंदर और कार्नीलिया। यूनानी जाति बड़ी देश-भक्त थी, इस कारण भारत-गुणगान में अपने देश का गौरव भूल जाना उनके स्वभाव के प्रतिकूल मालूम होता है। 'चन्द्रगुप्त' की कार्नीलिया तो भारतीयता से इतनी अतिरंजित हो गई कि वह अपने पिता की उपेक्षा करने लगती है। राय महोदय की हेलेन भी अपने पिता की उपेक्षा करती है, परन्तु उसकी उपेक्षा का मूल भारतीयता न थी मानवता थी और इस रूप में हेलेन का चरित्र कार्नीलिया के चरित्र से अधिक ऐतिहासिक और अधिक आदर्शमान् है।

देश-प्रेम के कारण प्रसाद जी के नाटकों में शिथिलता भी आ गई है। जहाँ-जहाँ भी भारत के गौरव-चित्रण करने का मौका नाटककार को मिला है वहीं-वहीं उसने लम्बे दृश्य उपस्थित कर दिये हैं। जो दृश्य नाटक के कथा-प्रवाह में सहायक नहीं हैं वे भी नाटकों में ठूँस दिये गये हैं। चन्द्रगुप्त नाटक में यह भूल अधिक है। सिकंदर महान् का दार्शनिक दाण्डायन से मिलना नाटक की कथा-वस्तु से बहुत अधिक सम्बन्ध नहीं रखता। लेकिन इस मिलन ने भारत की प्रतिष्ठा सारे संसार में स्थापित कर दी थी। स्वयं सिकंदर जिस दार्शनिक के पास नंगे पैर गया था वह दार्शनिक कितना बड़ा न होगा ! भारत के इतिहास में यह मिलन स्वर्णाक्षरों में लिखा जाने वाला पृष्ठ है। इसीलिए प्रसाद जी ने पूरा एक दृश्य अपने नाटक में रख दिया। द्विजेन्द्रलाल राय अपने नाटक में अन्तर्राष्ट्रीय भावनाओं से प्रेरित थे, उनके लिए देश-प्रेम संकुचित प्रेम न था वह देश-प्रेम संसार-प्रेम में एक सीढ़ी मात्र था इसी कारण उन्होंने अपने नाटक में इस महान् घटना का उल्लेख मात्र किया है।

प्रसाद जी का देश-प्रेम संकुचित भावनापूर्ण है। वे अपने देश के सामने दूसरे देश की प्रशंसा नहीं सुन सकते। इसी कारण राय बाबू के और प्रसाद जी के चन्द्रगुप्त नाटक में बहुत अन्तर हो गया है। जो हम आगे चन्द्रगुप्त की समीक्षा करते हुए देखेंगे। लेकिन यहाँ संक्षेप में यह कहना अनुचित न होगा कि इस संकुचित राष्ट्र-प्रेम के कारण चन्द्रगुप्त का कथानक शिथिल हो गया है। साथ ही कुछ ऐतिहासिक चरित्रों पर

कुठाराघात हुआ है। चन्द्रगुप्त के सामने प्रसाद जी का इतिहास-प्रसिद्ध सिकंदर महान् एक लुटेरे की तरह मालूम पड़ता है। स्कन्दगुप्त और अजातशत्रु इस दोष से बच गये हैं; परन्तु उनके पात्रों में जो अलौकिक क्षमता है, सहनशीलता है, शत्रुओं को क्षमा करने की अद्भुत शक्ति है, वह भारतीय आदर्श के भले ही अनुकूल हो परन्तु इन गुणों का अत्यधिक प्रदर्शन कुछ अस्वाभाविक अवश्य मालूम होता है।

इतिहास-प्रेम-प्रसाद जी की नाट्यशैली का दूसरा तत्त्व उनकी ऐतिहासिकता है। साहित्य के सब अंगों की सेवा करते हुए भी प्रसाद जी का अध्ययन कितना गम्भीर था यह उनके ऐतिहासिक अन्वेषणों से मालूम होता है; लेकिन उनका ऐतिहासिक ज्ञान नाटकों की लम्बी-चौड़ी शुष्क भूमिका तक ही सीमित न था। अपनी खोजों का अपने नाटकों में उन्होंने पूर्ण समाहार किया है। अतीत की टूटी लड़ियों को एकत्रित करने का जो कार्य प्रसाद जी ने किया है वह सराहनीय है। यौवन की मस्ती में मस्त इस नाटककार ने अपनी कल्पना और भाव-गरिमा से इतिहास के रूखे पृष्ठों में जीवन डाल दिया है। वे अतीत के चित्र हमारे सामने नाचने लगते हैं। "इतिहास के खण्डहरों में भी इसी मस्ती से रमने वाला यह कवि इस दृष्टि से भावना और विज्ञान के समन्वय की प्रतिमा बनकर साहित्य-जगत में उपस्थित है।"[1]

'कामना' और 'एक घूंट' को छोड़कर प्रसाद के सभी नाटक ऐतिहासिक आधार पर निर्मित हैं। उनके उद्देश्य से—'इतिहास का अनुशीलन किसी भी जाति को अपना आदर्श संगठित करने के लिए अत्यन्त लाभदायक होता है·· क्योंकि हमारी गिरी दशा को उठाने के लिए हमारे जलवायु के अनुकूल जो हमारी जातीय सभ्यता है उससे बढ़कर उपयुक्त कोई भी आदर्श हमारे अनुकूल होगा कि नहीं इसमें मुझे पूर्ण सन्देह है।'[2] 'अजातशत्रु', 'स्कन्दगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' में प्रसाद जी हमारे सामने ऐतिहासिक नाटककार के रूप में ही आते हैं परन्तु उनका यह इतिहास-प्रेम साहित्य की दृष्टि से कहीं-कहीं अहितकर हुआ है। यदि वे इतिहासकार के रूप में न आकर हमारे सामने कलाकार के रूप में आये होते तो सम्भव था कि नाटकों का रूप बहुत-कुछ बदला हुआ होता। तथा नाटकों की शिथिलता भी कम हो जाती। उन्हें इतिहास का इतना अधिक ज्ञान था कि वे अपनी कल्पना को स्वतन्त्र गति से नहीं उड़ा सके। समकालीन वातावरण उपस्थित करने के लिए तथा नवीन खोजों को नाटक में सम्मिलित करने के लिए उन्हें भूमिका के साथ ही साथ नाटकों में कुछ निरर्थक दृश्य भी बढ़ाने पड़े हैं।

---

१. सुमन जी : 'कवि प्रसाद की काव्य-साधना'; पृष्ठ १६।

२. विशाख की भूमिका।

वस्तु-संकलन में भी इसका प्रभाव पड़ा है। उदाहरणार्थ, अजातशत्रु को ही लीजिये। बौद्धों के प्राचीन ग्रन्थों में १६ राष्ट्रों का उल्लेख है जिनका वर्णन 'भौगोलिक क्रम के अनुसार न होकर जातीयता के अनुसार है। उनके नाम हैं, अङ्ग, मगध, काशी, वृजि आदि। अपनी-अपनी स्वतन्त्र कुलीनता और आचार रखने वाले इन राष्ट्रों में, कितनों ही में गणतन्त्र शासन-प्रणाली भी प्रचलित थी—निसर्ग नियमानुसार एकता, राजनीति के कारण नहीं किन्तु एक धार्मिक क्रान्ति से होने वाली थी .... और इसी धार्मिक क्रान्ति ने भारत के भिन्न-भिन्न राष्ट्रों को परस्पर संधि-विग्रह करने के लिए बाध्य किया।'[1] इस प्रकार एक राज्य की घटना दूसरे से सम्बद्ध हो गई। इसी कारण ही प्रसाद जी को बौद्धकालीन अजातशत्रु के कथानक में तीन राज्यों की घटनाओं का संगठन करना पड़ा है। साहित्य की दृष्टि से कोशल, कौशाम्बी और मगध के कथानक मूल कथानक से सम्बन्ध रखते हुए भी स्वतन्त्र-से मालूम होते हैं। प्रसाद जी के इतिहास-प्रेम के कारण नाटक के मुख्य सिद्धान्त कार्य-संकलन (Unity of action) पर आघात पहुँचता है। कितना सुन्दर होता यदि प्रसाद जी इतिहास को एक किनारे रख साहित्य के सिद्धान्त को अपनाकर मूल कथानक को लेकर ही चलते। इससे कथानक का प्रवाह ठीक रूप से चलता और पात्रों की संख्या कम हो जाने से उनका चित्रण भी ठीक हो जाता।

बौद्ध-काल के उत्तरार्द्ध में माण्डलिक शासनों का अन्त हो रहा था और उनका स्थान गुप्त साम्राज्य ग्रहण कर रहा था। चाणक्य के अर्थशास्त्र में यद्यपि हम सात माण्डलिक राज्यों का वर्णन पाते हैं, परन्तु इन मण्डलों के सभापति राजा की पदवी से सम्मानित थे। परिस्थितियाँ भिन्न हो रही थीं। छोटे-छोटे राज्य सिकन्दर द्वारा कुचल दिये गये थे। अतएव बड़े-बड़े राज्यों की प्रतिष्ठा होना प्रारम्भ हो गया था। कौटिल्य का अर्थशास्त्र इसी कारण से साम्राज्यवाद पर अधिक जोर देता है। छोटे-छोटे राज्यों को हस्तगत करने और उन्हें एक ही सूत्र में पिरो देने का कार्य चन्द्रगुप्त मौर्य का था। चन्द्रगुप्त नाटक में इस काल की घटनाओं को एकसूत्र में बाँधने का प्रयत्न किया गया है। इस कारण नाटककार हमें मगध से लेकर तक्षशिला और मालवा तक ले जाता है। इतिहास की इस महान् पृष्ठभूमि को चन्द्रगुप्त नाटक में बन्द करने के प्रयत्न में नाटककार कार्य-संकलन के सिद्धान्त को ठुकरा देता है। भिन्न-भिन्न राज्यों की घटनाओं और चरित्रों की संख्या बढ़ जाने से नाटक पर आघात पहुँचने लगता है। यदि नाटक के प्रथम तीन अंक अलग कर दिये जायँ और उनका नाम 'सिकन्दर का भारतीय आक्रमण' रख दिया जाय तो कोई अनौचित्य न होगा। अजातशत्रु के समान इस इतिहास-प्रेम का प्रभाव नाटक के चरित्रों पर भी पड़ा है। नाटक को इतनी बड़ी पृष्ठभूमि के चित्रण करने में नाटककार को

---

१. 'अजातशत्रु' की भूमिका।

इतिहास-प्रसिद्ध पोरस और सिकंदर के समान दो विभूतियों का चित्रण करना पड़ा है। लेकिन इतिहास हमें जो इन दो वीरों की निर्भीकता और सौजन्यता का चित्र देता है, वह हमें चन्द्रगुप्त नाटक में नहीं मिल पाता। क्योंकि पोरस का वह इतिहास-प्रसिद्ध प्रशंसनीय उत्तर चन्द्रगुप्त के गुणों को नीचे दबा देता। सिकंदर की सहृदयता और उसकी वीरता की तुला पर चन्द्रगुप्त का शौर्य हलका मालूम होता। अतएव साहित्य ने इतिहास पर भी कुठाराघात किया। पोरस का वार्तालाप संक्षिप्त कर दिया गया और उसका रूप बहुत कुछ बदल दिया गया।

इस महान् पृष्ठभूमि को चित्रण करने के कारण नायक का महत्त्व भी कम हो गया है। चन्द्रगुप्त का स्थान चाणक्य ग्रहण करने लगता है जिससे अजातशत्रु के समान चन्द्रगुप्त के नायकत्व पर प्रश्न उठने लगता है। चरित्रों की संख्या बढ़ जाने से भी मूल चरित्रों के विकास और चरित्र-चित्रण में भी कमी हो गई है।

स्कन्दगुप्त नाटक इन दोषों से बच गया है। क्योंकि यद्यपि उसमें दो राज्यों की घटनाओं का उल्लेख है फिर भी मालव की घटनाएँ, मगध की घटनाओं के अन्तर्गत ही हैं। मालव मगध के साम्राज्य का एक भाग था। अतएव सम्राट् स्कन्दगुप्त के सामने बन्धुवर्मा का आदर्श नहीं टिकता। साथ ही मगध और मालव को एकसूत्र में बाँधने का कार्य स्कन्दगुप्त का ही है। जिसके कारण स्कन्द के नायकत्व का प्रश्न नहीं उठने पाता। इस नाटक में ऐसा कोई भी दृश्य नहीं जो केवल इतिहास-प्रेम की ही दृष्टि से लिखा गया हो।

इस प्रकार प्रसाद जी की नाट्यकला का रूप सँवारने में इतिहास का मुख्य हाथ है। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि प्रसाद जी नाटकों में इतिहास-लेखक ही रहे हैं कलाकार नहीं। उन्होंने अपनी कल्पना से कई घटनाओं वा पात्रों में अपनी आवश्यकतानुसार परिवर्तन किया है जो हम आगे चलकर देखेंगे।

काव्य—प्रसाद जी की नाट्यशैली का तीसरा अंग उनकी काव्यशैली है। पहले कवि और बाद में नाटककार होने के नाते यदि उनके पात्र अधिकतर कल्पना का सहारा लेकर बातचीत करें तो कुछ सन्देह नहीं। परन्तु उनके नाटकों की भाषा पूर्ण रूप से भावना-प्रधान समझना भूल होगी। कई ऐसे स्थल हैं जहाँ प्रसाद जी के चरित्र साधारण बातचीत ही करते हैं। प्रसाद जी के कथोपकथन की समीक्षा करते हुए हम देखेंगे कि उनकी भाषा एक-सी नहीं है। चरित्रों के अनुकूल उसमें विभिन्नता है। यह अवश्य है कि प्रसाद जी के चरित्र अन्य नाटककारों के चरित्रों की अपेक्षा साधारण बोलचाल की भाषा से भिन्न कुछ परिष्कृत भाषा, कल्पना तथा अलंकारों का अधिक आश्रय लेते हैं, लेकिन प्रसाद जी की रुचि एक तो उनके विषयानुसार है; दूसरे इस भाषा पर राय बाबू का अधिक प्रभाव है। भावावेश में ही उनकी भाषा कल्पना और अलंकारों का

उपयोग अधिक करती है। यौवन में पदार्पण करते हुए सौन्दर्य का पुजारी मातृगुप्त अपने प्रेम की प्रथम असफलता की भावाभिव्यक्ति में कवि ही बन जाता है।

"अमृत के सरोवर में स्वर्ण-कमल खिल रहा था। भ्रमर वंशी बजा रहा था। सौरभ और पराग की चहल-पहल थी। सवेरे सूर्य की किरणें उसे चूमने को लौटती थीं, संध्या में शीतल चांदनी उसे अपनी चादर से ढँक देती थी। उस मधुर सौन्दर्य, उस अतीन्द्रिय जगत् की साकार कल्पना की ओर मैंने हाथ बढ़ाया था, वहीं—वहीं स्वप्न टूट गया!······

'उस हिमालय के ऊपर प्रभात-सूर्य की सुनहरी प्रभा से आलोकित बर्फ का पीले पोखराज का-सा एक महल था। उसी से नवनीत की पुतली झाँककर विश्व को देखती थी। वह हिम की शीतलता से सुसंगठित थी। सुनहरी किरणों को जलन हुई। तप्त होकर महल को गला दिया। पुतली उसका मंगल हो, हमारे अश्रु की शीतलता उसे सुरक्षित रखले। कल्पना की भाषा के पंख गिर जाते हैं, मौन नीड़ में निवास करने दो। छेड़ो मत मित्र।"

परन्तु ऐसी भाषा का उपयोग सभी स्थलों पर नहीं हुआ। हाँ, यह अवश्य है कि कभी साधारण स्थलों पर जहाँ मनोवेगों के चित्रण करने का स्थान भी न था वहाँ भी प्रसाद जी अलंकृत भाषा का उपयोग करते हैं।

"भगवान् की शांत वाणी की धारा प्रलय की नरकाग्नि को भी बुझा देगी।"

"हृदय नीरव अभिलाषाओं का नीड़ हो रहा है। जीवन के प्रभात का वह मनोहर स्वप्न, विश्व भर की मदिरा बनकर मेरे उन्माद की सहकारिणी, कोमल कल्पनाओं का भंडार हो गया। मल्लिका! तुम्हें मैंने अपने यौवन के पहले ग्रीष्म की अर्द्धरात्रि में आलोकपूर्ण नक्षत्रलोक से कोमल हीरक-कुसुम के रूप में आते देखा। विश्व के असंख्य कोमल कंठ की रसीली तानें पुकार बनकर तुम्हारा अभिनन्दन करने, तुम्हें सम्हालकर उतारने के लिए नक्षत्रलोक गई थीं······"

—अजातशत्रु अंक १; दृश्य ८

"मुझे अभी प्रतिशोध लेना है, दावाग्नि-सा बढ़कर फैलना है, उसमें चाहे सुकुमार तृण कुसुम हों अथवा विशाल शाल वृक्ष! दावाग्नि या झंपड़ छोटे-छोटे फूलों को बचाकर नहीं चलेगा।"

—अजातशत्रु अंक २; दृश्य ८

"आर्यावर्त्त का भविष्य लिखने के लिए कुचक्र और प्रतारणा की लेखनी और मसी प्रस्तुत हो रही है। उत्तरापथ के खण्डराज द्वेष से जर्जर हैं। शीघ्र भयानक विस्फोट होगा।"

—चन्द्रगुप्त अंक १; दृश्य १

"एक अग्निमय गंधक का स्रोत आर्यावर्त के लोह अस्त्रागार में घुसकर विस्फोट करेगा। चंचला रणलक्ष्मी इन्द्रधनुष-सी विजयमाला हाथ में लिये उस सुन्दर नील लोहित प्रलय जलद में विचरण करेंगी और वीर-हृदय-मयूर से नाचेंगे।"

—चन्द्रगुप्त अंक १; दृश्य १

"मानव कब दानव से भी दुर्दान्त, पशु से भी बर्बर और पत्थर से भी कठोर, करुणा के लिए निरवकाश हृदय वाला हो जावेगा, नहीं जाना जा सकता। अतीत सुखों के लिए सोच क्यों, अज्ञात भविष्य के लिए भय क्यों, और वर्तमान को मैं अपने अनुकूल बना ही लूँगा; फिर चिन्ता किस बात की?"

लेकिन ऐसी भाषा की प्रसाद जी को कार्यनिर्वाह के लिए अत्यन्त आवश्यकता थी। हमारे वर्तमान भारत से भिन्न वे एक स्वर्ण-युग का चित्रण कर रहे थे। इस कारण उसे चित्रित करने के लिए कल्पना के रंग से रंगी हुई भाषा का प्रयोग करना आवश्यक था। हमे एक आदर्श भूमि का भान कराने के लिए, हमारी आधुनिक दीन परिस्थितियों से हटाने के लिए, नित्यप्रति की भाषा से कुछ उठी हुई भाषा का प्रयोग प्रसाद जी के लिए आवश्यक था। अनेक शताब्दियों के आवरण को हटाकर, हमारे पूर्व-युगों का दर्शन कराने का, हमें उस युग में पहुँचाने का श्रेय प्रसाद जी के ऐतिहासिक ज्ञान को नहीं, उनकी भाषा को है, जिसकी रसात्मकता हमें हमारे साधारण जीवन से दूर एक आदर्श जगत की ओर ले जाती है और जहाँ के पात्र हमारी साधारण बोल-चाल की भाषा से भिन्न भाषा में वार्तालाप करते हुए हमें मिलते हैं। प्रसाद जी की नाट्यशैली मे उनकी भाषा का विशेष महत्त्व है।

दार्शनिकता—प्रसाद जी के नाटकों की चौथी विशेषता उनकी गम्भीरता है जो नाटककार के उद्देश्य, प्रकृति और विषय से जनित है। इसी गम्भीरता के कारण प्रसाद जी के नाटकों में हास्य का अभाव है। 'स्कन्दगुप्त' के मुद्गल और मातृगुप्त के वार्तालाप में वे अवश्य कुछ सफल हुए हैं। अन्य नाटकों में भी उन्होंने संस्कृत नाटकों के समान विदूषक रखे हैं पर ब्राह्मणों का पेटूपन आधुनिक रुचि के अनुकूल नहीं। नाटकों की गम्भीरता करुण रस के प्राधान्य के कारण है। ये नाटक सुखान्त नहीं कहे जा सकते। ये वास्तव में 'ट्रेजी-कामेडी'—करुण-सुखान्त नाटक हैं और इस रूप में वे संस्कृत नाटकों के अधिक अनुरूप हैं। 'अजातशत्रु' बिम्बसार और वासवी की करुण कथा है; जहाँ समाज में विशृंखलता आ रही है; स्त्रियाँ अपनी स्थिति छोड़कर स्वावलम्बी होना चाहती हैं, पुत्र पिता के विरुद्ध खड़ा होना चाहता है। ऐसे अवसर पर यदि बिम्बसार गम्भीर हो 'आकाश के नीलेपन पर उज्ज्वल अक्षरों में लिखे हुए अदृष्ट के लेख' पढ़ने लगे तो स्वाभाविक ही है। 'स्कन्दगुप्त' नायक की आपत्तियों का चिट्ठा है। उसका अन्तिम दृश्य तो करुणरसपूर्ण ही

है। स्कन्द की सफलता क्या सुखान्त है? अन्तिम दृश्य में सफलता के शीघ में भी वह अपने को अकेला पाता है।

"देवसेना ! देवसेना !! तुम जाओ। हतभाग्य स्कन्दगुप्त, अकेला स्कन्दगुप्त, ओह !"

देवसेना का वैराग्य उसकी असफलता के ही कारण है। 'स्कन्दगुप्त' नाटक यदि ट्रेजेडी नहीं कही जा सकती तो वह कॉमेडी भी नहीं है। 'चन्द्रगुप्त' नाटक में भी करुण रस की मात्रा अधिक है। संस्कृत नाटकों के आदर्शानुसार, नाटक को सुखान्त करने के लिए नाटककार ने इस असफलता में भी एक नैतिक सफलता अपने पात्रों को दिखाई है। भौतिक सुखों के अभाव को वैराग्य की शान्ति पूरी करती है जिसके कारण नाटक की सारी कथावस्तु में गम्भीरता आ गई है। पात्र दार्शनिक हो उठते हैं, अन्तिम दृश्य तक उन्हें संसार के खेल कूद, भौतिक सुख-साधन, हास-उपहास से कोई सरोकार नहीं रहता। परन्तु यह दार्शनिकता पात्रों के चरित्र-विकास के कारण है। पात्र प्रारम्भ से ही दार्शनिक नहीं रहते, और न नाटक ही दार्शनिक कहा जा सकता है।

बहुधा प्रसाद जी के चरित्रों पर एक बाह्य दार्शनिकता का आरोप किया जाता है। अपने आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास में प्रसाद जी की आलोचना करते हुए पंडित कृष्णशंकर शुक्ल जी लिखते हैं—

"इनके पात्रों में दोहरा व्यक्तित्व रहता है। वे अपना भी व्यक्तित्व रखते हैं और अपने रचयिता के आदेशानुसार एक कृत्रिम व्यक्तित्व भी ढोते रहते हैं। पर सौभाग्य से इन दोनों व्यक्तित्वों का पृथक्करण सरलता से किया जा सकता है। यदि हम पात्रों के कृत्रिम व्यक्तित्व को हटा दें तो उनका निजी सजीव व्यक्तित्व स्पष्ट देख सकते हैं। कृत्रिम आरोपित व्यक्तित्व तीन बातों से जाना जा सकता है। प्रसाद जी नियतिवादी हैं। इसका प्रभाव इनके अनेक पात्रों पर पड़ा है। कोई ऐसा नाटक नहीं है जिसमें इसकी दोहाई न दी गई हो। 'नागयज्ञ' में जरत्कारु ऋषि तथा वेदव्यास इत्यादि अदृष्ट लिपि की घोषणा करते हैं। जनमेजय भी 'मनुष्य क्या है? प्रकृति का अनुचर और नियति का दास है—या उसकी क्रीड़ा का उपकरण' कहता है। स्कन्दगुप्त में उसका नायक भी कुछ भी ऐसे ही विचार रखता है। चेतना कहती है कि 'तू राजा है और उत्तर में जैसे कोई कहता है कि तू खिलौना है'। चन्द्रगुप्त में भी अनेक पात्र नियति का झंडा फहराते हुए आते हैं। चाणक्य ऐसा कर्मवीर भी उसके प्रभाव से नहीं बचा है। उसे भी हम ऐसा कहते हुए सुनते हैं। 'नियति सुन्दरी की भावों में बल पड़ने लगा है।' परन्तु हम इस बात को अच्छी तरह समझ सकते हैं कि यह नियतिवाद पात्रों की अपनी विशेषता नहीं है। नियति-नियति चिल्लाते हुए भी वे हाथ-पर-हाथ रखे नहीं बैठे रहते, जीवन के घमासान युद्ध में उतरते हैं और ऐसे-ऐसे काण्ड रचते हैं कि हमें चकित रह जाना पड़ता है। ऐसी अवस्था में

हमें यही प्रतीत होता है कि वे किसी के सिखाने से नियति का मन्त्र जप रहे थे। वास्तव में उन्हें कर्म के सामर्थ्य पर अचल विश्वास था।"

प्रसाद जी अदृष्टवादी अवश्य थे। जीवन की परिस्थितियों ने उनका विश्वास नियति में करा दिया था। जब हमारी परिस्थितियाँ हमारी शक्ति के बाहर रहती हैं और हम उन्हें अपने अनुकूल नहीं बना पाते तभी हम अदृष्ट पर विश्वास करने लगते हैं। प्रसाद जी को भयानक जीवन-संग्राम करना पड़ा था और इस कारण अपनी ही अनुभूति को लेकर यदि प्रसाद जी के चरित्र जीवन-संघर्ष से असफल हो अदृष्ट मे विश्वास करें तो यह कृत्रिम व्यक्तित्व नहीं। यह तो एक मनोवैज्ञानिक परिस्थिति ही समझी जावेगी। साधारण मनुष्य जब अपनी सांसारिक कठिनाइयों में असफल हो अदृष्ट और नियति की पुकार मचाने लगते हैं, तब हम उन पर दार्शनिकता का आरोप नहीं करते। प्रसाद जी के नाटकों को इस रूप में दार्शनिक नाटक समझना भूल है। यह अवश्य है कि उनके कुछ निज के विचार हैं परन्तु प्रत्येक कलाकार का कुछ-न-कुछ उद्देश्य रहा करते हैं— जिन्हें हम कलाकार के दार्शनिक सिद्धान्त कह सकते हैं। परन्तु उनके नाटकों और पात्रों को दार्शनिक कहना भूल है।

कृष्णशंकर जी से मिलते हुए कुछ-कुछ विचार प्रोफेसर सत्येन्द्र जी के भी हैं। 'प्रसाद जी के नाटक' नामक लेख में वे लिखते हैं—

"प्रसाद जी के इन सभी नाटकों में एक विशेषता मिलती है, वह विदग्ध व्यग्रता है। सभी पात्रों में एक उत्तेजना व्याप्त है, एक हलचल है और व्याकुलता है—ठीक भीड़ से भरे बाजार में उनके पात्र बिना इधर-उधर देखे हड़बड़ी में धक्का-मुक्की से अपना मार्ग बनाते चलते-से और उस सबके लिए अपना कारण और अपनी व्याख्या रखते से चलते हैं इसलिए उनमें दार्शनिकता भी है। कवि ने झूठ या सच इसी 'विदग्ध व्यग्रता' में अन्तर्द्वन्द्व मानकर संभवतः सन्तोष किया है।"[1]

सचमुच यदि प्रसाद जी के पात्र 'बिना इधर-उधर देखे हड़बड़ी में धक्का-मुक्की से' अपना मार्ग बनाते चलते हों तो उनके नाटकों को पागलों का अजायबघर ही समझना चाहिए, और पात्रों की दार्शनिकता उनकी व्यक्तिगत सनक। प्रसाद जी के बारे में यह आलोचना बड़ी कड़ी है। वास्तव में पात्रों की उत्तेजना घटना के घात-प्रतिघात के कारण ही है। पात्र घटनाओं को अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु अदृष्ट सभी कुछ पात्रों की इच्छानुसार नहीं होने देता, इस कारण घटनाओं का विकास और पात्रों की कार्यपद्धता कहीं-कहीं मेल नहीं खाती। परन्तु यह घटना और पात्रों का संघर्ष आवश्यक है, उसी पर दर्शकों का मनोरंजन और उत्सुकता निर्भर रहती है। लेकिन इस संघर्ष का

१. 'प्रसाद जी की कला'; पृष्ठ ३२-३३।

अन्त भी होना चाहिए, नहीं तो नाटक की समाप्ति ही न होगी। प्रसाद जी के पात्र इसी कारण नियति के साथ ही साथ अपने कर्म में भी विश्वास रखते हैं। उनकी विदग्ध-व्यग्रता उनकी क्रियात्मकता के फलस्वरूप है। यह पात्रों की अपनी निजी विशेषता नहीं। इस विदग्ध-व्यग्रता को ही पात्रों में अन्तर्द्वन्द्व का कारण समझना भी भूल है। पात्रों का अन्तर्द्वन्द्व उनके चरित्र की दुर्बलताओं के कारण है।

चरित्र-चित्रण—भारतीय नाट्यकला के अनुरूप इनके नाटकों के नायक सभी उच्चकुलीन राजवंश के हैं। द्विजेन्द्रलाल राय ने चन्द्रगुप्त को नीच जाति का जन्मा हुआ मानकर भी नाटक का नायक बनाया है, लेकिन प्रसाद जी ने चन्द्रगुप्त को क्षत्रिय मानकर ही उसे नायक के पद पर आसीन किया है। नायक नाटक में अन्तर्द्वन्द्व और बहिर्द्वन्द्व दोनों का सामना करता है और अन्त में दोनों में सफल भी हो जाता है। अजातशत्रु में अन्तर्द्वन्द्व नहीं है, परन्तु नायक के चरित्र की प्रारम्भिक दुर्बलता (क्रूरता) बाह्य घटनाओं से प्रभावित हो विलीन हो जाती है। बाह्यद्वन्द्व में भी नायक सफल होकर मगध का राजा बनता है और प्रसेनजित् की कन्या से विवाह कर कौशल से मैत्री स्थापित करता है। स्कन्दगुप्त और चाणक्य भी अपने अन्तर्द्वन्द्व और बहिर्द्वन्द्व पर विजयी होते हैं। नायक को यह दोनों प्रकार की विजय नाटककार के अनुसार आवश्यक है।

इन नायकों के प्रतिद्वन्द्वी भी रहा करते हैं, परन्तु ये प्रतिद्वन्द्वी प्रायः राजनैतिक क्षेत्र के ही हैं प्रेम या शृंगार के नहीं। प्रतिद्वन्द्वी की मानसिक वेदना ही उसका कठोर दण्ड है। क्योंकि ये प्रतिद्वन्द्वी केवल खल ही नहीं चरित्रयुक्त भी हैं और इस कारण अपनी भूल समझने पर उनका पछतावा स्वाभाविक ही है। नाटक के अन्त में वे नायक द्वारा क्षमा कर दिये जाते हैं। कहीं-कहीं प्रतिद्वन्द्वियों की संख्या अधिक बढ़ जाती है जैसे अजातशत्रु में।

स्त्री पात्रों के निर्माण में प्रसाद जी विशेष कुशल हैं। इन चरित्रों के गठन में वे पुरुष चरित्रों की अपेक्षा अधिक सफल भी हुए हैं। उनकी प्रारम्भ ही से रुचि नारी के सौन्दर्य और प्रेम की ओर रही है, इसी कारण वे देवसेना के समान सुन्दर चित्र अंकित करने में सफल हुए हैं। देवसेना तो नारी की कोमल भावनाओं की मूर्ति है। उसके रूप में सौन्दर्य, संगीत, काव्य, प्रकृति और त्याग या बलिदान साकार होकर ही बोलने लगा है। हृदय की कोमल कल्पना की यह प्रतिमा हिन्दी साहित्य की ही नहीं, संसार के साहित्य की अनोखी भेंट है। वासवी और देवकी नारियों के नहीं देवियों के चित्र हैं। उनके आदर्श के सामने उनका कोई भी पुरुष पात्र नहीं ठहर पाता। नारियों के चरित्र में विविधता भी है। यौवन की मदिरा से प्रमत्त सुवासिनी, महत्त्वाकांक्षा की

पुजारिन विजया, त्याग की मूर्ति देवसेना और मल्लिका कुशल नाटककार के चित्रित पात्र हैं। क्रूर, स्वावलम्ब और स्वार्थी नारियों के चित्र में अनन्तदेवी, मागन्धी और छलना भी हैं, जिनकी पाशविक वृत्तियों से हमारे हृदय पर आघात होने लगता है; लेकिन उनका आकस्मिक किन्तु स्वाभाविक परिवर्तन हमें नारी-जाति की कोमलता और स्निग्धता की ही ओर ले जाता है। प्रसाद जी नारी जाति को सम्मान की ही दृष्टि से देखते रहे हैं। अतएव वे शेक्सपियर की लेडी मेक्बेथ के समान चरित्रों के निर्माण मे सदैव ही असमर्थ रहते हैं।

उनके आदर्शानुसार नारी जाति समाज की सुदृढ़ नींव है। वह अपने प्रेम द्वारा स्वर्ग का सृजन कर सकती है। 'उसके राज्य की सीमा विस्तृत है, और पुरुष की संकीर्ण। कठोरता का उदाहरण है पुरुष और कोमलता का विश्लेषण है स्त्री जाति। पुरुष क्रूरता है तो स्त्री करुणा है। जो अन्तर्जगत् का उच्चतम विकास है, जिसके बल पर समस्त सदाचार ठहरे हुए हैं। इसलिए प्रकृति ने उसे इतना सुन्दर और मनमोहक आवरण दिया है—रमणी का रूप।'

—अजातशत्रु; पृष्ठ १५४

हृदय की सम्पूर्ण कोमल भावनाओं का मंदिर नारी का हृदय है। क्रूरता स्त्री जाति का गुण नहीं। 'उसे नारी जाति जिस दिन स्वीकृत कर लेगी, उस दिन समस्त सदाचारों में विप्लव होगा।' अनन्त देवी, छलना और मागन्धी ने अपनी नारी-सुलभ कोमलता और स्निग्धता को छोड़ क्रूर बनने की चेष्टा की थी; फल गृह-विद्रोह, समाज-विद्रोह और देश-विद्रोह ही हुए।

पुरुष पात्रों में त्याग की जो भावना प्रसाद जी ने रखी है, वही भावना हमें स्त्री पात्रों मे मिलती है। परन्तु यह त्याग एक नवीन रूप लेता है। पद्मावती, वासवी, देवसेना, मालविका का त्याग विरक्ति के फलस्वरूप नहीं है यह प्रायः स्त्री-सुलभ सौन्दर्य और संवेदना की प्रसूति है; "यथार्थ में, स्त्रियों में त्याग की अपेक्षा सेवावृत्ति और अनुकम्पा पर अधिक जोर दिया है। उनका त्याग अधिकतर इन्हीं गुणों से उत्पन्न होता है, पुरुष की भाँति विरक्ति से कम। जहाँ विरक्ति दिखाई गई है वहाँ स्त्री या तो महत्त्वाभिलाषिणी या पतिता, जिसे अपने जीवन भर निराशाओं और असफलता से मुठभेड़ करते-करते अन्त में विराग होने लगता है।"[1]

धार्मिक जनों और भिक्षुओं के चरित्र भी ऐतिहासिक होते हुए सुन्दर बन पड़े हैं। गौतम जैसे धर्मावलम्बियों के साथ-ही-साथ प्रचंड बुद्धि, देवदत्त आदि जैसे ढकोसले फैलाने वाले भिक्षुओं के चरित्रों को देख, प्रसाद जी की प्रसूति कल्पना और चरित्र-निर्माण

---

१. शिलीमुख : 'प्रसाद की नाट्य-कला'; पृष्ठ ६७।

शक्ति पर आश्चर्य मालूम होता है। चरित्र-चित्रण के बारे में बहुत कुछ कहा जा चुका है। नाटकों की आलोचना करते हुए भी कुछ चरित्रों को देखेंगे, अतएव यहाँ पर केवल इतना ही कह देना उचित होगा कि चरित्रों और घटनाओं का बाहुल्य होने के कारण नाटकों के प्रमुख चरित्रों में न तो परिस्थितियों के अनुसार विकास ही हुआ है और न उनमें अन्तर्द्वन्द्व ही है। अधिकतर चरित्र एकांगी ही हैं।

कथोपकथन

बहुरूपता—कथोपकथन का व्यवहारानुकूल, भावव्यंजक, संघर्षमय और चुस्त होना आवश्यक है। इस विषय में प्रसाद जी बहुत कुशल हैं। उनके पात्रों का वार्तालाप बहुत ही सुन्दर, स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक हुआ है। वाणी ही मनुष्य-चरित्र की द्योतक है। क्रूरता और शीलता मनुष्य की वाणी से ही मालूम होती है।

"छलना—यह सब जिन्हें खाने को नहीं मिलता उन्हें चाहिए। जो प्रभु हैं, जिन्हें पर्याप्त है उन्हें किसी की क्या चिन्ता जो व्यर्थ अपनी आत्मा दबावें।

वासवी—क्या तुम मेरा भी अपमान किया चाहती हो? बच्चा तो जैसी मेरी, वैसी ही तुम्हारी, उसे कहने का तुम्हें अधिकार है; किन्तु तुम तो मुझ से छोटी हो, शील और विनय का यह दुष्ट उदाहरण सिखाकर बच्चों की क्यों हानि कर रही हो?

छलना—(स्वगत)—मैं छोटी हूँ यह अभिमान तुम्हारा अभी गया नहीं है! (प्रकट)—मैं छोटी हूँ या बड़ी, किन्तु राजमाता हूँ। अजात को शिक्षा देने का मुझे अधिकार है उसे राजा होना है! वह भिखमंगों का जो अकर्मण्य होकर राज्य छोड़कर दरिद्र हो गये है उपदेश नहीं ग्रहण करने पावेगा।"

अजातशत्रु; पृष्ठ ३३-३४

मनोवैज्ञानिक होते हुए भी कथोपकथन कितना संघर्षमय है। संघर्षमय वार्तालाप ही नाटक के प्राण हैं वही कार्य व्यापार को प्रसारित करता है। कार्य-संचालन कराने का नाटककार के पास यही एक साधन है। वार्तालाप पर चरित्र-चित्रण भी निर्भर रहता है, परन्तु सदैव ही वार्तालाप संघर्षमय होना आवश्यक नहीं है। ब्राह्मणों और साधुओं के वार्तालाप कितने सरल उपदेशात्मक और लम्बे हो गये हैं; क्योंकि स्वभावानुकूल उन्हें नीति और कर्तव्य-ज्ञान कराने के लिए विषय की विस्तृत व्याख्या करनी पड़ती है। संघर्षमय न होने के कारण ऐसे वार्तालाप कथानक नहीं बढ़ा पाते इस कारण वे कभी-कभी अरुचिकर होने लगते हैं। अच्छा हो कि ऐसे वार्तालाप छोटे ही हों। करुणा के ऊपर गौतम की व्याख्या कुछ अरुचिकर अवश्य मालूम होती है परन्तु है वह स्वाभाविक। प्रसाद जी ने पात्रों के अनुसार ही उनका वार्तालाप रखा है। दार्शनिक

का वार्तालाप उसकी प्रवृत्ति के अनुसार ही है—जो अपने विचारों में अधिक लवलीन रहता है उसे संसार की प्रत्यक्ष घटनाओं का ध्यान ही क्या ?

"दाण्डायन—पवन एक क्षण विश्राम नहीं लेता, सिन्धु की जलधारा बही जा रही है, बादलों के नीचे पक्षियों का झुण्ड उड़ा जा रहा है, प्रत्येक परमाणु न जाने किस आकर्षण में खिंचे चले जा रहे हैं। जैसे काल अनेक रूप में चल रहा है। यही तो ·····

एनि०—महात्मन् !

दाण्डायन—चुप रहो, सब चले आ रहे हैं, तुम भी चले जाओ। अवकाश नहीं, अवसर नहीं।

एनि०—आप से कुछ ··

दाण्डा०—मुझ से कुछ मत कहो। कहो तो अपने आप ही कहो, जिसे आवश्यकता होगी सुन लेगा। देखते हो कोई किसकी सुनता है। मैं कहता हूँ—सिन्धु के एक बिन्दु ! धारा में न बहकर मेरी बात सुनने के लिए ठहर जा, वह सुनता है ? ठहरता है, कदापि नहीं ?"

कथोपकथन की भाषा रस-संचार में भी सहायक होती है। चरित्रों के मनोवेगों द्वारा उसका रूप आपसे आप बदलता रहता है। यौवन के पदार्पण काल में प्रेम का प्रथम कटु अनुभव मातृगुप्त को कवि बना देता है—"अमृत के सरोवर में स्वर्ण कमल खिल रहा था, भ्रमर वंशी बजा रहा था, सौरभ और पराग की चहल-पहल थी। सवेरे सूर्य की किरणें उसे चूमने को लौटती थीं, सन्ध्या में शीतल चाँदनी उसे अपनी चादर से ढँक देती थी। उस मधुर सौन्दर्य, उस अतीन्द्रिय जगत की साकार कल्पना की ओर मैंने हाथ बढ़ाया था वहीं-वहीं स्वप्न टूट गया।" परन्तु कर्तव्य के कठोर पथ में उसके शब्द सरल कल्पनाहीन और वाक्य छोटे हो जाते हैं।

क्रोध का कितना सुन्दर चित्रण वार्तालाप द्वारा हुआ है—

"रक्त के पिपासु ! क्रूरकर्म्मा मनुष्य ? कृतघ्नता की कीच का कीड़ा। नर्क की दुर्गन्ध ! तेरी इच्छा कदापि पूर्ण न होने दूँगी।"

पागलपन का भी चित्र देख लीजिए—

"रामा—लुटेरा है तू भी ! क्या लेगा, मेरी सूखी हड्डियाँ ? तेरे दाँतों से टूटेंगी ? देख तो—(हाथ बढ़ाती है)।

स्कन्द०—कौन ? रामा !

रामा—(आश्चर्य से) मैं रामा हूँ। हाँ, जिसकी सन्तान को हूणों ने पीस डाला··· "

दुःख से पागल हुए शकटार को भी सुन लीजिए—

"दुःख ! दुःख का नाम सुना होगा, या कल्पित आशंका से उसका नाम लेकर चिल्ला उठते होंगे। देखा है कभी, सात-सात गोद के लालों को भूख से तड़पकर मरते ? अन्धकार की घनी चादर में बरसों भूगर्भ की जीवित समाधि में एक दूसरे को अपना आहार देकर स्वेच्छा से मरते देखा है। प्रतिहिंसा की स्मृति को, ठोकरें मारकर जगाते-जगाते, और प्राण विसर्जन करते ? देखा है कभी यह कष्ट ! उन सबों ने अपना आहार मुझे दिया और पिता होकर भी मैं पत्थर-सा जीवित रहा ! उनका आहार खा डाला, उन्हें मरने दिया ··· "

मनोवेगानुसार पात्रों की भाषा में यह परिवर्तन होना अधिक आवश्यक है। अतएव प्रसाद जी की भाषा के विषय में यह धारणा कि उसमें अनेकरूपता नहीं बड़ी भूल है। हाँ, यह अवश्य है कि उन्होंने संस्कृत की तत्सम पदावली को छोड़ अन्य भाषा का उपयोग नहीं किया। पर लेखक की यह असमर्थता उसकी कला के अनुरूप ही है प्रतिकूल नहीं। प्रसाद जी के नाटक भव्य भारत के चित्र हैं जो हमारे आज के दीन-हीन, परतन्त्र, असहाय भारत से भिन्न हमारे उत्कर्ष के सुन्दर चित्र हैं। जो हमारे लिए एक आदर्श, एक कल्पना, एक स्वर्गीय आनन्द का लोक बन गया है। इस लोक को दीप्तमान रंगों द्वारा ही अंकित किया जा सकता है। सामान्य बोलचाल की भाषा उसे हमारे नित्यप्रति के जीवन से ऊपर न उठा सकेगी अतएव उस नैसर्गिक जगत का निर्माण बहुत कुछ प्रसाद जी के भाषा-सौष्ठव और कोमलकान्त पदावली द्वारा हुआ है। इन पूर्व युगों के अंकन करने की सफलता बहुत कुछ उनकी भाषा पर है।

जैसा हम ऊपर देख आये हैं प्रसाद जी ने अपने इस संकुचित क्षेत्र में भी भाषा की अनेकरूपता रखी है। जिसके कारण वार्तालाप बहुत ही स्वाभाविक हुआ है। प्रोफेसर सत्येन्द्र जी ने अपने लेख में प्रसाद जी की भाषा पर नोट लिखते हुए कहा है—"इनके सभी पात्र एक-सी भाषा बोलते हैं; ग्रीक, चीनी, शक, हूण, उत्तरी, पश्चिमी, दक्षिणी, सब उनके रंगमंच पर आकर एकभाषी हो जाते हैं।" नाटककार हिन्दी में नाटक लिख रहा है। उसके लिए अभारतीय भाषा का प्रयोग करना आवश्यक नहीं, कोई भी पाठक व दर्शक इन भाषाओं को कैसे समझ सकता है ? यह तो नाट्यकला के मूल सिद्धान्तों में से एक है। यदि नाटककार को पूर्ण स्वाभाविकता व ऐतिहासिकता रखनी होती तो अच्छा होता वह तत्कालीन संस्कृत, पालि, अपभ्रंश आदि का उपयोग करता, परन्तु उसका यह कार्य-काल के प्रारम्भिक सिद्धान्तों के विपरीत हो जाता। नाटककार हिन्दी में नाटक लिख रहा है। वह भाषा विज्ञान का प्रदर्शन नहीं कर रहा है। हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि प्रसाद जी ने प्रान्तीय बोलियों का उपयोग नहीं किया। परन्तु इनका कारण हम ऊपर ही लिख आये हैं।

पद्य का प्रयोग—प्रसाद जी के कथोपकथन में खटकने वाला एक दोष है और वह है पात्रों का गद्य में बात करते-करते पद्य में बोलने लगना। पूर्व-नाटकों में यह प्रवृत्ति अधिक है। परन्तु पारसीक नाटक कम्पनियों की भाँति तुक्कड़बाजी और शेरबाजी इनके उत्तर नाटकों में नहीं मिलती। प्रारम्भिक नाटकों में प्रसाद जी संस्कृत नाटकों से प्रभावित थे। साथ ही उस समय के नाटककारों में भी यह प्रवृत्ति अधिक थी। बंगाली नाटकों के अनुवादों ने इस गद्य-पद्य के मिश्रण में सुधार कर दिया। भारतेन्दु जी के नाटकों में स्फुट कविताएँ अधिक हैं। राधेश्याम जी कथावाचक, माखनलाल चतुर्वेदी और बालकृष्ण भट्ट के नाटकों में भी गद्य-पद्य का मेल अधिक है। प्रसाद जी की प्रतिभा इस गद्य-पद्य के कम प्रयोग में ही है। उनके परवर्ती या समकालीन नाटकों के देखने से तो उनकी शेरबाजी प्रायः नहीं के बराबर ही मालूम होती है। प्रसाद जी ने अपने पद्यों के उपयोग में थोड़ा परिष्कार भी कर दिया है। पद्य का प्रयोग पात्रों ने साधारण बातचीत या घटना-वर्णन के लिए नहीं किया है। उनका प्रयोग प्रायः सूक्तियों के ही रूप में है। अजातशत्रु में वासवी कहती है—

"यह मैं क्या देख रही हूँ ? छलना यह गृह-विद्रोह की आग तू क्यों जलाना चाहती है ? राजपरिवार में क्या सुख अपेक्षित नहीं है ?

बच्चे बच्चों से खेलें, हो स्नेह बढ़ा उनके मन में,
कुल लक्ष्मी हों मुदित, भरा हो मंगल उनके जीवन में।
बन्धुवर्ग हो सम्मानित, हों सेवक सुखी प्रणत अनुचर,
शान्तिपूर्ण हो स्वामी का मन, तो स्पृहणीय न हो क्यों घर ?"

समुद्रगुप्त को भेजती हुई श्यामा कहती है—

"श्यामा—जाओ बलि के बकरे जाओ, फिर कभी न आना। मेरा शैलेन्द्र मेरा शैलेन्द्र—

तुम्हारी मोहनी छवि पर निछावर प्राण हैं मेरे,
अखिल भूलोक बलिहारी मधुर मृदुहास पर तेरे।"

अथवा तो "इससे क्या! हम अपना कर्तव्य पालन करते हैं, दुख से विचलित तो होते नहीं—

लोभ सुख का नहीं, न तो डर है,
प्राण कर्तव्य पर निछावर है।"

ये पद्य की पंक्तियाँ एक प्रकार से लोक-प्रसिद्ध उक्तियाँ ही मालूम होती हैं। ऐसे अवसर हमारे जीवन में भी आते हैं। जब हम कभी-कभी किसी दोहे आदि का प्रयोग अपनी बातचीत में कर देते हैं। पद्य का सम्बन्ध पात्रों के वार्तालाप से है अवश्य लेकिन परोक्ष रूप में। अन्य स्थलों पर भी जहाँ नाटककार ने ऐसे पद्यों का उपयोग किया है वहाँ इस

बात का पूरा ध्यान रखा है कि पद्य की पंक्तियाँ पात्रों की स्वयं की रचना न मालूम हों जो यह गद्य की बात को पूरा करने के लिए उसी अवसर पर रचता जा रहा हो। गौतम का यह कथन साधुओं के कितने स्वभावानुकूल हुआ है। परन्तु ये गौतम की आशु-कवितायें के समान तत्कालीन रचना नहीं मालूम होती।

"राजन्! कोई किसी को अनुगृहीत नहीं करता। विश्व भर में यदि कुछ कर सकती है तो वह करुणा है जो प्राणिमात्र में समदृष्टि रखती है।

गोधूली की राग पटल में स्नेहांचल फहराती है।
स्निग्ध उषा के शुभ्र गगन में हास विलास दिखाती है॥
मुग्ध मधुर बालक के मन पर चन्द्रकान्ति बरसाती है।
निर्निमेष ताराओं से वह ओस बूँद भर लाती है॥"

ये पंक्तियाँ या तो पूर्व-रचित मालूम होती हैं। या अन्य कवि की रचना, जिनका उपयोग वे अपने विचारों को स्पष्ट करने के लिए करते हैं।

उदयन और मागन्धी के वार्तालाप से यह बात और अधिक स्पष्ट हो जावेगी।

"उदयन—हृदयेश्वरी! कौन मुझको तुमसे अलग कर सकता है

हमारे वक्ष में बनकर हृदय जब छवि समावेगी,
स्वयं निज माधुरी छवि का रसीला गान गावेगी।
अलग तब चेतना हो विश्व में कुछ रह न जावेगी,
अकेले विश्व-मन्दिर में तुम्हीं को पूज पावेगी॥"

ये पद्य भाग उदयन के हृदय के भावों का उतना अच्छा चित्रण नहीं करता जितना किसी छायावादी कवि के हृदय को। उदयन का मागन्धी के लिए—

"अलग तब चेतना हो विश्व में कुछ रह न जावेगी।
अकेले विश्व-मन्दिर में तुम्हीं को पूज पावेगी॥"

कहना कुछ हास्यप्रद मालूम होता है। यह तो किसी भक्त की वाणी मालूम होती है जो अपने अस्तित्व को परमात्मा में मिलाकर इस विश्व-मन्दिर में उसी एक परमात्मा की छवि की आराधना में लगना चाहती है। उदयन का यह कथन उसी समय ही स्वाभाविक हो सकता है जब हम इन पंक्तियों को किसी अन्य कवि की रचनाएँ समझें जिनका उपयोग उसने अपने भावों की समानता समझाने के लिए ही किया हो। ठीक यही मत श्यामा के इस कथन के बारे में भी है—

"श्यामा—ओह! विष! सिर घूम रहा है। मैं बहुत पी चुकी हूँ अब जल·· भयानक स्वप्न। क्या तुम मुझे जलते हुए हलाहल की मात्रा पिला दोगे।

अमृत हो जायगा विष भी पिला दो हाथ से अपने,
पलक ये छक चुके हैं चेतना उसमें लगी कँपने।

विकल हैं इन्द्रियाँ—हों देखते इस रूप के सपने;
जगत् विस्मृत हृदय पुलकित, लगा वह नाम है जपने ॥"

इस प्रकार यह गद्य-पद्य का प्रयोग कहीं भी अस्वाभाविक वा हास्यप्रद नहीं होने पाया है। उन्होंने कहीं भी अन्य नाटककारों की भाँति पद्य का प्रयोग साधारण बातचीत को व्यक्त करने के लिए नहीं किया। ऊपर के उदाहरणों से कितने भिन्न हैं।

"(१) चन्द्र०—रणधीर, यह क्या है—तुम आर्य हो फिर भी तुम्हारी इसकी ऐसी मित्रता !

रणधीर०—महाराज, क्या कहूँ मित्रता है, दैवी वरदान,
है अपूर्व आह्लाददायिनी यथा स्वर्ग का गान।

× × ×

(२) अलक०—महाराज, शोक है कि कोई उत्तर देने वाला न था और (क्रोध से)।

कभी मिला तो उसके तन का खंड-खंड कर उत्तर दूँगा।
और क्या कहूँ ? शठ यवनों से रण प्रचंड कर उत्तर दूँगा ॥

(३) सिपाही—श्रीमान की जय ! कप्तान रणधीर सिंह

विक्रम—रण दुर्मद रणधीर ! वीर तुम धन्य हो
शत्रु हृदय के तीर ! वीर तुम धन्य हो।
(देखता हुआ) क्या ? बुरी तरह घायल हुआ है ?

एक सिपाही—मान्यवर !

छाती में नौ घाव, खड्ग के खाने वाले,
सब शरीर छिद गया न पीठ दिखाने वाले।
कटी जाँघ, बेकाम हो गया बायाँ कर भी,
लड़ गये, लेकिन इतने घायल होकर भी।
हाँ, रिपु की हँसी करता हुआ, जब रक्त बहुत निकल गया,
तब हो अचेत गिरे—अहो मुँह वीरता का फुट गया।"

स्वगत—नाटककार के लिए हृदय के भावों को प्रकट करने के लिए स्वगत का उपयोग बहुत ही आवश्यक हो जाता है। परन्तु स्वगत का उपयोग कुछ अस्वाभाविक-सा मालूम होता है। दूर बैठे हुए दर्शक तो पात्रों का स्वगत सुन लेते हैं, परन्तु रंगमंच पर खड़ा हुआ दूसरा पात्र नहीं सुनने पाता। अतएव सफल नाटककार ऐसे अवसरों को अपने नाटकों में कम ही लाते हैं। राय महोदय ने 'नूरजहाँ' में एक ओर स्वामिभक्ति और दूसरी ओर साम्राज्ञी होने की लालसा के संघर्ष का चित्रण करने के लिए स्वगत का जो उपयोग

किया है वह अनिवार्य था। परन्तु अस्वाभविकता के डर से उन्होंने अपने कौशल द्वारा यह द्वंद्व दूसरे रूप में प्रकट कर दिया है। स्वगत का उपयोग प्राचीन नाटकों में भी किया जाता था। पूर्व और पश्चिम नाट्यशास्त्र इसे (Poetic license) मानते हैं, परन्तु नाटककार का कौशल इसी में है कि वह इसका बहुत ही कम उपयोग करे। प्रसाद जी के प्रारम्भिक नाटकों में स्वगत का उचित उपयोग नहीं हुआ है। कुछ स्थानों पर तो नाटककार थोड़े ही कौशल से स्वगत हटा सकता था। यथा—

"छलना—(स्वगत)—मैं छोटी हूँ। *यह अभिमान तुम्हारा अभी गया नहीं है।* (प्रकट) मैं छोटी हूँ या बड़ी किंतु राजमाता हूँ।" स्वगत की बात छलना स्पष्ट भी कह सकती थी। क्योंकि यह बात प्रकट कथन से किसी प्रकार कम कटु नहीं है। दूसरे स्थान पर भी—

"जीवक—(स्वगत) यह विदूषक इस समय कहाँ से आ गया? भगवान्, यह किसी तरह हटे।"

यदि लेखक चाहता तो इस कथन को वार्तालाप में ही रख सकता था। इसी प्रकार—

"प्रसेन—(स्वगत) अभी से इसका गर्व तोड़ देना चाहिये···" की आवश्यकता न थी। प्रसेन के प्रकट कथन से कि "आज से यह निर्भीक किन्तु अशिष्ट बालक अपने युवराज पद से वंचित किया गया······" स्वगत का काम चल सकता है। लेखक यदि चाहता तो इन स्वगत-कथनों को या तो बिलकुल ही हटा सकता था या उनमें कुछ परिवर्तन कर उन्हें अधिक स्वाभाविक बना सकता था। परन्तु मालूम होता है कि नाटककार ने उन्हें कवि की स्वच्छन्दता समझकर इनकी अस्वाभाविकता की ओर ध्यान नहीं दिया।

कभी-कभी नाटकों में, अपने भावों को व्यक्त करने के लिए या पिछली वा आगे आने वाली घटना के सूचनार्थ एक-दूसरे प्रकार के स्वगत का उपयोग किया जाता है। उसमें पात्र स्वगत में ही बोलता है, परन्तु दूसरे पात्रों के सम्मुख नहीं। स्वाभाविकता की दृष्टि से यह भी एक दोष है। क्योंकि यह पात्रों का चिन्तन न होकर बड़बड़ाना हो जाता है। संघर्षात्मक न होने के कारण ऐसे कथन जितने ही छोटे हों उतने ही अच्छे। बिम्बसार का अकेले बैठे-बैठे बड़बड़ाना दर्शकों को बहुत ही खराब मालूम होगा। अच्छा होता यदि बिंबसार का यह कथन—"आह जीवन की क्षणभंगुरता ·····" आदि संक्षिप्त कर दिया गया होता। स्कन्द का स्वगत "अधिकार सुख कितना मादक और सारहीन है ···" संक्षिप्त होने के कारण उतना नहीं खटकता। वाजरा का भी स्वगत बहुत लम्बा है। यदि इस स्वगत को नाटककार ने देवसेना और विजया की बातचीत के समान दो व्यक्तियों के वार्तालाप में करा दिया होता तो दर्शकों और पाठकों दोनों की दृष्टि से दृश्य अधिक मनोरंजक हो

जाता और अस्वाभाविकता भी न रहती। अजातशत्रु का नाटककार अभी अपनी कला में परिपक्व नहीं हुआ है। बाद के नाटकों में ये दोष कम मिलते हैं।

संगीत—नाटक की रचना कथोपकथन, संगीत और नृत्य पर ही निर्भर है। गीत रंगमंच पर मनोरंजन के सबसे सुन्दर साधन हैं। उनकी स्थानीय उपयुक्तता और भाव-प्रदर्शन नाटक के दृश्यों को और भी अधिक तीव्र बना देते हैं। प्रसाद जी के नाटकों में बहुत ही सुन्दर गीत भरे पड़े हैं। कल्पना, भावुकता और रसात्मकता में ये गीत शेक्सपियर के गीतों से किसी प्रकार कम नहीं हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि शेक्सपियर इसी पार्थिव संसार के दृश्यों को लेकर ही गीत-रचना करता है। भावावेश में वह कल्पना-जगत में विचरण करते हुए भी इस संसार को नहीं छोड़ता। उनमें एक प्रकार की ग्रामीणता है। परन्तु प्रसाद जी के गीत भौतिक जगत से प्रारम्भ होकर 'क्षितिज के उस पार' अनजान जगत में पहुँचते हैं। हमारी आत्मा प्रकृति और मानव के बोधगम्य भाव और सौन्दर्यानुभूति से धीरे-धीरे उठकर अनन्त शून्य में मिलती है। उदयन के तिरस्कार से दुखी पद्मा जब वीणा बजाने बैठती है और प्रयास करने पर भी जब उसमें से स्वर नहीं निकलते तो उसकी भावना करुण रूप लेकर एक मधुर गीत के रूप में निकल पड़ती है।

"मींड़ मत खिंचे बीन के तार।
निर्दय अंगुली! अरी ठहर जा,
पल भर अनुकम्पा से भर जा,
यह मूर्छित मूर्छना आह-सी,
निकलेगी निस्सार।"

गाते-गाते भाव-विभोर होकर पद्मावती की करुणता परदे के उस पार ही पहुँच जाती है—

"नृत्य करेगी नग्न विकलता
परदे के उस पार"

इस रहस्यवाद ने उनके गीतों को सार्वभौमिक रंगों में रंग दिया है—वे केवल मानवी-जगत् के करुण गीत नहीं हैं उनमें केवल प्रेमी के बिछुड़ने का दुःख नहीं है, उनमें है असीम के प्रति ससीम की पुकार—परमात्मा के लिए आत्मा की लालसा। परन्तु प्रसाद जी के सभी गीत रहस्यवादी नहीं हैं, उनके बहुत से गीत स्थूल जगत के प्रेम और सौन्दर्य से सम्बन्ध रखते हैं।

प्रसाद जी के गीत विषय के अनुसार मुख्यतः दो भागों में बाँटे जा सकते हैं—
(१) रहस्यवादी तथा रहस्यवाद की झलक लिये हुए, (२) अन्य—

१. पूर्ण रहस्यवादी गीत

(अ) आओ हिये में अहो! प्राण प्यारे।

—अजातशत्रु

(आ) भरा नैनों में मन में रूप,
किसी छलिया का अमल अनूप।

—स्कन्दगुप्त

(इ) बहुत छिपाया उफन पड़ा अब सम्हालने का समय नहीं है॥

× × ×

जली दीप-मालिका प्राण की हृदय-कुटी स्वच्छ हो गई है।
पलक पाँवड़े बिछा चुकी हूँ न दूसरा और भय नहीं है॥
चपल निकलकर कहाँ चले अब इसे कुचल दो मृदुल चरण से।
कि आह निकले दबे हृदय से भला कहो यह विजय नहीं है॥

२. रहस्यवाद की झलकमात्र लिये हुए—

(अ) सखी यह प्रेममयी रजनी।
(आ) सुधा सीकर से नहला दो।
(इ) ओ मेरे जीवन की स्मृति, ओ अन्तर के आतुर अनुराग।

३. अन्य

(अ) शृंगार वा प्रेम—

इन गीतों में प्रसाद जी संगीत, सौन्दर्य-वासना और रूप-चित्रण में कवि कौशल से भी आगे बढ़ गये हैं।

(१) अली ने क्यों अवहेला की।
(२) प्यारे निर्मोही होकर······
(३) हमारे जीवन का उल्लास।
(४) न छेड़ना उस अतीत स्मृति के।
खिंचे हुए बीन तार कोकिल॥
(५) घने प्रेम तरु तले।
(६) संसृति के वे सुन्दरतम क्षण यों ही भूल नहीं जाना,
वह उच्छृंखलता थी अपनी कहकर मन मत बहलाना।
(७) शून्य गगन में ढूंढ़ता जैसे चन्द्र निराश,
राका में रमणीय यह किसका मधुर प्रकाश।
(८) भावनिधि में लहरियाँ उठतीं कभी,
भूल कर भी स्मरण हो जाता कभी।
(९) अगरु धूम की श्याम लहरियाँ उलझी हों इन अलकों से
मादकता लाली के डोरे इधर फँसे हों पलकों से।

(१०) उमड़कर चली भिगोने आज,
तुम्हारा निश्चल अंचल छोर।
(११) आह वेदना मिली विदाई।
(१२) तुम कनक किरण के अन्तराल में,
लुक-छिपकर चलते हो क्यों ?
(१३) प्रथम यौवन मदिरा के मत्त, प्रेम करने की थी परवाह,
और किसको देना है हृदय चीह्नने की तनिक थी चाह।
(१४) आज इस यौवन के माधवी कुंज में,
कोकिल बोल रहा है।
(१५) कैसी कड़ी रूप की ज्वाला।
(१६) बज रही बंशी आठों याम की।
(१७) बिखरी किरण अलक व्याकुल हो,
निरस वदन पर चिन्ता लेख।

(आ) प्रकृति—
(१) चला है मन्थर गति से पवन रसीला नन्दन कानन का।
(२) अलका की किस विकल विरहिणी के पलकों का ले अवलंब।
(३) चल बसंत बाला अंचल से किस घातक सौरभ से मस्त।

(इ) प्रार्थना—
(१) दाता सुमति दीजिए।
(२) स्वजन दीखता न विश्व में अब।
(३) उतारोगे अब कब भूभार ?

(ई) नीति और व्यवहार—
(१) न धरो कहकर इसको अपना,
यह दो दिन का है सपना।
(२) स्वर्ग है नहीं दूसरा और।
(३) सब जीवन बीता जाता है धूप-छाँह के खेल सदृश।
(४) पालना बनें प्रलय की लहरें।

(उ) देशभक्ति—
(१) अरुण यह मधुमय देश हमारा,
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को, मिलता एक सहारा।
(२) हिमालय के आँगन में, उसे प्रथम किरणों का दे उपहार,
उषा ने हँस अभिनन्दन किया और पहनाया हीरक हार।

प्रसाद जी के गीतों की नाटकीय उपयोगिता में क्रमशः विकास होता गया है। प्रारम्भ की रचनाओं में गीत अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते हैं। वे स्थान, पात्र और समयानुकूल नहीं हैं। अधिकतर वे कवि की स्वतन्त्र रचनाएँ मालूम होती हैं जो उसने बाद में नाटक में रख दी हैं। यह दोष एक ओर तो गीतों में रहस्यवाद की झलक के कारण मालूम होता है, दूसरी ओर पात्रों के वार्तालाप को बलात् ही गीतों से सम्बन्धित करने के प्रयत्न में। दूसरे प्रकार के दोष का एक उदाहरण अजातशत्रु के आठवें दृश्य में है जहाँ श्यामा अपना परिचय देती है। यह परिचय-गीत एक स्वतन्त्र रचना-सी मालूम होती है जिसे रखने के लिए ही मालूम होता है शैलेन्द्र श्यामा से पूछता है, "तुम क्या हो सुन्दरी !" और श्यामा गीत गाकर परिचय देती है। एक और दूसरा गीत विरुद्धक का जलद के प्रति है। इसमें सन्देह नहीं है कि विरुद्धक का निर्मूल विश्वास कि मल्लिका उससे प्रेम करती है उसकी प्रारम्भिक भावाभिव्यक्ति के अनुकूल है।

"आर्द्र हृदय में करुण कल्पना के समान आकाश में कादम्बिनी घिरी आ रही है। पवन से उन्मत्त आलिङ्गन से तरुराजि सिहर उठती है। झुलसी हुई कामनाएँ मन में अंकुरित हो रही हैं। क्यों ? जलदागमन से ? आह !

"अलका की किस विकल विरहिणी की पलकों का ले अवलम्ब" केवल नील नीरद की ओर ही संकेत करती हैं।

'अजातशत्रु' के कुछ गीत बहुत सुन्दर हैं; वे परिस्थिति, पात्र और समय का ध्यान रखकर लिखे गये हैं। मागन्धी का "स्वजन दीखता न विश्व में अब न मन में समाय कोई" वाला गीत स्वतन्त्र होते हुए भी मागन्धी की आन्तरिक परिस्थिति के अनुकूल ही है। सचमुच में मागन्धी का कोई स्वजन नहीं रह गया था। वास्तविक परिस्थिति के परिवर्तन की इच्छा उसे इतनी विषमता में ले आई थी। मल्लिका के संसर्ग से उसे प्रथम बार ही करुणा का ज्ञान हुआ और उसी समय से वह अनन्त की ओर निहारने लगी थी।

"क्षणिक वेदना अनन्त सुख बस समझ लिया शून्य में सवेरा;
पवन पकड़कर पता बताने न लौट आया न जाय कोई।"

परन्तु 'अजातशत्रु' में सबसे सुन्दर गीत रानी पद्मावती का है। मानसिक वेदना से निकली हुई उच्छ्वास धीरे-धीरे इस संसार को अपनी वेदना से तरंगित कर 'परदे के उस पार' पहुँच जाता है। उदयन के तिरस्कार से दुखी होकर जब वह वीणा भी नहीं बजा पाती तो मानों उसकी असमर्थता ही व्यक्त होकर गीत के रूप में निकल पड़ती है "मीड़ मत खिंचे बीन की तार" असमर्थता का दुःख और भी तीव्र हो जाता है। पीड़ा की कसक और भी उत्कट हो जाती है।

"निर्दय अँगुली अरी ठहर जा,
पल भर अनुकम्पा से भर जा।
यह मूर्छित मूर्छना आह-सी,
निकलेगी निस्सार।"

पद्मा के भावों, उसकी मानसिक वेदना और असमर्थता को गीत द्वारा जितने सुन्दर रूप में व्यक्त किया गया है वह अद्वितीय है।

'चन्द्रगुप्त' और 'स्कन्दगुप्त' में गीतों की रचना अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई है। भावों की कोमलता और शब्दों की मधुरता जब ध्वनि की सुकुमारता, कल्पना की नवीनता और छन्दों की बहुरूपता से मिलती है तो गीत सर्वांग सुन्दर हो उठते हैं। चित्र, काव्य और संगीत मानो अपनी सत्ता भूलकर एक हो जाते हैं। उनकी नाटकीय उपयोगिता भी अधिक हो जाती है। नाटक की कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, वातावरण और साथ ही पात्रों की भावनाओं से वे ऐसे सम्बद्ध हो गये हैं कि प्रारम्भिक नाटकों के गीतों की भाँति वे स्वतन्त्र गीत नहीं कहे जा सकते, वे पूर्णरूप से नाटक के रूप में ही मिल गये हैं। कथावस्तु से सम्बन्ध रखनेवाला गीत हमें चन्द्रगुप्त नाटक में मिलता है। सुवासिनी, रूप, सौन्दर्य और संगीत की रानी ने, जब गाना प्रारम्भ किया—

"आज इस यौवन के माधवी कुंज में कोकिल बोल रहा।
मधु पीकर पागल हुआ करता प्रेम-प्रलाप,
शिथिल हुआ जाता हृदय जैसे अपने आप।
लाज के बन्धन खोल रहा!
बिछल रही है चाँदनी छवि मतवाली रात,
कहती कम्पित अधर से बहकाने की बात।
कौन मधु मदिरा घोल रहा?"

यौवन के इस उन्माद मे, इस असंयत रस-प्रवाह में कौन न बह जाता? यौवन की कामनाएँ अंकुरित होकर खिलना चाहती हैं, मतवाली चाँदनी रात अपने कम्पित अधरो से बहकाने की बातें कर रही है। लाज के बंधन आप-से-आप खुलते जा रहे हैं। वासना के इस उठते हुए स्पष्ट स्वर को सुनकर भला नन्द का हृदय कैसे स्थिर रह सकता था। उसने सुवासिनी का हाथ पकड़ लिया। राक्षस के आगमन से नन्द लज्जित हो जाता है, परन्तु यह घटना राक्षस के हृदय में नन्द के प्रति सन्देह पैदा कर देती है। यदि सुवासिनी इतना मादक गान न गाती तो सम्भव था यह घटना न होती। कथा-प्रवाह बढ़ाने में गीत का यह प्रयोग सुन्दर हुआ है।

चरित्र-चित्रण के लिए भी प्रसाद जी ने गीतों का प्रयोग किया है। कार्नीलिया का "अरुण यह मधुमय देश हमारा" उसके भारत-प्रेम का द्योतक है। परन्तु इससे भी

सुन्दर उदाहरण अलका और सिंहरण के प्रेम का है। वास्तव में इन दोनों का प्रेम "प्रथम यौवन मदिरा से मस्त, प्रेम करने की थी परवाह, और किसको देना है हृदय, चीन्हने की न तनिक थी चाह" के रूप में ही हुआ है। देवसेना के सारे गीत उसके चरित्र के एक अंग हैं। उसकी पल-पल परिवर्तित मनोभावों के चित्रों को व्यक्त करने में वे अधिक सफल हुए हैं। लड़कपन के खेल में मस्त देवसेना का यह गीत उसके यौवन-पदार्पण काल, उसके भाव और उसके स्वभाव के कितने अनुकूल हुआ है—

"भरा नैनों में मन में रूप,
किसी छलिया का अमल अनूप।"

छंद की द्रुतता में यौवन की स्फूर्ति और उल्लास भरा हुआ है दूसरे अवसर पर विजया का चक्रपालित की ओर आकर्षित होते देखकर प्रेम में पागल देवसेना अपनी कल्पना के सुखों को समीप जानकर गा उठती है—

"घने प्रेम तरु तले"

पर देवसेना की कल्पना विलीन हो गई। जीवन की प्रथम असफलता से जनित, हृदय की क्षुब्धता को व्यक्त करती हुई देवसेना कहती है—

"संगीत सभा की अन्तिम लहरदार और आश्रयहीन तान, धूपदान की एक क्षीण गन्ध धूम-रेखा, कुचले हुए फूलों का म्लान सौरभ और उत्सव के पीछे का अवसाद, इन सबों के प्रतिकृति मेरा क्षुद्र नारी जीवन ! मेरे प्रियगान ! अब क्यों गाऊँ और क्या सुनाऊँ ? इस बार-बार के गाये हुए गीतों में क्या आकर्षण है; क्या बल है जो खींचता है ? केवल सुनने को ही नहीं, प्रत्युत जिसके साथ अनन्त काल तक कंठ मिला रखने की इच्छा जग जाती है।"

परन्तु हृदय की भावना जब पूर्ण व्यक्त न हुई तो मानो देवसेना गाकर अपनी व्यथा बाहर निकाल देना चाहती है—

"शून्य गगन में ढूंढ़ता जैसे चन्द्र निराश,
राका में रमणीय यह किसका मधुर प्रकाश।
हृदय! तू खोजता किसको छिपा है कौन-सा मुझ में,
मचलता है बता क्या दूँ छिपा तुझसे न कुछ मुझ में।
रस-निधि में जीवन रहा, मिटी न फिर भी प्यास,
मुँह खोले मुक्तामयी सीपी स्वाती आस।
हृदय तू है बना जलनिधि लहरियाँ खेलतीं तुझ में,
मिला अब कौन-सा नवरत्न जो पहले न था मुझ में॥"

जीवन भर की असफलता उसकी निर्वेदना हो जाती है, उसका सम्पूर्ण जीवन ही करुण हो जाता है। अन्तिम दृश्य का गीत अन्य गीतों से कितना भिन्न है, भाषा का कारुण्य

और धीमी-धीमी स्वर-लहरी मानो वेदना का प्रतीक हो उठती है। जीवन की निराशा से जनित अभाव में भविष्य की आशा से विदा लेती हुई देवसेना कहती है—

"हृदय की कोमल कल्पना ? सो जा, जीवन में जिसकी सम्भावना नहीं, जिसे द्वार पर आये हुए लौटा दिया था उसके लिए पुकार मचाना क्या तेरे लिए कोई अच्छी बात है ? आज जीवन के भावी सुख, आशा और आकांक्षा सब से मैं विदा लेती हूँ—

आह वेदना मिली विदाई
मैंने भ्रमवश जीवन संचित,
मधुकरियों की भीख लुटाई।
छल छल थे संध्या के श्रमकण,
आँसू से गिरते थे प्रतिक्षण,
मेरी यात्रा पर लेती थी—
नीरवता अनन्त अँगड़ाई।
श्रमित स्वप्न की मधुमाया में,
गहन विपिन की तरु-छाया में,
पथिक उनींदी श्रुति में किसने,
यह विहाग की तान उठाई।
लगी सतृष्ण दीठ थी सबकी,
रही बचाये फिरती कबकी,
मेरी आशा आह ? बावली,
तू ने खो दी सकल कमाई।
चढ़ कर मेरे जीवन रथ पर,
प्रलय चल रहा अपने पथ पर,
मैंने निज दुर्बल पद-बल पर,
उससे हारी होड़ ? लगाई।
लौटा लो यह अपनी थाती,
मेरी करुणा हा-हा खाती,
विश्व ! न सँभलेगी यह मुझसे,
इसने मन की लाज गँवाई॥"

एक निराश हृदय के जीवन-पथ पर यह कैसी करुणा से भरी हुई यात्रा है।

प्रथम यौवन के मद से मस्त, कल्पना के पुजारी, कवि मातृगुप्त का यह गीत कितना स्वभावानुकूल हुआ है। यौवन की कामुकता गीत में निकल पड़ी है—

"संसृति के वे सुन्दरतम क्षण यों ही भूल नहीं जाना,
वह उच्छृङ्खलता थी अपनी कह कर मन मत बहलाना।"
.........आदि आदि

परिस्थितियों के घात-प्रतिघात ने ऐन्द्रिय-प्रेम को देश-प्रेम में मोड़ दिया। यौवन की उच्छृङ्खलता देश के कर्तव्य में परिवर्तित हो गई। प्रथम अंक का कामुक कवि अपने वीर गीतों से लोगों के रक्त को खौला देता है—

"वही है रक्त, वही है देश, वही साहस है वैसा ज्ञान,
वही है शान्ति, वही है शक्ति, वही हम दिव्य आर्य सन्तान।
जियें तो सदा इसी के लिए, यही अभिमान रहे यह हर्ष,
निछावर कर दें हम सर्वस्व, हमारा प्यारा भारतवर्ष॥"

छन्द की द्रुतता और उसी की पुनरुक्ति हृदय में एक हलचल मचा देती है। यौवन की मादकता से निकला हुआ वासना का सुकुमार गीत कर्तव्य-पथ पर दृढ़ वीर का युद्ध-गान बन गया।

गीत की दृष्टि से 'चन्द्रगुप्त' और 'स्कन्दगुप्त' एक अमूल्य कोष है। लज्जा के भरे हुए यौवन का कितना सजीव चित्र चन्द्रगुप्त में मिलता है—

"तुम कनक किरन के अन्तराल में,
लुक-छिप कर चलते हो क्यों?
नत मस्तक गर्व वहन करते,
यौवन के घन रस कन ढरते।
हे लाज-भरे सौन्दर्य!
बता दो मौन बने रहते हो क्यों?
अधरों के मधुर कगारों में,
कल कल की मृदु गुञ्जारों में।
मधु सरिता-सी यह हँसी,
तरल अपनी पीते रहते हो क्यों?"

उद्वेलित यौवन के आग्रहपूर्ण चित्रों में "आज इस यौवन के माधवी कुंज में कोकिल बोल रहा" वाला गीत सबसे सुन्दर है। परन्तु यहाँ पर हम इन गीतों को केवल नाटकीय पार्श्वभूमि में ही देखना चाहते हैं, स्वतन्त्र गीत के रूप में नहीं। अस्तु।

भावना और चरित्र-चित्रण में विजया का "अगरु धूम की श्याम लहरियाँ" गीत भी सुन्दर बना है। यौवन-विलास की आकांक्षा और उसके अपरिमित काल्पनिक सुख की ओर संकेत करती हुई विजया कहती है—

"प्रियतम, यह भरा हुआ यौवन और प्रेमी हृदय विलास के उपकरणों के

साथ प्रस्तुत है। उन्मुक्त आकाश के नील नीरद मण्डल में दो बिजलियों के समान क्रीड़ा करते-करते हम लोग तिरोहित हो जावें और उस क्रीड़ा में तीव्र आलोक हो, जो हम लोगों के विलीन हो जाने पर भी जगत् की आँखों को थोड़े काल के लिए बंद कर रक्खे। स्वर्ग की कल्पित अप्सराएँ और इस लोक के अनन्त पुण्य के भागी जीव भी जिस सुख को देखकर आश्चर्य-चकित हों वही मादक सुख, घोर आनन्द, विराट विनोद, हम लोगों का आलिंगन करके धन्य हो जाय।"

यौवन के उस मादक सुख का चित्रण विजया गीत में करने लगती है—

"अगरु धूम की श्याम लहरियाँ उलझी हों इन अलकों से,
मादकता-लाली के डोरे इधर फँसे हों पलकों से।
व्याकुल बिजली-सी तुम मचलो आर्द्र हृदय घनमाला से,
आँसू वरुनी से उलझे हों, अधर प्रेम के प्याला से॥
× × ×
उखड़ी साँसें उलझ रही हों धड़कन से कुछ परिमित हो,
अनुनय उलझ रहा हो तीखे तिरस्कार से लांछित हो।
यह दुर्बलता दीनता रहे, उलझी फिर चाहे ठुकराओ,
निर्दयता के इन चरणों से, जिसमें तुम भी सुख पाओ॥"

नेपथ्य में गाये हुए गीतों का उपयोग कार्य की भूमिका बनाने में हुआ है।

अजातशत्रु के अन्तिम दृश्य में सायंकाल का दृश्य और ठंडी-ठंडी हवा का चलना नेपथ्य में गाये हुए गीत—

"चल बसन्त बाला अंचल से, किस घातक सौरभ में मस्त,
आती मलयानिल की लहरें, जब दिनकर होता है अस्त।"

द्वारा किया गया है। उसी गीत के द्वारा निर्मित पृष्ठभूमि पर बिम्बसार कहते हैं— "संध्या का समीर ऐसा चल रहा है जैसे दिन भर का तपा हुआ उद्विग्न संसार एक शीतल निश्वास छोड़कर अपना प्राण धारण कर रहा है ···

रामा को आश्वासन देती हुई देवकी कहती है—

"न घबड़ा रामा! एक पिशाच नहीं नरक के असंख्य दुर्दान्त प्रेत और क्रूर पिशाचों का त्रास और उनकी ज्वाला दयामय की कृपावृष्टि के एक बिन्दु से शान्त होती है।" इसके बाद नेपथ्य में यह गीत गाया जाता है—

"पालना बनें प्रलय की लहरें···
·····························
प्रभु का हो विश्वास सत्य तो
सुख का केतन फहरे।"

गीत के पश्चात् की घटनाओं को इसी गीत से सहारा मिला हुआ मालूम होता है।

"सब जीवन बीता जाता है धूप छाँह के खेल सदृश।" गीत भी देवसेना के कथन से समानता रखता हुआ जीवन की क्षण-भंगुरता का ही चित्रण करता है। चन्द्रगुप्त में "ऐसी कड़ी रूप की ज्वाला" नेपथ्य से गाया हुआ गीत भी राक्षस के भावानुरूप वातावरण उपस्थित करने के लिए रखा गया है।

नेपथ्य में गाये हुए गीतों के अलावा रंगमंच के गीत भी वातावरण प्रयुक्त करने में सहायक हुए हैं। रात्रि का वातावरण सुवासिनी ने अपने "सखे, यह प्रेममयी रजनी" वाले गीत से उपस्थित किया है।

रस-प्रसार की दृष्टि से वा दृश्य के अन्त को तीव्र बनाने के लिए जो गीत गाये हैं उनका नाटकीय महत्त्व अधिक है, उनके द्वारा दृश्य की घटनाओं का हृदय पर पड़ा हुआ प्रभाव तीव्रतर हो, चिरस्थायी हो जाता है। ऐसे गीतों में देवसेना का "आह वेदना मिली विदाई" गीत बहुत ही सुन्दर है। चन्द्रगुप्त नाटक में "ओ मेरे जीवन की स्मृति, ओ अन्तर के आतुर अनुराग !" मालविका के जीवन-बलिदान का महत्त्व बढ़ा देता है।

४

प्रसाद की उपन्यास-कला

[विनोदशंकर व्यास]

अंग्रेजी-कोष के अनुसार उपन्यास का अर्थ है—वास्तविक जीवन की कहानी अथवा आश्चर्यमय कहानी।

आरम्भ में साहसिक क्रियाओं का वर्णन ही कथा का मुख्य उद्देश्य माना जाता था। ऐसे उपन्यास में घटनाओं का क्रम बनाकर नायक आपत्ति और उलझनों के साथ अपने कार्य में प्रविष्ट होता था। कुछ अन्य चरित्रों को भी उपस्थित कर के नायक के कार्य में सहायता पहुँचाई जाती थी। ऐसे उपन्यासों में दुष्ट और नीच प्रवृति के चरित्रों की मृत्यु और अन्त मे नायक की विजय सफलतापूर्वक दिखलाई जाती थी। यह उन उपन्यासों का प्रधान उद्देश्य था। विदेशों में उपन्यास की यही प्रणाली प्रचलित थी, किन्तु भारतीय कथा-साहित्य पौराणिक और धार्मिक डोर में बँधा हुआ था। आगे चलकर अन्य देशों की भाँति उसमें भी परिवर्तन की लहर उठने लगी। यह एक निश्चित सत्य है कि संसार के साहित्य में फ्रेंच-साहित्य ही अगुआ है। जिस तरह साहित्य व संगीत में उन्होंने जीवन दिया है, वैसे ही १७वीं शताब्दी के बाद उपन्यासों का क्रम भी बदला। साहसिक क्रिया ने आत्मा का रूप ग्रहण किया। मनुष्य के सुख-दुःख की पहेली, सामाजिक जटिलता और जीवन के भिन्न-भिन्न अंग ही उपन्यासों के विषय बने। १६वीं शताब्दी में फ्रेंच-साहित्य में ह्यूगो, बालजक, फ्लोबर, मोपासाँ इत्यादि महारथियों ने उपन्यास-कला को उच्च शिखर पर पहुँचा दिया था। संसार के साहित्य पर उनका इतना प्रभाव पड़ा कि अन्य देशों के उपन्यासों का क्रम भी बदला। यूरोप का उपन्यास-साहित्य उनका ऋणी है, इसमें कोई संदेह नहीं।

इधर २०वीं शताब्दी में हमारे हिन्दी-कथा-साहित्य के भाग्य ने भी पलटा खाया। अब लखलखा सुँघाकर बेहोश करने और कमरबन्द फेंककर ऊपर चढ़नेवाले, गली और सड़क पर भटकने वाले पात्रों के लिए विस्तृत क्षेत्र दिखलाई पड़ा, और हमें प्रेमचन्द जी के इस मत से सहमत होकर आगे बढ़ना पड़ा—

'हर्ष और शोक, प्रेम और अनुराग, ईर्षा और द्वेष मनुष्य-मात्र में व्यापक हैं। हमें केवल हृदय के उन तारों पर चोट लगानी चाहिए, जिनकी झंकार से पाठकों के हृदय पर भी वैसा ही प्रभाव हो। सफल उपन्यासकार का सब से बड़ा लक्षण यह है कि वह अपने पाठकों के हृदय में उन्हीं भावों को जाग्रत कर दे, जो उसके पात्रों में हो।'

आधुनिक चरित्र-प्रधान हिन्दी-उपन्यासों का ढाँचा खड़ा करने का एकमात्र श्रेय

श्री प्रेमचन्द जी को ही है। जो उपन्यास साहसिक क्रिया से आरम्भ होता है, उसमें कथानक के आधार पर ही पात्रों का चरित्र बनाया जाता है, किन्तु जो केवल चरित्रों के बल पर ही चलता है, उस में पात्रों के चरित्र के अनुसार ही कथानक बनता है। चरित्र-प्रधान उपन्यासों में कथानक को इसलिए सरल रखा जाता है और उन पर कुछ विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। प्रेमचन्द जी ने जासूसी, तिलिस्मी उपन्यासों के युग में चरित्र-प्रधान उपन्यासों को उपस्थित किया; अतएव वह आज भी माननीय हैं और आनेवाले युग में उनका ऐतिहासिक महत्त्व रहेगा, इसमें भी कोई संदेह नहीं। 'सेवासदन' में भी साधारण कथानक के आधार पर पात्रों के चरित्रों का निर्माण हुआ है।

चरित्र-प्रधान उपन्यासों में लेखक अपने सिद्धान्त के द्वारा उन चरित्रों को चुनकर एकत्रित करता है, जिनके द्वारा वह अपना संदेश पाठकों के मस्तिष्क में प्रविष्ट करता है। अतएव भिन्न-भिन्न तर्क और सिद्धान्त के कारण सब चरित्र-प्रधान उपन्यासों का क्रम एक-सा नहीं रहता। कुछ लेखक साहित्य और समाज में नग्न चित्रण और कुचरित्रों के साथ सहानुभूति न रखने के कारण आदर्शवादी कहलाये हैं और अन्य नग्न वर्णन द्वारा, जीवन को सत्य के सम्मुख रखकर, स्पष्ट चित्रण के कारण यथार्थवादी माने जाते हैं।

साहित्य का क्रमशः विकास होने पर आदर्शवाद और यथार्थवाद का झगड़ा भी फ्रांस के लेखकों में सब से पहले उठा। एक समूह आदर्शवाद का पक्षपाती बना, दूसरा दल यथार्थवाद के दृष्टिकोण का। यथार्थवाद का समर्थन करने वालों के मुखिया गुस्ताव फ्लॉबर थे। फ्लॉबर मोपासाँ के गुरु और प्रकांड विद्वान् थे। अपनी योग्यता और अध्ययन के कारण अपने जीवन में ही उन्हें फ्रेंच यथार्थवादी साहित्य का कर्णधार माना जाता था। 'मादाम बोवरी' इस श्रेणी का पहला उपन्यास है।

१९वीं शताब्दी का आदर्शवाद और यथार्थवाद का यह झगड़ा आज तक किसी देश में नहीं सुलझ सका। अतएव इस सम्बन्ध में फ्लॉबर और प्रसिद्ध उपन्यास-लेखिका जॉर्ज सैंड में परस्पर जो पत्र-व्यवहार हुआ, उसका अंश यहाँ उपस्थित कर के हम इस विषय को स्पष्ट करना चाहते हैं। यह अंश यथार्थवाद के प्रत्येक अङ्ग पर प्रकाश नहीं डालता, लेकिन एक ओर फ्लॉबर के यथार्थवादी मत का समर्थन है और दूसरी ओर जार्ज सैंड के आदर्शवाद का तर्क मनोरंजक होते हुए भी उपयोगी और प्रामाणिक है।

"मैं अपने हृदय की कोई बात लिखने में अजेय अनिच्छा का अनुभव करता हूँ। मैं तो यहाँ तक पाता हूँ कि किसी उपन्यासकार को किसी विषय पर अपना विचार प्रकट करने का अधिकार ही नहीं है। क्या ईश्वर ने अपना विचार प्रकट किया है?"—फ्लॉबर

"क्या लेखों में हृदय की बात कोई न अंकित करे? किन्तु मुझे तो ऐसा आभास होता है कि इसे छोड़कर और कुछ भी नहीं अंकित कर सकता। क्या कोई अपने हृदय को अपने मस्तिष्क से पृथक् कर सकता है? क्या कोई मनुष्य अपने को इस तरह

से विभाजित कर सकता है ? अन्त में, मुझे तो किसी का अपने कार्य में तन्मय न हो जाना ऐसा असंभव-सा मालूम देता है, जैसा कि आँख के अतिरिक्त किसी से विचार करना ।"
—जॉर्ज सेंड

"हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं। मैं सोचता हूँ कि वह महान् कला अवश्य ही वैज्ञानिक और अव्यक्तिगत होनी चाहिए। आपको मस्तिष्क के बल पर स्वयं अपने को पात्रों में परिवर्तन करना चाहिए, न कि उनको ही अपनी कक्षा में खींच लावें।"
—फ्लॉबर

"लेकिन चित्रित पात्रों के विषय में अपनी सम्मति छिपाये रहना और परिणाम-स्वरूप पाठक का उन विचारों से अपरिचित रखना, जो उसे उनके विषय में स्थिर करने चाहिएँ, उन्हें न समझने देने की इच्छा करना है; और उसी क्षण पाठक आपको छोड़ देता है। पाठक की सर्वोपरि इच्छा हमारे विचारों में प्रवेश करने की है और इसी का आप तिरस्कारपूर्वक निषेध करते हैं।"
—जॉर्ज सेंड

"जिन पात्रों का परिचय देता हूँ, उनके विषय में अपनी सम्मति प्रकट करने का अपना अधिकार ही नहीं समझता। यदि पाठक एक पुस्तक की शिक्षा को नहीं निकाल पाता तो वह या तो स्वयं अल्पबुद्धि है अथवा पुस्तक यथार्थ से परे है; क्योंकि यदि कोई वस्तु किसी क्षण सत्य है तो वह अच्छी है। अश्लील पुस्तकें तभी बुरी हैं, जब उनमें सत्यता नहीं है।"
—फ्लॉबर

फ्लॉबर के तर्क की व्यापकता इसी सीमा तक है कि आज-कल लेखक के व्यक्तित्व का, आवश्यकता से अधिक, स्पष्टीकरण बुरी दृष्टि से देखा जाता है। तुले हुए वाक्य और उचित शब्दों की उसकी उत्कट इच्छा ने उसके यथार्थ अनुकरण के तुल्य सौभाग्य प्राप्त न किया। उसने यह अनुभव किया कि पूर्ण प्रामाणिकता के विचार से यह असम्भव है; और जब सौन्दर्य तथा यथार्थता का विरोध हुआ तो कहाँ त्याग आवश्यक है, इसके विषय में उसका मस्तिष्क साफ़ था। यह वह मनुष्य था, जिसने 'सलैम्बो' के लिए समस्त पुस्तकालयों को छान डाला था, 'बुनवार्ड एट पे कुचेट' के लिए १,५०० पुस्तकों से परामर्श लिया था और जो धर्म-विरोधी की तरह लिख सकता था कि "मैं विशिष्ट वर्णन, स्थानीय ज्ञान, संक्षेप में ऐतिहासिक तथा वस्तुओं के सत्य परिज्ञान को बहुत ही अपरिज्ञान समझता हूँ। मैं सर्वोपरि सौन्दर्य का अनुसरण कर रहा हूँ, जिससे कि मेरे मित्र साधारण ही अनुरागी हैं।'

विश्व की समस्त उन्नत भाषाओं के साहित्य में फ्लॉबर और जॉर्ज सेंड जैसा मत रखने वाले लेखक हुए हैं और होंगे। अतएव इन्हीं भावों को यदि हम अपने हिन्दी-साहित्य में टटोलें तो दिखलाई पड़ेगा—

प्रेमचन्द जी लिखते हैं—"इस विषय में अभी तक मतभेद है कि उपन्यासकार को

मानवीय दुर्बलताओं और कुवासनाओं, उसकी कमजोरियों और अपकीर्तियों का विशद वर्णन वांछनीय है या नहीं, मगर इसमें कोई संदेह नहीं कि जो लेखक अपने को इन्हीं विषयों में बाँध लेता है, वह कभी उस कलाविद् की महत्ता को नहीं पा सकता, जीवन-संग्राम में जो एक मनुष्य की आन्तरिक दशा सत् और असत् के संघर्ष और अन्त में सत्य की विजय को धार्मिक ढंग से दर्शाता है। यथार्थवाद का यह आशय नहीं है कि हम अपनी दृष्टि को अन्धकार की ओर ही केन्द्रित कर दें। अन्धकार में मनुष्य को अन्धकार के सिवा सूझ ही क्या सकता है? बेशक चुटकियाँ लेना, यहाँ तक कि नश्तर लगाना भी कभी-कभी आवश्यक होता है, लेकिन दैहिक व्यथा चाहे नश्तर से दूर हो जाय, पर मानसिक व्यथा सहानुभूति और उदारता से ही शान्त हो सकती है। किसी को नीच समझकर हम उसे ऊँचा नहीं बना सकते; बल्कि उसे और नीचे गिरा देंगे। कायर यह कहने से बहादुर न हो जायगा कि तुम कायर हो। हमें यह दिखलाना पड़ेगा कि उसमें साहस, बल और धैर्य सब कुछ है, केवल उसे जगाने की जरूरत है। साहित्य का सम्बन्ध सत्य और सुन्दर से है, यह हमें न भूलना चाहिए।"[1]

दूसरी ओर यथार्थवाद के पक्ष की ओर से कविवर निराला जी का यह वक्तव्य भी प्रेमचन्द जी द्वारा संपादित पत्र में ही प्रकाशित हुआ था। यह भी विचारणीय है—

"पूर्व आदर्श को महत्ता तक न वर्तमान समाज ही पहुँच सका है और न उसके चित्रित करने वाले चित्रकार। स्वप्न की अस्पष्ट रेखा की तरह, उसके खींचे हुए प्राचीन बड़े आदर्शों के चित्र, वर्तमान जाग्रति के प्रकाश में छाया मूर्तियों में ही रह गये हैं, जिनके साहित्यिक अस्तित्व अनस्तित्व ही प्रबल हैं। जब तक किसी बहते हुए प्रवाह के प्रतिकूल किसी सत्य की बुनियाद पर ठहरकर कोई उपन्यासकार नई-नई रचनाओं के चित्र नहीं दिखलाता, तब तक न तो उसे साहित्यिक शक्ति ही प्राप्त होती है और न समाज को नवीन प्रवहमान जीवन। तभी रचना-विशेष शक्ति तथा सौन्दर्य से पुष्ट होकर नवीनता का आवाहन करती है, कला भी साहित्य को नवीन ऐश्वर्य से अलंकृत करती है, कलाकार कला से अधिक महत्त्व प्राप्त करता है। अथवा वह कला का अधिकारी समझा जाता है। न कि किसी प्रवाह के साथ बहने वाला केवल एक अनुसरणकारी।"[2]

प्रेमचन्द जी हिन्दी के सब से बड़े औपन्यासिक हैं, पर पूर्व-कथन के अनुसार युग को नये साँचे में ढाल देने वाली रचनाएँ उन्होंने नहीं दीं, युग के अनुकूल रचनाएँ की हैं। प्रायः आदर्श को नहीं छोड़ा, यद्यपि उनके पात्र कभी-कभी प्राकृतिक सत्य की पुष्टि अपनी उच्छृङ्खलताओं के भीतर से कर जाते हैं, तथापि रचना में उनके आदर्शवाद

---

१. उपन्यास का विषय; 'हंस', मार्च १९३० ई०

२. हिन्दी-साहित्य में उपन्यास; 'हंस', जुलाई १९३० ई०।

की ही विजय रहती है। उनके सितार में वही बोल विशेष रूप से स्पष्ट सुन पड़ता है।"[1]

अपने पूर्व लेख के प्रकाशित होने के दो वर्ष बाद प्रेमचन्द जी फिर अपने आदर्श-मत पर टिप्पणी करते हैं—

"साधारणतया युवा अवस्था में हमारी निगाह पहले विध्वंस करने की ओर उठ जाती है। हम सुधार करने की धुन में अंधाधुन्ध शर चलाना शुरू करते हैं। खुदाई फौजदार बन जाते हैं। तुरन्त आँख काले धब्बों की ओर पहुँच जाती है। यथार्थवाद के प्रवाह में बहने लगते हैं। बुराइयों के नग्न चित्र खींचने में कला की कृतकार्यता समझते हैं।".... ..

"साहित्यकार को आदर्शवादी होना चाहिए। भावों का परिमार्जन भी उतना ही वांछनीय है। जब तक हमारे साहित्यसेवी इस आदर्श तक न पहुँचेंगे, तब तक हमारे साहित्य से मंगल की आशा नहीं की जा सकती। अमर साहित्य में निर्माता विलासी प्रकृति के मनुष्य नहीं थे।"

प्रेमचन्द जी का एक उद्धरण और देकर हम अपने लक्ष्य पर आना चाहते हैं—

"नवीन साहित्य अब आदर्श चरित्रों की कल्पना नहीं करता। उसके चरित्र अब उस श्रेणी से लिये जाते हैं, जिन्हें कोई छूना भी पसन्द न करेगा। मैक्सिम गोर्की, अनातोले फ्रांस, रोम्याँ रोलाँ, एच० जी० वेल्स आदि यूरोप के, स्वर्गीय रतननाथ सरशार, शरत्चन्द्र आदि भारत के, ये सभी हमारे आनन्द के क्षेत्र को फैला रहे हैं, उसे मानसरोवर और कैलाश की चोटियों से उतारकर हमारे गली-कूचों में खड़ा कर रहे हैं। वे किसी शराबी को, किसी जुआरी को, किसी विषयी को देखकर घृणा से मुँह नहीं फेर लेते। उनकी मानवता पतितों में वे खूबियाँ, उससे कहीं बड़ी मात्रा में देखती है, जो धर्मध्वजा-धारियों में पवित्रता के पुजारियों में नहीं मिलतीं। बुरे आदमी को भला समझकर उससे प्रेम और आदर का व्यवहार करके उसको अच्छा बना देने की जितनी संभावना है, उतनी उससे घृणा करके, उसका बहिष्कार करके नहीं। मनुष्य में जो कुछ सुन्दर है, विशाल है, आदरणीय है, आनन्दप्रद है, साहित्य उसकी मूर्ति है। उसकी गोद में उसे आश्रय मिलना चाहिए, जो निराश्रय है, जो पतित है, जो अनादृत है।"[2]

पाश्चात्य देशों के यथार्थवादी लेखकों का प्रभाव प्रेमचन्द जी के ऊपर अवश्य पड़ा है। इसीलिए उनका आदर्शवाद कुछ ढीला पड़ गया है। वह पतित और बुरे आदमियों के साथ सहानुभूति का रास्ता खोलते हैं। किन्तु आदर्शवाद का पक्षपाती बुरे

---

१. जीवन में साहित्य का स्थान; 'हंस', अप्रैल १९३२ ई०।

२. साहित्य की प्रगति; 'हंस', मार्च १९३३ ई०।

चरित्रों के प्रति सहानुभूति रखते हुए उनका अन्त कैसे बुरा और घृणित करेगा। आदर्शवाद में बुरा तो दूध की मक्खी की तरह अलग होता है। बुरे चरित्रों की सृष्टि भी की जाती है कि अच्छे चरित्रों के विकास में सहायता मिले; रावण और राम की तरह। अतएव प्रेमचन्द जी का यह सिद्धान्त कहाँ तक टिक सकता है, यह नहीं कहा जा सकता।

ऊपर के उद्धृत अंशों से यह प्रकट होता है कि प्रेमचन्द जी न तो पूर्ण आदर्शवादी ही ठहरते हैं और न यथार्थवादी ही। इसका पहला कारण यह है कि भारतीय-हिन्दू-समाज में उत्पन्न लेखक कैसे अपने आदर्शवाद के अस्तित्व को समूल नष्ट कर दे? जिस वायुमंडल में अथवा वातावरण में जो उत्पन्न होता है, उसी के अनुसार उसकी प्रतिभा का विकास होता है। समाज में चाहे जितनी भ्रष्टता हो, लेकिन उसका नग्न और स्पष्ट चित्रण साहित्य पर आघात पहुँचाता है, यह सभी विचारशील व्यक्तियों की राय है। यही कारण है कि भारतीय लेखक शरत्, प्रेमचन्द दोनों ही न तो यथार्थवादी लेखक माने जा सकते हैं और न पूर्ण आदर्शवादी ही। विदेशी चूल्हे पर भारतीयता की देग चढ़ाकर यह आदर्शवाद और यथार्थवाद की जो खिचड़ी पकाई गई है, वह सचमुच जनता को खूब पसन्द आई है, और सफल उपन्यासों के लिए जैसे यही एक मार्ग खुल गया है।

फ्रांस के बालजक या फ्लॉबर जैसे महान् लेखकों की, जिन्हें हम यथार्थवादी की श्रेणी में मानते हैं, रचनाओं में कुछ अंशों में चित्र दिखलाई पड़ते हैं। उसी तरह भावुक रोमांटिक लेखक ह्यूगो में भी यथार्थवादी चित्रण की पूर्ण क्षमता प्रकट होती है। अतएव यह भी नहीं कहा जा सकता कि खिचड़ी-प्रथा के प्रेमी विदेशी उपन्यास लेखक नहीं थे। प्रेमचन्द जी के शब्दों में आदर्शवाद की पर्याप्त परिभाषा हो चुकी है। अब प्रसाद जी के मतानुसार यथार्थवाद की व्याख्या हम दे रहे हैं—

"यथार्थवाद की विशेषताओं में प्रधान है लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात। उसमें स्वभावतः दुःख की प्रधानता और वेदना की अनुभूति आवश्यक है। लघुता से मेरा तात्पर्य है साहित्य के माने हुए सिद्धान्त के अनुसार महत्ता के काल्पनिक चित्रण से अतिरिक्त व्यक्तिगत जीवन के दुःख और अभावों का वास्तविक उल्लेख। ···हम यथार्थवादिता में अभाव, पतन और वेदना के अंश प्रचुरता से होते हैं।

"आरम्भ में जिस आधार पर साहित्यिक न्याय की स्थापना होती है, जिसमें राम की तरह आचरण करने के लिए कहा जाता है, रावण की तरह नहीं—उसमें रावण की पराजय निश्चित है। साहित्य में ऐसे प्रतिद्वन्द्वी पात्र का पतन आदर्शवाद के स्तम्भ में किया जाता है, परन्तु यथार्थवादियों के यहाँ कदाचित् यह भी माना जाता है कि मनुष्य में दुर्बलताएँ होती ही हैं, और वास्तविक चित्रों में पतन का भी उल्लेख आवश्यक है।

फिर पतन के मुख्य कारण क्षुद्रता और निन्दनीयता भी, जो सामाजिक रूढ़ियों द्वारा निर्धारित रहती हैं, अपनी सत्ता बनाकर दूसरे रूप में अवतरित होती हैं।"

"वेदना से प्रेरित होकर जन-साधारण के अभाव और उनकी वास्तविक स्थिति तक पहुँचने का प्रयत्न यथार्थवादी साहित्य करता है। इस दशा में प्रायः सिद्धान्त बन जाता है कि हमारे दुःखों और कष्टों के कारण प्रचलित नियम और प्राचीन सामाजिक रूढ़ियाँ हैं। फिर तो अपराधों के मनोवैज्ञानिक विवेचन के द्वारा यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न होता है कि ये सब समाज के कृत्रिम पाप हैं। अपराधियों के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करके सामाजिक परिवर्तन के सुधार का आरम्भ साहित्य में होने लगता है।....."

"यथार्थवाद क्षुद्रों का ही नहीं, अपितु महानों का भी है। वस्तुतः यथार्थवाद का मूल भाव है—वेदना। जब सामूहिक चेतना छिन्न भिन्न होकर पीड़ित होने लगती हैं, तब वेदना की विवृति आवश्यक हो जाती है। कुछ लोग कहते हैं कि साहित्यकार को आदर्शवादी होना चाहिए और सिद्धान्त से ही आदर्शवादी धार्मिक प्रवचनकर्ता बन जाता है। वह समाज को कैसा होना चाहिए, यही आदेश करता है, और यथार्थवादी सिद्धान्त से ही इतिहासकार से अधिक कुछ नहीं ठहरता; क्योंकि यथार्थवाद इतिहास की सम्पत्ति है। वह चित्रित करता है कि समाज कैसा है या था। किन्तु साहित्यकार न तो इतिहास-कर्ता है और न धर्मशास्त्र-प्रणेता। इन दोनों के कर्तव्य स्वतन्त्र हैं। साहित्य इन दोनों की कमी को पूरा करने का काम करता है। साहित्य समाज की वास्तविक स्थिति क्या है, इसको दिखाते हुए भी उसमें आदर्शवाद का सामंजस्य स्थिर करता है। दुःखदग्ध जगत् और आनन्दपूर्ण स्वर्ग का एकीकरण साहित्य है। इसलिए असत्य अघटित घटना पर कल्पना की वाणी महत्त्वपूर्ण स्थान लेती है, जो निजी सौन्दर्य के कारण सत्य-पद पर प्रतिष्ठित होती है। उसमें विश्व-मंगल की भावना ओत-प्रोत रहती है।"

प्रसाद जी की इस व्याख्या में कितनी गहराई है, यह अध्ययनशील लेखकों से छिपी न रहेगी। प्रेमचन्द जी जहाँ नश्तर लगाना चाहते हैं, वहाँ घाव अखण्ड रहता है। प्रसाद जी उसी बात को कितने अच्छे ढंग से कहते हैं—"साहित्यकार न तो इतिहासकर्ता है और न धर्मशास्त्र-प्रणेता। साहित्य इन दोनों की कमी को पूरा करने का काम करता है।"

प्रसाद जी कवि होने के कारण, प्रेमचन्द और शरत् की भाँति आदर्शवाद और यथार्थवाद के मध्यवर्गीय नहीं माने जाते। रहस्यवादी होने के कारण उनका सिद्धान्त ही अलग है, अतएव इसे और स्पष्ट करने के लिए यहाँ मैं विद्वान् आलोचक पं० नन्ददुलारे वाजपेयी का मत दे रहा हूँ—

प्रसाद जी स्पष्ट ही इन दोनों वादों का विरोध करते हैं उनका कथन है कि "सांस्कृतिक केन्द्रों में जिस विकास का आभास दिखाई पड़ता है वह महत्त्व और लघुता

के दोनों सीमान्तों के बीच की वस्तु है।" यहाँ महत्त्व और लघुत्व के दोनों सीमान्तों से प्रसादजी का तात्पर्य ऐतिहासिक आदर्शवाद और यथार्थवाद के सीमान्तों से है। दार्शनिक सीमान्तों की ओर यहाँ उनकी दृष्टि नहीं है।

इस बीच की वस्तु या मध्यस्थता के निर्देश से यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि *प्रसाद जी सिद्धान्ततः मध्यवर्गीय थे। प्रसाद जी आदर्शवाद और यथार्थवाद की* बौद्धिक दार्शनिकता के विरोधी थे। उनके रहस्यवाद या शक्ति-सिद्धान्त में दोनों की मूल दुःखात्मकता का भी निषेध है।

आदर्शवाद और यथार्थवाद के मिश्रण का यह प्रयोग उपयुक्त रीति से समझा जाने पर लाभप्रद और कल्याणकारी होगा, यह संसार के सभी प्रतिष्ठित आलोचकों का मत है। यह विषय घासलेटी तर्क में सरल है, पर समझने में उतना ही जटिल है। हमारे महान् कलाकार प्रेमचन्द जी भी कभी-कभी भटकने लगते हैं—"*सत्य क्या है और असत्य क्या है; इसका निर्णय हम आज तक नहीं कर सके। एक के लिए जो सत्य है, वह दूसरे के लिए असत्य।*"

यथार्थवाद की भूमि पर फ्रांस ने एक तीसरे वाद का आविष्कार किया; जो प्रकृतिवाद के नाम से विख्यात हुआ। एमिल जोला इसके आविष्कारक थे। जोला का यह प्रयोग वर्तमान योरोपीय और अमेरिकन उपन्यासकारों में कितने अंशों में प्रविष्ट हो गया है, यह *हमारे अध्ययन की सामग्री है। अभी हमें स्मरण रखना चाहिए कि यहाँ केवल प्रसाद* के उपन्यासों का विवरण देना है। लेकिन इसके पहले हम जोला का मत उसके आविष्कार की प्रणाली देखने के लिए अवश्य उत्सुक होंगे।

जोला का मत था—"मैं मनुष्य की प्रकृति का अध्ययन करना चाहता हूँ, न कि चरित्रों का।"

जोला फ्रेंच-साहित्य में नवीनता की आँधी का अग्रदूत बनकर आया था। लेकिन उस युग के फ्रेंच-उपन्यास लेखक लिमैत्रे ने जोला के लिए लिखा है—

"कठोर पशुबुद्धि, तुच्छ लिप्सा, मनुष्य-प्रकृति के निकृष्ट और घृणित अंगों के सांसारिक प्रेम का निराश कवि।"

अब जोला के सिद्धान्त पर दृष्टिपात कीजिए।

वह लिखता है—"जब प्रमाणित है कि मानवशरीर एक यन्त्र है, जिसके चक्र प्रायोगिक इच्छानुसार प्रगतिमान किये जा सकते हैं, तो हमें मनुष्य के आवेग और बुद्धिपूर्ण क्रियाओं की ओर अग्रसर होना चाहिए। हमारे पास प्रायोगिक रसायन-शास्त्र और पदार्थ-विज्ञान हैं। पहले प्रायोगिक शरीर-विज्ञान रखेंगे और उसके बाद ही प्रायोगिक उपन्यास। यह उन्नति की वह अंतिम अवस्था है, जो स्वयं प्रभावशालिनी है और *जिसका जानना आज भी सरल है। सब का एक ही मत है। यह आवश्यक था कि*

निर्जीव पदार्थों के निश्चयवाद से अग्रसर हो फिर जीव-पदार्थ के निश्चयवाद तक पहुँच जाय; क्योंकि क्लाड बर्नार्ड जैसे वैज्ञानिक भी यह प्रमाणित करते हैं कि मानव-शरीर भ नियमित सिद्धान्तों द्वारा शासित है। धोखे से निर्भय होकर हम उस समय की घोषणा करते हैं, जब कि अपने अवसर पर बुद्धि और विचार के नियम भी बनाये जायेंगे मनुष्य के मस्तिष्क का और आम सड़क के पत्थर का विधान, एक सिद्धान्त के अनुसा करना चाहिये।''

विदेशी उपन्यास-साहित्य के ऊपर यथार्थवाद का बहुत प्रभाव पड़ा है और प्राय उपन्यासकार इसका समर्थन करते चले आये हैं। यथार्थवाद के साथ ही साथ पाश्चात उपन्यास साहित्य में प्रकृतिवाद का उतना ही बोल-बाला रहा है और प्रायः वे एक दू के आश्रित रहे हैं। यहाँ पर प्रकृतिवाद के मूल तत्त्वों पर विवेचना करना आवश्यक है।

उपन्यास-साहित्य में कथानक का एक विशेष स्थान है और कथानक में चरित्र-चित्रण, घटनाओं का क्रम-विकास, परिस्थितियों का उल्लेख इत्यादि भी महत्त्वपूर्ण है। घटना-चक्र का विकास तथा अंतिम परिणाम कभी-कभी पात्र के स्वाभाविक कार्यों पर निर्भर करता है और उपन्यासकार पात्र के जीवन का तथा उससे सम्बन्धित घटनाओं का यथार्थ उल्लेख करता है, जिससे घटनाओं का अन्त स्वाभाविक होता है। इस शैली का अनुसरण करने से लेखक को सत्यता से परे नहीं जाना पड़ता। जो वास्तविक घटनाक्रम होता है, उसी का विवेचन लेखक करता है।

कभी-कभी इसके विपरीत दूसरी श्रेणी के जो उपन्यासकार हैं, वे घटनाओं का वास्तविक उल्लेख नहीं करते और परिणाम को पहले ही से अपने मन में स्थिर कर लेते हैं, तब कल्पित घटनाओं द्वारा उस अभीष्ट के अन्त तक पहुँचते हैं। अपने निश्चित् परिणाम को लाने के लिए घटनाक्रम का विवरण, वास्तविक न देकर उलट-फेर कर देते हैं। ऐसे उपन्यास जीवन की सत्य तथा यथार्थ घटनाओं से बहुत दूर रहते हैं। परिणाम प्रमुख हो जाता है और जीवन की घटनाएँ उस पर आश्रित हो जाती हैं। पात्रों का चरित्र-चित्रण उन काल्पनिक घटनाओं पर अवलम्बित हो जाता है, न कि घटनाएँ पात्र के सहज स्वभाव पर आश्रित रहती हैं।

उस श्रेणी के उपन्यास-लेखक, जो यथार्थ वर्णन में विश्वास रखते हैं, प्रकृति का सहारा लेते हुए घटनाओं तथा उनके क्रम-विकास का यथार्थ वर्णन तथा उल्लेख करते हैं। ऐसे उपन्यासकार तथा उपन्यास ही प्रकृतिवादी कहलाते हैं। प्रकृतिवाद का साधारण अर्थ यही होता है।

अब इसको स्पष्ट करने के लिए पाश्चात्य प्रकृतिवादी उपन्यासकारों का मत और उनके उपन्यासों पर दृष्टि डालना आवश्यक है। प्रकृतिवाद पर जोला के विचारों को प्रायः सभी साहित्यिकों ने स्वीकार किया है।

जोला ने स्पष्ट कहा है—"हम उपन्यासकार मानव-जीवन तथा उनकी मनोवृत्तियों की परीक्षा करने वाले न्यायाध्यक्ष हैं।"

मनुष्य का आचरण उसकी पैतृक शक्तियों तथा जीवन की और अन्य अवस्थाओं पर निर्भर करता है। उपन्यासकार को यह ज्ञात रहता है कि किसी एक निश्चित और पैतृक शक्ति वाला मनुष्य किसी एक अवस्था में निश्चित आचरण करेगा। इसलिए उपन्यासकार ऐसे पात्रों को चुनता है, जिनकी शक्तियों को वह जानता है और उन्हें किसी एक ऐसी अवस्था में डालकर उनके चरित्र का विवेचन तथा वर्णन करता हैं, जिससे वह अपने अभीष्ट परिणामों तक पहुँच सके। किन्तु ऐसे परिणाम स्वाभाविक होते हैं। इन परिणामों तक पहुँचने के लिए उपन्यासकार को न तो घटना-क्रम का मनमाना उलट-फेर करना पड़ता है और न जीवन की यथार्थ तथा सत्य बातों का गला ही घोटना पड़ता है।

यह सिद्धान्त वैज्ञानिक दृष्टिकोण से उतना उपयुक्त नहीं है, जितना सौन्दर्य-निर्वचना के विचार से। इसीलिए इस श्रेणी के उपन्यासकारों को पाश्चात्य देशों में विशेष महत्त्व दिया जाता है। वर्तमान योरोपीय उपन्यास-साहित्य पर उनका बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है। कथानक में जो कृत्रिमता प्रायः पाई जाती है, उसके विरुद्ध उन्होंने विद्रोह किया है। उनका विचार है कि किसी एक अभीष्ट परिणाम पर पहुँचने के लिए पात्र को अस्वाभाविक तथा असत्य घटना-क्रम में डालना जीवन की सत्यता नष्ट करना है और एक स्वतन्त्रता से विकसित होने वाली वस्तु को, उसका यथार्थ वर्णन न करके निर्जीव बना देना है। इस प्रकार पात्र घटनाओं के आश्रित हो जाता है। और घटनाएँ पात्र पर निर्भर नहीं करतीं।

यह मानना पड़ेगा कि प्रकृतिवाद को एक प्रकार से जोला ने ही सर्वप्रथम सिद्धान्त का रूप दिया है। किन्तु इसके पूर्व भी कुछ उपन्यासकारों को इसके तत्व का पता लग चुका था। इङ्गलैंड का प्रसिद्ध उपन्यासकार ट्रोलोप्पे इसका सबसे पूर्व प्रामाणिक उदाहरण है। वह चरित्र-प्रधान उपन्यासकार था। उसके 'बारसेट शायर' की कहानियों में प्रकृतिवाद की बहुत कुछ झलक दिखलाई पड़ती है। उसके प्रायः सभी उपन्यासों में कथानक का विकास पात्रों के सहज स्वाभाविक कार्यों द्वारा ही होता है। वास्तव में उसके उपन्यासों में पात्र स्वयं अपनी कहानी बनाते हैं।

इसके अन्य और भी अनेक उदाहरण पाये जाते हैं। प्रसिद्ध रूसी उपन्यासकार तुर्गनेव के 'फ़ादर्स एण्ड चिल्ड्रेन' नामक उपन्यास में भी पात्र स्वयं ही कहानी का रूप देते हैं। इससे इतना तो स्पष्ट ही है कि बड़े-बड़े उपन्यासकारों ने इस बात का अनुभव किया है कि कला में कृत्रिमता का आ जाना किसी भी कला को दूषित कर देता है।

विख्यात अमेरिकन प्रकृतिवादी उपन्यासकार थामसन ड्रेजर का कहना है—"सत्य, सुन्दरता, प्रेम और आशा, कौन-सी वस्तु है, यह मैं नहीं जानता और न इस पर मैं

विश्वास ही रखता हूँ। लेकिन फिर भी इनको मैं सन्देह की दृष्टि से नहीं देख सकता।"

ड्रेज़र जीवन के इन तत्त्वों को न समझते हुए भी इनका अनुसरण करता है और कला को कृत्रिमता और असत्यता से दूषित नहीं होने देता। इस प्रकार उपन्यासकार के उपन्यासों में भी प्रकृतिवाद का पूर्ण विकास हुआ है और साथ ही साथ उसके उपन्यासों में इस सिद्धान्त के गुण और अवगुण दोनों ही पाये जाते हैं। जो कुछ भी अवगुण ड्रेज़र के उपन्यासों में पाये जाते हैं, वे प्रकृतिवाद सिद्धान्त के दोष नहीं कहे जा सकते। वरन् वे लेखक की वर्णन-शैली के दोष हैं। जीवन की घटनाओं का उसने आवश्यकता से अधिक वर्णन किया है और कहीं-कहीं तो एक ही बात की कई बार आवृत्ति भी कर दी है। फिर भी यह मानना ही पड़ेगा कि गाल्सवर्दी के सर्व प्रसिद्ध उपन्यास 'कन्ट्री हाउस' के कथानक की सफलता तथा रोचकता का मुख्य श्रेय इसी सिद्धान्त को है।

फ्रान्स के प्रतिष्ठित उपन्यास-लेखक रोम्याँ रोलाँ के 'जीन क्रिस्टॉफी' में भी हम प्रकृतिवादी अंश देखते हैं। यद्यपि रोम्याँ रोलाँ आदर्शवाद तथा यथार्थवाद का पूर्ण पक्षपाती है।

यशस्वी उपन्यासकार नेक्सो के 'पेली दी कांकरर' की प्रसिद्धि भी प्रकृतिवाद के ही कारण है। नेक्सो की सफलता तथा उसकी शक्ति इस बात पर निर्भर करती है कि वह मनुष्य-जीवन की सामान्य, अधम, मलिन तथा असभ्य घटनाओं का भी वर्णन पूर्ण निष्कपटता और स्वाभाविक रूप से करता है। नेक्सो जीवन की छोटी से छोटी तथा बड़ी से बड़ी सभी घटनाओं को महत्त्वपूर्ण समझता है; क्योंकि उसका यह विश्वास है कि जीवन के अधम से अधम अनुभव भी आत्मा की उन्नति में सहायता प्रदान करते हैं।

प्रकृतिवादी सिद्धान्त में एक बात और विचारणीय है—प्रकृतिवादी लेखकों के सम्बन्ध में जैसा ऊपर हम लिख चुके हैं—कि लेखक को पात्र के जीवन की घटनाओं के सहज, स्वाभाविक अनुभवों पर तथा नियति पर निर्भर रहना पड़ता है।

प्रकृतिवादी उपन्यास-लेखक साथ ही साथ जीवन के अनुभवों का तथा भाग्यचक्र का बहुत ही सुन्दर चित्रण करते हैं। इसका सब से सुन्दर उदाहरण मार्शल प्राऊस्ट के उपन्यासों में बहुत अधिकता से मिलता है। उसके उपन्यासों में नियतिवाद की झलक प्रायः प्रसाद जी की तरह सभी स्थानों पर प्रकट होती है।

योरोपीय उपन्यासकारों ने नियति के चक्रों का दिग्दर्शन कई प्रकार से कराया है और मनुष्य के अन्तर्द्वन्द्व तथा उसकी आत्मा की प्रगति का भी पूर्ण विवेचन किया है। योरोपीय साहित्य में इसका भी बहुत महत्त्व है। यदि हम इसी सिद्धान्त को हिन्दी उपन्यास साहित्य में खोजें तो एक नवीन आकृति में प्रसाद के उपन्यासों को पावेंगे।

'कंकाल' में लेखक ने उन्नीस पात्र-पात्रियों को लेकर एक ऐसे संसार की सृष्टि की है जो देखने में अत्यन्त पथभ्रष्ट है, उनका समाज में कोई स्थान नहीं है। समाज अपने

जोला ने स्पष्ट कहा है—"हम उपन्यासकार मानव-जीवन तथा उनकी मनोवृत्तियों की परीक्षा करने वाले न्यायाध्यक्ष हैं।"

मनुष्य का आचरण उसकी पैतृक शक्तियों तथा जीवन की और अन्य अवस्थाओं पर निर्भर करता है। उपन्यासकार को यह ज्ञात रहता है कि किसी एक निश्चित और पैतृक शक्ति वाला मनुष्य किसी एक अवस्था में निश्चित आचरण करेगा। इसलिए उपन्यासकार ऐसे पात्रों को चुनता है, जिनकी शक्तियों को वह जानता है और उन्हें किसी एक ऐसी अवस्था में डालकर उनके चरित्र का विवेचन तथा वर्णन करता है, जिससे वह अपने अभीष्ट परिणामों तक पहुँच सके। किन्तु ऐसे परिणाम स्वाभाविक होते हैं। इन परिणामों तक पहुँचने के लिए उपन्यासकार को न तो घटना-क्रम का मनमाना उलट-फेर करना पड़ता है और न जीवन की यथार्थ तथा सत्य बातों का गला ही घोटना पड़ता है।

यह सिद्धान्त वैज्ञानिक दृष्टिकोण से उतना उपयुक्त नहीं है, जितना सौन्दर्य-विवेचना के विचार से। इसीलिए इस श्रेणी के उपन्यासकारों को पाश्चात्य देशों में विशेष महत्त्व दिया जाता है। वर्तमान योरोपीय उपन्यास-साहित्य पर उनका बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है। कथानक में जो कृत्रिमता प्रायः पाई जाती है, उसके विरुद्ध उन्होंने विद्रोह किया है। उनका विचार है कि किसी एक अभीष्ट परिणाम पर पहुँचने के लिए पात्र को अस्वाभाविक तथा असत्य घटना-क्रम मे डालना जीवन की सत्यता नष्ट करना है और एक स्वतन्त्रता से विकसित होने वाली वस्तु को, उसका यथार्थ वर्णन न करके निर्जीव बना देना है। इस प्रकार पात्र घटनाओं के आश्रित हो जाता है। और घटनाएँ पात्र पर निर्भर नहीं करतीं।

यह मानना पड़ेगा कि प्रकृतिवाद को एक प्रकार से जोला ने ही सर्वप्रथम सिद्धान्त का रूप दिया है। किन्तु इसके पूर्व भी कुछ उपन्यासकारों को इसके तत्व का पता लग चुका था। इङ्गलैंड का प्रसिद्ध उपन्यासकार ट्रौलोप्पे इसका सबसे पूर्व प्रामाणिक उदाहरण है। वह चरित्र-प्रधान उपन्यासकार था। उसके 'बारसेट शायर' की कहानियों में प्रकृतिवाद की बहुत कुछ झलक दिखलाई पड़ती है। उसके प्रायः सभी उपन्यासों में कथानक का विकास पात्रों के सहज स्वाभाविक कार्यों द्वारा ही होता है। वास्तव में उसके उपन्यासों मे पात्र स्वयं अपनी कहानी बनाते हैं।

इसके अन्य और भी अनेक उदाहरण पाये जाते हैं। प्रसिद्ध रूसी उपन्यासकार तुर्गनेव के 'फादर्स एण्ड चिल्ड्रेन' नामक उपन्यास में भी पात्र स्वयं ही कहानी का रूप देते हैं। इससे इतना तो स्पष्ट ही है कि बड़े-बड़े उपन्यासकारों ने इस बात का अनुभव किया है कि कला में कृत्रिमता का आ जाना किसी भी कला को दूषित कर देता है।

विख्यात अमेरिकन प्रकृतिवादी उपन्यासकार टामसन ड्रेज़र का कहना है—"सत्य, सुन्दरता, प्रेम और आशा, कौन-सी वस्तु है, यह मैं नहीं जानता और न इस पर मैं

विश्वास ही रखता हूँ। लेकिन फिर भी इनको मैं सन्देह की दृष्टि से नहीं देख सकता।''

डेज़र जीवन के इन तत्वों को न समझते हुए भी इनका अनुसरण करता है और कला को कृत्रिमता और असत्यता से दूषित नहीं होने देता। इस प्रकार उपन्यासकार के उपन्यासों में भी प्रकृतिवाद का पूर्ण विकास हुआ है और साथ ही साथ उसके उपन्यासों में इस सिद्धान्त के गुण और अवगुण दोनों ही पाये जाते हैं। जो कुछ भी अवगुण डेज़र के उपन्यासों में पाये जाते हैं, वे प्रकृतिवाद सिद्धान्त के दोष नहीं कहे जा सकते। वरन् वे लेखक की वर्णन-शैली के दोष हैं। जीवन की घटनाओं का उसने आवश्यकता से अधिक वर्णन किया है और कहीं-कहीं तो एक ही बात को कई बार आवृत्ति भी कर दी है। फिर भी यह मानना ही पड़ेगा कि गाल्सवर्दी के सर्व प्रसिद्ध उपन्यास 'कंट्री हाउस' के कथानक की सफलता तथा रोचकता का मुख्य श्रेय इसी सिद्धान्त को है।

फ्रान्स के प्रतिष्ठित उपन्यास-लेखक रोम्याँ रोलाँ के 'जीन क्रिस्टॉफी' में भी हम प्रकृतिवादी अंश देखते हैं। यद्यपि रोम्याँ रोलाँ आदर्शवाद तथा यथार्थवाद का पूर्ण पक्षपाती है।

यशस्वी उपन्यासकार नेक्सो के 'पेली दी कांकरर' की प्रसिद्धि भी प्रकृतिवाद के ही कारण है। नेक्सो की सफलता तथा उसकी शक्ति इस बात पर निर्भर करती है कि वह मनुष्य-जीवन की सामान्य, अधम, मलिन तथा असभ्य घटनाओं का भी वर्णन पूर्ण निष्कपटता और स्वाभाविक रूप से करता है। नेक्सो जीवन की छोटी से छोटी तथा बड़ी से बड़ी सभी घटनाओं को महत्वपूर्ण समझता है; क्योंकि उसका यह विश्वास है कि जीवन के अधम से अधम अनुभव भी आत्मा की उन्नति में सहायता प्रदान करते हैं।

प्रकृतिवादी सिद्धान्त में एक बात और विचारणीय है—प्रकृतिवादी लेखकों के सम्बन्ध में जैसा ऊपर हम लिख चुके हैं—कि लेखक को पात्र के जीवन की घटनाओं के सहज, स्वाभाविक अनुभवों पर तथा नियति पर निर्भर रहना पड़ता है।

प्रकृतिवादी उपन्यास-लेखक साथ ही साथ जीवन के अनुभवों का तथा भाग्यचक्र का बहुत ही सुन्दर चित्रण करते हैं। इसका सब से सुन्दर उदाहरण मार्शल प्राऊस्ट के उपन्यासों में बहुत अधिकता से मिलता है। उसके उपन्यासों में नियतिवाद की झलक प्रायः प्रसाद जी की तरह सभी स्थानों पर प्रकट होती है।

योरोपीय उपन्यासकारों ने नियति के चक्रों का दिग्दर्शन कई प्रकार से कराया है और मनुष्य के अन्तर्द्वन्द्व तथा उसकी आत्मा की प्रगति का भी पूर्ण विवेचन किया है। योरोपीय साहित्य में इसका भी बहुत महत्त्व है। यदि हम इसी सिद्धान्त को हिन्दी उपन्यास साहित्य में खोजें तो एक नवीन आकृति में प्रसाद के उपन्यासों को पावेंगे।

'कंकाल' में लेखक ने उन्नीस पात्र-पात्रियों को लेकर एक ऐसे संसार की सृष्टि की है जो देखने में अत्यन्त पथभ्रष्ट है, उनका समाज में कोई स्थान नहीं है। समाज अपने

धार्मिक और सामाजिक आदर्शों में कितना पाखंड बटोरकर अपने अस्तित्व को स्थायी बनाये हुए है, जिसमें पतन और पथ-भ्रष्टता की परिभाषा इतनी जटिल है कि परिस्थितियों और कुचक्र द्वारा पददलित प्राणियों के लिए कोई स्थान नहीं।

उपन्यास में दस स्त्री चरित्र और नौ पुरुष चरित्रों का निर्माण हुआ है। शेष कुछ पात्र इन चरित्रों को स्पष्ट और उन पर प्रकाश डालने के लिए घटना-क्रम के अनुसार कहीं-कहीं प्रकट होते हैं, किन्तु उनका कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं।

कथा भाग—श्रीचन्द्र अमृतसर के व्यवसायी हैं, धन के लोभ में उन्हें कुछ नहीं दिखाई पड़ता। सन्तान की लालसा, साधु-सन्यासियों की भक्ति-पूजा में उनकी पत्नी किशोरी कुचरित्र हो जाती है, मठाधीश देवनिरंजन उसका शिकार होता है, बाल्यकाल में वे दोनों साथ खेले थे, घटनाचक्र से फिर उनका समागम होता है, उसकी कल्पना में किशोरी सम्मुख आती है और वह अत्यन्त अधीर होकर उसकी आराधना करने लगता है। जगत तो मिथ्या है ही, इसके जितने कर्म हैं, वे भी माया हैं, प्रमाता जीव भी प्राकृत है, क्योंकि वह भी अपरा प्रकृति है, जब विश्व मात्र प्राकृत है, तो इसमें अलौकिक अध्यात्म कहाँ ? यही खेल यदि जगत बनाने वाले का है तो वह मुझे भी खेलना चाहिए।

श्रीचन्द्र किशोरी का हरिद्वार में ही रहने का प्रबन्ध कर स्वयं अमृतसर में रहने लगा। इधर निरंजन और किशोरी का प्रणय चल रहा था। कुछ दिनों बाद श्रीचन्द्र आए। मान मानव हुआ। किशोरी उनके साथ चली गई। किशोरी के आश्रम में रहने वाली विधवा रामा वहीं रह गई। निरंजन के मनोरंजन के लिए यही एक साधन बनकर प्रस्तुत हुई।

पन्द्रह बरस बाद, काशी में ग्रहण था। विधवा रामा अब निरंजन के भंडारी के साथ सधवा होकर अपनी कन्या तारा को लेकर आई थी। भीड़ के धक्के में पड़कर अपनी माता और साथियों से अलग हो जाती है। अन्त में एक कुटनी के चक्र में पड़कर उसे वेश्या बनना पड़ता है!

स्वयंसेवक मंगलदेव का उसका सामना हुआ था, किन्तु संकोच और लज्जा के कारण एक युवती को वह न बचा सका। फिर वेश्या होने पर एक दिन लखनऊ में उससे भेंट होती है। मंगल उसके आकर्षण में पड़ जाता है। गुलेनार वेश्यावृत्ति के उपयुक्त नहीं, वह सुरक्षित रहती है। मंगल के साथ एक दिन वह भाग जाती है। दोनों हरिद्वार में रहते हैं। मंगल आर्य-समाज के वातावरण में जीवनोपार्जन करता है। दोनों सुख से रहते हैं। दोनों का विवाह होने वाला ही था कि एक दिन चाची; नन्दो के मुँह से यह सुनकर कि तारा की माँ भी दुश्चरित्र थी, मंगल को घृणा होती है। विवाह की पूरी तैयारी हो जाने पर उसी दिन मंगल चुपचाप भाग जाता है।

उधर अनाथ तारा गर्भवती होकर भटकती है। उसे कोई सहारा नहीं। चाची के यहाँ कई महीने कटते हैं। फिर आत्महत्या करने के लिए तारा प्रस्तुत होती है। किन्तु एक सन्यासी उसे कहता है कि आत्म-हत्या करना पाप है।

तारा कहती है—पाप कहाँ है, पुण्य किसका नाम है मैं नहीं जानती। सुख खोजती रही, दुःख मिला, दुःख ही यदि पाप है तो मैं उससे छूटकर सुख की मौत मर रही हूँ, तब्रः मरने दो।

अन्त में असफल होकर तारा कष्ट के दिन व्यतीत करती है। अस्पताल में उसे पुत्र उत्पन्न होता है।

दूसरी बार फिर गंगा में डूबने पर भी उसके प्राण न गये। एक महात्मा के द्वारा वह बचाई गई।

हरिद्वार से जाने के छः मास बाद किशोरी को एक पुत्र उत्पन्न हुआ, तभी से श्रीचन्द्र की घृणा बढ़ती गई। बहुत सोचने पर श्रीचन्द्र ने यह निश्चय किया कि किशोरी काशी जाकर अपनी जारज सन्तान के साथ रहे और उसके खर्च के लिए वह कुछ भेजा करे। पुत्र पाकर किशोरी पति से वंचित हुई।

किशोरी के दिन अच्छी तरह बीतने लगे। देवनिरंजन भी कभी-कभी काशी आ जाते। किशोरी के यहाँ ही भंडारा होता।

किशोरी का पुत्र विजयचन्द्र स्कूल में पढ़ता था। एक दिन घोड़े पर से गिरते-गिरते उसे मंगलदेव ने बचाया। तभी से उन दोनों की मैत्री हो गई। आर्थिक कठिनाई के कारण मंगल उपवास कर रहा था। अन्त में विजय के अनुरोध करने पर वह विजय के साथ उसके घर रहने लगा।

उस दिन भंडारा था। अछूत भूखे पत्तल पर टूट रहे थे। एक राह की थकी हुई भूखी दुर्बल युवती भी वहाँ पहुँची। उसी भूख की, जिससे वह स्वयं अशक्त हो रही थी, यह बीभत्स लीला थी। वह सोच रही थी—क्या संसार भर में पेट की ज्वाला, मनुष्य और पशुओं को एक ही समान सताती है। ये भी मनुष्य हैं और इसी धार्मिक भारत के मनुष्य हैं, जो कुत्तों के मुँह के टुकड़े भी छीनकर खाना चाहते हैं। भीतर जो पुण्य के नाम पर—धर्म के नाम पर गुलछर्रे उड़ा रहे हैं, उसमें वास्तविक भूखों का कितना भाग है, यह पत्तलों के लूटने का दृश्य बतला रहा है। भगवान् तुम अन्तर्यामी हो।

वह अनाथिनी दुःखिनी किशोरी के आश्रय में रहने लगी। उसका नाम यमुना है। प्रभात के समय वह मालतीकुञ्ज की पत्थर की चौकी पर बैठी है। नीड़ में से निकलते हुए पक्षियों के कलरव को वह आश्चर्य से सुन रही थी। वह समझ न सकती थी कि उन्हें क्यों उल्लास है। संसार में प्रवृत्त होने की इतनी प्रसन्नता क्यों! दो-दो दाने बीनकर ले आने और जीवन को लम्बा करने के लिए इतनी उत्कण्ठा!

इतना उत्साह ! जीवन इतने सुख की वस्तु है !

उस दिन विजय, मंगल, किशोरी और दासी यमुना सभी बजरे पर बैठकर गंगा की धारा में बह रहे थे। पार, रेती पर बजरा लगा। स्नान करके ज्योंही यमुना उठी, मंगल ने साहस से पूछा—तारा तुम्हीं हो !

उसने कहा—तारा मर गई, मैं उसकी प्रेतात्मा हूँ।

मंगल ने हाथ जोड़कर कहा—तारा ! मुझे क्षमा करो।

तारा कहती है—हम लोगों का इसी में कल्याण है कि एक दूसरे को न पहचानें और न एक दूसरे की राह में अड़ें, क्योंकि दोनों को किसी दूसरे का अवलम्ब है।

विजय उन दोनों को बातें करते देखता है। उसकी आँखें क्षण भर में लाल हो जाती हैं। इस घटना का प्रभाव इतना पड़ता है कि विजय तीन दिन तक ज्वर में पड़ा रहता है।

मंगलदेव न जाने कैसी कल्पना से उन्मत्त हो उठता है। हिंसक मनोवृत्ति जाग जाती है। उसे दमन करने में वह असमर्थ था। दूसरे दिन बिना किसी से कहे-सुने मंगल चला गया।

तीर्थयात्रा के लिए किशोरी विजय और यमुना के साथ मथुरा चली जाती है।

एक दिन पाप पुण्य पर अपना मत प्रकट करते हुए विजय कहता है—पाप और कुछ नहीं है यमुना, जिन्हें हम छिपाकर किया चाहते है, उन्हीं कर्मों को पाप कह सकते हैं, परन्तु समाज का एक बड़ा भाग उसे यदि व्यवहार्य्य बना दे तो वही कर्म हो जाता है, धर्म हो जाता है। देखती नहीं हो, इतने विरुद्ध मत रखने वाले संसार के मनुष्य अपने-अपने विचारों में धार्मिक बने हैं, जो एक के यहाँ पाप है वही तो दूसरे के लिए पुण्य है।

विजय के मन में द्वन्द्व चल रहा था। उन्हीं दिनों एक अल्हड़ बाल-विधवा तरुण बालिका घण्टी उन लोगों से परिचित होती है। घण्टी परिहास करने में बड़ी निर्दय थी।

मंगलदेव भी आठ बालकों को लेकर ऋषिकुल बनाये था। वह सहायता के लिए किशोरी के यहाँ आता है। किशोरी और निरंजन ने उसे घर बनवा देने और बस्त्र इत्यादि की सहायता का वचन दिया।

सब का मन इस घटना से हलका था, पर यमुना अपने भारी हृदय से बार-बार यही पूछती थी कि इन लोगों ने मंगल को जलपान करने तक को न पूछा, इसका कारण क्या उसका प्रार्थी होकर आना है।

विजय अपने हृदय का रहस्य यमुना के सम्मुख एक दिन खोलता है। वह कहता है—तुम मेरी आराध्यदेवी हो—सर्वस्व हो।

किन्तु यमुना कहती है—मैं दया की पात्री एक बहन होना चाहती हूँ।

विजय का यौवन उच्छृङ्खल भाव से बढ़ रहा था। घण्टी आकर उसमें सजीवता ले आने का प्रयत्न करती है, परन्तु वैसे ही जैसे एक खंडहर की किसी भग्न प्राचीर पर बैठा हुआ पपीहा कभी बोल दे।

घण्टी को साथ लेकर विजय घूमता है। दोनों में घनिष्ठता बढ़ जाती है। भेद खुलने पर घण्टी कहती है—मैं क्या जानूँ कि लज्जा किसे कहते हैं!

किशोरी मथुरा से काशी चली जाती है। यमुना गोस्वामी कृष्णशरण के आश्रम में रहने लगती है।

घटनावश एक दिन तांगे पर घण्टी और विजय घूमने निकलते हैं। उस दिन तांगे वाले के षड्यन्त्र से आक्रमण होता है। घण्टी को चोट लगती है। चर्च के पास ही दुर्घटना के कारण पादरी जान और बाथम का सहारा मिलता है। विजय और घण्टी वहीं कुछ दिन रहते हैं। सरला और लतिका दो हिन्दू महिलाएँ ईसाई हो गई थीं। वहीं एक दिन अंधे भिखारी द्वारा ज्ञात होता है कि घण्टी की माता का नाम नन्दो है।

सरला और विजय से बातें होते हुए यह रहस्य भी खुलता है कि मंगल के गले में जो यन्त्र था और जिसे विजय को मंगल ने एक बार बेचने के लिए दिया था, वह यन्त्र मंगल के वंश का रक्षा-कवच था। उसी के आधार पर मंगल सरला का पुत्र प्रमाणित होता है।

वृन्दावन के समीप एक छोटा-सा श्रीकृष्ण का मन्दिर है। गोस्वामी कृष्णशरण उस मन्दिर के अध्यक्ष, एक साठ-पैंसठ बरस के तपस्वी पुरुष हैं। किशोरी से अलग होकर यमुना अब वहीं रहती है। मंगलदेव भी अब गोस्वामी जी को गुरू के रूप में मानता है। आश्रम में कृष्ण-कथा प्रायः होती है। घण्टी और विजय भी कभी उस कथा में सम्मिलित होते हैं। एक दिन गोस्वामी जी से विजय घण्टी से ब्याह करने के सम्बन्ध में अनुमति चाहता है।

गोस्वामी जी कहते हैं—यदि दोनों में परस्पर प्रेम है तो भगवान् को साक्षी देकर तुम परिणय के पवित्र बन्धन में बँध सकते हो।

किन्तु सहसा यमुना ने कहा—विजय बाबू, यह ब्याह आप केवल अहंकार से करने जा रहे हैं। आपका प्रेम घण्टी पर नहीं है।

सब आश्चर्य में थे। बूढ़ा पादरी जान, सरला, लतिका, विजय और घण्टी सब लोग वहाँ से ताँगे पर चले आये।

किशोरी और निरंजन काशी लौट आये थे, परन्तु उन दोनों के हृदय में शान्ति न थी। क्रोध से किशोरी ने विजय का तिरस्कार किया। फिर भी सहज मातृ-स्नेह विद्रोह करने लगा। निरंजन से झगड़ा बढ़ने लगा। दोनों में अनबन रहने लगी।

निरंजन रूककर जाने का निश्चय कर लेता है। किशोरी कहती है—तो रोकता कौन है, जाओ; परन्तु जिसके लिए मैंने सब कुछ खो दिया है, उसे तुम्हीं ने मुझ से छीन लिया—उसे देकर जाओ। जाओ तपस्या करो, तुम फिर महात्मा बन जाओगे। सुना है, पुरुषों के तप करने से घोर कुकर्मों को भी भगवान् क्षमा करके उन्हें दर्शन देते हैं। पर मैं हूँ स्त्री जाति, मेरा यह भाग्य नहीं, मैंने जो पाप बटोरा है; उसे ही मेरे गोद में फेंकते जाओ।

निरंजन बिना एक शब्द कहे स्टेशन चला गया।

उसी दिन श्रीचंद्र अपनी प्रेयसी चंदा और उसकी लड़की लाली को लेकर काशी आते हैं, दोनों में समझौते का मार्ग खुलता है।

विजय के प्रति घण्टी के मन में भी तर्क चलता है। वह कहती है—हिन्दू स्त्रियों का समाज ही कैसा है, उसमें कुछ अधिकार हो तब तो उसके लिए कुछ सोचना-विचारना चाहिए। और जहाँ अन्ध अनुसरण करने का आदेश है वहाँ प्राकृतिक, स्त्री-जनोचित, प्यार कर लेने का जो हमारा नैसर्गिक अधिकार है—जैसा कि घटनावश, प्रायः स्त्रियाँ किया करती हैं—उसे क्यों छोड़ दूँ? यह कैसे हो, क्यों हो? इसका विचार पुरुष करते हैं। वे करें, उन्हें विश्वास बनाना है, कौड़ी-पाई लेना रहता है और स्त्रियों को मरना पड़ता है।

विजय सोचता है कि यह हँसमुख घण्टी संसार के सब प्रश्नों को सहल किये बैठी है।

घण्टी कहने लगती है—तुम ब्याह करके यदि उसका प्रतिदान किया चाहते हो तो भी मुझे कोई चिन्ता नहीं। यह विचार तो मुझे कभी सताता ही नहीं। मुझे जो करना है वही कहती हूँ, करूँगी भी। घुमोगे तो घूमूँगी; पिलाओगे तो पीऊँगी; दुलार करोगे तो हँस लूँगी; ठुकराओगे तो रो दूँगी। स्त्री को इन सभी वस्तुओं की आवश्यकता है। मैं इन सबों को समभाव से ग्रहण करती हूँ और करूँगी।

नौका-विहार से जैसे ही विजय और घण्टी उतरे थे, वैसे ही एक भीषण दुर्घटना हो गई। घण्टी को भगा ले जाने के लिए जो षड्यन्त्र चल रहा था, वे ही लोग सम्मुख आ जाते हैं। द्वन्द्व होता है। विजय एक पुरुष का गला दबाकर उसका प्राण ले लेता है। 'खून हो गया है तुम यहाँ से हट चलो'—कहते हुए बाथम घण्टी को लेकर चला जाता है। उसी समय स्नान के लिए निकली हुई यमुना वहाँ उपस्थित होती है। निरंजन पहले ही से उसके पीछे-पीछे सब देख-सुन रहा था।

विजय भयभीत हुआ। मृत्यु जब तक कल्पना की वस्तु रहती है तब तक चाहे उसका जितना प्रत्याख्यान कर लिया जाय, परन्तु यदि वह सामने हो!

निरंजन और यमुना के समझाने पर विजय नाव पर बैठकर निकल जाता है।

लतिका और बाथम का सम्बन्ध-विच्छेद होता है। सरला उसे समझाती है—दुःख के लिए, सुख के लिए, जीवन के लिए और मरण के लिए इसमें शिथिलता न आनी चाहिए। आपत्तियाँ वायु की तरह निकल जाती हैं; सुख के दिन प्रकाश के सदृश पश्चिमी समुद्र में भागते रहते हैं। समय काटना होगा, और यह ध्रुव सत्य है कि दोनों का अन्त है।

लतिका और सरला चर्च का आश्रय छोड़कर गोस्वामी कृष्णशरण के आश्रय मे आती हैं।

घण्टी उधेड़-बुन में लगी थी। वह मन ही मन कहती है—मैं भीख माँगकर खाती थी, तब मेरा कोई अपना नहीं था। लोग दिल्लगी करते और मैं हँसती, हँसाकर हँसती। मुझे विश्वास हो गया कि इस विचित्र भूतल पर हम लोग केवल हँसी की लहरों में हिलने-डोलने के लिए आये हैं।···पर उस हँसी ने रंग पलट दिया, वही हँसी अपना कुछ और उद्देश्य रखने लगी। फिर विजय, धीरे-धीरे जैसे सावन की हरियाली पर प्रभात का बादल बनकर छा गया। मैं नाचने लगी मयूरी-सी। और अब यौवन का मेघ बरसने लगा। नियति चारों ओर से दबा रही थी। लो मैं चली, बाथम···उस पर भी लतिका रोती होगी। अरे-अरे मैं हँसाने वाली सबको रुलाने लगी! मैं उसी दिन धर्म से च्युत हो गई···

फ़तहपुर-सीकरी से अछनेरा जाने वाली सड़क के सूने अंचल में एक छोटा-सा जंगल है। वहाँ डाकू बदन गूजर के यहाँ विजय अपना दिन काटता है। गाला बदन की लड़की है। गाला एक मुसलमानी स्त्री से उत्पन्न हुई थी। गाला और विजय की घनिष्ठता अधिक बढ़ने लगी। यह देखकर बदन गूजर ने एक दिन नये (विजय का नया नाम) से कहा—नये! मैं तुमको उपयुक्त समझता हूँ। गाला के जीवन की धारा सरल पथ से बहा ले चलने की क्षमता तुम में है।

किन्तु गाला भेद-भरी दृष्टि से इसे अस्वीकार करती है, यह कहकर कि मैं अपने यहाँ पले हुए मनुष्य से कभी ब्याह न करूँगी।

मंगलदेव अपने मानसिक हलचल के कारण वृन्दावन से आकर उसी जंगल के एक ग्राम में गूजर बालकों की एक पाठशाला खोलता है। गाला के यहाँ भी कभी-कभी सहायता के लिए आता है।

मंगल एक दिन शून्य पथ पर निरुद्देश्य चला जा रहा था। चिन्ता जब अधिक हो जाती है, तब उसकी शाखा-प्रशाखाएँ इतनी निकलती हैं कि मस्तिष्क उनके साथ दौड़ने में थक जाता है। किसी विशेष चिन्ता की वास्तविक गुरुता लुप्त होकर विचार करने को यांत्रिक और चेतना वेदना-विहीन बना देती है। तब, पैरों से चलने में, मस्तिष्क से विचार करने में, कोई विशेष भिन्नता नहीं रह जाती। मंगलदेव की यही अवस्था थी।

मार्ग में गाला और उसके पिता से उसकी भेंट होती है। दोनों को वह पाठशाला दिखलाता है। बालिकाओं के लिए वह एक विभाग खोलने के लिए योजना रखता है। गाला पढ़ी-लिखी है। अतएव वह योग्यता से यह कार्य कर सकती है। मंगल की योजना में इसका संकेत है।

विजय के जिस खून के मुकदमे में यमुना स्वयं विजय को बचाने के लिए फँसती है, न्यायालय में वह विचित्र मुकदमा चल रहा था। निरंजन ने धन से काफ़ी सहायता की।

मंगलदेव की पाठशाला में अब दो विभाग हैं—एक लड़कों का और दूसरा लड़कियों का। गाला लड़कियों की शिक्षा का प्रबन्ध करती है। वह अब एक प्रभावशालिनी गंभीर युवती दिखलाई पड़ती—जिसके चारों ओर पवित्रता और ब्रह्मचर्य का मण्डल घिरा रहता। बहुत से लोग जो पाठशाला में आते वे इस जोड़ी को आश्चर्य से देखते।

मंगल वृन्दावन से कई दिनों बाद लौटा। उसने यमुना के उस मुकदमे का विवरण बतलाया।

गाला कहती है—स्त्री जिससे प्रेम करती है, उसी पर सरबस वार देने को प्रस्तुत हो जाती है, यदि वह भी उसका प्रेमी हो तो। स्त्री वय के हिसाब से सदैव शिशु-कर्म में वयस्क और अपनी असहायता में निरीह है। विधाता का ऐसा ही विधान है।

मंगल कहता है—उसका कारण प्रेम नहीं है, जैसा तुम समझ रही हो।

गाला ने एक दीर्घ निःश्वास लिया। उसने कहा—नारी-जाति का निर्माण विधाता की एक झुँझलाहट है। मंगल! उससे संसार भर के पुरुष लेना चाहता है, एक माता ही कुछ सहानुभूति रखती है, इसका कारण है उसका भी स्त्री होना।

घटना क्रम के अनुसार गोस्वामी कृष्णशरण के आश्रम में मंगल, गाला, यमुना, लतिका, नन्दो, घण्टी, निरंजन सभी उपस्थित होते हैं। भारत-संघ का स्थापन होता है। सेवा-धर्म जिसका प्रधान उद्देश्य है।

यमुना अन्त में इस मुकदमे में निर्दोष समझकर छोड़ दी जाती है। सरला को उसका पुत्र मंगलदेव मिल जाता है। एक दिन स्नान करने के लिए जाते हुए लतिका और यमुना में बातें होती हैं।

"जब मैं स्त्रियों के ऊपर दया दिखाने का उत्साह पुरुषों में देखती हूँ, तो जैसे कट जाती हूँ। ऐसा जान पड़ता है कि यह सब कोलाहल, स्त्री-जाति की लज्जा की मेघमाला है। उसकी असहाय परिस्थिति का व्यंग उपहास है।" यमुना ने कहा—

लतिका कहती है—पुरुष नहीं जानते कि स्नेहमयी रमणी सुविधा नहीं चाहती, वह हृदय चाहती है। पर मन इतना भिन्न उपकरणों से बना हुआ है कि समझौते पर ही संसार के स्त्री-पुरुषों का व्यवहार चलता हुआ दिखाई देता है""हम स्त्रियों के भाग्य में लिखा है कि उड़कर भागते हुए पक्षी के पीछे, चारा और पानी से भरा हुआ

पिंजरा लिये घूमती रहें।

यमुना ने कहा—कोई समाज और धर्म स्त्रियों का नहीं बहन ! सब पुरुषों के हैं। सब हृदय को कुचलने वाले क्रूर हैं, फिर भी मैं समझती हूँ कि स्त्रियों का एक धर्म है, वह है आघात सहने की क्षमता रखना।

भारत-संघ की स्थापना हो गई। निरंजन ने अपने भाषण में कहा—भगवान की विभूतियों को समाज ने बाँट लिया है, परन्तु जब मैं स्वार्थियों को भगवान पर भी अधिकार जमाये देखता हूँ तो मुझे हँसी आती है—और भी हँसी आती है उस समय जब कि उस अधिकार की घोषणा करके दूसरों को वे छोटा, नीच और पतित ठहराते हैं···

मंगलदेव कहता है—सुधार सौन्दर्य का साधन है। सभ्यता सौन्दर्य की जिज्ञासा है। शारीरिक और अलंकारिक सौन्दर्य प्राथमिक है, चरम सौन्दर्य मानसिक सुधार का है। मानसिक सुधारों में सामूहिक भाव कार्य करते हैं। समाज को सुरक्षित रखने के लिए उसके संघटन में स्वाभाविक मनोवृत्तियों की सत्ता स्वीकार करनी होगी। सबके लिए एक पथ देना होगा। समस्त प्राकृतिक आकांक्षाओं की पूर्ति आपके आदर्श में होनी चाहिए।

निरंजन के प्रयत्न और कृष्णशरण के आदेशानुसार गाला का विवाह मंगल के साथ हो जाता है। यमुना अपने भाई भिखारी विजय को लेकर काशी चली जाती है। घण्टी, सरला, लतिका इत्यादि आश्रम में ही रहते हुए सेवा-मार्ग ग्रहण करती हैं।

किशोरी श्रीचन्द्र के साथ ही रहती है। किशोरी के मन में फिर भी शान्ति नहीं। एक दिन उसे निरंजन का एक पत्र मिलता है, उसमें अपना हृदय खोलकर वह अपने अपराधों को स्वीकार करते हुए किशोरी को सान्त्वना देता है। वह लिखता है—मर्मव्यथा से व्याकुल होकर गोस्वामी कृष्णशरण से जब मैंने अपना सब समाचार सुनाया, तो उन्होंने बहुत देर तक चुप रहकर यही कहा—निरंजन भगवान् क्षमा करते हैं। मनुष्य भूलें करता है, इसका रहस्य है मनुष्य का परिमित ज्ञानाभास; सत्य इतना विराट है कि हम क्षुद्र जीव व्यावहारिक रूप में उसे सम्पूर्ण ग्रहण करने में प्रायः असमर्थ प्रमाणित होते हैं। जिन्हें हम परम्परागत संस्कारों के प्रकाश से कलंकमय देखते हैं वे ही क्षुद्र ज्ञान में, सत्य ठहरें तो मुझे कुछ आश्चर्य न होगा ·

किशोरी न्याय और दण्ड देने का ढकोसला तो मनुष्य भी कर सकता है, पर क्षमा में भगवान् की शक्ति है। उसकी सत्ता है। महत्ता है। सम्भव है कि इसी लिए सबके क्षमा के लिए, वह महाप्रलय करता हो।

किशोरी के मन में घोर अशान्ति है। अपने दत्तक पुत्र मोहन से उसे सन्तोष न हुआ। विजय के प्रति वह व्याकुल रहती है। वह रोग-शैया पर पड़ जाती है।

यमुना काशी आकर किशोरी के यहाँ फिर दासी के रूप में प्रवेश करती है। रहस्य खुलता है। मोहन उसी का पुत्र है, यमुना उसकी दासी बनकर कुछ शान्ति पाती

है। विजय कंगालों की श्रेणी में सड़क पर पड़ा दिन काटता है। किशोरी की मरणावस्था बताकर यमुना विजय को श्रीचन्द्र के यहाँ ले जाती है। श्रीचन्द्र उसे भिखारी ही समझता है, विजय किशोरी को देखकर लौट आता है। किशोरी का अन्त होता है।

कुछ दिनों के बाद उन कंगाल मनुष्यों के साथ जीवन व्यतीत करते हुए सहसा एक दिन विजय मरता है। घण्टी, मंगल, गाला उस दिन सब संघ के जलूस में थे। घटना-स्थान पर मंगल, गाला, घण्टी, यमुना और श्रीचन्द्र रहते हैं।

स्वयंसेवकों की सहायता से उसका मृतक-संस्कार करवाने का प्रबन्ध हुआ।

मनुष्य के हिसाब-किताब में काम ही तो बाकी पड़े मिलते हैं—कहकर घण्टी सोचने लगी। फिर उस शव की दीन-दशा मंगल को संकेत से दिखलाई।

मंगल ने देखा—एक स्त्री पास ही मलिन वसन में बैठी है। उसका घूँघट आँसुओं से भींग गया है, और निराश्रय पड़ा है एक—कंकाल।

ऊपर कंकाल उपन्यास का जो कथा भाग संक्षेप में दिया गया है उसमें अधिकतर यही ध्यान रखा गया है कि प्रधान पात्र-पात्रियों की वास्तविक मनोवृत्तियों का प्रदर्शन किया जाय। जिसमें पाठकों को उनके हृदय की बातें सरलता से समझने में सुविधा हो।

कंकाल में धार्मिक सूत्र बाँधकर सामाजिक दृष्टिकोण रखा गया है। अतएव कथा का आरम्भ और अन्त, प्रयाग, हरिद्वार, मथुरा, वृन्दावन, अयोध्या और काशी आदि प्रमुख तीर्थ-स्थानों में ही होता है।

कंकाल लेखक का प्रथम उपन्यास है। पात्रों में प्रतिद्वन्द्विता चलाकर कथा को आकर्षक बनाने का प्रयत्न स्वाभाविक ही है। संसार के अधिकांश उपन्यासों में पात्रों में प्रतिद्वन्द्विता चलाकर कथा को रोचक और कौतूहलपूर्ण बनाने की प्रणाली प्रचलित है। यदि विश्व साहित्य के समस्त उपन्यासों की छानबीन की जाय तो यही निष्कर्ष निकलेगा कि दो स्त्री और एक पुरुष अथवा दो पुरुष और एक स्त्री को लेकर ही प्रतिद्वन्द्विता की भावना प्रबल करने का उद्देश्य लेखकों ने सम्मुख रखा है। भारतीय कथा-साहित्य में बंकिम बाबू के 'विषवृक्ष' के बाद यही धारा बही है।

कंकाल में भी पहले तारा को लेकर मंगल और विजय में यही भावना जाग्रत होती है। विजय तारा से निराश होकर घण्टी के पाश में बँधता है। फिर गाला को लेकर विजय और मंगल का वही मानसिक द्वन्द्व चलता है। अतएव जब विजय जैसा युवक तीन-तीन नवयुवतियों के प्रेम में विकल रहता है, तो कथानक अपने आप आकर्षण की भूमि पर वेग से बढ़ेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं।

'टैकनिक' के ख्याल से लेखक ने इस उपन्यास में काफी स्वतन्त्रता से काम लिया है। जिस तरह नियमित रूप में परिच्छेदों का क्रम उपन्यास में रहता है, वैसा न करके अपनी सुविधानुसार ही लेखक ने उनका क्रम रखा है।

उपन्यासों में प्रायः देखा जाता है कि एक हीरो (प्रधान नायक) और एक हीरोइन (प्रधान नायिका) को लेकर ही उपन्यास चलता है, किन्तु कंकाल में ऐसा नहीं है। 'वैनटी फेयर' की तरह यह पूर्ण रूप से नहीं कहा जा सकता कि मंगल और विजय में कौन प्रधान है ? दोनों का चरित्र जोरदार है, वैसे ही तारा और घण्टी में भी समानता है, यह ठीक है कि तारा का चित्रण अधिक मार्मिक है, उसमें गम्भीरता और त्याग अधिक है, घण्टी में वास्तविकता और हँसोड़ उद्दण्डता का प्रदर्शन है।

कंकाल में भी नियति का प्रभाव उपस्थित हो जाता है, जैसे निरंजन का मठाधीश हो जाना, गाला को डाके का धन मिलना, श्रीचन्द्र को चन्दा द्वारा आर्थिक सहायता मिलनी, मोहन का श्रीचन्द्र का दत्तक पुत्र होना इत्यादि।

गोस्वामी कृष्णशरण का धार्मिक व्याख्यान, गाला की माता की कहानी दोनों कुछ विशेष आकर्षक नहीं, ऐसा प्रतीत होता है कि उपन्यास में इतना अंश किसी तरह रख दिया गया है, टेकनिक के अनुसार भी यह उपयुक्त नहीं जँचता। मैंने कंकाल सुनने के बाद अपना यही मत प्रसाद जी के सम्मुख रखा था। किन्तु लेखक को जो उपयुक्त जँचे वही ठीक है, उसकी स्वतन्त्रता में कौन बाधक हो सकता है ?

कंकाल में कृष्णशरण को छोड़कर सभी चरित्र यथार्थवादी भूमि पर उत्पन्न हुए हैं। समाज का नग्न रूप इतने वास्तविक दृष्टिकोण से रखा गया है कि उसे देखकर आदर्शवादी अवश्य ही अपना मुँह विकृत कर लेंगे। लेकिन मुझे तो सबसे बड़ा आश्चर्य तब हुआ, जब कंकाल की आलोचना करते हुए प्रेमचन्द जी ने लिखा था—घण्टी का चरित्र बहुत ही सुन्दर हुआ है। उसने एक दीपक की भाँति अपने प्रकाश से इस रचना को उज्ज्वल कर दिया है। अल्हड़पन के साथ जीवन पर ऐसी तात्त्विक दृष्टि, यद्यपि पढ़ने में कुछ अस्वाभाविक मालूम होती है, पर यथार्थ में सत्य है। विरोधों का मेल जीवन का गूढ़ रहस्य है।

कहना न होगा कि घण्टी का चरित्र सबसे अधिक यथार्थवादी दृष्टिकोण से किया गया है।

वर्तमान योरोपीय उपन्यासों में सत्यता के नाम पर वास्तविक चित्रण करने में कुछ यथार्थवादी लेखकों को हिचकने की आवश्यकता नहीं पड़ती। मैंने नार्वे के विख्यात लेखक नेट हेमसन का 'दी रोड् लीड्स ऑन' उपन्यास पढ़ा। उसमें नायक की माता के दुश्चरित्रता का वर्णन उसकी पत्नी उससे कर रही है और अपनी माता के कुचरित्रों को नायक भली भाँति जानता है, फिर भी उसके व्यवहार और स्नेह में अन्तर नहीं दिखलाई पड़ता। लेकिन कंकाल में लेखक ऐसा नहीं करता। किशोरी के कुचरित्र होने पर भी विजय को ज्ञात नहीं होता है। विदेशों में चाहे कला के नाम पर नग्न की इस अन्तिम सीमा तक लेखक भले ही पहुँच जाय; किन्तु हिन्दी यथार्थवादी लेखक ऐसा चित्रण करने में अपना

अपमान समझेगा।

'तितली' प्रसाद का दूसरा उपन्यास है, इसमें पूर्व और पश्चिम का मेल कराकर दोनों में अन्तर दिखलाया गया है। तितली में १० स्त्री और १४ पुरुष पात्रों का चित्रण हुआ है। प्रमुख चरित्रों में इन्द्रदेव, मधुबन, रामनाथ, शैला और तितली हैं; मधुबन के चरित्र का आरम्भिक अंश विशेष स्पष्ट नहीं हुआ है, आगे चलकर सूत्र जिस में उसे बाँधा गया है वह अधिक उज्ज्वल हुआ है। रामनाथ का अध्ययन इतना पहुँच जाता है कि वह ग्रीस और रोम की आर्य संस्कृति का प्रभाव भली-भाँति समझते हुए बोलता है; ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक उसके मुँह से केवल अपना विचार प्रकट कर रहा है।

तितली में कंकाल की भाँति स्पष्ट चित्रण नहीं है, पात्रों का अन्तर्द्वन्द्व घटनाक्रम के अनुसार पुष्ट हुआ है, कथानक की दृष्टि से तितली, कंकाल से आकर्षक है, किन्तु चरित्र-चित्रण कंकाल की तरह उतना स्वाभाविक नहीं है।

भाषा की दृष्टि से तितली कंकाल से सरल है; तितली पाक्षिक 'जागरण' में धारावाहिक रूप से प्रकाशित होती रही, कभी-कभी 'मूड' न होने पर भी मेरे अनुरोध से प्रसादजी को बराबर लिखना पड़ता था, अतएव यह भी सम्भव है कि यदि वह इस उपन्यास को अधिक समय देकर लिखते तो वर्तमान रूप से अधिक पुष्ट होता।

तितली उपन्यास में घटनाक्रम के अनुसार पर्याप्त रोमांस है, यही कारण है कि पाठकों को पढ़ने में वह आकर्षक प्रतीत होता है, इसमें 'टर्न' घुमाव जो उपस्थित किया गया है, वह टेकनिक की दृष्टि से पूर्ण हुआ है। कथानक और घटना-क्रम के निर्माण के अनुसार तितली कंकाल से अधिक महत्त्वपूर्ण है। कवि होने के कारण भावुकता की मात्रा उसमें काफी है और दृश्यों का वर्णन इसमें भी अत्यन्त सुन्दर हुआ है।

मधुबन, रामनाथ और सुखदेव चौबे इन तीनों पात्रों के अध्ययन करने पर प्रकट होता है कि लेखक ने इन चरित्रों के सम्बन्ध में इनका काल्पनिक चित्र अपने मस्तिष्क में नहीं बना पाया था। घटना-क्रम के अनुसार ही उनका चरित्र बनता गया।

कंकाल और तितली में सबसे महत्त्व की बात यही है कि कंकाल में चरित्र के अनुसार घटनाक्रम बना है और तितली में घटनाक्रम के अनुसार ही चरित्र-चित्रण किया गया है।

५
प्रसाद द्वारा प्रकृति का उपयोग

[श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र, एम० ए०]

स्वर्गीय बाबू जयशंकर प्रसाद ने अपनी कविताओं में प्रकृति का जैसा उपयोग किया है, वैसा हिंदी के किसी आधुनिक कवि में नहीं देखा जाता। इसका तात्पर्य यह है कि प्रकृति के जैसे मधुर रमणीय दृश्यों की योजना अपने काव्य में उन्होंने की है, किसी दूसरे कवि ने नहीं। काव्य में प्रकृति का उपयोग कितने रूपों में हुआ करता है, इस पर विचार कर लेने के अनन्तर प्रसाद जी द्वारा स्वीकृत रूपों और उनके उपयोग की विशेषता लक्षित करने में सरलता होगी। इसलिए देखना चाहिए कि प्रकृति का उपयोग कितने रूपों में होता है। प्रकृति काव्य में दो रूपों में आया करती है—

१. प्रस्तुत रूप में, और

२. अप्रस्तुत रूप में।

प्रस्तुत रूप में प्रकृति का विधान वहाँ होता है, जहाँ वह स्वतः आलम्बन के रूप में आती है। जैसे किरण, लहर, झरना आदि पर की गई रचनाएँ। अप्रस्तुत रूप में प्रकृति का विधान वहाँ समझना चाहिए, जहाँ वह किसी का अंग होकर आए। जब उद्दीपन के लिए प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन किया जाता है और जब किसी रूप, गुण, क्रिया आदि के स्वरूप का बोध कराने के लिए उसका उपयोग होता है, तो उसका अप्रस्तुत रूप कहा जायगा। जैसे 'आँसू' में प्रेम को व्यक्त करने के लिए और प्रिय के रूप का बोध कराने के लिए कवि ने स्थान-स्थान पर प्रकृति के दृश्य सामने रखे हैं। प्रस्तुत रूप में भी प्रकृति कई रूपों में वर्णित की गई है। स्पष्ट रूप दो दिखाई देते हैं—एक तो ऐसे वर्णन, जिनमें किसी स्थान या समय की आवश्यकता या सामान्यतया दृष्टि-पथ में आने वाली सामग्री का पृथक्-पृथक् उल्लेख मात्र पाया जाता है। दूसरा वह जिसमें पृथक्-पृथक् उल्लेख नहीं होता; वरन् कोई परिस्थिति सामने लाने का प्रयत्न लक्षित होता है। ऐसे वर्णनों में कवि कई वस्तुओं को एक साथ रखकर उन सबके द्वारा घटित होने वाला दृश्य उपस्थित करता है। पहले को 'अश्लिष्ट' और दूसरे को 'संश्लिष्ट' वर्णन कह सकते हैं। इन दोनों प्रकार के वर्णनों में भी प्रकार-भेद पाया जाता है—

१. शुद्ध रूप में,

२. भावाक्षिप्त रूप में, और

३. अलंकृत रूप में।

शुद्ध रूप में वे वर्णन माने जाएँगे जिनमें कवि केवल प्रकृति का रूप प्रस्तुत करता है, प्रकृति ज्यों की त्यों सामने आती है, न उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन होता है और न कवि के हृदय के भाव का आक्षेप। साथ ही वर्णन को अलंकारों से लादने का प्रयत्न भी नहीं देखा जाता। प्रसाद जी की इस रचना में इस प्रकार का शुद्ध रूप में वर्णन नहीं मिलता, उनकी आरम्भ की कुछ कविताओं में ऐसा प्रयत्न है अवश्य, पर वे वर्णन भी अलंकृत होकर ही आए हैं। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय के 'प्रियप्रवास' में कहीं-कहीं ऐसे वर्णन आ गए हैं। जैसे दिवावसान का यह वर्णन—

"दिवस का अवसान समीप था,
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरुशिखा पर थीं अब राजती,
कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा॥"

प्रसाद जी इसलिए दो रूप में प्रकृति का वर्णन ले आए हैं। एक तो भावाक्षिप्त रूप में, दूसरे अलंकृत रूप में। भावाक्षिप्त रूप में उनके वर्णन ऐसे देखे जाते हैं—

"चपला की व्याकुलता लेकर,
चातक का ले करुण विलाप।
तारा आँसू पोंछ गगन के,
रोते हो किस दुःख से आप॥"

कहने वाला दुखी है इसीलिए मेघों में वह दुःख का आक्षेप करके उनका वर्णन करता है। इस प्रकार के वर्णनों में भी वही कवि सफल हो सकता है जो व्यापक अनुभूति रखनेवाला हो और साथ ही कल्पना की सार्थकता के लिए प्रकृति के अवयवों में हर्ष या विषाद की चेष्टाओं का आरोप कर सकने की शक्ति भी रखता हो। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रसाद जी में दोनों ही बातें थीं।

अलंकृत वर्णनों के रूप में ऐसे वर्णन दिखाई पड़ते हैं—

"धरा पर झुकी प्रार्थना सदृश,
मधुर मुरली-सी फिर भी मौन।
किसी अज्ञात विश्व की विकल—
वेदना दूती-सी तुम कौन!"

स्मरण रखना चाहिए कि अलंकृत रूप में प्रसाद दोहरे रूपक तक रख दिया करते हैं, पर इससे दृश्य के माधुर्य में कोई बाधा नहीं पड़ती, प्रत्युत उससे हृदयंगम करने में और सहायता मिल जाती है। देखिए—

"सुदिन मणि-वलय-विभूषित;
उषा-सुन्दरी के कर का संकेत।

"परिरम्भ कुम्भ की मदिरा,
निश्वास-मलय के झोंके।
मुखचन्द्र चांदनी-जल से,
मैं उठता था मुँह धोके॥"

'परिरम्भ' और 'मदिरा', 'निःश्वास' और 'मलय', 'मुखदीप्ति' और 'निर्मल जल' में भावैक्य है। अलंकाराभ्यासी यहाँ एक और चमत्कार पा सकते हैं। 'चाँदनी' मुँह धोने में असमर्थ है, पर 'जल' बनकर वह मुँह धो सकती है। परिणाम अलंकार की चमत्कृति आ गई है। मुख को चन्द्र कहा गया, फिर मुख की दीप्ति चाँदनी हो गई, फिर यह चाँदनी जल बनी और इसने मुँह भी धो दिया। किसी उपमेय का उपमान फिर उपमेय होकर दूसरे उपमान को भी ले आता है। ऐसी दुहरी योजना इनकी रचना में बहुत है। कहना इतना ही है कि प्रेमी प्रातःकाल जब आँखें खोलता है तो सबसे पहले प्रिय का मुख दिखाई देता है।

कहीं-कहीं तो अगोचर भावों को गोचर करने और उनके सम्मिलित माधुर्य की व्यंजना के लिए वे ऐसे-ऐसे दृश्य भी भी ले आए हैं—

"लिपटे सोते थे मन में,
सुख-दुख दोनों ही ऐसे।
चन्द्रिका अँधेरी मिलती,
मालती कुंज में जैसे॥
क्यों व्यथित व्योम-गंगा-सी,
छिटका कर दोनों छोरें।
चेतना तरंगिनि मेरी,
लेती है मृदुल हिलोरें॥"

अधिक कहने की आवश्यकता नहीं, प्रसाद जी ने प्रकृति की ऐसी पीठिका अपनी कविता में दी है, जिससे प्रसंग प्राप्त दृश्य रूप, वस्तु आदि की रमणीयता बहुत बढ़ गई है। कविता में प्रकृति ऐसी मधुर रमणीय योजना करने वाला और उसके प्रति ऐसी मार्मिक दृष्टि रखने वाला कोई दूसरा आधुनिक कवि नहीं दिखाई देता। प्रकृति के विविध रूप तो इनकी कविता में नहीं मिलते, पर जो मिलते हैं, उनकी मधुरिमा, उनकी रमणीयता ऐसी है, जैसी अन्यत्र दुर्लभ। इनका संतोष 'कोमलता' से नहीं होता कोमलतम की ओर ये उन्मुख रहते हैं। 'प्रसाद' शृंगार-लोक के स्रष्टा और सौन्दर्य-लोक के द्रष्टा थे। उन्होंने हिन्दी में 'रसमयं जगत्' को सिद्ध कर दिया है।

६

प्रसाद जी की भाषा और छन्द

[डा० सत्येन्द्र]

कवि अपना कवि-कर्म करता हुआ भाषा से सम्बद्ध हो जाता है। उसका काव्य भाषा बनकर उद्गारित होने लगता है। इस उद्गार पर उसकी अपनी अभिव्यक्ति का भार होता है। भाषा अथवा उद्गार यद्यपि उसके सम्पूर्ण अन्तरत्व को प्रकाश नहीं करती और उसमें जो कुछ प्रकट है वह भी उसकी सम्पूर्णता नहीं—वह सब तो उसके अपने अन्तर-विराट के स्फुलिंगों की धारा मात्र है। फिर भी वह अन्तरत्व के लिए ही है। वहाँ कवि केवल इस स्फुलिंग धारा को दिखाने के लिए अन्तर-वह्नि को जागरित करता है, और जहाँ वह अन्तर-वह्नि की प्रबल उद्दीप्ति से विवश हो भाषा-स्फुलिंगों को रोक नहीं सकता। इन दोनों अवस्थाओं में अन्तर है—दूसरी अवस्था में कवि का अन्तर ठीक अनुवादित हो रहा है। पहली अवस्था में छद्म कवि में आ जाता है।

कवि के पास भाषा-संकेतों के अतिरिक्त और कोई साधन निजी भाव-विनिमय का नहीं। भाषा वह माध्यम है जो उसके जानने वाले व्यक्तियों के मानस धरातल को एक कोटि में लाकर रख देता है। कवि इसी साधन को जितनी कुशलता से काम में लाना जानता है, उतनी ही उसकी अभिव्यक्ति ऊँची होती है, उतना ही वह सौन्दर्य का दर्शन कराने में अधिक सफल होता है। किन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि एक भाषा के विभिन्न वर्ग होते हैं। उसकी सीढ़ियाँ होती हैं—और उसका सबसे निचला डण्डा वहाँ होता है जहाँ केवल अपनी आवश्यकताओं भर से घिरा हुआ अभावुक मानस अपना दैनिक व्यापार-सम्पादन करता है और अपना तन्मात्र अस्तित्व से आगे मानस का विस्तार करना ही नहीं जानता। और उसका सबसे ऊपरला डण्डा वहाँ होता है जहाँ कला-विलासी मनुष्य इस जगत-जीवन के सारे भूः भुवः—तल और अन्तरिक्ष को आत्मसात् करता हुआ स्वः—रहस्य-लोक में झाँकने लगता है और वहाँ वह सीढ़ी अपनी शक्ति की ऊँचाई की पराकाष्ठा के छोर पर पहुँचाकर उस विराट अन्तर्लोक में अपनी असमर्थता और क्षुद्रता अनुभव करती है, वहाँ पहुँचकर मनुष्य और ऊपर उठने की चेष्टा करता प्रतीत होता है और उस सीढ़ी में कुछ और वृद्धि करने में भी लगता है—एक ही वस्तु की तारतम्यात्मक अवस्था होते हुए भी प्रथम और अन्तिम अवस्थाओं में पाताल और आकाश का अन्तर है—और इन दोनों ओर-छोर के बीच कितनी ही क्रमागत अवस्थाएँ हैं—और एक ही कार्य में जैसे-जैसे वह मानव-मेधा में व्यवहार-व्यापार की अपनी अन्तिम श्रेणी से उत्तरोत्तर ऊपर

उठता चलता है, उसका मानस-क्षेत्र अधिकाधिक प्रकाश प्रोद्भासित होता हुआ क्रमागत कला-विलास, सौन्दर्य और शिल्प के सत्व का दर्शन करता चलता है। वह भाषा की भी वैसी ही सीढ़ियाँ चढ़ता चलता है।

प्रसाद जी ने जिस अन्तरिक्ष में पहुँचकर ऊँचा झाँकते-झाँकते अपने कवि-कर्म की इति घोषित की है। वहाँ से नीचे देखने पर यद्यपि गहराई बहुत अधिक दीखती है, पर उन्होंने डंडे बहुत कम उल्लंघन किये हैं। कारण यह है कि प्रकृति-स्थिति ने उन्हें भाषा की बहुत उच्च कक्षा में आरम्भ से ही पहुँचा दिया था। उनकी संस्कृत मनोवृत्ति ने चुनी, सुघर और सुघर भाषा को आरम्भ से ही अपना माध्यम चुना। ऐसा केवल हम उसी भाषा के सम्बन्ध में कह रहे हैं जो उनकी अपनी भाषा है। यों तो सबसे पहले जिसमें लिखा वह भारतेन्दु खेवे की भाषा थी—वह ब्रजभाषा कही गई थी, उसमें प्रसाद जी ने कविताएँ कीं और अनुभव किया कि वह उनके लिए विभाषा है। उसको उन्होंने त्याग ही नहीं दिया, वरन् अपनी पूर्व ब्रजभाषा कृतियों का दूसरा संस्करण उन्होंने अपनी निजी भाषा में अनुवाद कर प्रकाशित करा दिया। प्रेम-पथिक एक इसका उदाहरण है, जिसके प्रथम संस्करण के निवेदन में कवि ने लिखा है—

"केवल इतना कह देना अधिक न होगा कि यह काव्य ब्रजभाषा में आठ वर्ष पहले मैंने लिखा था,·········यह, उसी का परिवर्तित, परिवर्द्धित, तुकान्त-विहीन हिन्दी रूप है।" —और वह हिन्दी ब्रजभाषा से भिन्न उनकी अपनी भाषा है। यद्यपि उन्होंने इसको यह रूप देने का कारण दिया नहीं पर वह इतना स्पष्ट इतना और नंगा है कि न कहना ही ठीक था—और इस प्रेम-पथिक की आरम्भिक पंक्तियों में हम क्या देखते हैं—

"संध्या की, हेमाभ तपन के, किरणें जिसको छूती हैं,
रञ्जित हैं देखो जिस नई चमेली की मृदु से।"

और यहीं से यदि उनका आरम्भ मानें तो भाषा की निचली सीढ़ी कितनी गहराई में दीखती है—इतने ऊँचे धरातल से कवि ने आरम्भ किया और ऊँचा उठाने की चेष्टा की। उसे अब भाषा मिल गई थी। और वह कवि-कर्म में अपने मनोकूल संलग्न हुआ।

उसने 'कामायनी' में आकर अपनी कवि-वाणी को विश्रान्ति दी—और यहाँ तक कि भाषा को भी वह उठा ले गया।

भाषा और भाव का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। इसका तात्पर्य केवल इतना ही नहीं कि बिना भाषा के भाव और बिना भाव के भाषा अपना अस्तित्व नहीं रख सकते—इससे भी आगे इसका अर्थ यह भी है कि भाव के अनुकूल भाषा बनती है और भाषा के अनुकूल भावों की सृष्टि होती है और एक अपने साथ दूसरे को ऊपर उठाने की चेष्टा करता है। किन्तु हर काल में ऐसी अवस्था नहीं रहती। कभी भावों का ऐसा विपुल जागरण होता है, कभी भाव वस्त्रों की भाँति एक के ऊपर एक ऐसे उच्च स्थित होते चले आते हैं

कि उस तुमुल में भाषा शान्त हो जाती है। वह जो कुछ कहना चाहती है, केवल संकेत-बिन्दु-मात्र का रूप धारण कर कहती है—वह तथ्य पूर्ण को पूर्णता के साथ अभिव्यक्त नहीं कर सकती। वह उसको अपनी अशक्त अपूर्णता के साथ केवल ध्वनित करती है—तब अर्थ-वाच्य से काम अधिक हो जाता है—किन्तु इससे पूर्व कवि में वह अवस्था मिलती है जहाँ भाव से अधिक भाषा का प्राधान्य दिखाई पड़ता है। इस अवस्था में कवि जितने भी भाव लाता है वे शब्दमय होते हैं। एक-एक भाव के जितने भी अधिक से अधिक शब्द हो सकते हैं उतने शब्दों में व्यक्त होता है। तब कवि बजाता अधिक है गाता कम है। वह हृदय का रस शब्दों में कम उँड़ेल पाता है—शब्दों के रस को ही उलटा हृदय में उँड़ेलना चाहता है। प्रसाद जी के साथ इन दोनों में से कोई भी बात नहीं लगती।

उनमें हमें आरम्भ से ही विशिष्ट गम्भीरता मिलती है। उनकी भाषा की भँवें भीषण आवेगावस्था में भी विकृत नहीं होतीं, यों एक-आध कम हो जाने से कुछ बनता-बिगड़ता नहीं—किन्तु वह चञ्चलता, हास्य, क्रोध, करुणा, भाषा में खिलखिलाहट अथवा विकलता का उद्भास एक प्रकार से शून्य ही है। —एक मन्थर गति का विधान—एक अन्तर स्थिरता-सी जमी हुई जड़—अडिग और अचल सुमेरु-सी आदि से अन्त तक के काव्यों में हमें मिलती है।

ऐसी अवस्था में केवल शब्द-सौन्दर्य के बाह्य-उपकरणों का विकास प्रसाद जी में नहीं मिलेगा। प्रेम-पथिक की भाषा और भाव की संयोजना में निस्सन्देह शब्दों का आवरण गहरा अवश्य है किन्तु उस मूर्त्त गम्भीरता के कारण वे दिवालिया नहीं लगते। तर्क-विहीनता ने उस दरिद्रता का विभ्राट और भी नहीं होने दिया। करुणास्थल प्रेम-पथिक में आया है—

"फिर तो चारों दृग आँसू चौधारे लगे बहाने। हाँ,
सचमुच ऐसा करुण दृश्य करुणानिधि को भाता है।
कृपा नाव क्या उनकी इस सागर में तैरा करती है,
किसी मनुज का देख आत्मबल कोई चाहे कितना हो।
करे प्रशंसा किन्तु हिमालय-सा भी जिसका हृदय रहे,
और प्रेम, करुणा, गङ्गा-यमुना की धारा बही नहीं।
× × ×
नीलोत्पल के बीच सजाये मोती-से आँसू के बूँद!
हृदय-सुधानिधि से निकले हो, सब न तुम्हें पहिचान सके,
प्रेमी के सर्वस्व अश्रुजल चिर दुःखी के परम उपाय!"

इन पंक्तियों की भाषा उतार-चढ़ाव-शून्य है। करुणा के चित्र का व्यंग्य इसमें अवश्य है। आँसू की उक्ति में जितनी विशद भावुक कल्पना है, पर वह उतनी वाच्य नहीं।

शब्दों ने अपनी महिमा से कुछ नहीं कहना चाहा जो कुछ उन्हें कहना हुआ है वह ध्वनि से कहा है। शब्द एकरस शान्त से वाक्य के आरम्भ से अन्त तक हैं। दुःखी उच्छ्वासों का भौतिक शब्दानुवाद इन पंक्तियों में नहीं—और वह कवि में कहीं भी नहीं। जहाँ थोड़ा-बहुत ऐसा विकलत्व कवि ने दिखाना पसन्द किया है वहाँ भाषा की अपेक्षा, आरम्भिक अवस्था में छन्द की गति के उद्वेलन से प्राप्त किया है। लहर से सङ्कलित 'प्रलय की छाया', 'पेशोला की प्रतिध्वनि' और 'शेरसिंह का शस्त्र-समर्पण' को देखकर जाना जा सकता है। उनमें कुछ विकलत्व है, वह छन्द की गति के क्षोभ के कारण है। प्रसाद की भाषा प्रिय-प्रवास के कवि के कंकड़-पत्थरों से भरी हिम-स्राव-सी भाषा नहीं, गुप्त जी की भाषा की सागर वीचियों के फेनिल उद्वर्तन का भी यहाँ अभाव है, पन्त जी की वह नवनीति मधुर सङ्गीतस्वरता भी प्रसाद में नहीं। प्रसाद में भाषा का अनूठा हेमोज्ज्वल सुकरत्व है।

पर कोई कह सकता है कि भावों के अनुकूल समस्वरित भाषा न हो तो यह भाषा का दोष है। भाषा उद्वेग-चित्रों की यदि अपने निजी विकारों से प्रकट कर सकती है तो वह सोने में सुगन्ध के समान काव्य और कवि के उत्कर्ष को बढ़ाती है। यह लोच और ओज भाषा की जान हैं—और प्रसाद की भाषा इस दृष्टि से खरी नहीं कही जा सकती। यह भी कहा सकता है कि ऐसा कवि शब्दों की आत्मा से परिचित नहीं। यह भी सन्देह किया जा सकता है कि ऐसा कवि कभी अपने काव्य को अभिव्यक्तिपूर्ण और प्रभावोत्पादक बना सकता है ?

भाषा-सौन्दर्य का जब तक मौलिक-ज्ञान न हो तब तक इन प्रश्नों का ठीक उत्तर नहीं मिल सकता। भाषा प्रत्येक व्यक्ति के साथ परिवर्तित होती है। जिसमें जितनी अधिक प्रधान उसके निजी व्यक्तित्व की प्रेरणा होती है उतनी ही अधिक उसकी भाषा में अन्य व्यक्तियों से भिन्नता होती है—

यह वैयक्तिक भिन्नता, संक्षेप में ऊपर बतायी जा चुकी है। किन्तु इस भिन्नता के साथ प्रत्येक कवि में उसकी भाषा के सौन्दर्य का भी एक अन्तर-रूप उपस्थित रहता है। प्रसाद जी ने 'झरना' में कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार लिखी हैं—

"सरसों के पीले कागज पर बसन्त की आज्ञा पाकर,
गिरा दिए वृक्षों ने सारे पत्ते अपने सुखलाकर।
खड़े देखते राह नये कोमल किसलय की आशा में,
परिमल पूरित पवन-कण्ठ से, लगने की अभिलाषा में।
अतल सिन्धु में लगा-लगाकर, जीवन की बेड़ी बाजी,
व्यर्थ लगाने को डुब्बी हाँ, होगा कौन भला राजी।
मिले नहीं जो वाञ्छित मुक्ता अपना कण्ठ सजाने को,
अपना गला कौन देगा यों बस केवल मर जाने को।

मलयानिल की तरह कभी आ, गले लगोगे तुम मेरे,
फिर विकसेगी उजड़ी क्यारी, क्या गुलाब की यह मेरे।
कभी चहलकदमी करने को, काँटों का कुछ ध्यान न कर,
अपना पाईबाग बना लोगे प्रिय ! इस मन को आकर ॥"

—झरना में 'पाईंबाग'

इस कविता की भाषा में क्या है ? विन्यास में मर्म को छूने की चेष्टा है और कुछ शब्दों को टटोलने का उद्योग। विन्यास गठित और संस्कृत है। कवि शब्दों में सौन्दर्य ढूँढ़ने में लगा हुआ है। तभी कभी कवि कहता है—

'परिमल पूरित पवन कण्ठ से, लगने की अभिलाषा में'—और कहीं कहता है; 'कभी चहलकदमी करने को काँटों का कुछ ध्यान न कर'—ऐसी चहलकदमी कवि में बहुत कम है। उसने शब्दों के सौष्ठव को ढूँढ़ा और तब सम्भवतः इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि शुद्धता वाञ्छनीय है; शुद्धता भी तपे हुए सोने की। उसने फिर ढले हुए शब्दों का ही प्रयोग किया। इस सहज शुद्धता के सौन्दर्य की वृद्धि कवि के एक और भाषा सिद्धान्त पर निर्भर करती है। भाषा में शब्द सम्बद्धता दो प्रकार की होती है; एक शब्दानुवर्तिनी और दूसरी भावानुवर्तिनी। जहाँ शब्द शब्द से अपने आप जुड़े वहाँ शब्दानुवर्तिनी सम्बद्धता होगी। इसके लिए पदावली समास-प्रणाली की संश्लिष्ट योजना का सहकार लेती है। 'विश्व-मधु ऋतु के कुसुम विलास' लहर, पृष्ठ १६ में प्रसाद जी ने उसी शब्दानुवर्तिनी सम्बद्धता का सहारा लिया। इस प्रकार की घनिष्ठता भाषा-सौष्ठव और सौन्दर्य को भाराकान्त कर देती है। शब्द अपने प्रयास से एक विशेष प्रकार के भाव को खींचकर लाना चाहते हैं और सहजत्व में व्याघात उत्पन्न हो जाता है। कुछ कवि तो प्राचीन संस्कृतानुकरण पर ऐसे-ऐसे वाक्य लिख देते हैं—'रूपोद्यानप्रफुल्लप्रायःकलिकाराकेन्दु बिम्बानना'। प्रसाद जी ने इस सिद्धान्त को नहीं माना। भावानुवर्तिनी घनिष्ठता उन्होंने अपनायी है। इसमें भावों की प्रवाहित धारा में शब्द, विशिष्ट मणिकाओं से, एक दूसरे से अपने उद्गारों को मिलाये प्रतीत होते हैं। मिलित और समस्त पद उसमें नहीं। इस सिद्धान्त से भाषा में एक स्वाभाविकता आ जाती है। वह शुद्धता, जो अन्यथा संस्कृताश्रयी होकर एक जटिलता उत्पन्न करती और सौन्दर्य को विकृत करती है इस सहजता से खिंचकर स्फूर्तिप्रद हो गई है—

"जीवन की अविराम साधना,
भर उत्साह खड़ी थी।
ज्यों प्रतिकूल पवन में तरणी,
गहरे लौट पड़ी थी।"

—कामायनी, पृष्ठ १०६

"हिमगिरि के उत्तुङ्ग शिखर पर,
बैठ शिला की शीतल छाँह।
एक पुरुष, भीगे नयनों से,
देख रहा था प्रलय प्रवाह॥"

—कामायनी पृष्ठ, २

इस शुद्ध स्फूर्ति के साथ भाषा-सौन्दर्य का प्राण 'करुणा' है। रस की करुणा नहीं, भाषा की करुणा। रस की करुणा तो विशेष भावोत्पादन पर आश्रित है, उसका स्थायी भाव होता है करुणा। किन्तु भाव चाहे कैसे ही हों संगीत-स्वर लहरी में कुछ विशिष्ट स्वरों का आगम और विशेष के निषेध जैसे एक करुणा-लहरी की लय नर्तन कर उठती है, उसी प्रकार भाषा-विकास में भावों से मुक्त भी एक करुणा ऐसे ही मिलती है जैसे प्रसाद, ओज और माधुर्य गुण मिलते हैं। इस प्रकार कवि ने स्वतः भाषा को हृदय के मूल काव्य-रस के पास पहुँचा देने का प्रयत्न किया है—उसका सौन्दर्य कितना अभूत हो चला है—वह कहता है—

"अधर में वह अधरों की प्यास,
नयन में दर्शन का विश्वास।
× ×
टूटते जिससे सब बन्धन,
सरस-सीकर से जीवन वन।"

—लहर, पृष्ठ २१

अथवा

"झील में झाईं पड़ती थी,
श्याम-वनशाली तट की कान्त।
चन्द्रमा नभ में हँसता था,
बज रही थी वीणा अश्रान्त॥
तृप्ति में आशा बढ़ती थी,
चन्द्रिका में मिलता था ध्वान्त।
गगन में सुमन खिल रहे थे,
मुग्ध हो प्रकृति स्तब्ध थी शान्त॥"

—झरना, पृष्ठ ७१

झरना के उद्धरण में कवि में भाषा-चैतन्य की कमी है। शब्द आये हैं, बस वे आ गये हैं—किन्तु फिर भी उनके विन्यास में कवि करुणा बैठाये हुए हैं। ये भाषा

का कारुण्य उनके नाटक के गीतों में भी विद्यमान है, और कामायनी में तो बहुत ही प्रस्फुट है—

"कौन हो तुम विश्व माया कुहुक-सी साकार,
प्राण सत्ता के मनोहर भेद-सी सुकुमार !
हृदय जिसकी कान्त छाया में लिये विश्वास,
थके पथिक समान करता व्यजन ग्लानि विनाश !"

—कामायनी, पृष्ठ ६०

भाव आश्चर्योल्लास से पूर्ण हैं पर भाषा करुण है। भाषा पर इस करुण पालिश के सुकरत्व को हम कुछ समझ पाते हैं। वे इतने ऊँचे धरातल पर हैं कि साधारण भाव-भंगिमाओं के लिए उन्हें विशेष भाषा-व्याहन करने की, उसमें अधिक उतार-चढ़ाव करने की आवश्यकता नहीं। ये रूढ़ि-मुक्त रस के अभिव्यक्ता नहीं। उन परिपाटियों के नव अर्थकार हैं। ये सौन्दर्य के साक्षात्कारक हैं और जिस सौन्दर्य का उन्होंने दर्शन किया है वह स्निग्ध और अभूत तथा अमूर्त है। उसकी कल्पना करना रहस्य से मण्डित और संस्कृत है—उसमें स्फूर्ति भी है। इसी के अनुरूप इनकी भाषा है जो अनुद्वेलित करुण इंगितों का एक श्लिष्ट मण्डल तैयार करती है—उसी में उनकी कल्पना उतरती है।

करुण-भाषा की स्फूर्तिप्रद तूलिका से, ऐसा नहीं कि उन्होंने मूर्त चित्र उपस्थित ही नहीं किये। उनके उपस्थित मूर्तचित्रों की रेखायें इतनी गहरी और उभरी नहीं कि साधारण दृष्टि मे दीख जायें। भावों के जिस स्निग्ध लोक के निस्पन्दन दृश्य कवि ने उतारे हैं उनमें प्रतीक-सी अपनी सत्ता को लय किये हुए उनकी भाषा की मूर्त-चित्रता है। वह उस पेन्सिल चित्र की रेखाओं के समकक्ष है जिसमें एक अंकन ही अपनी परम्परा सब रेखाओं में बनाये हुए ऊँचाई-गहराई, गोलाई, लम्बाई, चौड़ाई का विस्पष्ट रूप निर्दिष्ट करता है, और जिसमें ये सब परिमितियाँ किसी भाव-जागरण को प्रधानता देने के कारण गहराई से अपना महत्त्व घोषित नहीं करतीं, जैसे अपना ऐक्य समर्पण कर स्वतः भाव बन गई हों तुलसीदास जी ने जब कहा—

"उछलति उव्वि अति गुव्वि सब्ब पव्वं समुद्द सर।"

और इस प्रकार समुद्र का और पृथ्वी का चांचल्य अर्थ और शब्द दोनों से समान हुआ। *इसमें मूल शब्दों की हिलकोर से उन रेखाओं का चित्र उतरता है, कवि का भाव* भी यहाँ उद्दण्ड है। प्रसाद जी ने अपने काव्य में इन तूफानों की जहाँ सृष्टि की है वहाँ मूर्त ऐन्द्रिकता के सहारे नहीं की, वरन् भावेन्द्रिकता के सहारे की है। उव्वि गुव्वि पव्वं आदि से कण कुहरों में जो संघर्ष होता है उसका अर्थ उद्वेलन लगता है। प्रसाद जी ने अपनी भाषा में इसे पचा लिया। वे जब लिखते हैं—

"चलो, देखो वह चलो आता बुलाने आज—
सरल हँसमुख विधु जलद लघु खण्ड वाहन साज।"

. . इन पंक्तियों से किसी के आने के शब्दों का जो मूर्त चित्र उपस्थित होता है वह बहुत पूर्ण और सफल है। किन्तु मूर्त ऐन्द्रिकता नहीं, भावेन्द्रिकता है। प्रत्येक शब्द अपने ध्वनि-संघर्ष से नहीं वरन् भाव-संघर्ष से अपना एक रूप स्थिर करता है। 'सरल हँसमुख विधु जलद लघु खंड वाहन साज'—इसमें सब शब्द अपने अर्थ-भाव के साथ अपने रूप के भावों को भी जाग्रत करते हैं। उनमें जो मूर्त रूप आता है उसमें अर्थाभाव भरकर कल्पना को विशद और सजीव कर देते हैं। 'क्षिति' शब्द से जो वर्ण-संघर्ष से ऊँचाई-नीचाई की मूर्त ऐन्द्रिकता का चित्र उपस्थित होता है, उसमें क्षिति का अर्थ 'पृथ्वी' कहीं समाता नहीं। यहाँ भावेन्द्रिकता नहीं हो सकती जैसी प्रसाद जी की पंक्ति में है। अतः कवि भाषा को बहुत ऊँचा उठा ले गया है—उसकी भाषा भावुकता के साथ और ऊपर झाँकने को प्रस्तुत है। अपना सौन्दर्य उसने सँवारा है कि और ऊँचे सौन्दर्य की ओर चले, पर कलाकार की आँख उससे भी बड़े कलाकार ने बन्द कर दी।

प्रसाद जी के छन्द

वाक्य भाव की भाषा है तो छन्द वाक्य की भाषा है। प्रसाद जैसा कवि केवल भावद्वेगों को उद्गार करने के लिए नहीं, वह रस अथवा सौष्ठव मात्र उपस्थित नहीं करना चाहता है, वह संस्कृत सौन्दर्य और सौन्दर्य अथवा संस्कृति को झाँकने वाला है। उसने उसे देख लिया है, इसीलिए एक भावुक भक्त की भाँति सौन्दर्य के आवाहन के सत्कार के प्रत्येक बेर को शबरी की भाँति चखकर सुरुचि के साथ बड़ी भावातुरता किन्तु आत्म-विश्वास के साथ रखता है। उन्होंने अपना ज्ञान और पाण्डित्य नहीं प्रकट किया। विविध छन्दों का उन्होंने उपयोग किया है, किन्तु इस बात पर एक बार अविश्वास किया जा सकता है कि उन्होंने छन्द-शास्त्र को कभी महत्त्व दिया था, उसका यथाविधि अध्ययन भी किया। यह इसलिए नहीं कि उन्होंने जो छन्द लिखे वह शास्त्रानुकूल नहीं, वे सभी शास्त्र प्रतिपादित हैं; बस उनमें शास्त्रीयता नहीं मिलती। प्रसाद सहज सुधा प्रतीत होते हैं—उन्होंने जितने भी छन्द लिखे हैं उन सब में उन्होंने काव्य के सौन्दर्य की पात्रता मात्र देखी है। उस पात्रता के लिए स्वर-संगीत एक आवश्यक तत्त्व उन्होंने समझा है। स्वर-संगीत का अर्थ शब्दों की सुगीतिता नहीं जैसी पन्त में है। इसका अर्थ कोमल सुचारु वर्णों का चेतन प्रयोग भी नहीं, न इसका अर्थ संगीत की लय-गति है। इसका अर्थ है अक्षरों के स्वरों का एक दूसरे में द्रवित होते चले जाना। इस प्रकार छन्द में द्रवित स्वरों का प्रवाह है जिससे एक संगीत स्वयं प्रवाहित होने लगता है—इसी के अनुकूल उन्होंने छन्दों का चयन किया है—

"निज सौध सदन में उटज पिता ने छाया,
मेरी कुटिया राज भवन मन भाया—"

साकेत के इन चरणों में संगीत है किन्तु इन पंक्तियों को देखिये—

"तू बढ़ जाता अरे अकिंचन, छोड़ करुण स्वर अपना,
सोने वाले जाकर देखें, अपने सुख का सपना।"

—लहर, पृष्ठ ५१

इनमें स्वर-संगीत है। छन्द के स्वर बहे-बहे एक चरण से दूसरे चरण में अपनी लय को तिरोहित कर आगे को उद्बुद्ध करते है। दोनों के संगीत का सिद्धान्त अलग-अलग है। यह स्वर-संगीत प्रसाद जी के प्रत्येक काव्य के अन्तर में प्रवाहित है। यह शब्दों के कारण नहीं वरन् छन्दों के स्वभाव के कारण है।

उन्होंने छन्द कितने ही प्रकार के लिखे हैं, 'झरना' जैसे ग्रह में ४८ छोटी-छोटी कविताएँ हैं; और प्रायः प्रत्येक कविता एक नये छन्द मे लिखी गई है—किन्तु नया छन्द लिखा गया इस ज्ञान से कि यह भिन्न जाति का हो और बस; उन्होंने यह कभी नहीं जाना कि कौनसा छन्द लिखा जा रहा है। इसका फल यह हुआ कि उन्होंने स्वान्त्रतापूर्वक शास्त्र निर्णीत विभिन्न छन्दों को मिलाकर अपने लिए एक रचना की है।

'झरना' में झरना नाम की पहली कविता का एक छन्द शास्त्र-प्रथा विरुद्ध छः चरणों का है—

"मधुर हैं स्रोत, मधुर हैं लहरी।
न हैं उत्पात, छटा है छहरी॥

—मनोहर झरना

कठिन गिरि कहाँ विदारित करना।
बात कुछ छिपी हुई है गहरी।
मधुर है स्रोत मधुर है लहरी॥"

प्रथम दो चरण १७-१७ मात्रा के हैं। तीसरा ६ मात्राओं का है। चौथा फिर १७ मात्राओं का है। पाँचवाँ भी ऐसा ही है। छठा तो टेक की भाँति सबसे ऊपर के चरण की दुहराहट है। १७ मात्राओं वाले चरण में ८ और ६ पर यति है, किन्तु यह यति का नियम व्यापक नहीं। कवि ने इसे आवश्यक नहीं समझा। हाँ, जहाँ यह रहा है वहाँ चरण अपनी गति में सावधान और सुन्दर रहा है। अन्तिम यतिकाल की मात्रा का चरण तीसरा है। इस प्रकार छन्द में संगीत पैदा किया गया है। प्राचीन पिंगलों में ऐसा छन्द नहीं मिलेगा। कवि ने अपनी शक्तिशाली रचना से प्राचीन छन्द परिपाटी की जड़ में अपनी दृष्टि डाल दी है। वे इसी कारण नव छन्द रचना के मूलाधार हुए। काव्य और भाव का ही नया रूप उन्होंने नहीं उतारा, किन्तु छन्द का भी नया रूप उपस्थित किया। स्वर-संगीत वाला कवि तुक को गर्हित नहीं समझता तो उसके लिए प्राण भी नहीं देता। प्रसाद जी तुकों की अवहेलना नहीं करते उन्हें केवल और सिद्धान्त पर लाने के पक्ष में हैं। वे उन्हें आवश्यक नहीं समझते और यही दिखलाने के लिए उन्होंने कई रचनाएँ

तुकविहीन भी—

"वीणे ! पञ्चम स्वर में बजकर मधुर मधु,
बरसा दे तू स्वयं विश्व में आज तो।
उस वर्षा में भागे जाने से भला,
लौट चला आवे प्रियतम, इस भवन में।"

किन्तु छन्द जीवन को ललित बनाने के लिए उसे उपयोगी समझा है और जब वे एक रियर महाकाव्य लिखने बैठे तो उसमें किसी छन्द को अतुक नहीं रख सके; यद्यपि तुक का नियम अपनी रुचि के अनुकूल ही कहीं भले ही रखा हो। तुकहीन रचनाएँ दो प्रकार की हैं—एक तो ऊपर जैसी हिन्दी की शैली की, जिसमें छन्द की गति निश्चित मात्रा के मार्ग से हुई है, अथवा इसी के थोड़े हेर-फेर से विशेष संगीताधीन किये हुए छन्द के द्वारा जैसा झरना के पहले छन्द में मिलता है। दूसरी शैली में कवि ने मात्रा-विधान का स्थान नहीं रखा। भावों की माप के अनुकूल नादस्फोट और लय-विराम के सिद्धान्त पर—

जैसे 'प्रलय की छाया' में—

"थके हुए दिन के निराशा भरे जीवन की,
सन्ध्या है आज भी तो धूमर क्षितिज में।"

और उस दिन तो—

"निर्जन की जलधि-वेला रागमयी सन्ध्या से—
सीखती थी सौरभ से भरी रंग रलियाँ।"

× × ×

"आँखें खुलीं,
देखा मैंने चरणों में लोटती थी,
विश्व की विभव-राशि।
और थे प्रणत वहीं गुर्जर-महीप भी !
वह एक सन्ध्या थी !"

इसमें किसी चरण की मात्रा निश्चित नहीं। प्रत्येक चरण प्रायः भिन्न मात्रा का है, जहाँ दो चरणों में मात्रा-सन्तुलन है, वह इसलिए है कि उन दोनों में भाव-सन्तुलन भी है। भाव के अनुकूल उसके विस्तार के साथ छन्द के चरणों का नियमन हुआ है। इसमें इसके साथ साथ एक गहरी स्वर-धारा समवेत है। वही नाद-स्फोट और लय-विराम से काव्य के छन्द को छन्द बनाये हुए है। हम एक स्वर-धारा में पढ़ना आरम्भ करते हैं—

आँखें खुलीं—और अन्तिम स्थल पर एकम त्र पूर्ण होता है किन्तु लय-विराम नहीं। इसलिए स्वर का नाद-स्फोट उसे चरण बनाता है। वह स्वर-धारा किन्तु आगे

बढ़ती ही जाती है। 'थी' और 'राशि' पर नाद-स्फोट के कगारों को उलँघते-उलँघते न केवल भाव उग्र होते हैं लय भी तीव्र होती है—

और ये प्रणत वहीं गुर्जर-महीप भी—और यहाँ लय विराम आता है। इस प्रकार इस छन्द का विधान हुआ है। इस सब में स्वर-धारा को बाँधे रखने वाला छन्द हिन्दी का 'कवित्त' अथवा 'मनहरण' है। यह कवि ने ऊपर की सबसे पहली दो पंक्तियों से ही प्रकट कर दिया है, और सारा छन्द जिसे हिन्दी में कभी केंचुआ, कभी रबड़ छन्द बतलाया गया था, केवल उसी अति-प्रचलित कवित्त का प्रयोग भिन्नता थी। उसी कवित्त के रणों तथा चरणांगों को मात्रानुरूप नाद-स्फोटों तथा लय-विरामों से सजाकर नये रूप मे उपस्थित कर दिया। इससे कवि की सृजन की मौलिकता का कितना असन्दिग्ध पता मिलता है।

तो जब तक कवि छोटे-छोटे उद्‌गारों को छोटी-छोटी भाषा में बाँधता रहा उसने ये प्रयोग किये, आगे बढ़ते ही जैसे उसने महाकाव्य की रचना की रूप-रेखा खड़ी की, उसने वे सब प्रयोग करना छोड़ दिया और वह अपने विधान में छन्दों के प्रयोगात्मक महत्त्व को छोड़, सिद्धरूप को लेकर चलने के लिए प्रस्तुत हुआ। वहाँ भी वह क्रम स्पष्ट नहीं, किन्तु वहाँ वह इतना गम्भीर हो गया है कि उसके प्रयोगों में जो उतावलापन दीखता है, वह छोड़ दिया है।

कामायनी के छन्द प्रायः ३०–३२ और २४ मात्राओं और इसके १६, १६; १६, १५; १६, १४ वाले भेदों के अन्तर्गत ही आते हैं—कामायनी का आरम्भ १६–१५ मात्राओं के वीर छन्द से होता है। वह वीर छन्द तो कवि ने रखा है, किन्तु १६ का एक चरण और १५ का दूसरा चरण बनाकर साधारणतः जहाँ यति हो वहाँ चरण-पूर्ति मानकर 'वीर छन्द' का रूप बदल दिया है। इस प्रथम 'चिन्ता' के अध्याय में 'वीर छन्द' के बीच मे 'कुकुभ' के समकक्ष १६; १४ के यति पर चरणपूर्ति वाला छन्द लिखा गया है, जिसके अन्त मे दो गुरुओं का नियम नहीं रखा गया है। 'आशा' में भी ऐसे ही छन्दों का प्रयोग है। 'श्रद्धा पटल' में छन्द बदलकर १६-१६ मात्राओं के चरणों के हो जाते हैं। यह 'शृंगार' नामक छन्द है। इसके अन्त मे ऽ। होता है।

"कौन तुम संसृति-जलनिधि नीर,
तरंगों से फेंकी मणि एक।
कर रहे निर्जन का चुपचाप,
प्रभा की धारा से अभिषेक?"

इसमे कहीं-कहीं ऽ। के स्थान पर अन्त मे ऽ भी कर दिया गया है—यथा—

"तरल आकांक्षा से है भरा,
सो रहा आकाश का आह्लाद।"

फिर 'काम' में यह छन्द 'पद पादाकुलक' हो जाता है। यह १६ मात्राओं का

छन्द है जिसके अन्त में ऽ होता है।

वासना में रूपमाला छन्द का उपयोग है। यह छन्द १४, १० के यति से अन्त में ऽ। के साथ होता है। 'लज्जा' में फिर पद-पादाकुलक है। 'कर्म' में 'सार' छन्द के समकक्ष, १६, १२ की यति का नहीं वरन् चरण-पूर्ति का छन्द है।

"कर्म सूत्र संकेत सदृश थी,
सोम लता तब मनु को;
चढ़ी शिंजिनी-सी, खींचा फिर,
उसने जीवन-धनु को।"

कहीं पर यह १६-१२ का न होकर १४-१४ का भी कर दिया गया है—

"कर्म-यज्ञ से जीवन के,
सपनों का स्वर्ग मिलेगा॥"

'ईर्षा' में कवि ने दो विभिन्न छन्दों के चरणों से एक मिश्र छन्द बनाया है—

"पल भर की उस चञ्चलता ने,
खो दिया हृदय का स्वाधिकार॥"

इसमें पहला चरण १३ मात्रा का पदपादाकुलक है और दूसरा १६ मात्रा का पद्धरि है।

'इड़ा' मे गीति-पदों को स्थान दिया गया है, किन्तु वह भी १६ मात्राओं के चरणों का द्वित्व मात्र है। टेक १६ की ही है।

'स्वप्न' मे फिर १६-१४ का कुंकुम के सदृश एक छन्द है, पर इसमें यति को ही चरण-पूर्ति नहीं माना गया।

'संघर्ष' मे रोला या काव्य छन्द है, यह २४ मात्रा ११-१३ की यति से ही होता है। 'निर्वेद' में कुंकुम सदृश छन्द है। 'दर्शन' मे 'पादाकुलक' है, १६ मात्रा और अन्त मे ऽ। होता है। इसमें कवि ने छः चरण रखे हैं। इसमें पहला चरण पूर्व का प्रसिद्ध छन्द चौपाई है, दूसरे चरण की जगह कहीं 'डिल्ल' है, जैसे—

"श्वास रुद्ध करने वाले इस,
कहीं 'अरिल्ल' जैसे
शून्य पवन बन पंख हमारे—"

वैसे छन्दों के चरणों का भी मेल दिया गया है।

'आनन्द' 'सखी' छन्द में है, जो १४ मात्रा का होता है।

इतने छन्दों में यह कामायनी समाप्त की गई है।

सब छन्दों मे भावानुरूपता है। प्रसाद जी वस्तुतः गीतिकाव्य के कवि हैं। 'Lyrics' में जिस प्रकार उद्गारों का सौन्दर्य सुकोमल और करुण कलेवर में प्रकट

होता है, वही बात प्रसाद के छन्दों में भी है। 'कामायनी' जैसा महाकाव्य भी उस गीति-काव्य की आत्मा से खिल उठा है। वह उसमें भी व्याप्त है। उसमें गीतिकाव्य का स्वरूप तो नहीं रहा, आत्मा ही है। इस प्रकार कवि ने गीति-काव्य की ओर भी हिन्दी को आकर्षित किया। प्रसाद जी भारत के सच्चे सपूत थे। उन्होंने काव्य-जगत में भावात्मक क्रान्ति भी की और रूपात्मक भी। उन्होंने संस्कृति का बहुत मूल्य रखा है और उनके छन्दों का मुकरत्व भी संस्कृति का परिचय देने वाला तथा भावानुरूप है।

७

कामायनी की अलंकार-योजना

[जयनाथ 'नलिन']

कामायनी का 'प्रसाद' महान् निर्माता है। आस्तिक दर्शन में जो ब्रह्म का स्थान है, 'काव्य' में वह 'प्रसाद' है।—जड़ के कठोर अन्तर को भेद, उसकी रसतरलता उद्घाटन करने वाला एक प्राणवान सक्रिय-आलोक। यह बात यहाँ 'प्रसाद' की शब्द साधना और अर्थसिद्धि के लिए कही जा रही है। लगता है, एक सिद्ध शब्द-साधक सफल विश्वास की मुस्कान बिखराते हुए शब्द बखेर देते हैं और वे वांछित छाया-प्रकाश स्वर-नाद, एंगिल-पहलू से अपने स्थान पर फिट हो जाते हैं। वे विस्तृत मर्यादा में क्रियाशील रहते हैं। उनकी शक्ति-सागर-सीमा के समान मर्यादित है, नदी-तटों के समान सीमित नहीं।

'प्रसाद' नन्ददास जड़िया और कवि गढ़िया की वर्ग-सीमा में नहीं आते 'गढ़िया' में मस्तिष्क की कसरत है, 'जड़िया' में कला की कृत्रिमता। वह कवि हैं— पुतलियों में कला-आलोक की चेतना से पूर्ण कवि। 'प्रसाद' की भाषा ब्रह्म की पूर्णता से उज्ज्वलित, चेतना से सक्रिय, व्यापकता से सम्पन्न है। ब्रह्म की पूर्णता पाकर ही तो शब्द ब्रह्म बनेगा, अशक्त असमर्थ शब्द लेखक-लेखनी के जोड़ों से जन्म लेकर शिशु-शवों की संख्या ही बढ़ाएँगे। ऐसी रोगी शब्दों की भीड़ काव्य, कहानी, उपन्यास निबन्ध, नाटक—सभी को हस्पताल बना देगी।

'कामायनी' में शब्द को ब्रह्म-सच्चिदानन्द का रूप प्राप्त हुआ है।[1] शब्द 'सत' है 'सत' में शब्द की अमरता और चिरन्तन स्थिति मर्यादित है। शब्द में 'सत' का स्वरूप है उसकी चिरन्तन सार्थकता। वह अनन्त काल तक अपनी स्थिति—शब्द-संगति और स्थान—में समान अर्थ देता रहे। उसकी व्यापक मर्यादा रहे, कुपथ में उछल-कूद नहीं। 'चित' है उसकी क्रियाशीलता—भविष्य-संकेत, उद्देश्य और प्रभाव। भावबिम्ब स्थापित करने की क्षमता। और आनन्द है, इन दोनों के मेल से मिलने वाला 'रस'। तीनों शक्तियों से सम्पन्न शब्द ही सच्चिदानन्द ब्रह्म बनता है। 'प्रसाद' ने शब्दों को इन्हीं समस्त शक्तियों

---

१. यहाँ 'शब्द' को 'नाद' के अर्थ में नहीं लिया जा रहा, जैसा प्राय दर्शन में लिया जाता है। 'शब्द' का साहित्य में जो अर्थ है, उसी रूप में उसे लिया गया है। स्वर, स्वर समुच्चय, ध्वनि या ध्वनि-समूह के सार्थक रूप को शब्द माना गया है।

और सामर्थ्य से सम्पन्न किया। यही 'तत्त्व' प्रसाद की शब्द-शक्ति, भाव-योजना, अलंकार-सजावट, बिम्ब-स्थापना, चित्र-रचना का आधार है।

घिर रहे थे घुंघराले बाल,
अंस-अवलम्बित मुख के पास ।
नील घन-शावक-से सुकुमार,
सुधा भरने को विधु के पास ॥

'नील घन-शावक' ही क्यों ? काले नाग या भ्रमर क्यों नहीं ? भ्रमर न सही, 'मधुकर' भी क्यों नहीं ? विषधर काले नाग हों तो देखते ही प्राण न काँप जायें, प्रेम करने का दुस्साहस कौन करे ? काले नाग फुंकारें तो प्रेम के सपने हवा हो जायें । कभी भी डस लें ।

निरन्तर प्राणों का भय और आशंका, ऐसी स्थिति में प्रेम ? रति की भावना ही जाग्रत न होगी, रस की अनुभूति का प्रश्न ही नहीं । यह होता तो, भावना-भोली, कामना-रँगी, विश्वास-निश्छल, समर्पण-शिथिल कामायनी में चारित्रिक सन्देह आजाता, कामायनी वह न रहती जो अब है।

'मधुकर' भी क्यों नहीं ? उसमें तो विष नहीं 'मधु' है। कम्पन है—क्रियाशीलता और चेतना। 'मधुकर' काले-काले चिकने-चिकने । 'मधुकर' में 'मधु' है, पर देता वह नहीं, 'मधु' लेता वह है । मधु लेकर उड़ जाता है—मतलब का मीत तब कामायनी-निष्काम समर्पण का आदर्श कैसे उपस्थित करती ? बालों से दी जाने वाली दोनों—नाग और भ्रमर—उपमायें बाहरी रंग की समानता ही उपस्थित कर सकती हैं—अन्तर का रस नहीं पान करा सकती।

तब 'नील घन-शावक' ही क्यों ?

कामायनी के केश नील घन हैं—काले-काले सघन, सजल, सरस। काले हैं, इसलिए सजल है। सजल हैं—तो सरस हुए ही। जल ही रस है—जल ही जीवन है । ये किसी के निराश ऊसर जीवन में रस बरसा देंगे—उसे हरा-भरा कर देंगे। और बरस-बरस कर प्रलय लायें—बिजली गिरायें तब ? नहीं, ये घन-शावक हैं—निरीह भोले-भाले शिशु-किशोर भी तो नहीं। बच्चे कब किसी को सताते हैं ? फिर ये तो सुकुमार हैं तब इनसे न किसी को भय न आशंका। शिशुओं से कभी प्यार करते हैं, साँपों से प्यार करने वाला शायद कोई सँपेरा ही हो। शिशुओं का रोष भी प्यार है—उनका क्रोध भी मोहित कर लेता है।

'नील घन शावक' ने कामायनी के महान् नारीत्व की प्रतिष्ठा करदी । उसके दिव्य चरित्र को आलोकित कर दिया । इन तीन शब्दों ने जीवन की भविष्य-वाणी भी करदी। कामायनी के 'नील घन-शावक' के आलोक-निर्देश में देखें तो समस्त काव्य इसी की पूर्ति

८

प्रसाद की कहानियाँ

[रामावतार त्यागी]

यदि कहानी का मौलिक तत्व घटना और उस घटना से सम्बन्धित अन्तर्द्वन्द्व है तो प्रसाद जी को एक सफल कहानीकार मान लेने में किसी भी शंका को स्थान नहीं है। *प्रसाद की अधिकतर कहानियाँ या तो ऐतिहासिक हैं या रोमांटिक (स्वच्छन्दतावादी)।* किन्तु उनकी ऐतिहासिक कहानियाँ भी रोमांस से भरी हैं, इसीलिए वे इतिहास को वास्तविक रूप में नहीं वरन् रोमांस से परिपूर्ण गुदगुदी पैदा करने वाली कल्पना के रूप में ही प्रस्तुत कर सके हैं। यह बात भी नहीं है कि प्रसाद पूरे स्वच्छन्दतावादी और आदर्शवादी चितेरे ही हैं। *समय की समस्त प्रक्रियाओं का उन पर प्रभाव गोचर होता है।* उन्होंने यथार्थवादी कहानियाँ भी लिखी हैं, जिनमें से कुछ तो उनके प्रारम्भिक दूसरे संग्रह 'प्रतिध्वनि' में है और कुछ बाद के संग्रहों 'आकाशदीप' और 'इन्द्रजाल' में। फिर भी प्रसाद ने यथार्थ चित्रण पर कभी बल नहीं दिया..."उनके उपकरण या तो कल्पना-प्रसूत हैं या *बौद्धिक हैं जो उनके अध्ययन और मात्र निरीक्षण का फल हैं।"* किन्तु यहाँ पर मैं डा० रामरतन भटनागर की इस बात से सहमत नहीं हूँ कि "प्रसाद ने अपने चारों ओर के जीवन से जैसे आँखें ही हटा ली हों।" उनकी कहानियों में गुदड़साईं, गुदड़ी के लाल, कलावती की शिक्षा, चूड़ीवाली, देवदासी, घीसू, बेड़ी, छोटा जादूगर, विराम चिन्ह, ग्राम और सलीम आदि कितनी ही ऐसी कहानियाँ हैं जिनमें प्रसाद की आँखें अपने चारों ओर के समाज की ओर से सजग हैं, वहाँ कलाकार सोया नहीं है, जागता है। सम्भवतः यही वे कहानियाँ हैं जिनमें आभास होता है कि प्रसाद जैसे महान् कलाकार ने वस्तु और *शैली दोनों की ही बेजोड़ साहित्यिक मिसालें हमें दी हैं। यह बात शत-प्रतिशत सत्य है* कि प्रसाद कभी भी यथार्थवादी नहीं हैं और ना ही उनका साहित्यिक दृष्टिकोण यथार्थवादी है। प्रसाद, प्रेमचन्द नहीं हैं। प्रेमचन्द आकाश में विचरते भी हैं तो उनके पैर सदा धरती पर पड़े रहते हैं, वह आदर्श की स्थापना भी करते हैं तो यथार्थ की खुरदरी जमीन पर। परन्तु प्रसाद यथार्थ का चित्रण भी अगर करने लगते हैं तो भी उनका रोमांटिक कलात्मक दृष्टिकोण उन्हें जहाँ ले जाता है वह पृथ्वी वह नहीं होती जहाँ हम खड़े होते हैं। अपने साहित्यिक दृष्टिकोण को उन्होंने कभी छिपाया नहीं और इसे उनकी *साहित्यिक ईमानदारी ही कहा जा सकता है। पाठक उनसे भ्रमता नहीं, वह प्रसाद को* पढ़ता है लेकिन पढ़ने से पूर्व उसे पता रहता है कि लेखक पाठक को कहाँ छोड़ेगा।

प्रसाद ने स्वयं यथार्थवाद की व्याख्या करते हुए लिखा है, "यथार्थवाद की विशेषताओं में प्रधान है लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात। उसमें स्वभावतः दुःख की प्रधानता और वेदना की अनुभूति की आवश्यकता है। लघुता से मेरा तात्पर्य है साहित्य में माने हुए सिद्धान्त के अनुसार महत्ता के साहित्यिक चित्रण के अतिरिक्त जीवन के वास्तविक दुखों और अभावों का उल्लेख।" प्रसाद की आख्यायिकाओं की उद्भावना बहिर्जगत से सम्बद्ध नहीं है अपितु उन्होंने हृदय की छिपी हुई उन भावनाओं पर प्रकाश डाला है जिनका आभास हमें यदा-कदा होता रहता है। एक प्रकार से उन्होंने छायावादी होने के नाते अपनी अधिकतर आख्यायिकाओं में रहस्यमयी प्रवृत्तियों को प्रस्फुटित किया है। वस्तु का प्रसार प्रसाद की कला का उद्देश्य नहीं है। उनकी हर एक कहानी में एक मनोभाव है जो आकस्मिक घटनाओं से जाग्रत परिस्थिति में बहते हुए जीवन का कभी पूरा और कभी अधूरा चित्र उपस्थित करता है। उन्होंने अपने दृष्टिकोण को 'प्रतिध्वनि' संग्रह की 'पत्थर की पुकार' कहानी में इस प्रकार व्यक्त किया है—

विमल ने कहा—

"साहित्य-सेवा भी एक व्यसन है।"

"नहीं मित्र! यह तो विश्व भर की एक मौन सेवा-समिति का सदस्य होना है।"

"अच्छा तो फिर बताओ तुम्हें कैसा साहित्य रुचता है?"

"अतीत और करुणा का जो अंश साहित्य में हो, वह मेरे हृदय को आकर्षित करता है।" यही अतीत और करुणा प्रसाद के विषय-वस्तु हैं। जिसे अपनी स्वच्छन्दतावादी शैली में उन्होंने हर कहानी में प्रस्तुत किया है।

प्रसाद की कहानियों की संख्या अधिक नहीं है। कुल मिलाकर उनकी ७० कहानियाँ हैं जो 'छाया', 'प्रतिध्वनि', 'आकाशदीप', 'आँधी' और 'इन्द्रजाल' नामक पाँच संग्रहों में संगृहीत हैं। प्रसाद की शैली सदा ही प्रसाद की अपनी एक विशेष शैली है। उनकी शैली की एक अलग विशेषता है जो कहीं भी छिपती नहीं है। फिर भी उनकी सारी कहानियाँ एक ही प्रकार की नहीं हैं। प्रसाद की कहानियों का वर्गीकरण डा० भटनागर ने इस प्रकार किया है—

(क) ऐतिहासिक कहानियाँ—इनकी संख्या अठारह के लगभग है। प्रसाद की स्वाभाविक अभिरुचि इतिहास की ओर थी। अतः उनकी सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ ऐतिहासिक हैं। इसी ऐतिहासिक लड़ी में प्रसाद की आकाशदीप, ममता, स्वर्ग के खण्डहर, व्रतभंग, दासी, पुरस्कार, सालवती, गंज, देवरथ और नूरी उन की कहानियों की शीर्षमणि हैं। इन कहानियों में बौद्ध काल से लेकर सन् १८५७ की क्रान्ति तक की विषय-वस्तु को कला का आधार बनाया गया है। बौद्ध काल से सम्बन्धित कहानियाँ हैं—अशोक, व्रत भंग, खण्डहर की लिपि, आकाशदीप और पुरस्कार। बौद्ध युग के बाद प्रसाद ने मुसलमान

काल के इतिहास को टटोला है। चित्तौर-उद्धार, गुलाम, जहांनारा, चक्रवर्ती का स्तम्भ, ममता स्वर्ग के खण्डहर में, देवरथ और नूरी इसी काल से सम्बन्धित कहानियाँ हैं। शरणागत और गंज को हम गदर की कहानियाँ कह सकते हैं। इन सभी कहानियों में प्रेममयी नारियों और लालसापूर्ण साहसी युवकों की आशा-निराशा का रोमांटिक चित्रण है।

(ख) यथार्थवादी कहानियाँ—इनकी संख्या तेरह है। इनकी पहली यथार्थवादी कहानी 'ग्राम' थी। छाया और प्रतिध्वनि में ग्राम, सहयोग और गुदड़ी के लाल इसी प्रकार की कहानियाँ हैं। आकाशदीप में रूप की छाया ही एक यथार्थवादी कहानी है। प्रसाद की अच्छी यथार्थवादी कहानियाँ उनके अन्तिम संग्रहों 'आँधी' और 'इन्द्रजाल' में ही हैं। मालूम होता है प्रेमचन्द की तरह ही प्रसाद भी अन्तिम दिनों में यथार्थवाद की ओर झुक गये थे। वे हैं घीसू, बेड़ी, इन्द्रजाल, सलीम, छोटा जादूगर, परिवर्तन, सन्देह, भीख और चित्र वाले पत्थर।

(ग) भावात्मक कहानियाँ—इनकी संख्या ६ है। इनमें से अधिकतर प्रतिनिधि में संग्रहीत हैं। कलावती की शिक्षा, प्रतिमा, दुखिया, करुणा की विजय, पाप की पराजय अघोरी का मोह, भिखारी, प्रतिध्वनि और बनजारा भावात्मक कहानियाँ हैं।

(घ) विशुद्ध प्रेममूलक कहानियाँ—वैसे तो उनकी सभी कहानियां में प्रेम उनका प्रिय विषय है, किन्तु कुछ कहानियाँ ऐसी भी हैं जिनमें स्पष्ट रूप से ही प्रेम को अपना विषय और साध्य बनाया गया है। वे हैं तानसेन, चन्दा, रसिया बालम, मदन मृणालिनी, सुनहला साँप, देवदासी, चूड़ी वाली, अपराधी, बिसाती और ग्राम-गीत।

(च) रहस्यवादी कहानियाँ—प्रसाद की ये ६ कहानियाँ—उस पार का योगी, प्रसाद, हिमालय का पथिक, समुद्र संतरण, प्रणय-चिन्ह और कमला रहस्यवादी कहानियां की कोटि में आती हैं।

(छ) प्रतीकात्मक कहानियाँ—प्रसाद की ६ प्रतीकात्मक कहानियाँ भी हैं। वे हैं प्रलय, पत्थर की पुकार, गुदड़ साईं, कला, वैरागी और ज्योतिष्मती।

(ज) मनोवैज्ञानिक या चरित्रप्रधान कहानियाँ—प्रसाद की कहानियों में चरित्र-प्रधान और मनोवैज्ञानिक कहानियां प्रायः नहीं के बराबर हैं। केवल आँधी और मधुआ को ही इस कोटि में रक्खा जा सकता है।

(झ) मात्र आदर्शवादी कहानियाँ—इनकी संख्या ५ है। यह हैं विजया, व्रत-भंग, अमिट स्मृति, नीरा और अनबोला। इन कहानियों में जीवन की किसी-न-किसी स्थिति की आदर्श कल्पना है।

(ड)प्रागैतिहासिक कहानियाँ—प्रागैतिहासिक जीवन की केवल एक ही कहानी 'चित्र मन्दिर' इसमें मिलती है।

प्रसाद जी की कहानियों में कथानक की दुर्बलता कहीं नहीं है। उनकी सभी कहानियाँ अन्तर्द्वन्द्व को लिये हुए हैं, यह बात जरूर है कि उनकी कहानियों में व्यक्तियों का अन्तर्द्वन्द्व है सामाजिक नहीं है, क्योंकि उनकी कहानियाँ समाज की परिस्थितियों के शिकार व्यक्तियों की कहानियाँ नहीं हैं वरन् वे व्यक्तियों के ऊहापोह की घटनायें हैं जिनका सम्बन्ध व्यक्तियों की जीवन-रेखाओं से है। सामाजिकता से दूर रहने पर भी प्रसाद जी की सभी कहानियों में चरम सीमा (क्लाइमैक्स) है; कहने का तात्पर्य यह है कि उनकी कहानियों में केन्द्रीय विचारधारा मे निरन्तर एक विकास मिलता है। एक प्रकार से कहानी अपने में सम्पूर्ण होती है। यह बात जरूर है कि उनकी अधिकतर कहानियाँ समाज को न छूकर व्यक्तियों के अहं, निराशा और अर्ध-चेतना में दबी हुई इच्छाओं को ही छूती हैं। लेकिन इस कमी के बावजूद भी उनकी अनेक ऐसी कहानियाँ हैं जो विश्व-साहित्य में आसानी से रक्खी जा सकती हैं। पुरस्कार, बिसाती, गुण्डा, आकाशदीप, गूदड़ सांई और सालवती आदि उनकी ऐसी ही अनेक कहानियाँ है।

प्रसाद की कहानियों में चरित्र घटनाओं से कम उभरते हैं, बल्कि उनके पात्र अपने में दुर्बल या सशक्त जैसे भी हैं घटना के आरम्भ से ही बने-बनाये होते हैं। बस किसी एक मनोवृत्ति या भावना को वे घटनाओं के प्रवाह या शब्दों की धारा से बार-बार निखारते रहते हैं। इसीलिए उनकी कहानियाँ पढ़ते समय पाठक का ध्यान पात्रों की तरफ़ कम ही जाकर घटनाओं से उद्दीत भावना पर अधिक रहता है। और शायद इसीलिए उनकी कहानियाँ भावलोक को ज्यादा छूती हैं। ऐसी हालत में शायद प्रत्येक पाठक को रस एक ही अनुपात में प्राप्त नहीं होता; किसी मनोव्यथा से भरे व्यक्ति का साधारणीकरण जितना शीघ्र होता है उतना दूसरे व्यक्तियों का नहीं होता।

एक विशेष दृष्टिकोण से प्रसाद जी की कहानियाँ उल्लेखनीय हैं और वह दृष्टिकोण है शैली का दृष्टिकोण। वस्तु-व्यापार की अपेक्षा रूप-विधान पर प्रसाद जी का बल अधिक रहता था। निस्सन्देह कला की दृष्टि से ये कहानियाँ श्रेष्ठ कोटि की हैं। प्रसाद जी में कथन-सामर्थ्य, शब्द-योजना, रचना-शक्ति और आलंकारिकता आदि सभी गुण अपेक्षाकृत अधिक थे। इसीलिए उनकी कहानियों में जहाँ भाषा की जटिलता है वहाँ प्रवाह की ताज़गी भी है। कहीं भी रोचकता मरती नहीं है। उनकी कहानियाँ बोलती हैं। विशेष तौर पर इन्द्रजाल और आकाशदीप संग्रहों की कहानियाँ इसी प्रकार की हैं।

संक्षिप्त में यही कहा जा सकता है कि प्रसाद की कहानियाँ कथा-साहित्य में आदरणीय स्थान रखती हैं। यद्यपि वे समाज में लोकप्रिय अधिक नहीं हो सकेंगी, क्योंकि उनमे साहित्यिकता अधिक है सामाजिकता कम।

६

प्रसाद जी और रस-सिद्धान्त

[प्रो० कन्हैयालाल सहल, एम० ए०]

कविता, दार्शनिकता और विद्या की त्रिवेणी का प्रवाह-स्थल है प्रसाद का व्यक्तित्व। वे एक साथ ही कवि, दार्शनिक और पण्डित थे। 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' जो उन्होंने लिखे हैं, वे उनके तलस्पर्शी पाण्डित्य का साक्ष्य भर रहे हैं। किन्तु उनके पाण्डित्य पर भी उनकी दार्शनिकता की छाप प्रायः सर्वत्र दिखलाई पड़ती है। प्रसाद द्वारा किये हुए रस-सिद्धान्त के विवेचन को ही लीजिये। वैदिक काल के प्रारम्भ से ही वे आनन्द तथा विवेक की दो धाराएँ मानकर चले हैं। आनन्दवाद की धारा के प्रतीक थे इन्द्र, तथा विवेकवाद की धारा के प्रतीक थे वरुण। परवर्ती काल के अनात्मवादी बौद्ध इसी विवेकवादी धारा को अग्रसर करने वाले हुए। आगे आने वाले भक्ति-सम्प्रदायों के सम्बन्ध में भी प्रसादजी की धारणा है कि वे अनात्मवादी बौद्धों के ही पौराणिक रूपान्तर हैं। अपने ऊपर एक शासनकर्ता की कल्पना और उसकी आवश्यकता दुःखसंभूत-दर्शन का ही परिणाम है। उधर उपनिषदों में आनन्द-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा हुई तथा साथ ही प्रेम और प्रमोद की भी कल्पना की गई जो आनन्द-सिद्धान्त के लिए आवश्यक है। इस तरह जहाँ एक ओर तर्क के आधार पर विकल्पात्मक बुद्धिवाद का प्रचार हुआ वहाँ दूसरी ओर प्रधान वैदिक धारा के अनुयायी आर्यों में आनन्द के सिद्धान्त का भी प्रचार होता रहा। आगे चलकर आगम के अनुयायी सिद्धों ने प्राचीन आनन्द मार्ग को अद्वैत की प्रतिष्ठा के साथ अपनी साधना-पद्धति में प्रचलित रक्खा और इसे वे रहस्य-सम्प्रदाय कहते थे।

प्रसादजी ने आनन्दवादी तथा विवेकवादी दो धाराओं के आधार पर साहित्य की भी दो कोटियाँ स्थिर की हैं। रस-सम्प्रदाय को वे आनन्दवादी धारा से प्रभावित मानते हैं तथा अलङ्कार, रीति एवं वक्रोक्ति—सम्प्रदाय उनकी दृष्टि में विवेकवादी धारा से प्रभावित है। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में "इस प्रकार का कोटि-विभाग नया, विचारोत्तेजक और प्रसादजी की प्रतिभा का परिचायक है। हिन्दी के साहित्यिक और दार्शनिक क्षेत्रों में यह प्रायः अभूतपूर्व है।"

नाटकों में भरत के मत से चार ही मूल रस हैं—शृङ्गार, रौद्र, वीर और बीभत्स। इनसे अन्य चार रसों की उत्पत्ति मानी गई है। शृङ्गार से हास्य, वीर से अद्भुत, रौद्र से करुण और बीभत्स से भयानक। प्रसादजी के मतानुसार आनन्द-सिद्धान्त के

अनुयायियों ने धार्मिक बुद्धिवादियों से अलग सर्व-साधारण में आनन्द का प्रचार करने के लिए नाट्य-रसों की उद्भावना की थी। रसों का विवेचन भी अभेद और आनन्द को लेकर किया गया। भट्ट नायक ने साधारणीकरण का सिद्धान्त प्रचारित किया, जिसके द्वारा नट तथा सामाजिक एवं नायक की विशेषता नष्ट होकर, लोक सामान्य प्रकाश—आनन्दमय आत्मचैतन्य की प्रतिष्ठा रस में हुई। भट्ट नायक ने साधारणीकरण व्यापार द्वारा जिस स्थान की पुष्टि की थी, अभिनवगुप्त ने उसे अधिक स्पष्ट किया। उन्होंने कहा कि वासनात्मक तथा स्थित रति आदि वृत्तियाँ ही साधारणीकरण द्वारा भेद विगलित हो जाने पर आनन्द-स्वरूप हो जाती हैं। उनका आस्वाद ब्रह्मास्वाद के तुल्य होता है।

भरत के प्रसिद्ध रस-सूत्र में कहा गया है कि विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। प्रश्न यह है कि रस के रूप में निष्पन्न होने वाली वस्तु क्या है?

ऊपर अभिनवगुप्त के उद्धरण में स्पष्ट किया गया है कि रति आदि वृत्तियाँ ही साधारणीकरण द्वारा आनन्द-स्वरूप हो जाती हैं, और ये वृत्तियाँ स्थिर या स्थायी भाव हैं जैसा कि अभिज्ञान शाकुन्तल के निम्नलिखित दार्शनिक छन्द से प्रकट है—

"रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्।
पर्युत्सुकी भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः॥
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं।
भावस्थिराणि जनन्तारसौहृदानि॥"

इस सम्बन्ध में स्वयं भरत ने भी लिखा है—"विभावानुभावव्यभिचारिपरिवृतः स्थायीभावोरस नाम लभते" (नाट्यशास्त्र अ० ७) अर्थात् प्रमुख स्थायी मनोवृत्तियाँ विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारियों के संयोग से रसत्व को प्राप्त होती हैं।

रसानुभूति किसे कहते हैं? यह प्रश्न भी प्रसाद ने उठाया है और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि "रसानुभूति केवल सामाजिकों में ही नहीं प्रत्युत नटों में भी है। हाँ, रस-विवेचना में भारतीयों ने कवि को भी रस का भागी माना है। अभिनवगुप्त स्पष्ट कहते हैं कि कवि में साधारणीभूत जो संवित है—चैतन्य है वही काव्य पुरस्सर होकर नाट्य-व्यापार में नियोजित करता है, वही मूल संविन् परमार्थ में रस है। अब यह सहज में अनुमान किया जा सकता है कि रस-विवेचना में संविन् का साधारणीकरण विवृत् है। कवि, नट और सामाजिक में वह अभेद भाव से एक रस हो जाता है।"

भारतीय साहित्य में दुःखान्त प्रबन्धों का निषेध क्यों किया गया? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए प्रसाद कहते हैं कि 'संभवतः इसीलिए दुःखान्त प्रबन्धों का निषेध भी किया गया, क्योंकि विरस तो उनके लिए प्रत्यभिज्ञान का साधन, मिलन का द्वार था।

देख-देख कर मनु का पशु जो
व्याकुल चंचल रहती;
उनकी आमिष लोलुप रसना
आँखों से कुछ कहती।"

यहाँ तक तो सामान्य परिचय रहा। अभी तक उनमें कोई भेद अंकित नहीं हुआ। किन्तु इसके आगे कहा गया—

"क्यों किलात ! खाते-खाते तृण
और कहाँ तक जीऊँ;
कब तक मैं देखूं जीवित पशु
घूंट लहू का पीऊँ !
क्या कोई इसका उपाय ही
नहीं कि इसको खाऊँ ?
बहुत दिनों पर एक बार तो
सुख की बीन बजाऊँ।"

'क्यों किलात' से प्रकट ही है कि कहने वाला 'किलात' नहीं कोई और ही है। कह सकते हैं कि 'आकुलि' ही है। किन्तु नहीं, इसी के बाद आपको लिखा मिलता है—

"आकुलि ने तब कहा, 'देखते
नहीं साथ में उसके;
एक मृदुलता की, ममता की
छाया रहती हँस के।
अन्धकार को दूर भगाती
वह आलोक किरण सी;
मेरी माया बिंध जाती हैं
जिससे हलके घन सी।
तो भी चलो आज कुछ कर के
तब मैं स्वस्थ रहूँगा;
या जो भी आवेंगे सुख-दुख
उनको सहज सहूँगा।"

इसमें सन्देह नहीं कि 'किलात' और 'आकुलि' के चरित्र-चित्रण में यह प्रसंग बड़े महत्त्व का है। यहाँ स्पष्टतः कवि ने एक को दूसरे से अलग कर दिया है। किन्तु कहें तो सही कि 'प्रसाद जी की समीक्षात्मक प्रस्तावों' में इनका संकेत क्या है और क्या है इस प्रसंग में 'क्यों किलात' तथा 'आकुलि ने तब कहा' का रहस्य भी। 'क्यों किलात'

का कहने वाला तो 'आकुलि' ही है न ! फिर 'आकुलि ने तब कहा' का रहस्य क्या है ! हाँ, यह भी स्मरण रहे कि कवि का स्वयं कहना है—

"यों ही दोनों कर विचार उस
कुंज द्वार पर आये;
जहां सोचते थे मनु बैठे
मन से ध्यान लगाये।"

अब आप ही कहें कि इस रहस्य का कारण क्या है ? क्या इसे छापे की भूल कह सकते हैं ? किसी ऐसी स्थिति में तो पाठ कदाचित् साधु होगा—

"तब किलात ने कहा"

ही न ? जो हो। अभी तो चरित्र-चित्रण को देखना है। सो कवि का कथन है—

"कहा असुर मित्रों ने अपना
मुख गंभीर बनाये;"

तो क्या दोनों ने एक साथ ही कहना आरम्भ कर दिया ? निवेदन है, प्रसाद की रचना ठहरी। तनिक धीरज धरें और ध्यान से पढ़ें। उन असुर मित्रों का छूटते ही कहना है—

"जिनके लिये यज्ञ होगा हम
उनके भेजे आये।"

इस 'हम' के आधार पर कह सकते हैं कि कथन दोनों का ही है। परन्तु क्या कहेंगे आप आगे की इस 'मेरी' पर—

"वे ही पथदर्शक हों सब विधि
पूरी होगी मेरी;
चलो आज फिर से वेदी पर
हो ज्वाला की फेरी।"

निश्चय ही यहाँ एक का कथन समाप्त होता है। किसका ? इसका समाधान कौन करे ? प्रसादजी के आलोचक तो उनको आसमान पर चढ़ाने में लगे हैं, पर देखते तनिक भी नहीं कि आँख के सामने कागज पर क्या उतरा क्या है। सो दूसरा कहता है—

"परंपरागत कामों की वे
कितनी सुन्दर लड़ियां;
जीवन साधन की उलझी हैं
जिनमें सुख की घड़ियां।
जिनमें है प्रेरणामयी भी
संचित कितनी कृतियां;

चिर-विरह की कल्पना आनन्द में नहीं की जा सकती। शैवागमों के अनुयायी नाट्यों में इसी कल्पित विरह या आवरण का हटना ही प्रायः दिखाया जाता रहा। अभिज्ञान शाकुन्तल इसका सबसे बड़ा उदाहरण है।"

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि प्रसाद ने रस-सिद्धान्त की अपने ढङ्ग से अनूठी व्याख्या की है। अभिनवगुप्त द्वारा किये हुए निरूपण का सर्वाधिक प्रभाव प्रसादजी की इस व्याख्या पर है। आनन्द-सिद्धान्त का काव्यात्मक रूप जहाँ प्रसाद जी की 'कामायनी' में प्रकट हुआ है, वहाँ इस सिद्धान्त का सैद्धान्तिक विवेचन प्रसादजी के रहस्यवाद तथा रस सम्बन्धी निबन्धों में हुआ है।

पञ्चम खण्ड

विशेष अध्ययन

१

कामायनी में चरित्र-चित्रण

[आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय]

कामायनी हिन्दी का एक अनूठा काव्य है। उसकी प्रशंसा भी खूब हो रही है। होने की पात्रता भी उसमें है ही, किन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि वस्तुतः उसको परखने का प्रयत्न प्रायः नहीं हो रहा है और जो कुछ हो भी रहा है वह बुद्धि को तिलांजलि दे श्रद्धावश कुछ और ही बनता जा रहा है। देखिये न, एक महानुभाव का कथन है—

"पात्रों का चरित्र स्पष्ट करने के लिए उनके क्रिया-कलाप, रीति-नीति, बोल-चाल तथा मनोवृत्ति का कितना और कैसा वर्णन अपेक्षित है इसे प्रसाद जी भली भाँति जानते थे। इसलिए उन्होंने कामायनी में पात्रों की बाह्य एवं अन्तर्विशेषताओं का सूक्ष्म ज्ञान करके उन्हीं को चुना जिनसे पात्रों के महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व की भली भाँति व्यंजना हो सके। जो समीक्षक या आलोचक प्रसाद जी की संकेतात्मक प्रणाली से अनभिज्ञ हैं; वे कामायनी में चरित्र-चित्रण का पूर्ण प्रस्तार न पाकर उसके महाकाव्यत्व में सन्देह करते हैं। वस्तुतः चरित्र का प्रस्तार उन्हीं काव्यों में होता है जिनमें परिस्थितियों की अधिकता होती है, बाह्य कार्य की प्रधानता होती है, वस्तु का विस्तार रहता है तथा पात्रों की संख्या अधिक रहती है; परन्तु कामायनी में उपर्युक्त एक भी बात नहीं, तब भला कवि चरित्र का प्रस्तार कैसे करेगा?"

प्रश्न पते का है। किन्तु समाधान भी कितना सस्ता! जैसे समर्थ और सावधान चरित्र कवि किया करते हैं। देखिये, उदाहरण कामायनी में हो धरा है। कृपा कर असुर पुरोहित 'किलाताकुलि' को ले तो लीजिये। प्रसाद जी स्वयं लिखते हैं—

"असुर पुरोहित उस विप्लव से
बच कर भटक रहे थे;
वे किलात आकुलि थे जिनने
कष्ट अनेक सहे थे।

देख-देख कर मनु का पशु जो
व्याकुल चंचल रहती;
उनकी आमिष लोलुप रसना
आँखों से कुछ कहती।"

यहाँ तक तो सामान्य परिचय रहा। अभी तक उनमें कोई भेद अंकित नहीं हुआ। किन्तु इसके आगे कहा गया—

"क्यों किलात ! खाते-खाते तृण
और कहाँ तक जीऊँ;
कब तक मैं देखूं जीवित पशु
घूंट लहू का पीऊँ !
क्या कोई इसका उपाय ही
नहीं कि इसको खाऊँ ?
बहुत दिनों पर एक बार तो
सुख की बीन बजाऊँ।"

'क्यों किलात' से प्रकट ही है कि कहने वाला 'किलात' नहीं कोई और ही है। कह सकते हैं कि 'आकुलि' ही है। किन्तु नहीं, इसी के बाद आपको लिखा मिलता है—

"आकुलि ने तब कहा, 'देखते
नहीं साथ में उसके;
एक मृदुलता की, ममता की
छाया रहती हँस के।
अन्धकार को दूर भगाती
वह आलोक किरण सी;
मेरी माया बिंध जाती है
जिससे हलके घन सी।
तो भी चलो आज कुछ कर के
तब मैं स्वस्थ रहूँगा;
या जो भी आवेंगे सुख-दुख
उनको सहज सहूँगा।"

इसमें सन्देह नहीं कि 'किलात' और 'आकुलि' के चरित्र-चित्रण में यह प्रसंग बड़े महत्त्व का है। यहाँ स्पष्टतः कवि ने एक को दूसरे से अलग कर दिया है। किन्तु कहें तो यही कि 'प्रसाद जी की संकेतात्मक प्रणाली' में इनका मेल क्या है और क्या है इस प्रसंग में 'क्यों किलात' तथा 'आकुलि ने तब कहा' का रहस्य भी। 'क्यों किलात'

का कहने वाला तो 'आकुलि' ही है न ! फिर 'आकुलि ने तब कहा' का रहस्य क्या है ? हाँ, यह भी स्मरण रहे कि कवि का स्वयं कहना है—

"यों ही दोनों कर विचार उस
कुंज द्वार पर आये;
जहाँ सोचते थे मनु बैठे
मन से ध्यान लगाये।"

अब आप ही कहें कि इस रहस्य का कारण क्या है ? क्या इसे छापे की भूल कह सकते हैं ? किसी ऐसी स्थिति में तो पाठ कदाचित् साधु होगा—

"तब किलात ने कहा"

हो न ? जो हो। अभी तो चरित्र-चित्रण को देखना है। तो कवि का कथन है—

"कहा असुर मित्रों ने अपना
मुख गंभीर बनाये;"

तो क्या दोनों ने एक साथ ही कहना आरम्भ कर दिया ! निवेदन है, प्रसाद की रचना ठहरी। कुछ धीरज धरें और ध्यान से पढ़ें। उन असुर मित्रों का छूटते ही कहना है—

"जिनके लिये यज्ञ होगा हम
उनके भेजे आये।"

इस 'हम' के आधार पर कह सकते हैं कि कथन दोनों का ही है। परन्तु क्या कहेंगे आप आगे की इस 'मेरी' पर—

"वे ही पथदर्शक हों सब विधि
पूरी होगी मेरी;
चलो आज फिर से वेदी पर
हो ज्वाला की फेरी।"

निश्चय ही यहाँ एक का कथन समाप्त होता है। किसका ? इसका समाधान कौन करे ? प्रसादजी के आलोचक तो उनको आसमान पर चढ़ाने में लगे हैं, पर देखते इतना भी नहीं कि आँख के सामने कागज पर क्या उतरा क्या है। तो दूसरा कहता है—

"परंपरागत कर्मों की वे
कितनी सुन्दर लड़ियाँ;
जीवन साधन की उलझी हैं
जिनमें सुख की घड़ियाँ।
जिनमें है प्रेरणामयी भी
संचित कितनी कृतियाँ;

पुलकभरी सुख देने वाली
बन कर मादक स्मृतियाँ।
साधारण से कुछ अतिरंजित
गति में मधुर त्वरा सी;
उत्सव लीला, निर्जनता की
जिससे कटे उदासी,
एक विशेष प्रकार कुतूहल
होगा श्रद्धा को भी।"

है, दोनों के शील और स्वभाव में भेद है। परन्तु नाम का उल्लेख क्यों नहीं? क्या इसमें भी प्रसाद जी का कोई 'आनन्दवाद' है? और सच तो कहें, कामायनी में इन विरामचिन्हों का उपयोग क्या है? क्या इससे अर्थ समझने में कोई सहायता मिलती है? व्याकरण की दृष्टि से 'वे कितनी सुन्दर लड़ियाँ' क्या हैं और कहाँ तक प्रसार पाती हैं। 'जिससे कटे उदासी' के 'जिससे' का लगाव किससे है? जो हो, हम मानते हैं कि हम यहाँ सफलता से एक असुर के चरित्र से दूसरे असुर के चरित्र को अलग कर सकते हैं। किन्तु किसी प्रकार यह समझ नहीं पाते कि रणभूमि में इनकी यह विशेषता क्यों नहीं अपना जौहर दिखाती और क्यों दोनों के विषय में प्रसाद जी एक साथ ही कह जाते हैं—

"आहत पीछे हटे, स्तम्भ से टिक कर मनु ने,
श्वास लिया, टंकार किया दुर्लक्ष्यी धनु ने।
बहते विकट अधीर विषम उंचास वात थे,
मरण पर्व था; नेता आकुलि औ' किलात थे।
ललकारा, 'बस अब इसको मत जाने देना'
किन्तु सजग मनु पहुँच गये कह 'लेना लेना'।
'कायर, तुम दोनों ने ही उत्पात मचाया,
अरे, समझ कर जिनको अपना था अपनाया।
तो फिर आओ देखो कैसे होती है बलि,
रण यह, यज्ञ पुरोहित, ओ' किलात ओ' आकुलि',
और धराशायी थे असुर पुरोहित उस क्षण;
इड़ा अभी कहती जाती थी 'बस रोको रण'।"

इड़ा ने क्या कुछ कहा, इससे प्रयोजन क्या? उसे छोड़ कर इतना ही चाहते हैं कि यहाँ भी अवसर था दोनों असुरों के 'चरित्र' को अलग कर दिखाने का। अधिक तो क्या करें, कोई भी समर्थ कवि बड़ी सरलता से बड़े कौशल के साथ इसे

यहाँ स्पष्ट दिखा देता कि वास्तव में दोनो के चरित्र में भेद क्या है ? और यदि इस जन से ही इसे सुना चाहें, तो सुन लें। और कुछ नहीं, कृपाकर प्रसाद जी के

ओ' किलात ओ' आकुलि

को कर लें—

ओ किलात ! ओ आकुलि !!

और सरलता से समझ लें कि रणभूमि में 'किलात' 'आकुलि' से आगे बढ़ गया है और मनु भी बड़ी वीरता और तत्परता के साथ उन पर हाथ साफ कर रहा है। यह लो 'किलात', यह लो 'आकुलि'। दोनों 'धराशायी' हो गए। भाव यह कि 'कामायनी' में भी 'चरित्र-चित्रण' के प्रस्तार का पर्याप्त स्थान है। हाँ, उसे पहचान लेना किसी 'प्रसाद' का काम नहीं। वह तो किसी रससिद्ध कुशल कवि का काम है।

जी हाँ, सचमुच बड़ी कृपा होगी यदि 'प्रसाद' जी का कोई भक्त यह प्रकट कर दे कि 'कामायनी' के 'रूपक' में हम 'किलात' और 'आकुलि' को किस का प्रतीक समझें हम अभी अधिक कहना नहीं चाहते, पर प्रसंगवश इतना कहे बिना रह भी नहीं सकते कि 'प्रसाद' जी के आलोचक कृपया उनके मर्म को समझें और यह भली भाँति टाँक लें कि

"बन जाता सिद्धान्त प्रथम फिर
पुष्टि हुआ करती है;
बुद्धि उसी ऋण को सब से ले
सदा भरा करती है।"

का द्रष्टा स्वयं इसके उपयोग में भी कुछ कम निरत न रहा होगा और सो भी तब जब उसकी गोष्ठी में सर्वकलानिष्णात प्राणी थे। अतः समझ-बूझ कर स्वच्छ हृदय से उसका अध्ययन करना चाहिए कुछ व्यर्थ का अध्यापन नहीं।

२

श्रद्धा

[श्री शिवनाथ]

१

श्री जयशंकर 'प्रसाद' ने 'कामायनी' में 'श्रद्धा' के जिस रूप की प्रतिष्ठा की है वह काल्पनिक-नहीं, साधार है। 'कामायनी' के 'आमुख' में वे इसकी कथा के इतिहासानुमोदित होने का आग्रह करते हुए दिखाई पड़ते हैं, और उनका यह आग्रह निराधार नहीं है। भारतीय संस्कृति के मर्म को उद्घाटित करनेवाले ग्रन्थों में 'श्रद्धा' के रूप की कल्पना मिलती है। इन ग्रन्थों द्वारा 'श्रद्धा' की ऐतिहासिकता भी प्रमाणित होती है और 'कामायनी' में प्रतिष्ठित उसके अंतस् के रूप की रेखाएँ भी झलकती हैं। अभिप्राय यह कि यदि यह स्वीकार किया जाय कि वेद, ब्राह्मण, पुराण आदि ग्रन्थों में वर्णित व्यक्ति, घटनाएँ आदि कपोल-कल्पनाएँ नहीं हैं, किसी-न-किसी रूप में और कुछ-न-कुछ उनमें ऐतिहासिकता भी है—उनकी स्थिति कभी-न-कभी अवश्य थी, तो इसे भी स्वीकार ही करना पड़ेगा कि 'कामायनी' में वर्णित श्रद्धा, इड़ा, मनु, मानव, आकुलि, किलात आदि व्यक्ति तथा उनकी घटनाएँ इस पृथ्वी पर अवश्य विद्यमान रही होंगी। अपनी संस्कृति के आधारभूत ग्रन्थ-रत्नों को हम अभी अविश्वसनीय और नकली इसलिए समझते हैं कि उनकी ऐतिहासिकता प्रमाणित करने के प्रभूत साधन हमें अब तक प्राप्त नहीं हो सके हैं। इसकी बहुत बड़ी सम्भावना है कि हमारी स्वतन्त्र अनुशीलन-वृत्ति उन साधनों को निकट भविष्य में ही उपस्थित कर दे।

२

श्रद्धा 'कामायनी' और 'मानवी' नाम से भी अभिहित की गई है। 'ऋग्वेद' के *मण्डल १०, अनुवाक ११, सूक्त १५१ की ऋषिका श्रद्धा कामायनी हैं और देवता श्रद्धा।* श्रीसायणाचार्य ने सूक्त के परिचयात्मक आरम्भिक अंश में श्रद्धा के कामायनी कहे जाने का कारण उनका 'काम' के गोत्र में उत्पन्न होना बतलाया है।[1] श्रद्धा को 'काम' के गोत्र *में उत्पन्न कहने का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि श्रद्धा के पूर्व 'काम' की अवस्थिति थी* और वे प्रसिद्ध व्यक्ति थे, जिनके नाम से गोत्र चला। ऐसी अवस्था में तो यही प्रतीत होता है कि श्रद्धा की वंश-परम्परा में 'काम' प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण व्यक्ति हो चुके थे। पुराणों द्वारा यह *प्रमाणित होता है कि 'काम' की विद्यमानता श्रद्धा के पश्चात् हुई।*

---

१. कामगोत्रजा श्रद्धानामर्षिका।

पुराणों में यह वर्णित है कि धर्म की पत्नी श्रद्धा से काम की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार का आख्यान 'विष्णु'[1], 'कूर्म'[2], 'वायु'[3] और 'मार्कण्डेय'[4] पुराणों में मिलता है। इससे प्रकट है कि वेद के आख्यान से पुराण का आख्यान बिल्कुल उलटा है, वह इस प्रकार कि प्रथम में श्रद्धा काम के गोत्र में उत्पन्न कही गई है और द्वितीय में श्रद्धा से ही काम की उत्पत्ति मानी गई। वेद और पुराण के आख्यानों की विधि बैठ जाय यदि यह मान लिया जाय कि काम इतने प्रसिद्ध व्यक्ति हुए कि उनके पश्चात् और पूर्व के भी व्यक्ति उनके गोत्र के अन्तर्गत माने जाने लगे।

'शतपथ ब्राह्मण' में श्रद्धा का वर्णन मनुपत्नी मानवी के रूप में भी किया गया है। उसमें मनु को भी कई स्थानों पर श्रद्धादेव कहा है।[5] मनु के पुत्र मानव की माता के रूप में भी 'श्रद्धा' मानवी (मानववाली; मानव की माता) के रूप में प्रतिष्ठित की जा सकती है। मनु से श्रद्धा का सम्बन्ध होने के कारण भी उसे मानवी कह सकते हैं।

'शतपथ ब्राह्मण' में मनु को श्रद्धादेव कहा है और पुराणों में श्राद्धदेव। पुराणों में जिन मनु को श्राद्धदेव कहा है वे सातवें मन्वन्तर के विवस्वा-पुत्र (सूर्य-पुत्र) मनु हैं। इन मनु का श्राद्धदेव के रूप में उल्लेख 'विष्णु'[6], 'देवीभागवत'[7], 'ब्रह्मवैवर्त'[8], 'हरिवंश'[9],

---

१. श्रद्धा काममचलादर्पं नियमंधृतिरात्मजम्।—अंश प्रथम, अध्याय ७, श्लोक २८।

२. श्रद्धाया आत्मजः कामो दर्पो लक्ष्मीसुतः स्मृत.।—अध्याय ८।

३. श्रद्धा काम विजज्ञे वै दर्पो लक्ष्मीसुतः स्मृत.।—अध्याय १०, श्लोक ३४।

४. अध्याय ५०; श्लोक २८।

५. सा मनोरेव जायां मानवी प्रविवेश। × × ×तस्तै ह स्म यत्र व्यं दंदयै श्रृण्वंति ततो ह स्मं वासुरक्षसानि मृद्युमाना नियति से हासुराः समुदिरऽइतो वैतः पापीमः स च ते भूयो हि मानुपो व्वाना वदातीति *किलाताकुली* ह बोचतुः× × ×श्रद्धादेवो वै म.नु× × ×रावंन्वेव व्वेदावति तौ हागत्यो चतुर्मनो याजयाव त्वेति केनेत्यनयँ ग जायमेति तयेति तस्य ऽप्रलब्धास्यै सान्वागपत्नाम्।—कांड १, प्रपाठ १, ब्राह्मण४, अध्याय १, श्लोक १६।

६. विवस्वतस्सुतो विप्र श्राद्धदेवो महाद्युति।
मनुस्सवर्तते धीमान् साम्प्रतं सप्तमेऽन्तरे॥—अंश ३, अध्याय १, श्लोक ३०।

७ स्कन्ध १०, अध्याय १०, श्लोक १।

८. श्रद्धादेव. सूर्यसुतो वैष्णवः सप्तमो मनुः।—प्रकृति-खंड, अध्याय ५४, श्लोक ६३।

९. मनुर्वैवस्वतः पूर्वं श्राद्धदेव प्रजापतिः।
यमश्च यमुना चैव यमजौ संबभूवतुः॥—अध्याय ९. श्लोक ८।

'शिव'[१], और 'श्रीमद्भागवत'[१] पुराणों में समान रूप से मिलता है। 'शतपथ ब्राह्मण' के श्रद्धादेव और पुराणों के श्राद्धदेव श्रद्धा के पति ही हैं, इसमें सन्देह नहीं; परन्तु उक्त ब्राह्मण के मनु कब थे, इसका उल्लेख नहीं है और पुराण के मनु सातवें मन्वन्तर के मनु तथा सूर्य-पुत्र कहे गये हैं। इनका श्रद्धा-पति होना इस प्रकार सिद्ध है कि 'श्रीमद्भागवत पुराण' में स्पष्ट रूप से लिखा है कि उन्होंने अपने ही तुल्य दस पुत्र अपनी पत्नी श्रद्धा से उत्पन्न किये जैसा नीचे की पाद-टिप्पणी के उद्धरण (२) से सिद्ध है।

३

पुराणों में श्रद्धा के पूर्व और पश्चात् की वंश-परम्परा का उल्लेख मिलता है। 'विष्णु पुराण' मे श्रद्धा की वंश-परम्परा संक्षेप में इस प्रकार दी गई है। दम्पति स्वायंभुव मनु और शतरूपा ने प्रियव्रत और उत्तानपाद नामक पुत्र तथा 'प्रसूति' तथा 'आकूति' नामक कन्याएँ उत्पन्न कीं। प्रसूति का विवाह दक्ष[३] से हुआ। प्रसूति और दक्ष से चौबीस कन्याएँ उत्पन्न हुईं, जिनमें से प्रथम तेरह के नाम ये हैं और इनसे धर्म ने विवाह किया—श्रद्धा, लक्ष्मी, धृति, तुष्टि, मेधा, पुष्टि, क्रिया, बुद्धि, लज्जा, वपु, शान्ति, सिद्धि और कीर्ति। शेष ग्यारह कन्याएँ ये हैं—ख्याति, सती, संभूति, स्मृति, प्रीति, क्षमा, संतति, अनसूया, ऊर्जा, स्वाहा और स्वधा। इनका विवाह क्रमशः इन ऋषियों से हुआ—भृगु, शिव, मरीचि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, अत्रि, वशिष्ठ, अग्नि और पितर।[४] श्रद्धा से काम उत्पन्न हुआ, इसकी चर्चा हो चुकी है। रति ने काम से हर्ष नामक पुत्र उत्पन्न किया, जो धर्म का पौत्र कहलाया।[५] 'मार्कण्डेय पुराण' में भी ऐसा ही आख्यान है। इसके आख्यान में केवल इतना ही अन्तर है कि धर्म के पुत्र काम के अतिमुद और हर्ष नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए।[६] 'कूर्म पुराण' की कथा भी ऐसी ही है। इसमें भी काम के दो

---

१. त्वपेऽस्यां त्रीण्यपत्यानि जनयामास भास्करः।
संज्ञायां तु मनुः पूर्वः श्राद्धदेव प्रजापति ॥—उमा-संहिता, अध्याय ३५, श्लोक ४।

२. ततो मनुः श्राद्धदेवः संज्ञायामास भारत।
श्रद्धायां जनयामास दशपुत्रान्स आत्मवान् ॥—स्कन्ध ९, अध्याय १, श्लोक ११।

३. अंश १, अध्याय ७, श्लोक १८-१९।

४. वही, श्लोक २२-२७।

५. कामाद्रतिः सुतं हर्षं धर्मपौत्रमसूयत।—वही, श्लोक ३१।

६. अध्याय ५०, श्लोक १६-२८।

पुत्रों—हर्ष और देवानन्द—का होना लिखित है।[1] 'वायु पुराण' का आख्यान भी ऐसा ही है, इसमें काम और रति से एक ही पुत्र हर्ष का उल्लेख है।[2]

'श्रीमद्भागवत पुराण' में श्रद्धा की कथा कुछ दूसरे रूप में है। इसमें लिखा है कि दक्ष और प्रसूति से सोलह कन्याएँ उत्पन्न हुई, अन्य पुराणों की भाँति चौबीस नहीं—इनमें से तेरह धर्म से ब्याही गईं, एक अग्नि से, एक समस्त पितृगण से और एक भगवान् शंकर से।[3] तेरह कन्याओं के धर्म से ब्याहे जाने की कथा तो अन्य पुराणों में भी है। 'स्वाहा' और 'स्वधा' के क्रमशः 'अग्नि' और 'पितर' से ब्याहे जाने की कथा अन्य पुराणों में भी मिलती है। 'श्रीमद्भागवत' में एक का ब्याह शंकर से हुआ, ऐसा लिखा है; अन्य पुराणों में ऐसा नहीं है। इस (भागवत) पुराण मे प्रसूति और दक्ष से उत्पन्न तेरह कन्याओं के नाम ये हैं, जिनका विवाह धर्म से हुआ—श्रद्धा, मैत्री, दया, शान्ति, तुष्टि, पुष्टि, क्रिया, उन्नति, बुद्धि, मेधा, तितिक्षा, ह्री और मूर्ति।[4] इन नामों के देखने से विदित होता है कि अन्य पुराणों में तथा इस पुराण में लिखित धर्म की पत्नियों के नामों में अन्तर है। अन्य पुराणों में लिखा है कि श्रद्धा से काम की उत्पत्ति हुई, परन्तु इस पुराण में श्रद्धा के 'शुभ' उत्पन्न हुआ।[5]

४

वेद, 'शतपथ ब्राह्मण' और पुराणों में श्रद्धा-सम्बन्धी इन विवरणों से कई निष्कर्ष सम्मुख आते है। एक तो यह कि 'शतपथ ब्राह्मण' की मनु-पत्नी श्रद्धा वा मानवी और पुराणों की मनु-पत्नी श्रद्धा समान-सी लगती है। इस निष्कर्ष को स्वीकार करने का कारण 'शतपथ ब्राह्मण' तथा पुराणों मे क्रमशः 'श्रद्धादेव' और 'श्राद्धदेव' शब्दों का आना है। दूसरा यह कि 'शतपथ ब्राह्मण' के श्रद्धा-पति मनु कौन हैं, यह तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु पुराणों के श्रद्धापति मनु सातवें मन्वन्तर के विवस्वान्-पुत्र मनु हैं। तीसरा यह कि अभी तक हमने जिन श्रद्धा की कुछ विस्तृत वंश-परम्परा देखी है, वे मनु पत्नी श्रद्धा नहीं, प्रत्युत 'धर्म'-पत्नी श्रद्धा हैं—यद्यपि वेद की कामायनी और पुराणों की

---

१. कामस्य हर्षः पुत्रोऽभूद् देवानन्दोऽभ्यजायत।—अध्याय ८।

२. अध्याय १०, श्लोक १—३८।
कामस्य हर्षः पुत्रो वै देव्या रत्यां व्यजायत।—श्लोक ३८।

३. स्कंध ४, अध्याय १, श्लोक ४७-४८।

४. श्रद्धा मैत्री दया शान्तिस्तुष्टि पुष्टि क्रियोन्नतिः।
बुद्धिर्मेधा तितिक्षा ह्री मूर्त्ति धर्मस्य पत्नयः।—वही, श्लोक ४९।

५. श्रद्धासूत शुभं मैत्री प्रसादमभयं दया।
शान्तिः सुखं मुदं तुष्टिः स्मयं पुष्टिरसूयत॥—वही, श्लोक ५०।

काम-माता का मेल इन्हीं 'श्रद्धा' से बैठता है, जिन पर श्री 'प्रसाद' ने अपने काव्य 'कामायनी' में भी दृष्टि रखी है। रति और हर्ष का सम्बन्ध भी इन्हीं श्रद्धा से है। इस लेख के द्वितीय खण्ड की पाद-टिप्पणी[1] में जिन श्राद्धदेव मनु के दस पुत्र होने की कथा कही गई है, वे सातवें मन्वन्तर के वैवस्वत मनु ही हैं। इनके दस पुत्रों के नाम ये हैं—इक्ष्वाकु, नृग, शर्याति, दिष्ट, धृष्ट, करुषय, नरिष्यंत, पृषध्र, नभग और कवि।[2] अन्य पुराणों में भी, थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ, इस सम्बन्ध में ऐसी ही कथा है।

५

श्री जयशंकर 'प्रसाद' ने 'कामायनी' में किन श्रद्धा पर विशेष दृष्टि रखी है, विचार का यह विषय भी सम्मुख आता है। जहाँ तक श्रद्धा-पति मनु का सम्बन्ध है, श्री 'प्रसाद' ने 'शतपथ ब्राह्मण' तथा अन्य ब्राह्मणों के मनु पर दृष्टि रखी है; क्योंकि आकुलि और किलात की कथा इन्हीं से सम्बद्ध है[3], जो 'कामायनी' में आई है। 'कामायनी' में आये पात्रों की सुसम्बद्ध और स्पष्ट कथा नहीं प्राप्त होती। इनकी कथाएँ स्फुट रूप से बिखरी हैं—कहीं ब्राह्मणों में, कहीं पुराणों में और कहीं अन्यत्र। श्रद्धा के वृत्त के विषय में भी यही बात समझनी चाहिए। कथा के बिखरे रूप में प्राप्त होने के कारण ही स्वयं 'कामायनी' में भी कथा की धारा स्फीत नहीं है, पात्रों के सम्बन्ध-स्थापन के पश्चात् उनके मानवोचित काल्पनिक रूपों का ही विस्तार अधिक है। कथा की सूक्ष्मता के अन्य कारण भी हैं। इनके जो वृत्त मिलते हैं वे सामाजिक सम्बन्ध के उल्लेख मात्र के रूप में, जैसे अमुक की पत्नी अमुक हैं, अमुक के पुत्र अमुक हैं—आदि। इनका कार्य-कलाप बहुत ही कम मिलता है। 'कामायनी' में कथा की सूक्ष्मता का एक कारण यह भी है। ऐसा प्रतीत होता है कि जहाँ तक श्रद्धा की विशुद्ध कथा का प्रश्न है, श्री 'प्रसाद' ने 'धर्म'-पत्नी श्रद्धा पर ही विशेष दृष्टि रखी है; क्योंकि 'कामायनी' में आये काम तथा रति का सम्बन्ध इन्हीं श्रद्धा से है। क्रिया, मेधा, बुद्धि आदि इन्हीं श्रद्धा की बहिनें हैं, जिनका समाहार 'इड़ा' के रूप में 'कामायनी' में हुआ है। इड़ा-वृत्त का उद्घाटन दूसरे लेख में किया जायगा।

अभी इसका उल्लेख किया गया है कि श्री 'प्रसाद' ने 'कामायनी' में जिन पात्रों का ग्रहण किया है उनका वृत्त कई स्थलों पर बिखरा है, इनमें सुसम्बद्धता तथा सुस्पष्टता कहीं नहीं मिलती। इसका भी उल्लेख हुआ है कि इन पात्रों के सामाजिक सम्बन्ध की चर्चा मात्र मिलती है, इनका क्रिया-कलाप नहीं मिलता। फिर भी पात्रों के स्वरूप की स्थापना, उनके क्रिया-कलाप द्वारा, श्री 'प्रसाद' को करनी थी। इस कार्य की सिद्धि के लिए उन्होंने,

१. देखिए—इस लेख के द्वितीय खण्ड की पाद-टिप्पणी २।
२. श्रीमद्भागवत पुराण, स्कन्ध ९, अध्याय १, श्लोक १२।
३. देखिए—इस लेख के द्वितीय खण्ड की पाद-टिप्पणी ५।

मनोभावाभिधेय पात्रों के स्वरूप को, दर्शन आदि ग्रन्थों मे लिखित उनके स्वरूपों के समान ही, रखा है। और इन स्वरूपों के अभिव्यंजक कार्यों का सम्बन्ध उनसे स्थापित किया है। 'कामायनी' में श्रद्धा की प्रतिष्ठा भी इसी पद्धति के आधार पर हुई है।

६

कोष-ग्रन्थों में श्रद्धा का अभिधेयार्थ संप्रत्यय (आदर) और स्पृहा (आकांक्षा) दिया है। 'अमर'[1] और 'मेदिनी'[2] कोषों मे इसके ये ही अर्थ हैं। 'निरुक्त' में श्रद्धा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में 'यह ऐसा ही है' अविपर्ययपूर्वक जो इस प्रकार की बुद्धि उत्पन्न होती है उसी भाव की अधिष्ठातृ देवी है।[3] यहाँ श्रद्धा का ग्रहण 'आस्तिक बुद्धि' के रूप में करना चाहिए, जैसा 'श्रीमद्भगवतगीता' के निम्नलिखित श्लोक का भाष्य करते हुए—

"ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजंते श्रद्धयान्विता।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्वमाहो रजस्तमः॥[4]"

—'श्रद्धया' का भाष्य श्रीशंकराचार्य ने 'आस्तिक्य बुद्ध्या' किया है।

'ऋग्वेद संहिता' के दसवें मण्डल के ग्यारहवें अनुवाक् के सूक्त-संख्या एक सौ इक्यावन के देवता श्रद्धा हैं और ऋषि श्रद्धा-कामायनी। इस सूक्त का प्रथम मन्त्र यह है—

"श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि।"

इस मन्त्र में आये 'श्रद्धा' शब्द का भाष्य करते हुए सायणाचार्य ने लिखा है—'पुरुषगतोऽभिलाषविशेषः श्रद्धा'—'व्यक्ति में स्थित आकांक्षा-विशेष को श्रद्धा' कहते हैं। 'अमर' और 'मेदिनी' कोषों में श्रद्धा के अभिधेयार्थ से यह अर्थ मिलता है। इस सूक्त में श्रद्धा द्वारा अमुक-अमुक कार्य किया जाता है, यह भी लिखा है और श्रद्धा को सम्बोधित कर भी बातें कही गई हैं। सूक्त के चौथे मन्त्र में कहा गया है कि श्रद्धा द्वारा धन की प्राप्ति होती है।[5] यहाँ श्रद्धा का अर्थ आकांक्षा है, परन्तु आकांक्षा मात्र से तो

---

१. श्रद्धा संप्रत्यय स्पृहा।—काण्ड ३, १०२।

२. श्रद्धादरे च कांक्षायाम्।

३. धर्मार्थकाममोक्षेषु अविपर्ययेणैवमेतदिति या बुद्धिरुत्पद्यते, तदधिदेवताभावाख्या श्रद्धेत्युच्यते।—॥९॥—अध्याय ९, पाद ३, संख्या ३१।

४. अध्याय १७, श्लोक १।

५. श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते।
श्रद्धां हृदय्ययाकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु॥

'वसु' की प्राप्ति सम्भव नहीं, इसी कारण श्रद्धा से 'वसु' की प्राप्ति होने के पूर्व यह भी कहा गया है कि—'श्रद्धां हृदय्ययाकूत्या' । श्रीसायणाचार्य ने इस पर भाष्य करते हुए कहा है कि लोग हृदयस्थ संकल्प-रूप क्रिया से श्रद्धा (आकांक्षा) की उपासना करते हैं।[1] आकांक्षा और उसकी पूर्ति के लिए संकल्प और क्रिया का उल्लेख भी साथ ही मिलता है।

७

शाक्त तन्त्र से सम्बद्ध 'त्रिपुरारहस्यम्' (ज्ञान-खण्ड) नामक ग्रन्थ में श्रद्धा के स्वरूप के विषय में बहुत सी बातें मिलती हैं। इसमें श्रद्धा का बहुत ही महत्त्व स्वीकार किया गया है—

"श्रद्धा माता प्रपन्नं स वत्सलेव सुतं सदा ।
रक्षति प्रौढ़ भीतिभ्यः सर्वथा नहि संशयः ॥
आप्तेष्वश्रद्धितं मूढ़ं जहाति श्रीःसुखं यशः ।
स भवेत् सर्वतो हीनो यः श्रद्धारहितो नरः ॥
श्रद्धा हि जगतां धात्री श्रद्धा सर्वस्य जीवनम् ।
अश्रद्धो मातृ विषये बालो जीवेत् कथं वद ॥"[2]

स्पष्ट है कि यहाँ श्रद्धा 'आस्तिक बुद्धि' के रूप में गृहीत हुई है। आगे भी कहा गया है—

"अश्रद्धो वा भुवं कस्माद् विकर्षेत् कर्षकः किल ।
न प्रवृत्तिर्भवेत् क्वापि त्यागे वा संग्रहेऽपि वा ॥
श्रद्धावैधुर्ययोगेन विनश्येज्जगतो स्थितिः ।
एकान्तग्रहणाल्लोकप्रवृत्तिरिति चेच्छृणु ॥"[3]

इनसे ज्ञात होता है कि 'श्रद्धा' संग्रह, त्याग और लोकप्रवृत्ति की प्रेरणा भी देती है, अश्रद्धा से जगत् की स्थिति नष्ट हो जाय। यहाँ श्रद्धा का तात्पर्य आस्तिक बुद्धि ही है, जो इन कार्यों की प्रेरक है। ग्रन्थ में सतर्कजन्य श्रद्धा द्वारा नर के सफल होने की बात कही गई है, अन्ध-श्रद्धा द्वारा सफल होने की बात नहीं मिलती—

---

१. हृदय्यया। हृदये भवा हृदय्यया। तथाविधियाकूत्या संकल्परूपया क्रियया श्रद्धामेव परिचरंति सर्वेजना ।

२. अध्याय ६, श्लोक २३-२५ ।

३. वही, श्लोक २६,२८ ।

"सत्तर्कसंश्रयेणाशु साधनैकपरो भवेत् ।
सत्तर्कजनितां श्रद्धां प्राप्येह फलभाङ् नरः ॥"[1]

'श्रीमद्भगवद्गीता' में भी श्रद्धा के महत्त्व की प्रतिष्ठा है । कहा है—

"श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥"[2]

यह संसारी पुरुष श्रद्धायुक्त है; जिसमें जितनी श्रद्धा है वह उतना ही उसके (श्रद्धा के) अनुरूप है । 'गीता' में श्रद्धा तीन प्रकार की मानी गई है—सात्त्विक, राजस और तामस ।[3] 'प्रबोधचन्द्रोदय' में भी इसी तीन प्रकार की श्रद्धा का वर्णन है । अब तक हमने जिस श्रद्धा की बात की है वह सात्त्विक श्रद्धा की ही है । श्री 'प्रसाद' ने 'सात्त्विक' श्रद्धा का ही ग्रहण किया है ।

श्री 'प्रसाद' ने 'कामायनी' में ऐतिहासिक अथवा पौराणिक रूप से जिन श्रद्धा की प्रतिष्ठा की ओर दृष्टि रखी है उसका विचार हमने किया है । परन्तु ऐतिहासिक अथवा पौराणिक श्रद्धा से उसका (श्रद्धा का) अन्तर्बाह्य दोनों रूप निखरता न देख उन्होंने कोषों और दर्शन-ग्रन्थों से उसके रूप के तत्त्व का संग्रह कर उसकी प्रतिष्ठा की । उन्होंने 'कामायनी' की श्रद्धा में मन और प्राण की स्थापना के लिए कोषों से उसके पर्यायवाची आदर और आकांक्षा; 'निरुक्त' और 'गीता' से आस्तिक बुद्धि—आस्था; 'ऋग्वेद' से संकल्प और क्रिया की प्रेरक आकांक्षा; 'त्रिपुरारहस्यम्' से संग्रह, त्याग एवं लोक-प्रवृत्ति की प्रेरक सतर्कजन्य 'श्रद्धा' का ग्रहण किया । 'कामायनी' की श्रद्धा उपर्युक्त सभी भावों की प्रतीक है; इन्हीं भावों और प्रवृत्तियों से इस श्रद्धा का निर्माण हुआ है, जो आप्तवचनानुमोदित है, अनर्गल रूप से काल्पनिक नहीं । 'कामायनी' की श्रद्धा के जीवन में किन-किन परिस्थितियों के आगमन द्वारा उपर्युक्त भावों का उदय हुआ, यह तो उसके चरित्र-चित्रण का विषय है, जिसकी मीमांसा का यह स्थल नहीं । 'त्रिपुरारहस्याम्' और 'श्रीमद्भगवद्गीता' में श्रद्धा का जो महत्त्व स्थापित है—प्रथम ग्रन्थ में तो श्रद्धा जगद्धात्री कही गई है—उसी महत्त्व की स्थापना का सफल प्रयत्न 'कामायनी' में दृष्टिगत होता है । 'कामायनी' की श्रद्धा हृदय का प्रतीक है, जिसमें कोमल भावनाओं का ही समावेश है, इसके लिए इसकी टीका भी यत्र-तत्र होती है । कहा जाता है कि 'कामायनी' की श्रद्धा में बुद्धि के तत्त्वों की कमी है—यद्यपि बिना बुद्धि के किसी भी कार्य का सम्पादन सम्भव नहीं और इसमें श्रद्धा उत्तमोत्तम कार्यों का संचालन करती है—वह मनु की पथ-प्रदर्शक भी है ।

---

१. अध्याय ७, श्लोक ७ ।
२. अध्याय १७, श्लोक ३ ।
३. वही, श्लोक १ ।

'त्रिपुरारहस्यम्' में सतर्कजन्य श्रद्धा से नर की सफलता का उल्लेख है—यद्यपि उसमें भी श्रद्धा का कम महत्त्व स्थापित नहीं है। श्री 'प्रसाद' के सम्मुख 'श्रद्धा' के साथ 'इड़ा' (बुद्धि) के आ जाने के कारण उन्होंने इड़ा में ही बुद्धिवाद के अधिकतर तत्त्वों का समाहार कर दिया और कोमल भावनाओं की स्थापना के लिए श्रद्धा के हृदय को चुना। किन्हीं अंशों में दोनों में हृदय और बुद्धि का सन्निवेश है, इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता; किसी मे किसी का प्राधान्य है, किसी में किसी का—इसमें सन्देह नहीं।

३

प्रसाद के नारी-पात्र

[हरप्रसाद शास्त्री]

'प्रसाद' आधुनिक हिन्दी-साहित्य की विकासोन्मुखी प्रगति एवं मौलिक चिन्तनात्मक चेतना के अग्रदूत हैं। उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी, उन्होंने कविता, कहानियाँ, नाटक, उपन्यास, निबन्ध, आलोचनादि सभी साहित्यिक अंगों पर समान रूप से लिखा है। पौलिकता उनकी प्रमुख विशेषता है, इतिहास उनका सर्वप्रिय विषय रहा, पुरातत्त्व सम्बन्धी विषयों में उनकी विशेष रुचि थी, भारतीय दर्शनशास्त्र का उन्होंने गम्भीर अध्ययन किया था, बौद्ध-दर्शन का उनकी विचारधारा पर विशेष प्रभाव था, मानव-विज्ञान के वे पण्डित थे।

'प्रसाद' का लगभग सभी साहित्य भारत के उज्ज्वल गौरवमय अतीत से सम्बन्ध रखता है। वर्तमान की समस्याओं का समाधान उन्होंने अतीत के गर्भ में छिपी हुई समस्याओं के सुलझाव से दिया है। उनके कलापक्ष पर अवश्य पाश्चात्य साहित्य का प्रभाव लक्षित होता है किन्तु भावपक्ष में वे पाश्चात्य-प्रभाव से विहीन एक स्वतन्त्र विचारक थे।

'प्रसाद'-साहित्य की अन्य विशेषताओं के अतिरिक्त सबसे प्रमुख विशेषता पात्रों में प्राण फूंक देने वाली प्रतिभा की अद्वितीय सजीवता है। यों तो 'प्रसाद' ने अपने सभी पात्रों का सवाक् एवं सरूप चित्रण किया है, किन्तु नारी-चित्रांकन में उन्हें सर्वाधिक सफलता मिली है। उनकी नारी भावुक भी है, स्नेह करना भी जानती है और उस स्नेह के लिए बड़े से बड़ा त्याग करना भी जानती है। उसका प्रेम विषय-वासनाओं की उद्दीप्ति तक ही सीमित नहीं रहता वरन् त्याग और बलिदान की ऊँची से ऊँची सीढ़ी पर चढ़कर मानव का पथ-प्रदर्शक बनता है। वह मध्ययुगीन भारतीय नारी की भाँति केवल पुरुष की इन्द्रि या शक्ति की भोज्य-मात्र नहीं वरन् उसके समस्त जीवन की सहयोगिनी है। 'प्रसाद' के नाटकों, कहानियों तथा उपन्यास आदि सभी काव्यांगों में नारी की इसी श्रद्धा, त्याग एवं उदार रूप का चित्रण मिलता है। इसके विपरीत कुछ ऐसे भी नारी-पात्र हैं जो मानव-गत दुर्बलताओं के शिकार बनकर विलास-भावना, मिथ्याभिमान, ईर्ष्या, स्वार्थपरता आदि पाशवीय वृत्तियों की पराकोटि को प्राप्त होते हैं—किन्तु अन्त में ऐसे पात्रों में भी उदात्त वृत्तियों की प्रबलता चित्रित की गई है।

'प्रसाद' के सभी पात्रों का चारित्रिक विकास कृत्रिम न होकर अन्तर्द्वन्द्व और

घटनाओं के घात-प्रतिघातों से होने वाले चरित्र-विकास की मनोवैज्ञानिक प्रणाली के आधार पर होता है। अतः हम मानवीय अन्तःकरण की दो परस्पर-विरोधी सद् एवं असद् प्रवृत्तियों के आधार पर उनके नारी पात्रों का वर्गीकरण कर सकते हैं।

(१) उनके नारी पात्रों का एक वर्ग वह है जो जीवन के सुख-दुखों की धूप-छाँह-भरी कठिन दोपहरी में भी अपने निश्चित आदर्शों का संबल लिये सतत क्रियमाण रहता है। ऐसे पात्रों को हम 'आदर्श-पात्रों' की कोटि में रख सकते हैं। आध्यात्मिक आदर्शों में निःस्वार्थ-त्याग, क्षमा, करुणा, अहिंसा एवं सर्वभूत हित-कामना आदि आत्म-परिष्कारक आदर्शों का समावेश होता है और आधिभौतिक के अन्तर्गत जातीय गौरव, राष्ट्र-प्रेम, आत्मसम्मान आदि जीवनोत्कर्ष-सम्बन्धी आदर्श आते हैं। ये आदर्शपूर्ण पात्र व्यष्टि को समष्टि के लिए बलिदान कर देते हैं। इन आदर्शों के अनुगामी पात्रों को हम दूसरे शब्दों में 'सतो-गुणी-पात्र' भी कह सकते हैं।

'प्रसाद' के ये आदर्श पाँच कोटियों में विभक्त किये जा सकते हैं—

(क) प्रेम सम्बन्धी आदर्श।

(ख) राष्ट्र एवं जाति सम्बन्धी आदर्श।

(ग) विश्वात्म—(विश्वमैत्री-'वसुधैव कुटुम्बकम्') सम्बन्धी आदर्श।

(घ) नैतिक (चारित्रिक) आदर्श।

(ङ) कर्तव्य सम्बन्धी आदर्श।

यद्यपि ये आदर्श नीर-क्षीर की भाँति एक दूसरे से नितान्त अलग नहीं किये जा सकते, उनके बीच कोई विभाजन-रेखा नहीं खींची जा सकती, किन्तु स्थूल एवं तत्तद्-गुणों की न्यूनाधिक मात्रा के दृष्टिकोण से उनका विभाजन सुविधाजनक होगा।

(क) प्रेम सम्बन्धी आदर्श-पूर्ण पात्र— इस कोटि के अन्तर्गत देवसेना, मालविका, कोमा, कार्नेलिया आदि नारी पात्र आते हैं। देवसेना 'प्रसाद' जी की अमर कल्पना है। उसका जीवन त्याग, उदारता, सहिष्णुता एवं प्रेम के चरमोत्कर्ष से परिपूर्ण है। संगीत उसके जीवन का अभिन्न अंग है। उसका प्रिय स्कन्दगुप्त पहिले 'विजया' की ओर आकृष्ट होता है किन्तु देवसेना सामान्य नारी की भाँति द्वेष और ईर्ष्या से प्रेरित नहीं होती, वह अपनी प्रणय-प्रतिद्वन्द्विनी विजया के प्रति अविशिष्टता एवं अनुदारता का व्यवहार नहीं करती, वह अपने आराध्य के मार्ग में रोड़ा नहीं अटकाना चाहती। उसका प्रेम वासना की दुर्गन्धि से कोसों दूर है। विजया के अधिकार एवं ऐश्वर्यजन्य प्रेम के मोह से छूटकर स्कन्दगुप्त पुनः देवसेना के प्रति अपना ममत्व अर्पित कर उसके साथ एकान्त वास की इच्छा प्रकट करता है, तो वह कितने मार्मिक शब्दों में उसको उत्तर देती है—"इस हृदय में ··· आह! कहना ही पड़ा, स्कन्दगुप्त को छोड़कर न तो कोई दूसरा आया और न वह जायगा। अभिमानी भक्त के समान निष्काम होकर

मुझे उसी की उपासना करने दीजिये, उसे कामना के भँवर में फँसाकर कलुषित न कीजिये।" वह इसलिए भी स्कन्दगुप्त से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित नहीं करती कि उसके दिवंगत भाई बन्धुवर्मा ने स्कन्दगुप्त को मालव का राज्य समर्पित किया था। वह कहती है—"लोग कहेंगे कि मालव देकर देवसेना का ब्याह किया जा रहा है।" वह ऐसा करके अपने दिवंगत भाई की आत्मा को कष्ट नहीं देना चाहती। वह प्यार का उच्चतम आदर्श स्थापित करती है।

सिन्धुदेश-वासिनी मालविका चन्द्रगुप्त से सात्विक प्रेम करती है। वह प्रेम की परिणति वासनाओं की पूर्ति में नहीं मानती वरन् आत्म-विसर्जन, त्याग और बलिदान में मानती है। वह चाणक्य की आज्ञा से चन्द्रगुप्त की शय्या पर जाकर सो जाती है और षड्यन्त्रियों के द्वारा चन्द्रगुप्त के भ्रम में मार दी जाती है। चन्द्रगुप्त के शब्दों में 'वह स्वर्गीय कुसुम' है। वास्तव में वह उन फूलों के समान है "जो हँसते हुए आते हैं फिर मकरन्द गिराकर मुरझा जाते हैं।"

'ध्रुवस्वामिनी' नाटक की कोमा में नारी के प्रेम का चरमोत्कृष्ट रूप अंकित हुआ है। वह शकराज से प्रेम करती है जो अत्यन्त निर्दयी, स्वार्थी, विलासी एवं प्रमादी व्यक्ति है। कोमा आरम्भ में उसके दीप्त पौरुष-रूप पर मुग्ध होकर अपना हृदय हार बैठती है। आगे चलकर उसे अपने भ्रम का बोध होता है किन्तु वह भ्रम-बोध के पश्चात् भी प्रेम-पथ से विरत नहीं होती। शकराज के परनारी बलात्कार का वह निर्भीकतापूर्वक विनम्र शब्दों में प्रतिरोध करती है, किन्तु असफल होने पर वह अपने पिता आचार्य मिहिरदेव की आज्ञा के अनुसार शकराज को छोड़कर चली जाती है। शकराज के मारे जाने पर उसका प्रेम-स्रोत पुनः उमड़ पड़ता है, वह ध्रुवस्वामिनी से शकराज का शव माँगकर उसके साथ आत्म-विसर्जन कर देती है। उसकी प्रेम सम्बन्धी उक्तियाँ कितनी मार्मिक हैं—"प्रेम, जब सामने से आते हुए तीव्र आलोक की तरह आँखों में प्रकाश-पुंज उँडेल देता है, तब सामने की ओर भी वस्तुएँ अस्पष्ट हो जाती हैं।"—"प्रेम करने की ऋतु होती है। उसमें चूकना, उसमें सोच-समझकर चलना, दोनों एक बराबर हैं।" कोमा एक ओर प्रेमी के अन्यायपूर्ण दुष्कृत्यों का विरोध करती है और दूसरी ओर प्रेमी के शव के साथ शरीर त्याग कर देती है। वह सच्चे शब्दों में प्रेमिका है।

कार्नेलिया का चन्द्रगुप्त से प्रेम नैसर्गिक है। वह ग्रीक-कुमारी होते हुए भी, हृदय से भारतीय है, वह भावुक और सहृदय है, वह अपने पिता को चन्द्रगुप्त के राज्य पर आक्रमण करने से विरत करने की चेष्टा करती है। युद्ध के समय वह बड़े साहस से काम लेती है, प्राण विसर्जन से भी वह नहीं हिचकिचाती।

(ख) राष्ट्र एवं जाति सम्बन्धी आदर्श-पूर्ण पात्र—'प्रसाद' की नारियों का राष्ट्रीय एवं जातीय महत्त्व भी कुछ कम नहीं है। वे अपने सक्रिय सहयोग द्वारा बड़े-से-बड़े राष्ट्रीय हित-सम्पादन में सहायक बनी हैं। अलका, कमला, मनसा, मल्लिका—ऐसे ही नारी पात्र हैं।

अलका राष्ट्र-प्रेम की सजीव मूर्ति है। वह देशद्रोही अपने भाई आम्भीक का विरोध करती है। आर्य-पताका स्वयं हाथ में लेकर देश-भक्ति की लहर नर-नारियों में फैला देती है। उसका देश-प्रेम का यह गीत हमारी राष्ट्रीय निधि है—

"हिमाद्रि तुंग शृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती—
स्वयं प्रभा समुज्ज्वला स्वतन्त्रता पुकारती—
अमर्त्य वीर-पुत्र हो, दृढ़ प्रतिज्ञ सोच लो,
प्रशस्त पुण्य पंथ है—बढ़े चलो, बढ़े चलो।"

वह त्याग और देशानुराग द्वारा अपने भाई आम्भीक का हृदय परिवर्तित कर देती है।

कमला भटार्क की माता है। यद्यपि वह 'स्कन्दगुप्त' नाटक की गौण पात्र है किन्तु अपने त्याग और उदारता के आदर्श में किसी भी मुख्य पात्र से कम नहीं है। यह उसका दुर्भाग्य है कि वह भटार्क जैसे नीच देशद्रोही पुत्र की माँ है। वह उत्तम गुणों की उपासिका है। वह अपने कुचक्री, कृतघ्न, राष्ट्र-द्रोही पुत्र के अमानवीय दुष्कृत्यों का तीव्र विरोध करती है। भटार्क को अपना पुत्र कहने में भी उसे लज्जा का अनुभव होता है—"भटार्क! तेरी माँ को एक ही आशा थी कि पुत्र देश का सेवक होगा, म्लेच्छों से पद-दलित भारत-भूमि का उद्धार करके मेरा कलंक धो डालेगा—मेरा सिर ऊँचा होगा। परन्तु हाय!" कमला के विषय में गोविन्दगुप्त के ये शब्द स्मरणीय हैं—"धन्य हो देवि! तुम जैसी जननियाँ जब तक उत्पन्न होंगी, तब तक आर्य राष्ट्र का विनाश असम्भव है।"

मनसा नाग-जाति में जागृति की भावनाएँ पैदा करती है और उनमें जातीयता को सजग एवं सचेष्ट करती है। मल्लिका में 'प्रसाद' ने पति-परायणता, स्नेह, करुणा और राष्ट्र-प्रेम को मूर्तिमान् रूप में चित्रित किया है। वह अपने पति को राज-भक्ति से च्युत नहीं करना चाहती। अपने पति बन्धुल को काशी से वापिस बुलाने की सलाह देने वाली शक्तिमती से वह स्पष्ट शब्दों में कहती है—"सेनापति का राजभक्त कुटुम्ब कभी विद्रोही नहीं होगा और राजा की आज्ञा से वह प्राण दे देना अपना धर्म समझेगा।" वह अपने पति की हत्या के बाद भी राष्ट्र में कोई विद्रोह पैदा नहीं करती वरन् अपने प्रतिकारियों को क्षमा प्रदान कर उनका हृदय परिवर्तित कर देती है। वह अपने पति के घातक विरुद्धक को भी चिकित्सा कराती है। सचमुच ऐसी नारियाँ राष्ट्र एवं मानवता के लिए वरदानस्वरूप हैं।

(ग) विश्वात्म सम्बन्धी आदर्श-पूर्ण पात्र—'प्रसाद' के पात्रों में राष्ट्रीयता एवं भारतीयता कूट-कूट कर भरी है, उनका छोटे से छोटा सतोगुणी पात्र भी राष्ट्रीय चेतना का चमचमाता नक्षत्र है, किन्तु उनकी राष्ट्रीयता संकीर्णता की परिधि में आबद्ध नहीं है। उनके पात्रों मे मानवता की व्याप्त भावना सर्वत्र मिलती है। उनके पात्र सर्वभूत हित-कामना एवं विश्वमैत्री का आदर्श उपस्थित करते हुए चलते हैं। उनके लगभग सभी राष्ट्रीय पात्रों मे विश्व-बन्धुत्व की भावना उतनी ही प्रबल है जितनी कि राष्ट्रीय गौरव की। सरमा, मल्लिका, वासवी, देवसेना, कार्नेलिया, देवकी, श्रद्धा आदि नारी पात्र इसी कोटि के प्रतिनिधि पात्र हैं। ये पात्र अपने प्रेम, उदारता, निर्वेद, करुणा, क्षमा, सहिष्णुता आदि सात्विक गुणों के सक्रिय आचरणों द्वारा न केवल आदर्श प्रस्तुत करते हैं वरन् अपने प्रतिपक्षियों का मानसिक परिष्कार भी करते हैं।

'सरमा' का चरित्र जीवन की ऊँची-नीची विषमताओं से परिपूर्ण है। उसे सब ओर से अपमान और घृणा ही मिलती है किन्तु वह अपने स्वाभिमान और साम्य भाव का अवलम्बन नहीं छोड़ती। वह वपुष्टमा और मनसा के विपाक्त व्यंग्य-वाणों से विद्ध होकर भी अपना मानसिक सन्तुलन नहीं खोती। वह अपने पुत्र के माणवक के गुप्त हत्या प्रस्ताव का विरोध करती है। सरमा स्वाभिमानवश अपने पति से अलग हो जाती है, किन्तु आपत्ति के समय उसका नारी-हृदय स्वाभिमान की परिधि को लाँघ देता है। वह अपने पति की हित-कामना से वपुष्टमा की दासी बनती है। वह सर्वत्र विश्व-मैत्री एवं समत्व भाव के आदर्श का अनुसरण करती है और अन्त में उसके विरोधी तत्त्व भी उसका महत्त्व स्वीकार करते हैं।

'वासवी' अपने सौतेले पुत्र अजातशत्रु की कुटिलताओं से दुःखित एवं क्षुभित नहीं होती, वह क्षमा और वात्सल्य के द्वारा उसका हृदय जीतती है। अन्त में अजातशत्रु को वासवी की निश्छल वात्सल्यमयी गोदी में ही शान्ति मिलती है। वासवी अपनी सपत्नी छलना के प्रति भी कितनी सहिष्णु एवं उदार है—"बहिन! जाओ, सिंहासन पर बैठकर राज्य-कार्य देखो! व्यर्थ झगड़े से तुम्हें क्या सुख मिलेगा और अधिक तुम्हें क्या कहूँ, तुम्हारी बुद्धि!"

महादेवी 'देवकी' अपनी सौत अनन्तदेवी, उसके पुत्र पुरगुप्त के षड्यन्त्रों के प्रति तनिक भी दुर्भाव नहीं दिखाती। वह अपनी हत्याओं की चेष्टा करने वाले शर्वनाग और भटार्क को क्षमा प्रदान करती है।

'प्रसाद' के अमर महाकाव्य 'कामायनी' की नायिका 'श्रद्धा' भी इसी कोटि की नारी है। वह श्रद्धा, अगाध विश्वास, त्याग, औदार्य एवं विश्व-बन्धुत्व का मूर्तिमान् प्रतीक है। वास्तव में 'श्रद्धा' के रूप में 'प्रसाद' ने अपने नारी विषयक दृष्टिकोण को

विशद रूप से अंकित किया है। 'कामायनी' के ये शब्द हिन्दी साहित्य की अक्षय निधि हैं—

"नारी तुम केवल श्रद्धा हो,
विश्वास रजतनग पग तल में।
पीयूष-स्रोत-सी बहा करो,
जीवन के सुन्दर समतल में।"

श्रद्धा का ममत्व और समत्वमय रूप कवि ने इस प्रकार चित्रित किया है—

"दया, माया, ममता लो आज,
मधुरिमा लो अगाध विश्वास।
हमारा हृदय-रत्न स्वच्छन्द,
तुम्हारे लिए खुला है पास।"

श्रद्धा (नारी) इस संघर्षमय जगत् में शान्ति-स्थल है, जीवन के जलते मरुस्थल में पावस की शीतल मन्द बयार है। श्रद्धा के शब्दों में—

"तुमुल कोलाहल कलह में-
मैं हृदय की बात रे मन!
× × ×
जहाँ मरु ज्वाला धधकती,
चातकी कन को तरसती;
उन्हीं जीवन-घाटियों की
मैं सरस बरसात रे मन!
× × ×
इस झुलसते विश्व-दिन की,
मैं कुसुम ऋतु-रात रे मन!"

'श्रद्धा' में सर्वभूत हित-कामना बड़ी तीव्र है। वह स्वार्थ को त्यागकर दूसरों के सुख में भी हँसने की प्रेरणा देती है—

"औरों को हँसते देखो, मनु।
हँसो, और सुख पाओ।
अपने सुख को विस्तृत कर तुम,
सब को सुखी बनाओ।"

'श्रद्धा' प्रसाद की नारी-कल्पना का सजग और सबल रूप है।

(घ) नैतिक आदर्श-पूर्ण पात्र—कल्याणी, पद्मावती, राज्यश्री और ध्रुव-स्वामिनी अपने सतीत्व, पतिव्रत-धर्म एवं चरित्र-सबलता के द्वारा एक दैवी आदर्श प्रस्तुत

करती हैं। नारी का सतीत्व और आत्मसम्मान उसकी सबसे बड़ी सम्पत्ति है। कल्याणी पशु के समान विलासी, मद्यप पर्वतेश्वर का बध करके अपने सतीत्व और सम्मान की रक्षा करती है। वह पितृ-भक्त है। इसी कारण वह अपने पिता नन्द के विरोधी चन्द्रगुप्त से प्रेम करती हुई भी विवाह न करके आत्महत्या कर लेती है। इस प्रकार वह पितृ-भक्ति और सतीत्व का अद्वितीय आदर्श प्रस्तुत करती है। 'राज्य श्री' क्षत्रियोचित साहस वाली और 'सती' महिला है। वह देवगुप्त के अधीनस्थ होने पर भी निर्भीक होकर उसके समस्त राजकीय ऐश्वर्य को ठुकरा देती है और अपने सतीत्व की रक्षा करती है। वह विपत्तियों और कष्टों में भी अपना साहस नहीं खोती, वह देवगुप्त को चुनौती देती है—"मैं तुम्हारा बध न कर सकी, तो क्या अपना प्राण भी नहीं दे सकती?" वह क्षमाशील है। उसका हृदय हिमाद्रि की भाँति उदार और सागर के समान गम्भीर है। 'पद्मावती' आदर्श सती-साध्वी स्त्री है। उसका पति उदयन मागन्धी के षड्यन्त्र के कारण उसके प्रति शंकालु और असन्तुष्ट हो जाता है। खिड़की से गौतम के दर्शन करती हुई उसे देखकर उदयन उसे पापाचारिणी समझता है और उसकी हत्या के लिए शस्त्र उठाता है। साध्वी के प्रताप से वह अपने इस दुष्कृत्य में सफल नहीं हो पाता, उसके सतीत्व के सामने उदयन की दानवीय प्रवृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं किन्तु वह पति की इस इच्छा-पूर्ति के लिए भी तैयार रहती है। वह हत्या के लिए उठे हुए हाथ के रुकने पर उसे सीधा कर देती है और कहती है कि "नसें चढ़ गई होंगी"। वह हृदय से कोमल और स्वभाव से उदार हैं।

ध्रुवस्वामिनी प्रसाद के नाटकीय नारी-पात्रों में स्वाभिमान की सबसे जाज्वल्यमान तारिका है। वह मानसिक और शारीरिक यातनाओं को धैर्य और साहस के साथ सहती है। वह रामगुप्त जैसे क्रूर, क्लीव एवं मद्यप के साथ विवाहित होती है जो उसके सतीत्व और आत्मसम्मान को शकराज के लिए उपहार रूप में दे देता है। इस पर उसके नारीत्व का समस्त गौरव हुँकार उठता है, वह पहले विनम्र भाव से और अन्त में उग्र रूप से इसका विरोध करती है—"निर्लज्ज! मद्यप! क्लीव! ओह, तो मेरा कोई रक्षक नहीं? नहीं, मैं अपनी रक्षा स्वयं करूँगी, मैं उपहार में देने की वस्तु, शीतल मणि नहीं हूँ।"

वह पहले आत्महत्या के लिए तैयार होती है किन्तु बाद में चन्द्रगुप्त का संबल पाकर शकराज के शिविर में अपने कौशल द्वारा शकराज की हत्या का कारण बनती है। चन्द्रगुप्त से उसका नैसर्गिक अनुराग है और वही अन्त में सामाजिक रूप से वैवाहिक सम्बन्ध के रूप में प्राप्त होता है। ध्रुवस्वामिनी का चरित्र कष्टों एवं संघर्षों की विषम स्थली है। उसके रूप में नारी का बुद्धि-कौशल, साहसशीला प्रकृति और नैतिक आत्मबल का पूर्ण प्रदर्शन हुआ है।

(ङ) कर्तव्य सम्बन्धी आदर्श-पूर्ण पात्र—'प्रसाद' ने कुछ ऐसे नारी पात्रों को भी जन्म दिया है जो गौण होते हुए भी कर्तव्य-पालन के उच्चतम आदर्श का अवलम्बन कर प्रमुख पात्रों में भी शीर्ष स्थान रखते हैं। रामा, मन्दाकिनी, कमला, तितली इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।

'रामा' निम्न वर्ग की नारी होते हुए भी, और त्याग-पूर्ण व्यवहार एवं स्वामि-भक्ति रूपी कर्तव्य-पालन के आदर्श में सम्भ्रान्त कुलोत्पन्न नारी से भी बाज़ी मार ले जाती है। वह राजमाता देवकी की हत्या के लिए उद्यत अपने मद्यप एवं धनलोलुप पति का विरोध करती है, आत्मोत्सर्ग के लिए वह तैयार है, वह कितने चुनौती भरे शब्दों में अपने हत्यारे पति शर्व-नाग को ललकारती है—"मेरे रक्त के प्रत्येक परमाणु में जिसकी कृपा की शक्ति है, जिसके स्नेह का आकर्षण है, उनके प्रतिकूल आचरण! वह मेरा पति क्या, स्वयं ईश्वर भी हो, तो भी नहीं कर पावेगा।"

'मन्दाकिनी' ध्रुवस्वामिनी-नाटक की सामान्य स्त्री पात्र है। वह ध्रुवस्वामिनी को नैतिक साहस के साथ सहयोग देती है, न्यायपक्ष की विजय के लिए वह बड़ी निर्भीकता एवं कुशलता के साथ ध्रुवस्वामिनी को कठोरतम परिस्थितियों में हतसाहस नहीं होने देती। वह ध्रुवस्वामिनी के हृदय में चन्द्रगुप्त के प्रति स्नेह जाग्रत करती है। यह सब वह किसी स्वार्थ-भावना एवं उच्च पद की प्राप्ति के प्रलोभन से नहीं करती वरन् कर्तव्य-बाधित होकर। वह कितनी निर्भीकता के साथ परिषद् के सामने सिंह-गर्जना करती है—"राजा का भय, मन्दा का गला नहीं घोट सकता। तुम लोगों को यदि कुछ भी बुद्धि होती तो इस अपनी कुल-मर्यादा नारी को, शत्रु के दुर्ग में यों न भेजते।" 'कमला' भी कर्तव्य-प्रेरणा से ही अपने पुत्र भटार्क को राज्य के अधिकारियों के सुपुर्द करती है। वास्तव में ऐसे पात्र हमारी सर्वाधिक श्रद्धा और सम्मान के भाजन हैं।

'प्रसाद' कविता तथा नाटकीय क्षेत्र में आदर्शवादी और औपन्यासिक क्षेत्र में यथार्थवादी रहे हैं। उन्होंने अपने उपन्यासों में निर्मम होकर सामाजिक संस्थाओं का गर्हित खोखलापन दिखाया है। उनके अधिकांश औपन्यासिक पात्र पतनोन्मुख हैं, किन्तु नारी-पात्रों में 'तितली' और 'तारा' की सृष्टि अद्वितीय है। ये दोनों नारी-पात्र त्याग और बलिदान का उच्चतम आदर्श स्थापित करती हैं। संसार का बड़े-से-बड़ा भय और संकट उन्हें अपने कर्तव्य-मार्ग से विचलित नहीं करता, उन्होंने केवल कर्तव्य के लिए ही मरना और जीना सीखा है। 'तितली' ग्राम-सुधार का दुर्वह भार अपने कन्धों पर लेती है और वह कार्य कर दिखाती है जिसे बड़े-से-बड़ा पुरुष सुधारक जीवन भर नहीं कर पाता। उसके इस सब कार्य-कलाप में केवल कर्तव्य-बाधित उत्सर्ग ही झलकता है, स्वार्थ एवं आत्मश्लाघा का दुर्भाव नहीं। तितली के जीवन में स्वावलम्बन और सन्तोष अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच गया है।

'पुरस्कार' और 'ममता' नामक कहानियों की नारी क्रमशः मधूलिका और ममता कर्तव्य की सजग मूर्तियाँ हैं । ममता के पिता रोहितास दुर्गपति के मन्त्री चूड़ामणि शेरशाह से बहुत सा स्वर्ण उत्कोच में ले लेते हैं । ममता इसका विरोध करती है—"तो क्या आपने म्लेच्छ का उत्कोच स्वीकार कर लिया ? पिता जी ! यह अनर्थ है, अर्थ नहीं। लौटा दीजिये । पिता जी ! हम लोग ब्राह्मण हैं, इतना सोना लेकर क्या करेंगे ?" उसी युद्ध में उसके पिता मारे जाते हैं, ममता दुर्ग से छिपकर निकल भागती है। वह काशी के उत्तर धर्म चक्र विहार मे टूटे-फूटे खण्डहरों के बीच रहने लगती है । एक रात बादशाह हुमायूँ शेरशाह से चौसा युद्ध में हारकर उसकी कुटिया मे आश्रय लेता है । वह धर्म-संकट मे पड़ जाती है कि उसे आश्रय दे या नहीं ? एक ओर अपने पिता का बध करने वाली जाति के प्रति उसके हृदय में घृणा का भाव व्यक्त होता है—"सब विधर्मी दया के पात्र नहीं—मेरे पिता का बध करने वाले आततायी !" दूसरी ओर कर्तव्य उसे आश्रय देने को बाध्य करता है । कर्तव्य के सामने घृणा घुटने टेक देती है—"मैं ब्राह्मणी हूँ, मुझे तो अपने धर्म—अतिथिदेव की उपासना—का पालन करना चाहिए । परन्तु यहाँ ··नहीं नहीं, सब विधर्मी दया के पात्र नहीं । परन्तु यह दया तो नहीं · कर्तव्य करना है । तब···!" ममता के मरणासन्न समय में हुमायूँ द्वारा भेजा हुआ एक अश्वारोही ममता की उस झोंपड़ी को महल बनवाने आता है जिसमें एक रात हुमायूँ ने आश्रय लिया था। ममता उसे कितने मार्मिक शब्दों में उत्तर देती है—"मैं नहीं जानती कि वह शाहंशाह था या साधारण मुग़ल, एक दिन इसी झोंपड़ी के नीचे वह रहा । मैंने सुना था कि वह मेरा घर बनवाने की आज्ञा दे चुका था । मैं आजीवन अपनी झोंपड़ी खुदवाने के डर से भयभीत ही थी । भगवान् ने सुन लिया, मैं आज इसे छोड़े जाती हूँ । अब तुम इसका मकान बनाओ या महल, मैं अपने चिर-विश्राम-गृह मे जाती हूँ ।" ममता अपने कर्तव्य का ऋण चुकवाना नहीं चाहती, उसने हुमायूँ को शाहंशाह समझकर किसी उपकार-कामना से आश्रय नहीं दिया था । ममता की कर्तव्य-निष्ठा बड़ी ही स्तुत्य है ।

'पुरस्कार' कहानी की नायिका मधूलिका वाराणसी-युद्ध के अन्यतम वीर सिंहमित्र की एकमात्र कन्या है । उसकी परम्परागत एकमात्र सम्पत्ति उसका क्षेत्र है । वह कृषि-उत्सव के लिए चुन लिया जाता है और राज्य की सम्पत्ति बन जाता है । क्षेत्र के पुरस्कार-स्वरूप मधूलिका को कुछ स्वर्ण-मुद्राएँ दी जाती हैं, किन्तु वह उन मुद्राओं को महाराज पर ही न्यौछावर करके बिखेर देती है । ऐसा करके वह राजकीय पुरस्कार का अपमान नहीं करती वरन् अपनी पैतृक भूमि का बेचना निन्दनीय कार्य समझती है । वह कहती है—"देव ! यह मेरे पिता-पितामहों की भूमि है, इसे बेचना अपराध है । इसलिए मूल्य स्वीकार करना मेरी सामर्थ्य के बाहर है ।" मन्त्री उसका अपमान करता है । वह मगध के राजकुमार अरुण का आश्रय लेती है, उसे आत्मसमर्पण करती है । अरुण विद्रोह करके

कौशल के राजसिंहासन को उलटना चाहता है। वह मधूलिका को राजरानी बनाने का सुन्दर स्वप्न दिखाकर कौशल नरेश से दुर्ग के पास की भूमि को माँगने के लिए भेजता है। सिंहमित्र की कन्या का आग्रह राजा नहीं टालता और उसे दुर्ग के पास की भूमि दे दी जाती है। अरुण इसी पथ से दुर्ग पर रात्रि के समय आक्रमण करता है, किन्तु मधूलिका अपने पूर्वजों की आन का ध्यान करके आक्रमण से पहले ही राजा को समस्त वृत्त से अवगत करा देती है और इस प्रकार कौशल को एक बार पुनः पदाक्रान्त होने से बचाती है। पुरस्काररूप में वह केवल अरुण के साथ प्राण-दण्ड चाहती है। मधूलिका कर्तव्य-मार्ग पर चलकर कौशल की रक्षा करती है और प्रणय-पंथ पर चलकर अरुण को आत्मसमर्पण। वह कर्तव्य के लिए प्रेम की भी बलि दे देती है। वह न्याय के प्रति, कर्तव्य के प्रति एवं अपनी प्रणय सम्बन्धी भावनाओं के प्रति समान रूप से जागरूक है।

प्रसाद के नारी-पात्रों का दूसरा वर्ग वह है जो अपने संस्कारों तथा परिस्थिति के प्रभाव से आरम्भ में आदर्श एवं सतोगुणी प्रवृत्तियों का विरोध करता है किन्तु अन्त घटनाओं के घात-प्रतिघात एवं सत्संग से उसमें सद्गुणी प्रवृत्तियों का जागरण होता है और आदर्शोन्मुख मार्ग का अवलम्बन करता है। ऐसे पात्रों को 'आदर्शोन्मुख'—पा कहेंगे। छलना, मागन्धी (श्यामा), शक्तिमती (महामाया), दामिनी, सुरमा आदि ऐसे ह नारी-पात्र हैं जो वैभव एवं काल्पनिक सुख-लिप्सा की मोह-निद्रा से जागकर अपने खोये सौम्य नारीत्व को पुनः प्राप्त करते हैं। छलना मगध की राजसत्ता को शस्त्रबल से विद्रोह के द्वारा प्राप्त करना चाहती है। वह स्वाभिमान और प्रतिहिंसा की प्रतिमूर्ति है। अपनी दुर्बलताओं में भी वह सबल होने का कृत्रिम स्वांग भरती है। वह नारी हृदय की स्वाभाविक करुणा, दया, ममता, क्षमा आदि सद्वृत्तियों के विरुद्ध दर्प, क्रूरता, उग्रता आदि का अवलम्बन लेती है, यही उसकी असफलता का कारण है। अन्त में वासवी के निरन्तर कोमल व्यवहार एवं सहिष्णुता से उसके हृदय में आदर्श भावनाओं का सात्विक आलोक होता है और वह अपने किये के प्रति पश्चाताप एवं ग्लानि प्रकट करती है। इस प्रकार वह खोये हुए नारी गौरव को पुनः प्राप्त करने में समर्थ होती है।

मागन्धी की वासनाओं की अतृप्ति का तूफान उसे विभिन्न दिशाओं में ले जाता है और वह विवश-सी उसका अनुसरण करती है। वासना और ऐश्वर्य की कीचड़ में उसे शान्ति और सन्तोष नहीं मिलता। वह अपने रूप के जाल में न जाने कितने वासना-कीटों को फँसाती है, यहाँ तक कि कौशाम्बी नरेश उदयन जैसे प्रतापी महाराजा भी उसके चरण चंचरीक बन जाते हैं। समुद्रदत्त उसकी रूप-शिखा पर मुग्ध हो शलभवत् जीवन-लीला समाप्त कर देता है। विरुद्धक जैसा आतंककारी व्यक्ति भी उसकी चंगुल से नहीं बचता। गौतम ही अकेले ऐसे व्यक्ति निकलते हैं जो उसके सौन्दर्य के भिखारी नहीं बनते। मागन्धी

जैसी रूपगर्विता नारियाँ अपने रूप और यौवन की उपेक्षा कैसे सहन कर सकती हैं। वह कहती है—"दिखला दूँगी कि स्त्रियाँ क्या कर सकती हैं।" साहस और दृढ़ता उसकी दो प्रधान विशेषताएँ हैं। वह अपनी इच्छा-पूर्ति के लिए उचित अथवा अनुचित सभी काम करने को तत्पर रहती है। अपनी वासनाओं की अतृप्ति के कारण वह काशी की सुप्रसिद्ध वेश्या श्यामा बन जाती है। विरूद्धक ही एकमात्र ऐसा व्यक्ति उसके जीवन में आता है जो उसके सच्चे प्रेम का अधिकारी बनता है, विरुद्धक के प्रति उसका प्रेम निःस्वार्थ, विश्वस्त एवं बलिदानपूर्ण है। विरुद्धक उसके इस सच्चे प्रेम का स्वागत नहीं करता, वह उसकी हत्या का प्रयास करके उसका समस्त धन लेकर चम्पत हो जाता है। यह घटना मागन्धी के (श्यामा) के जीवन-क्रम को ही बदल देती है। यह उसे एक ऐसी ठोकर लगती है जिसे खाकर वह सब-कुछ खोदती है। उसकी विवेक की आँखें खुल जाती हैं—"ओह! जिसके लिए मैंने अपना सब छोड़ दिया, अपने वैभव पर ठोकर लगादी, उसका ऐसा आचरण।" वह कुमार्ग पर जाती हुई नौका की भाँति लहरों के प्रबल थपेड़ों-से सन्मार्ग पर आ जाती है। वह अपने हृदय की समस्त दुर्भावनाओं को पश्चात्ताप की अग्नि में जलाकर कनकवत् निर्मल एवं शुद्ध हो जाती है। उसके वासना-तप्त हृदय को गौतम की वरद् हस्त-छाया में ही शान्ति मिलती है। उसका चरित्र मानव के मनोवैज्ञानिक उतार-चढ़ाव के अनुसार चित्रित हुआ है।

शक्तिमती (महामाया) विद्रोही पुत्र विरुद्धक की माँ है। वह अपने पुत्र की विद्रोही भावनाओं को भड़काती है। वह भाग्य के भरोसे नहीं, पौरुष के भरोसे अपना भविष्य-निर्माण करना चाहती है। महत्त्वाकांक्षाओं की वह अनुचरी है, वह राजनैतिक क्षेत्र में पुरुषों से प्रतिद्वन्द्विता करना चाहती है। दीर्घ कारायण से वह कहती है—"यदि पुरुष इन कामों को कर सकते हैं तो स्त्रियाँ क्यों न करें?" वह राज्य-प्राप्ति के लिए अपने पति प्रसेनजित् के विरुद्ध भी षड्यन्त्र रचने से नहीं चूकती किन्तु परिस्थितियाँ उसका साथ नहीं देतीं। मल्लिका के सम्पर्क से वह सन्मार्ग का अवलम्बन करती है।

दामिनी वासनाओं के अंधड़ का नगण्य तिनका बनकर हमारे सामने आती है और अन्त में हिमालय की भाँति अडिग और महान् बन जाती है। वह गुरुकुल के आचार्य वेद की धर्म-पत्नी है, अपने पति के शिष्य उत्तंक पर वह अनुरक्त हो जाती है। 'कामातुराणां न भयं न लज्जा' के अनुसार वह अपने पद और मर्यादा का तनिक भी ध्यान नहीं रखती। मनोनिग्रह उसके लिए आत्मघात के समान हैं। उत्तंक से प्रेम का प्रतिदान न पाकर दामिनी प्रतिशोध की भयंकर आँधी बन जाती है। वह तक्षक को, जनमेजय के यहाँ उत्तंक के जाने का रहस्य बताकर उसके विनाश के लिए भड़काती है। अन्त में नागों की कुटिलता और कठोरता के थपेड़े उसे वास्तविक स्थिति में ला देते हैं, उसका विवेक जाग्रत हो जाता है, वह कहती है—"मनुष्य जब एक बार पाप के नागपाश में

फँसता है, तब वह उसी में और भी लिपटता जाता है। उसी के गाढ़े आलिंगन, भयानक परिरम्भ में सुखी होने लगता है। पापों की शृंखला बन जाती है। उसी के नए-नए रूपों पर आसक्त होना पड़ता है।" वह जितनी तीव्रता के साथ पतन के मार्ग पर अग्रसर हुई थी क्विक जाग्रत होने पर उससे दूने साहस और निर्भीकता के साथ आत्मोद्धार और आत्मसंयम के मार्ग पर प्रवृत्त होती है। अश्वसेन की कामुक चेष्टाओं का वह कितनी दृढ़ता के साथ प्रतिषेध करती है—"हटो, अश्वसेन, मेरा मानस कलुषित हो चुका है, पर अभी तक मेरा शरीर पवित्र है। उसे दूषित न होने दूँगी—चाहे प्राण चले जायें।" अन्त में उत्तंक भी दामिनी के सामने अपना मस्तक झुका देता है और क्रूर हिंसापूर्ण कृत्यों से विरत हो जाता है।

'राज्य श्री' नाटक में सुरमा एक साधारण मालिनी होते हुए भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। वह रूप और यौवन की चंचल लहरों में इतनी दूर तक बह जाती है कि अपने वास्तविक रूप को भी नहीं पहिचान पाती। वह तनिक से विश्वास में आ जाने वाली महत्वाकांक्षिणी रमणी है। तनिक-सी चाटुकारिता उसे आत्म-विस्मृत बना देती है। कामुक एवं ऐश्वर्य-कामनाओं की तृप्ति के लिए वह देवगुप्त के कृत्रिम विलास-युक्त अनुराग में आ जाती है। वह रानी होने का मधुर स्वप्न देखती है। देवगुप्त उसकी इस कमजोरी का लाभ उठाकर उसे अपने विलास एवं वासनाओं की सामग्री बनाता है और एक बालू की भीत की भाँति वह सुखी जीवन भूमिसात् हो जाता है। वह पुनः शान्ति भिक्षुक का आश्रय लेती है और उसके दस्यु-जीवन तथा अमानुषिक कार्यों से सुरमा की मानसिक दशा में परिवर्तन होता है। यहीं से उसका जीवन आदर्शोन्मुखी प्रणीत भावनाओं की ओर उन्मुख होता है और वह काषाय वस्त्र धारण करके जीवन के श्रेय-पथ की पथिक बन जाती है।

प्रसाद के नारी-पात्रों का तीसरा वर्ग वह है जो आरम्भ से अन्त तक आदर्श के प्रतिकूल आचरण करता हुआ ही अपनी जीवन-लीला समाप्त करता है। उनके दुःसंस्कार उन्हें इस पाप-पंक से निकलने ही नहीं देते। ऐसे पात्र 'आदर्श-विरोधी' कहे जा सकते हैं। ये पात्र आरम्भ से अन्त तक छल, हिंसा, घृणा, द्वेष, क्रूरता, पाखण्ड आदि का आचरण करते हुए ही इस संसार से विदा होते हैं। विजया और अनन्त देवी इन नारी-पात्रों में शीर्ष स्थान रखती हैं। विजया में मोहान्धता एवं विवेकशून्यता अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच गई है। उसकी दृष्टि में सुख के मापदण्ड हैं विलास, कामना, अधिकार-भावना एवं अतुल धनराशि। धनकुबेर की पुत्री होने से तन्निहित साहस एवं औदार्य उसमें नहीं है। प्रेम को भी वह ऐश्वर्य और अधिकार की तुला पर तोलती है। विजया के हृदय में स्कन्दगुप्त के प्रति प्रणय अंकुरित होता है किन्तु स्कन्दगुप्त को राज्याधिकार से विमुख एवं उपेक्षित देखकर वह उसे आगे पल्लवित नहीं होने देती। देवसेना के द्व

पूछने पर कि 'क्या कहीं तुम्हारा हृदय पराजित नहीं हुआ ?' वह कहती है—"मुझे तो आज तक किसी को देखकर हारना नहीं पड़ा। हाँ, एक युवराज के सामने मन ढीला हुआ, परन्तु मैं उसे कुछ राजकीय प्रभाव ही कहकर टाल दे सकती हूँ।" वह प्रेम को मन-बहलाव का साधन समझती है। स्कन्द की अधिकार-निरपेक्ष-भावना से उसके प्रति उदासीन होकर वह चक्र-पालित के वीरत्व एवं दर्पयुक्त व्यक्तित्व पर रीझ जाती है। कुछ काल पश्चात् भटार्क को पाकर चक्रपालित उसकी दृष्टि से निकल जाता है। भटार्क में वह स्वाभिलषित महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति देखती है अतः उसी को पति रूप में वरण कर लेती है। भटार्क का महत्त्व कम होने पर वह पुनः स्कन्द को अपनी वासना के जाल में फँसा लेने के लिए सयत्न होती है। वह अपनी व्यापारिक मनोवृत्ति के कारण स्कन्द की अतुल धनराशि से क्रय करना चाहती है। वह स्कन्द को अपने वासना-जाल में फँसा लेने के लिए ही देश-सेवा की प्रवंचना रचती है—"मैंने देश-वासियों को सन्नद्ध करने का संकल्प किया है, और भटार्क का संसर्ग छोड़ दिया है। तुम्हारी सेवा के उपयुक्त बनने का उद्योग कर रही हूँ। मैं मालव और सौराष्ट्र को तुम्हारे लिए स्वतन्त्र करा दूँगी; अर्थ-लोभी हूण दस्युओं से उसे छुड़ा लेना मेरा काम है। केवल तुम स्वीकार करलो।"

अपने इस प्रवंचन-शस्त्र के असफल होने पर वह वासना का अमोघ अस्त्र फेंकती है—"रहने दो यह थोथा ज्ञान। प्रियतम! यह भरा हुआ यौवन और प्रेमी हृदय विलास के उपकरणों के साथ प्रस्तुत है। उन्मुक्त आकाश के नील-नीरद मण्डल में दो बिजलियों के समान क्रीड़ा करते-करते हम लोग तिरोहित हो जायँ।" भटार्क की भर्त्सनाओं से वह आत्महत्या कर लेती है और घृणित जीवन से छुटकारा पाती है। विजया में प्रतिशोध और ईर्ष्या की भावना इतनी प्रबल है कि वह अपनी बाल-सखी देवसेना को श्मशान में बलि के लिए बहकाकर ले जाती है। विजया आकाश से टूटे हुए उल्का-पिण्ड की भाँति वासना, ईर्ष्या, प्रतिशोध एवं मिथ्याभिमान की परिधि में खण्ड-खण्ड होकर विलीन हो जाती है।

अनन्त देवी ऐसी ही दूसरी नारी है जो वैभव और वासना की उद्दाम पिपासा से व्याकुल होकर अतृप्ति की मृग-मरीचिका में आजीवन भटकती रहती है। भटार्क के शब्दों में—'*उसकी आँखों में काम-पिपासा के संकेत उबल रहे हैं, अतृप्ति की चंचल प्रवंचना कपोलों पर आरक्त होकर क्रीड़ा कर रही है। हृदय में श्वासों की गर्मी विलास का संदेश वहन कर रही है।*' अनन्त देवी अपने निर्वीर्य एवं अनधिकारी पुत्र को राज्य-सिंहासन पर बैठाने एवं स्वयं राजमाता के गौरवमय पद की अधिकारी बनने की अनधिकार चेष्टा से गुप्त साम्राज्य के लिए धूमकेतु बन जाती है। अपनी इच्छा-पूर्ति के लिए वह नीच-से-नीच दुष्कृत्य करने के लिए प्रस्तुत रहती है। अपने पति के लिए वह मृत्यु का कारण बनती है, स्कन्द की वध-चेष्टा में वह कुछ भी उठा नहीं रखती। साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोहियों को वह सहायता देती है। इस वासना और अधिकार की आँधी में वह अपने गौरवमय

राजमहिषी पद को भी भूल जाती है । वह अपने पुत्र पुरगुप्त के समक्ष ही निर्लज्ज होकर मदिरा-पान एवं भटार्क के साथ कामुक चेष्टायें करती है । पुरुषत्व की होड़, राज्य-प्राप्ति की महत्त्वाकांक्षा, वासनाओं की अदम्य लालसा उसे नारीत्व की निम्न कोटि में पहुँचा देती है । जहाँ प्रसाद जी ने देवसेना, कल्याणी, सुवासिनी के रूप में नारीत्व का दैवी रूप प्रस्तुत किया है वहाँ विजया और अनन्त देवी में दानवी रूप ।

'प्रसाद' के नारी-पात्रों के उपरोक्त श्रेणी-विभाजन कर लेने तथा उनके चारित्रिक उत्थान-पतन की कड़ियों का अध्ययन कर लेने के पश्चात् एक विचार हृदय में प्रतिष्ठा पाता है कि 'प्रसाद' ने दोनों (आदर्श-पूर्ण एवं आदर्श-विरोधी) ही प्रकार के नारी पात्रों में कुछ अत्युक्ति एवं परिसीमा से काम लिया है । उनके आदर्श पात्र कमजोरियों से बिल्कुल अछूते मानवत्व की कोटि से ऊपर देव प्रतीत होते हैं, उनमें आदर्श मानो बिल्कुल मूर्त्त बनकर आ बैठा है । इसी प्रकार आदर्श-विरोधी पात्रों में निम्न मनोवृत्तियाँ सीमा का उल्लंघन कर गई हैं, उनके हृदय में कहीं भी सत्प्रवृत्तियाँ जाग्रत होती ही नहीं । जिन पात्रों को उन्होंने आदर्श चित्रित किया है वे आदर्श की जड़ मूर्ति बन बैठे हैं और जिन्हें अधम चित्रित किया है उनका अधमत्व उन्हें दानवीय कोटि में पहुँचा देता है । अधम-से-अधम व्यक्ति में भी कोई-न-कोई ऐसा गुण होता है जो उसके व्यक्तित्व को सजीव रखता है और महान्-से-महान् व्यक्ति में कोई ऐसी कमजोरी छिपी होती है जो उसके मानवत्व को सुरक्षित रखती है, किन्तु प्रसाद के पात्रों में ऐसी बात नहीं है । वे सब एक-सी ही लकीर को पीटते चलते हैं, एक ही पथ के वे सब पथिक हैं । यही कारण है कि उनके पात्रों में व्यक्तित्व की विविधता और अनेकरूपता नहीं है । सद्भाव-सम्पन्न सभी पात्रों में उन्होंने गुणों एवं वृत्तियों का एक-सा ही साम्य रखा है जिसमें उनके बहुत से पात्र एक ही कोटि में रखने योग्य हैं । सत्पात्रों में वही त्याग, औदार्य, निश्छलता और समष्टि के प्रति व्यष्टि का निर्मम आत्मसमर्पण । इसके विरुद्ध असत्पात्रों में वही स्वार्थपरता, कामुकता, क्रूरता और अनौदार्य । एक पुनरावृत्ति-सी प्रतीत होती है, मानव-हृदय की विभिन्न वृत्तियों एवं व्यक्तित्व की विविधता की व्यंजना उनमें बहुत कम है । यही कारण है कि उनके नारी के वर्गीकरण की कोई निश्चित रेखा नहीं खींची जा सकती । उनके बहुत से पात्र ऐसे हैं जो प्रेम सम्बन्धी आदर्श, राष्ट्र सम्बन्धी आदर्श, विश्वात्म-सम्बन्धी आदर्श, नैतिक एवं कर्तव्य सम्बन्धी सभी आदर्शों में समान रूप से आ सकते हैं, उन्हें किस कोटि में रखा जाये— यह बड़ी विचिकित्सा का विषय बन जाता है ।

'अस्तु एकोहिदोषो गुणः सन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः' । प्रसाद के नारी पात्र हमारे जीवन को एक नवीन सन्देश देते हैं, भूखे मन को विचार खाद्य-सामग्री प्रस्तुत करते हैं । वे मानवीय जीवन के लिए प्रकाश-स्तम्भ हैं ।

४

नवीन धारा के प्रवर्त्तक कवि 'प्रसाद'

[क्षेमचन्द्र 'सुमन']

प्रसाद जी का जन्म काशी के एक प्रतिष्ठित कान्यकुब्ज वैश्य-परिवार में माघ शुक्ला दशमी संवत् १६४६ को हुआ और मृत्यु कार्तिक शुक्ला एकादशी संवत् १६४४ में हुई। उनके पितामह का नाम श्री शिवरत्न साहु और पिता का नाम श्री देवीप्रसाद था। श्री शिवरत्न साहु बड़े दानी और दयावान थे। प्रातःकाल गंगा-स्नान से लौटते समय वह अपना कम्बल और लोटा तक भिक्षुओं को दे डालते थे। काशी में वह 'सुँघनी साहु' के नाम से प्रसिद्ध थे। इसी से प्रसाद जी को भी लोग सुँघनी साहु कहते थे। १२ वर्ष की अवस्था में ही प्रसाद जी को अपने पिता की छत्र-छाया से वंचित होना पड़ा और साथ ही उनकी स्कूली शिक्षा की भी इतिश्री सातवीं कक्षा से ही हो गई। किन्तु उनके बड़े भाई शम्भुरत्न जी ने उनकी संस्कृत, अंग्रेजी, उर्दू, फारसी शिक्षा का सुप्रबन्ध कर दिया। बाल्यावस्था से ही प्रसाद जी को अध्ययन से वास्तविक रुचि थी। घर पर रहते हुए ही उन्होंने स्वाध्याय द्वारा प्राचीन भारतीय इतिहास, दर्शन आदि का यथेष्ट ज्ञान प्राप्त किया। बौद्ध दर्शन तथा बौद्ध संस्कृति से इन्हें विशेष रुचि प्रतीत होती थी। कदाचित् इसी कारण इनकी भावधारा एवं विचारधारा पर बौद्ध-दर्शन तथा संस्कृत का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इनकी रचनाओं में, विशेषतः नाटकों में उसकी झलक अच्छी तरह देखने को मिलती है।

प्रसाद जी हिन्दी के प्रथम श्रेणी के कवि हैं। हिन्दी-साहित्य में उनका इसी रूप में अधिक मान हुआ है। शैशवकाल में उन्हें अपने पारिवारिक वातावरण से कविता करने की प्रेरणा मिली। वह अपने घर की साहित्यिक गोष्ठियों में बैठते थे और समस्या-पूर्ति करने वाले कवियों की कविताओं का आनन्द लेते थे। अतः उन्होंने अपने जीवन के प्रभात-काल में जो कविताएँ कीं, उन पर उसी वातावरण का प्रभाव पड़ा। आगे चलकर जब वह प्राकृतिक सौन्दर्य से प्रभावित हुए और अध्ययन तथा अभ्यास से उनकी प्रतिभा का विकास हुआ तब उनकी काव्य-शैली ने भी अपना रूप बदल दिया। प्रसाद जी के कवि का जन्म उसी समय होता है, जब कि आचार्य पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने साहित्य-क्षेत्र में पदार्पण किया, परन्तु आचार्य ने जिस वात्सल्य रस की वर्षा बा० मैथिलीशरण गुप्त तथा अन्य कवियों पर की, इसकी एक बूँद भी 'प्रसाद' तक न पहुँच सकी। 'प्रसाद' का विकास किसी का आश्रय लेकर नहीं हुआ—वे स्वयं ही अंकुरित हुए, पल्लवित हुए, फूले और महके।

सन् १६०६-१० से उनकी कविता का काल प्रारम्भ होता है। प्रारम्भ उन्होंने ब्रजभाषा से ही किया, क्योंकि उस समय यद्यपि खड़ी बोली का स्वर सुनाई देने लगा था, पर वह गद्य तक ही उपयुक्त समझी जाती थी—पद्य में ब्रजभाषा का ही सम्मान प्रचलित था। उनकी प्रथम प्रकाशित कृति 'चित्राधार' में ब्रजभाषा का ही रस लहरा रहा है। पर ब्रजभाषा का मोह उन्हें अधिक काल तक आच्छादित न रख सका—एक-दो वर्ष पश्चात् ही खड़ीबोली उनकी कविता में मुखरित हुई—ब्रज की केवल स्मृति, मिठास लेकर। भावनाओं को रूप देकर, उन्हें नए-नए साँचों में ढालने की कला का प्रादुर्भाव 'प्रसाद' से ही होता है। प्रसाद के काव्य की समीक्षा करने में प्रायः आलोचक उनकी ब्रजभाषा की कविताओं से विमुख ही रहे हैं। परन्तु हम यहाँ उनकी ब्रजभाषा की कविताओं के कुछ उद्धरण उपस्थित करेंगे। क्योंकि इस ब्रजभाषा के काव्य के प्रारम्भिक क्रम-विकास में रहस्यवादी कवि का अस्तित्व छिपा हुआ है। यह बात भी रहस्यवाद की भाँति रहस्यमय है। पाठक देखेंगे कि उनकी प्राचीन परिपाटी की कविताओं में भी नवीन प्रवृत्ति, नवीन प्रेरणा एवं नवीन भावनाएँ विद्यमान हैं। यह नवीनता उनकी अपनी निराली थी, जिसने आगे चलकर हिन्दी-काव्य-जगत् में एक नवीन युग का सृजन किया।

"कौन भ्रम भूलिकै भ्रमत चलि जात कितै,
बितै जनि देहु रजनी को, चित्त धारियै।
कबते तिहारी आस लाय एक टक यह,
रूप सुधा प्यासी तासु प्यास निवारियै॥
राखै परवाह ना सराह की तिहारी सौंहैं,
लखत 'प्रसाद' कौन प्रेम अनुसारियै।
चित्त चैन चाहत है, चाह में भरी है, चेति,
चैत चन्द नैक तो चकोरी को निहारियै॥"

चैत-चन्द और चकोरी का प्रेम प्रसिद्ध बात है। परम्परा के अनुसार ही कवि ने अन्योक्ति द्वारा प्रेमी-हृदय को बात सुनाई है। उसमें भक्तों वाली रहस्य-भावना भी है कि यह मानव-हृदय उस 'परम सुन्दर' का निष्काम उपासक है। चकोरी कहती है—यह चकोरी का हृदय 'सराह की परवाह' नहीं रखता, न जाने कौन सा प्रसाद वह चाहता है, उसका प्रेम तो देखिये। यह चाह में भरा है, आप केवल एक बार इसे देख लीजिए, बस और कुछ नहीं।

चकोरी के हृदय में ही कवि का हृदय है। उसका नाता शुद्ध प्रेम का है। यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि यद्यपि अभिव्यक्ति का ढाँचा बिल्कुल पुराना है, तो भी उसमें कवि की रुचि और प्रवृत्ति की एक झलक है। कवि का ध्यान उस एकान्त और

अनन्य भावना की ओर है।

"आवै इठलात जल-जात पात को सो बिन्दु,
कैधौं खुली सीपी माँहि मुकता दरस है।
कढ़ी कंज-कोश ते कलोलिनी के सीकर-सों,
प्रात-हिमकन-सों, न-सीतल परस है॥
देखे दुख दूनों उमगत अति आनँद सो,
जान्यो नहि जाय यहि, कौन-सो हरस है।
तातो तातो कढ़ि रूखे मन को हरित करै,
ऐरे मेरे आँसू! तैं पीयूष तैं सरस है॥"

इस दूसरे कवित्त में कवि की दूसरी विशेषता है। वह है अनुभूति की गहराई नापना। प्रसाद की दो ही तो विशेषताएँ हैं—पूरे विश्व में उस एक परम् हृदय को देखना और अपने इस छोटे जीवन में अपने बड़े हृदय की थाह लगाना। एक का नाम रहस्य-भावना है और दूसरे का नाम है स्वानुभूति। दोनों में कोई विरोध नहीं है। दोनों का साथ भी हो सकता है और प्रायः होता है, पर दोनों में प्रवृत्ति का भेद है। दूसरी प्रवृत्ति के बिना तो कोई कवि हो ही नहीं सकता। वही हृदयानुभूति इस कवित्त का प्राण है। मनुष्य को यह एक विचित्र अनुभव होता है कि आँसू से जी हलका हो जाता है, मन को बड़ी शान्ति मिलती है, दुख की जलन मिट जाती है, जीवन हरा-भरा हो जाता है। मनुष्य दुःख से रोया था, पर अब उसे यह आँसू का नया अनुभव हुआ। वह इतना प्रबल और चमत्कृत होता है कि अनेक प्रकार से उसे प्रगट करना चाहता है। इस आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति से उसे सुख मिलता है और इसी से ऐसी कविता अन्य सहृदय व्यक्तियों को भी सुख देती है।

इस कवित्त में वह दुख देने वाला गुण है। इसी से तो हम उसे प्रसाद के अमर गीतों और मुक्तकों का बीज मानते हैं, कवि की कला और बुद्धि का विकास देखने वालों को तो यह बड़ा प्रिय लगता ही है, स्वयं कवि को भी यह भोले और सरल बचपन के समान बड़ा प्रिय था। वे इसे अनेक बार अपनी मण्डली में पढ़ चुके हैं।

इस कवित्त में अनुभूति का गाम्भीर्य और आनन्द तो है ही, अभिव्यक्ति की भी एक नवीनता है। पुराने ढंग के रीतिवादी कवि जब एक भाव बाँधते हैं तो उसका पूरा रूप खड़ा कर देते हैं। यहाँ 'पीयूष ते सरस' कहने के लिए वे पीयूष के अधिक-से-अधिक गुण और लक्षण घटाने का प्रयत्न करते, परन्तु छायावादी और ध्वनिवादी थोड़ा कहकर बहुत समझाना चाहते हैं। यह व्यंजना की शैली इसमें है। समझदार को 'व्यतिरेक का चमत्कार समझना चाहिए। इसी प्रकार व्यतिरेक, विरोधाभास आदि अलंकार भी रीति का चमत्कार दिखाने के लिए नहीं, भाव की छाया मनोरम बनाने के लिए आये हैं। इस

प्रकार यद्यपि छन्द, भाषा, अलंकार-सरणि आदि में पुरानापन है, तो भी उनमें कवि की नूतनता छिपी है।

"प्रेम की प्रतीति उर उपजी सुखाई सुख,
जानियो न भूलि याहि छलना अनंग का।
खेंचि मनमोहन ते काट-पेंच कौन करै,
चली अब ढली बाढ़ प्रेम के पतंग की॥
मूँदे हम खोलें किन छाई छवि एक सी,
प्यासी भरी आँखें रूप सुधा के तरंग की।
उन तें रह्यो न भेद बिछुरे मिलें में, भई
बिछुरनि मनि की औ' मिलनि पतंग की॥"

यह तीसरा कवित्त तीसरे ढंग का है। इसमें अनुभूति है। पर वह समस्या-पूर्ति वाली है। समस्या-पूर्ति चौंसठ कलाओं में से एक कला है और इसका पूर्ण अभ्यास हो जाने पर ही मनुष्य-जीवन की समस्याओं पर कुछ कहने योग्य होता है। प्रसाद जी ने इस ढंग को भी अपनाया था। इससे भी बड़ी बात यह है कि यहाँ प्रसाद जी ने वही बात दूसरे ढंग से कही है जो आगे चलकर उनका मूल मंत्र-सा बन जाती है—वह है संयोग और वियोग में एक प्रेमयोग—सुख और दुख दोनों में एक आनन्द की भावना। जब 'प्रेम की प्रतीति' उत्पन्न हो जाती है तब 'बिछुरे मिले में' भेद नहीं रह जाता। पर यह प्रेम 'अनंग की छलना' न होना चाहिए।

'चित्राधार' की अधिकांश कविताएँ प्रकृति और सौन्दर्य-वर्णन के आधार पर रचित हैं। यौवन का उलाहना इन पंक्तियों में दिखलाई पड़ता है—

"आनन के प्यासे क्यों भये हो इतो रोष करि,
भरि-भरि प्याले प्यारे प्रेम रस पीजिये।
दीजिये 'प्रसाद' सुख सौरभ को लीजिये जू,
नेकहू तो चित्त में दया को ठौर दीजिये॥"

कवि के सिद्धान्त का उद्गम भी इन दोनों पदों में मिलता है। 'करत, सुनत, फल देत, लेत सब तुम हीं, यही प्रतीत।'—यही आरम्भिक विश्वास आगे चलकर प्रसाद की समस्त रचनाओं का सूत्र बनता है। 'विधाता के विधान में अटल विश्वास और नियति के चक्र में किसी का वश नहीं चल सकता।'—यही सिद्धान्त सर्वत्र व्याप्त है। इसी से प्रसाद को नियतिवादी कहा जाता है।

ब्रह्म में आस्था रखते हुए भी भावुकता उलाहना देती है—ऐसे ब्रह्म को लेकर क्या करेंगे जो कुछ नहीं सुनता और जो दूसरों का दुख नहीं हरता।

"ऐसे ब्रह्म लेइ का करि है ?
जो नहीं करत, सुनत नहीं जो कुछ, जो जन पीर न हरि है ॥"

'चित्राधार' में उनकी विशिष्ट प्रकार की दार्शनिक अभिरुचि के कारण प्रकृति-प्रेम एक विशिष्ट प्रकार से व्यक्त हुआ है। अंग्रेज कवि वर्ड्सवर्थ की भाँति प्रकृति के प्रति उनका निसर्ग सिद्ध तादात्म्य नहीं देख पड़ता। प्रत्येक पुरुष में उन्हें वह प्रीति नहीं, जो वर्ड्सवर्थ की थी। प्रत्येक पर्वत, प्रत्येक घाटी उनकी आत्मीय नहीं। वे प्रत्येक पत्ती को प्यार नहीं करते। यह 'चित्राधार' की बात कही जा रही है। उसमें उनका प्रेम रमणीयता से है, प्रकृति से नहीं। वे सुन्दरता में रमणीयता देखते हैं, सर्वत्र नहीं। इस रमणीयता के सम्बन्ध में उनकी भावना रति की भी है और जिज्ञासा की भी। रति उनका हृदय-पक्ष है, जिज्ञासा उनका मस्तिष्क-पक्ष। कहीं-कहीं वे रमणीय दृश्यों को देखकर मुग्ध होते हैं और कहीं-कहीं प्रश्न पूछते हैं कि यह रमणीयता इसमें कहाँ से आई ? 'चित्राधार' में मुग्ध होने वाले स्थल कम हैं और जिज्ञासा के स्थल अधिक। जिज्ञासाओं की व्यंजना यह है कि वे प्रत्येक रमणीय वस्तु में चैतन्य ज्योति देखते हैं। अवश्य ही यह चैतन्य ज्योति कवि के हृदय में चमत्कार उत्पन्न करती है। यह चमत्कार आरम्भ में जीवन के किसी गहन स्तर को स्पर्श नहीं करता। नवयुवक कवि यद्यपि अनेक बार इस प्रकार की जिज्ञासाएँ करके दिव्य सौन्दर्य का संकेत करता है, पर उसकी सामान्य दृष्टि किसी तात्त्विक निष्कर्ष तक नहीं पहुँचती। उसकी सौन्दर्य-भावना का विकास व्यापक नहीं होता। वह प्रकृति के रम्य रूपों और नारी की मनोहरता तक ही परिमित रहती है। जिस प्रकार ब्रजभाषा के कवि प्रकृति का वर्णन मनुष्य जगत् का उद्दीपन बनाकर करते थे, उसी प्रकार अनेक बार प्रसाद जी ने भी किया है, किन्तु उनकी भावना आरम्भ से ही अधिक सूक्ष्म और उन शृंगारी कवियों की अपेक्षा अधिक परिष्कृत और जिज्ञासामय है। यह जिज्ञासा आगे चलकर उनके विकास में सहायक हुई है। यदि चित्राधार में यह जिज्ञासाएँ न होतीं तो प्रसाद जी शृंगारी कवियों की श्रेणी से ऊपर उठकर उच्चतर रहस्य-काव्य का सृजन न कर पाते।

'चित्राधार' से आगे बढ़ने पर प्रसाद के प्रकृति-प्रेम और मानव-चरित्र सम्बन्धी धारणा को उत्तरोत्तर गहराई मिलती है। उनकी जिज्ञासा-वृत्ति का विकास होता है। 'प्रेम-पथिक' इसका प्रमाण है। 'प्रेम-पथिक' संवत् १६६२ के लगभग ब्रजभाषा में लिखा गया था। आठ वर्ष पश्चात् उसके कथानक में कुछ परिवर्तन करके कवि ने अतुकान्त छन्दों में उसे उपस्थित किया। इसमें प्राकृतिक वर्णन मनुष्यों की कहानी के लिए सुरम्य वातावरण बन गया है और मानव-सौन्दर्य केवल कुतूहल की वस्तु न रहकर एक अनुपम त्याग की भावना में पर्यवसित हो गया है। प्रकृति के प्रेम से हटकर उनकी जिज्ञासा मनुष्यों के प्रेम में समाविष्ट हो गई है। जिज्ञासा का तार नहीं टूटता। इसी में कवि का विकास देखा जा सकता है। 'प्रेम-पथिक' सात्विक प्रेम का चित्रण करने वाला काव्य है।

"पथिक प्रेम की राह अनोखी भूल भूल कर चलता है ।
घनी छाँह है जो ऊपर तो नीचे काँटे बिछे हुए,
प्रेम-यज्ञ में स्वार्थ और कामना हवन करना होगा ॥
तब तुम प्रियतम स्वर्ग-बिहारी होने का फल पाओगे;
इसका निर्मल विधु नीलाम्बर-मध्य किया करता क्रीड़ा
चपला जिसको देख चमककर छिप जाती है घन-पट में ।
प्रेम पवित्र पदार्थ, न इसमें कहीं कपट की छाया हो,
इसका परिमित रूप नहीं जो व्यक्ति मात्र में बना रहे
क्योंकि यही प्रभु का स्वरूप है जहाँ कि सबको समता है ।"

इन पंक्तियों में सात्विक प्रेम का कितना शुद्ध स्वरूप व्यक्त किया गया है । यहाँ कवि एक तात्विक निष्कर्ष तक पहुँच सका है । प्रेम अनन्त है, उसका ओर-छोर नहीं है । उसकी परिणति पूर्ण त्याग में है । इसमें बड़ी स्वच्छता और सात्विकता है ।

"इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रांत भवन में टिक रहना,
किन्तु पहुँचना उस सीमा पर जिसके आगे राह नहीं;
अथवा उस आनन्द भूमि में जिसकी सीमा कहीं नहीं.
यह जो केवल रूपजन्य है मोह, न उसका स्पर्शी है
यही व्यक्तिगत होता है, पर प्रेम उदार, अनन्त अहो
उसमें इसमें शैल और सरिता का-सा कुछ अन्तर है ।
प्रेम, जगत का चालक है, इसके आकर्षण में खिंच के
मिट्टी या जलपिंड सभी दिन-रात किया करते फेरा
इसकी गर्मी मरु, धरणी, गिरि, सिन्धु, सभी निज अन्तर में
रखते हैं आनन्द सहित, है इसका अमित प्रभाव महा ।
इसके बल से तरुवर कर पतझड़, बसन्त को पाते हैं
इसका है सिद्धान्त मिटा देना अस्तित्व सभी अपना
प्रियतममय यह विश्व निरखना फिर उसको है विरह कहाँ
फिर तो वही रहा मन में, नयनों में, प्रत्युत जग भर में,
कहाँ रहा फिर द्वेष किसी से क्योंकि विश्व ही प्रियतम है;
हो जब ऐसा वियोग तो संयोग वही हो जाता है ।
यह संज्ञायें उड़ जाती हैं, सत्य तत्व रह जाता है ।"

सात्विक प्रेम का कितना अनूठा चित्रण है । यह न समझना चाहिए कि प्रसाद जी का यह प्रेम-सम्बन्धी आदर्श प्राचीन आध्यात्मिक गतानुगतिकता का परिणाम है । इसमें कवि की अपनी अनुभूति और विचारण का भी योग है । इसका भाव-चित्रण तथा

प्राकृतिक दृश्यावली कवि के हृदय के योग से अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखती है। इसमें परम्परा-रक्षण के स्थान पर नवीन उद्योग है। बाह्य प्रकृति की रमणीयता के साथ-साथ प्रेम की रमणीयता की यह छोटी-सी आख्यायिका हिन्दी में एक नवीन भाव-धारा का आगमन सूचित करती है। प्रेम-पथिक का यह छोटा-सा कथानक कवि के स्वच्छ जीवन क्षण में लिखा गया है।

'आँसू' प्रसाद जी का विरह-काव्य है। यह बड़ी ही मनोरम गीत कविता है। हिन्दी में इसकी गणना इनी-गिनी उत्कृष्ट रचनाओं में की जा सकती है। आधुनिक हिन्दी में जो थोड़े-से प्रथम श्रेणी के विरह-गीत हैं उनमें 'आँसू' का भावना-संकलन श्रेष्ठ होने के कारण यही उत्तम गीत है। कुछ लोगों ने 'आँसू' को अध्यात्म और छायावाद आदि का नाम देकर उसे जटिल बना देने का प्रयत्न किया है, परन्तु ऐसा कहने से पहले उन्हें उसको उसके प्रकृत रूप में देखना चाहिए। विरह का इतना मार्मिक वर्णन करने वाले कवि को किसी वाद की छाया लेने की आवश्यकता नहीं—उसकी उच्चता स्वतः सिद्ध है। काव्य-विकास के जो परमाणु खिलकर 'आँसू' में निखरे हैं, उन्हें वादों के बखेड़े में डाल देना हम चित नहीं समझते।

'आँसू' प्रसाद जी की पूर्व रचनाओं से बहुत आगे है। उसमें 'चित्राधार' की-सी हल्की, चमत्कार-चंचल दृष्टि नहीं है, न 'प्रेम-पथिक' का-सा 'रोमांटिक' प्रेमादर्श का निरूपण है—वह अधिक गहरी वस्तु है। 'आँसू' कवि के जीवन की वास्तविक प्रयोग-शाला का आविष्कार है। उसमें कवि निःसंकोच भाव से विलास-जीवन का वैभव दिखाता, फिर उसके प्रभाव में आँसू बहाता, और अन्त में जीवन से समझौता करता है। विलास में जो मद, जो विराट् आकर्षण है उसे कवि उतने ही विराट् रूपकों और उपमानों द्वारा प्रकट करता है। उसके अभाव में जो वेदना है, वही आँसू बनकर निकली है। प्रसाद जी के सम्पूर्ण काव्य का महत्त्व ही यह है कि वे वेदना के रोदन में बह नहीं जाते, वरन् वह अतीत के अभाव को संसार के एक कठोर सत्य के रूप में स्वीकार करते हैं। रोदन को जीतकर उसके ऊपर उठे बिना जीवन चल नहीं सकता, इसका भी अनुभव है और इस अनुभव के प्रकाश में चलने के लिए मन को सांत्वना और आशा देने का प्रयास भी है। इस कवि के सम्पूर्ण काव्य में मानव-जीवन के उत्कर्ष की जो धारा है; वह 'आँसू' में धुल-कर निखर ई है और अत्यन्त स्पष्ट रूप में प्रगट हुई है। 'आँसू' मानव-जीवन के प्रकर्ष का गान है।

'आँसू' की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिये, इनमें भाषा का माधुर्य, भावों की मृदुलता, सुन्दर उपमाएँ तथा कल्पना की कोमलता कितनी अधिक मात्रा में व्यक्त हुई है—

"छिल छिलकर छाले फोड़े,
मल मल कर मृदुल चरण से।
घुल-घुल कर बह रह जाते,
आँसू करुणा के कण से॥"

उपमा तथा कल्पना का सुन्दर चित्रण भी देखिए—

"शशि मुख पर घूँघट डाले,
अंचल में दीप छिपाए।
जीवन की गोधूली में,
कौतूहल से तुम आये॥"

विरह का तत्वज्ञान कितनी गहराई और सूक्ष्मता से व्यक्त किया है;—

"छलना थी तब भी मेरा
उसमें विश्वास घना था;
उस माया की छाया में,
कुछ सच्चा स्वयं बना था।
× ×
तुम सत्य रहे चिर सुन्दर,
मेरे इस मिथ्या जग के।
× ×
माना कि रूप सीमा है,
यौवन में सुन्दर तेरे।
पर एक बार आये थे,
निस्सीम हृदय में मेरे॥
× ×
चमकूँगा धूल-कणों में
सौरभ हो उड़ जाऊँगा।
पाऊँगा कहीं तुम्हें तो,
ग्रह-पथ मे टकराऊँगा।"

कितनी सुन्दर पंक्तियाँ हैं। सारा काव्य मधुर विरह-स्मृतियों में डूबा हुआ है। काव्य की दृष्टि से इसमें रूप का, वैभव एवं विलास का अत्यन्त उत्कृष्ट वर्णन है। परन्तु इसकी सफलता यही है कि इस रोदन और वेदना के बीच भी कवि जीवन के सत्य की रक्षा कर सका है। निराशा और दुःख के अन्त में हम आशा का सन्देश पाते हैं। निराशा और व्यथा के कोहरे को भेदकर मृदुल शान्तिदायिनी किरणें आती हैं। कवि विरह और

मिलन को जीवन के सामान्य क्रम में ग्रहण करता है। काव्य की अन्तिम पंक्तियों में वेदना-भार से दबे हुए हृदय को हम ऊपर उठता देखते हैं। कवि इस निष्कर्ष पर पहुँचा है—

"मानव-जीवन-वेदी पर,
परिणय है विरह मिलन का;
सुख दुख दोनों नाचेंगे,
है खेल आँख का, मन का।
विस्मृति समाधि पर होगी,
वर्षा कल्याण-जलद की;
सुख सोये थका हुआ-सा,
चिन्ता छुट जाये विपद की।
चेतना लहर न उठेगी,
जीवन-सागर थिर होगा;
सन्ध्या हो सर्ग-प्रलय की,
विच्छेद-मिलन फिर होगा।"

विच्छेद और मिलन को इस नैसर्गिक रूप ग्रहण करने में ही काव्य का सत्य है। प्रतिवाद की सीमा पर ले जाने से जीवन के साथ उसका कोई सम्पर्क नहीं रह जाता। मानव-जीवन विघ्न-बाधाओं के बीच भी ऊपर उठने वाली जिस आत्म-शक्ति से, अन्तः-स्फूर्ति से गौरवान्वित है, उसकी विजय दिखाना ही सच्चे काव्य की प्रतिष्ठा है। प्रसाद जी का गौरव इस बात में है कि उनका काव्य सर्वत्र प्रकृति पर मनुष्य और मानवता की विजय के उल्लास और संदेश से भरा हुआ है। प्रसाद जो वास्तव में मानवी भावनाओं के कवि हैं और सम्पूर्ण प्रकृति का सौन्दर्य एवं महत्त्व उनके लिए मानव-सापेक्ष है। उनका काव्य मानव-जीवन के साथ-साथ चलता है और इसी लिए जीवन की कठोर व्यावहारिकता के साथ उसमें समझौता, संग्रथन और सामंजस्य की भावना है।

बहुत-से लोग 'आँसू' पर दुरूहता एवं अस्पष्टता का दोष लगाते हैं। इसका कारण है। वास्तव में प्रसाद ने 'आँसू' में एक ऐसी शैली विकसित करली है, जिसकी व्याख्या उन्होंने अपने प्रौढ़ निबन्धों में की है। इस शैली में बात की वक्रता का बड़ा महत्त्व है। इसी से प्रसाद का काव्य साधारण मेधा को अग्राह्य हो जाता है। प्रसाद का कहना है—"अब प्रेमी को विश्राम कहाँ? उसका विश्राम हो गया। है केवल उच्छ्वास और आँसू। अब यही उसके विश्राम हैं।" आँख से अविरल अश्रुधारा बहती है, निद्रा भी स्वप्न हो गई है। परन्तु वह बात को घुमाकर कहते हैं—

"उच्छ्वास और आँसू में,
विश्राम थका सोता है;

रोई आँखों में निद्रा
बनकर सपना होता है।"

इसी अटपटी भाव-भंगिमा से काव्य रहस्यगीत हो जाता है। अनेक अस्पष्ट और सांकेतिक शब्दों के प्रयोग से भाषा भी कुछ जटिल हो जाती है—

"विभ्रम मदिरा से उठकर,
आओ तममय अन्तर में;
पाओगे कुछ न टटोले
बिन अपने सूने घर में।"

यहाँ विभ्रम मदिरा का अर्थ है—तुम सौन्दर्य हो, तुम्हें सौन्दर्य की मदिरा ने विमूर्च्छित कर दिया है। तुम क्या जानो दूसरे के सुख-दुःख? 'अपने बिन' का अर्थ है सिवा अपने हृदय में किसी को नहीं पाओगे। यहाँ तो तुम ही हो। कहीं-कहीं यह वाग्भंगिमा सांकेतिक ही छोड़ दी गई है, जैसे—

"निष्ठुर जाते हो जाओ,
मेरा भी कोई होगा।
प्रत्याशा विरह-निशा की
हम होंगे औ' दुख होगा॥"

कहना यही है कि मुझे तुम्हारी अपेक्षा नहीं। मेरा भी एक साथी है, वह है विरह-दुःख। क्या तुम समझते हो मेरा कोई साथी नहीं? यह पीड़ा में आनन्द पाने वाले प्रेमी की गर्वोक्ति है। यहाँ बात शीघ्र न खुलकर रहस्यमय हो जाती है।

इस काव्य में प्रसाद ने कल्पना के उच्चतम शिखर तक पहुँचने का प्रयास किया है। इसी कल्पनातिरेक के कारण कहीं-कहीं अमूर्त भावों और मानसिक परिस्थितियों को उपमान बना लिया गया है। जैसे—

"मादकता से आये वे
संज्ञा से चले गये वे,
हम व्याकुल पड़े बिलखते
थे उतरे हुए नशे से।"

इसमें 'मादकता', 'संज्ञा', 'नशे का उतार' जैसी मानसिक परिस्थितियों को उपमान बनाया है।

एक बात और है जो 'आँसू' को दुर्बोध बना देती है—वह है प्रतीकों का बहुलता के साथ प्रयोग। प्रसाद ने लिखा है कि युग की प्रतिभा युग के अनुसार अपने प्रतीक आप चुनती है। उन्होंने पहली बार नवीन प्रतीक चुनने का प्रयास यहाँ किया है। इसी लिए उनका काव्य सहजग्राह्य नहीं हो पाता। कहीं-कहीं तो एकदम शत प्रतिशत प्रतीकों

की भाषा में ही बात कही गई है ।

"मेरे जीवन की उलझन,
बिखरी थीं तेरी अलकें ॥
पी ली मधु-मदिरा तुमने,
थी बन्द हमारी पलकें ।
लहरों मे प्यास भरी थी,
थे भँवर मात्र भी खाली ।
मानस का सब रस पीकर,
लुढ़का दी तुमने प्याली ।"

यहाँ प्रेमिका प्रेमी के हृदय की सारी मादकता पी लेती है। जब पात्र (हृदय) खालो हो जाता है, तो उसकी (जीवन) प्याली व्यर्थ बनाकर लुढ़का देती है। अब प्रेमी के सामने एक महान् सौन्दर्य-प्रेम का सागर किलोलें करता है, परन्तु उसका रस उसके लिए नहीं है। उसे तो भँवर-भँवर ही दिखलाई पड़ते हैं। ये भँवर खाली पात्र की तरह लगते हैं। ये तो उसके जीवन के सूनेपन के ही प्रतीक हैं । इस प्रकार एक नई कृत्रिम प्रतीक भाषा का सतत प्रयोग 'आँसू' को साधारण ज्ञान के धरातल से ऊँचा उठा देता है।

एक बात ध्यान देने की और है । 'आँसू' पर प्रेम और वियोग दोनों पक्षों में उर्दू-काव्य का प्रभाव है। इसका कारण यह है कि प्रसाद हिन्दी-संस्कृत के साथ-साथ उर्दू-फ़ारसी के भी अच्छे ज्ञाता थे । 'प्रसाद' की प्रेमिका उर्दू कवि की माशूक़ा की भाँति निष्ठुर है, कठोर है; घायल करना, फिर मुँह फेर लेना, यह उसका कौध है। पैर से मल-मल कर हृदय के छाले फोड़ देगी । वह निष्ठुरा भला प्रेमी का दुःख क्यों सुनने लगी ? उसके कान तो कमल के पत्ते हैं, उनमें दुःख कथा के अश्रुकण ठहरेंगे ही नहीं।

उर्दू काव्य के प्रभाव ने काव्य को रहस्यात्मक रूप देने में बड़ा भाग लिया है। कवि पुल्लिंग में प्रेमिका को सम्बोधित करता है—

"पर एक बार आये थे,
निस्सीम हृदय में मेरे"

अथवा

"वे सुमन नोचते सुनते,
करते जाते मनमानी"

यह प्रभाव भाव-भंगिमा तक ही सीमित नहीं है, भाषा पर भी है । अधिकांश नए प्रयोगों के पीछे यही रहस्य छिपा है। 'शीतल ज्वाला' उर्दू का 'आतिशे-नम' है। "छिल-छिल कर छाले फोड़, मल मल कर मृदुल चरण से' हिन्दी काव्य-संपदा से बाहर की वस्तु है। 'उलझों' के उलझने-सुलझने की बात हम सुनते हैं। प्रसाद भी कहते हैं—

'मेरे जीवन की उलझन, बिखरी थीं तेरी अलकें' इस प्रकार फ़ारसी या उर्दू काव्य के प्रभाव के कारण 'आँसू' के संस्कार हिन्दी वालों के संस्कार नहीं बन सके और लोग उसे रहस्यमयी कविता समझने लगे।

परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि 'आँसू' दोषपूर्ण ही है। एक नवीन युग की नींव डालने के कारण उसकी ऐतिहासिक महत्ता तो है ही, साथ ही इसमें भी सन्देह नहीं कि वह अपने गुणों के लिए ही लोकप्रिय हुआ और ऐसे गुण हिन्दी के बहुत न्यून काव्यों में मिलते हैं। जो हो, प्रसाद की सारी दुर्बलता और उनकी सारी शक्ति 'आँसू' में स्पष्ट है। 'कामायनी' के रहते हुए भी 'आँसू' ही प्रसाद के व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व करता है।

'आँसू' के अनन्तर कुछ समय तक प्रसाद जी की कविता का वैसा परिपाक कहीं नहीं देख पड़ता। 'झरना' में कुछ अच्छी रचनाएँ अवश्य हैं; परन्तु बहुत-सी साधारण कृतियों के साथ मिली होने के कारण विशेष प्रभाव नहीं उत्पन्न करतीं। 'झरना' की कई कविताओं में प्रसाद की रहस्यवादिता प्रकट हुई है। जैसे—

"आंख बचाकर न किरकिरा कर दो इस जीवन का मेला।
कहां मिलोगे ? किसी विजन में ? न हो भीड़ का जब रेला ॥
दूर, कहां तक दूर ? थका भरपूर चूर सब अंग हुआ।
दुर्गम पथ में विरथ दौड़कर खेल न था मैंने खेला ॥
कहते हो "कुछ दुःख नहीं" हां ठीक, हँसी से पूछो तुम।
प्रश्न करो टेढ़ी चितवन से, किस-किस को किसने झेला ॥
आने दो मीठी मींड़ो से नूपुर की झनकार रहो।
गलबाहीं दे हाथ बढ़ाओ, कह दो प्याला भर दे, ला ॥
निठुर इन्हीं चरणों में मैं रत्नाकर हृदय उलीच रहा।
पुलकित, प्लावित रहो, बनो मत सूखी बालू की बेला ॥

इस कविता में रहस्यवाद की सभी मुख्य बातें आ गई हैं। रहस्यवादी का सबसे प्रथम लक्षण है आत्मानुभूति का स्वर। वह इसमें है। यही स्वर यहाँ तक बढ़ जाता है कि वह समाधि की कोटि वाले अनुभव तक पहुँच जाता है। दूसरी बात होती है संसार भर में एक परम हृदय को देखना और उसके चरणों में अपना सर्वस्व सौंपना। तीसरी बात है साधना और बुद्धि को अगोचर पाकर हृदय के सहारे आगे बढ़ना, और चौथी विशेषता है, मानव-जीवन को सुन्दर समझना तथा संसार के सुख-दुख दोनों को चाँदनी और अँधेरी के समान अपनाना, इस बड़े मेले का आनन्द लेना। इसी जीवनानन्द की खोज में शृंगार और करुणा दोनों का क्रम चला करता है। इसी से रहस्यवादी का सबसे अधिक सुनाई पड़ने वाला पाँचवाँ लक्षण है—उसका संगीत। वह कभी संयोग का गीत

सुनाता है और कभी विरह का क्रन्दन करता है। ये सभी बातें इस कविता में आ गई हैं। इसमें प्रणय की प्रार्थना है, इसी से करुण राग नहीं है।

'लहर' में हम कवि को शुद्ध रहस्यवादी भूमि पर प्रतिष्ठित पाते हैं। जीव और ब्रह्म की लुका-छिपी को कवि अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में व्यक्त करता है। ब्रह्म जीव के साथ आँख-मिचौनी खेलता है; परन्तु उषा की अरुणिमा के रूप में बहने वाली उसके पदचाप की लाली से, उसकी हँसी से, रूप, रस, गन्ध में रहे उसके खेलों से जीव उसे पहिचान लेता है—अतः कवि कहता है—

> "देख न लूँ, इतनी ही तो इच्छा है, लो सिर झुका हुआ
> कोमल किरन-उँगलियों से ढँक दोगे यह दृग खुला हुआ
> फिर कह दोगे, पहचानो तो मैं हूँ कौन बताओ तो ?
> किन्तु इन्हीं अधरों से पहले उसकी हँसी दबाओ तो ?
> सिहर-भरे निज शिथिल मृदुल अंचल को अधरों से पकड़ो
> बेला बीत चली है चंचल बाहुलता से आ जकड़ो
> तुम हो कौन और मैं क्या हूँ इसमें क्या है धरा, सुनो
> मानस-जलधि रहे चिर-चुम्बित मेरे क्षितिज ! उदार बनो।"

वह इसी पर सन्तोष कर लेगा। उसका प्रियतम उसे अपना मुख नहीं भी दिखलाये उसका शीतल स्पर्श उसे मिलता रहे।

> "शशि-सी वह सुन्दर रूप-विभा
> चाहे न मुझे दिखलाना
> उसकी निर्मल शीतल छाया
> हिमकन को बिखरा जाता"

परन्तु प्रियतम की आँख-मिचौनी और उसकी आतुर अपलक प्रतीक्षा उसे पागल बना देती है। जीवन में ऐसे क्षण आते हैं कि भीतर की वेदना हाहाकार करती हुई बाहर निकलने लगती है—

> "धीरे-से वह उठता पुकार
> मुझको न मिला रे कभी प्यार !"

और कभी-कभी वह चिल्ला पड़ता है—

> "अरे कहीं देखा है तुमने,
> मुझे प्यार करने वाले को;
> मेरी आँखों में आकर फिर
> आँसू बन ढरने वाले को।"

परन्तु अन्त में उसके हृदय की प्रतिध्वनि ही उसे रहस्य बताती है। यह 'प्यार' तो खोजने की वस्तु नहीं है—

"पागल रे यह मिलता है कब
उसको तो देते ही हैं सब;
आँसू के कण-कण को गिनकर
यह विश्व लिये है ऋण उधार
तू क्यों फिर उठता है पुकार
मुझको न मिला रे कभी प्यार !"

'लहर' के थोड़े से ही गीतों में कवि ने आध्यात्मिक आशा और निराशा के सुन्दर रूपक भर दिये हैं। कुछ कविताएँ प्रकृति को आलंबन बनाकर चली हैं। इन प्रकृति-गीतों में कहीं हम उन्हें सरस प्रकृति का वर्णन मात्र करते पाते हैं, कहीं प्रकृति के सहारे जीवन-मरण के रहस्य को खोलते हुए। उनका एक प्रसिद्ध गीत है—

"बीती विभावरी जाग री
अम्बर पनघट में डुबो रही
ताराघट ऊषा नागरी
खग-कुल कुल-कुल-सा बोल रहा
किसलय का अंचल डोल रहा
लो यह लतिका भी भर लाई
मधु-मुकुल नवल-रस गागरी"

कहीं कवि प्रभात को 'भैरवी' बताता है, कहीं थकी हुई रात आलस की अँगड़ाई ले रहा है या अपने रतनारे नेत्रों को सागर के उद्वेलित आँचल से पोंछ रही है—

"आँखों से अलख जगाने को
यह आज भैरवी आई है।
ऊषा-सी आँखों में कितनी,
मादकता भरी ललाई है ॥"

कहीं कवि अत्यन्त मार्मिक होकर रात के हृदय के श्वास-प्रश्वास को गिन रहा है। प्रसाद, विलास-ऐश्वर्य और मादकता के कवि हैं। उन्होंने अतीत के टूटे हुए स्वप्न और विलासमय रंगों से रंगी साय-प्रातः का विशद चित्रण किया है। स्वयं अपने में निमज्जित हो, कालिदास और रवीन्द्र का प्रेम-विलास और रहस्य की मादक कल्पना को उन्होंने अपनाया है और उसे सोने के पात्रों में सँजोकर रखा है। कला की ये विलास से सँवारी रेखाएँ जन-काव्य की श्रेणी की वस्तु नहीं; परन्तु एक विशेष वर्ग के एक विशेष श्रेणी के काव्य का इतना सुन्दर रूप अन्यत्र नहीं मिलता।

प्रसाद जी मूलतः प्रेम-रहस्य के कवि हैं, इसलिए प्रगतिशील समय के नवीन बौद्धिक प्रयोगों और उसकी निर्णयहीन अव्यवस्था में जहाँ प्रसाद जी ने अपने आपको डुबाया है, वहाँ उनके काव्य में वह रमणीयता नहीं आ पाई है, उनके स्वर का निसर्ग उच्छ्वास वहाँ नहीं सुन पड़ता। सामाजिक विचारणा में वे व्यक्तिवादी हैं और सामूहिक प्रगति सम्बन्धी उन आदर्शों से अनुप्रेरित हैं जो मध्य वर्ग के बौद्धिक और औद्योगिक उत्थान के फलस्वरूप उत्पन्न हुए थे, जिनमें स्वभावतः अल्पसंख्यक उच्च वर्ग और उसके ह्रासोन्मुख संस्कारों के विरुद्ध नवीन जनसत्तात्मक भावों का प्राधान्य था। राष्ट्रीय औद्योगीकरण, वर्ग-संघर्ष और शोषण के कटु अनुभवों से उत्पन्न नवीन 'यथार्थ-वाद' का प्रसाद के साहित्य में केवल एक आभास मिलता है। यद्यपि प्रसाद की मूल प्रवृत्ति 'यथार्थोन्मुख' ही है तथापि संकीर्ण अर्थ में वे यथार्थवादी नहीं हैं। कोरा भौतिक दर्शन और वैज्ञानिक प्रगति से आक्रान्त मनोभाव प्रसाद में हम नहीं पाते।

'झरना' में हमें उनके बौद्धिक अन्वेषणों की स्पष्ट झलक मिलती है, इसीलिए 'झरना' की कविताओं में एक विचित्र अवसाद है। 'प्रेम-पथिक' की आदर्शात्मक भाव-धारा की प्रतिक्रिया भी इसमें दिखाई देती है। यह प्रसाद जी के मानसिक विकास की दृष्टि से परिवर्तन-काल की सृष्टि है, किन्तु प्रसाद जी जैसे प्रतिनिधि कवि के लिए, जो नवीन प्रयोगों में सम्भवतः व्यस्त रहते थे, यह कुछ आश्चर्यजनक नहीं है। 'झरना' के नवीन प्रयोग प्रसाद जी को क्रमशः आशा और प्रमोद के लोक से हटाकर जीवन की गम्भीर परिस्थितियों का साक्षात्कार करा रहे थे। यह ठीक है कि 'झरना' में यह साक्षात्कार स्पष्ट नहीं है, केवल भाव-परिवर्तन की झलक मात्र है, किन्तु कटु वास्तविकता, गम्भीर जीवनानुभव तथा स्थान-स्थान पर प्रकट होने वाली आलोकरहित प्रगाढ़ निराशा की वे प्रेरक शक्तियाँ यहीं उत्पन्न हो रही थीं जिनका परिपाक हम आगे चलकर 'कामायनी' काव्य में देखते हैं।

अपनी मर्मग्राहिणी प्रतिभा के द्वारा मानव-प्रकृति का विश्लेषण करके प्रसाद जी ने 'कामायनी' काव्य की रचना की है। इसमें मानवीय प्रकृति के मूल मनोभावों को बड़ी सूक्ष्मता से व्यक्त किया गया है। यह मनु और कामायनी की कथा तो है ही, मनुष्य के क्रियात्मक, बौद्धिक और भावात्मक विकास में सामंजस्य स्थापित करने का अपूर्व काव्यात्मक प्रयास भी है। गहराई से पैठने पर हमें इसमें मानव-प्रकृति के शाश्वत् स्वरूप की झलक भी मिलती है। आध्यात्मिक और व्यावहारिक तथ्यों के बीच संतुलन स्थापित करने की सर्वप्रथम चेष्टा इस काव्य में की गई है। जो मनु और कामायनी हैं, वही आधुनिक पुरुष और नारी भी हैं। यही नहीं, शाश्वत् पुरुषत्व और नारीत्व भी यही है। एक की साधना से सब की साधना बन जाती है। मानस (मन) का ऐसा विश्लेषण और काव्यमय निरूपण हिन्दी में शायद शताब्दियों के बाद हुआ है।

कामायनी में हमें प्रसाद जी के समन्वयवाद की जीवन-मीमांसा के दर्शन होते हैं। तर्क (इड़ा), श्रद्धा और मनन (मनु) पूर्ण कर्म-निरत मानव ही नये संसार का सृजन कर सकता है, यही प्रसाद जी को वांछित है। दार्शनिक परिभाषा में इसे ज्ञान, भाव और कर्म की त्रिमूर्ति का एकीकरण कह सकते हैं। इस एकीकरण में मनुष्य को चिर-आनन्द की प्राप्ति हो सकती है। ताण्डव नृत्य पर नटेश (शंकर) सत्ता में व्याप्त महानन्द के प्रतीक हैं। इस सत्य तक पहुँचाने वाली श्रद्धा ही है जो मनु का नेतृत्व करती है और उन्हें इच्छा (इड़ा), ज्ञान (मनु) और भाव के त्रिकोण के बीच में आनन्द-पिण्ड का दर्शन करती है। श्रद्धा आनन्द की प्रेरणा-शक्ति है। इसी के इंगित से ज्ञान, इच्छा और कर्म में समन्वय स्थापित होता है। ज्ञान, कर्म और भाव (इच्छा) के अप्रतिहत आलिंगन को ही जीवन की पूर्णता कहेंगे, तीनों का अलग-अलग रहना मृत्यु है, दुःख है। इसी त्रिपुर का वध करने के कारण शिव त्रिपुरारी हैं। आनन्द (शिव) में ज्ञान, भाव और कर्म के त्रिगुणों का परिहार है।

कामायनी में यद्यपि श्रद्धा का प्राधान्य है, तथापि बुद्धि का उचित मूल्य भी स्वीकार किया गया है। कामायनी अपने कुमार मानव को इड़ा को सौंपते हुए कहती है—

"हे सौम्य इड़ा का शुचि दुलार,
हर लेगा तेरा व्यथा भार।
यह तर्कमयी तू श्रद्धामय,
तू मनन शक्ति कर कर्म अभय॥"

श्रद्धा भी यद्यपि एक मानव-वृत्ति है तथापि जिस अंश में तीनों के सम्बन्ध के लिए भावना आवश्यक है, उस अंश में वह अलग रखी गई है। मनुष्य श्रद्धामय होकर ही तीनों का समन्वय कर सकता है। 'बुद्धि' का उपयोग जीवन-संघर्ष में ही होता है। आत्मिक सुख की प्राप्ति तो श्रद्धा द्वारा ही हो सकती है। तर्क-वितर्क से आत्मा की शान्ति भंग होती है। इसी से मनु पुकार उठते हैं—

"यह क्या! श्रद्धे! बस तू ले चल,
उन चरणों तक, दे निज संबल;
सब पाप पुण्य जिसमें जल-जल,
पावन बन जाते हैं निर्मल,
मिटते असत्य से ज्ञान लेश,
समरस अखण्ड आनन्द वेश!"

तब श्रद्धा ही उन्हें इड़ा के विज्ञानमय वात्य-चक्र से निकालकर शुद्ध भाव-भूमि पर खड़ा करती है। मनु फिर भी श्रद्धा से अलग रहकर स्वतन्त्र मार्ग निकालना चाहते हैं। यह असम्भव है। श्रद्धा ही उन्हें उँगली पकड़कर आगे बढ़ाती है। भाव-लोक, ज्ञान-लोक

और कर्म-लोक (सत, रज, तम) की त्रिपुरी में होकर मन आनन्द की प्रकृत-भूमि पर पहुँचता है। यही लक्ष्य है। ज्ञान-भूमि, भाव-भूमि और कर्म-भूमि में संघर्ष ही आधुनिक मानव की विडम्बना है। श्रद्धा ही इस संघर्ष को दूर कर सकती है। जहाँ तक संसार की बात है, इड़ा (बुद्धि) और श्रद्धा के योग से उसको चलना होगा। काव्य के अन्त में कामायनी के पुत्र (मानव) और पुत्रवधु (इड़ा) का अभिषेक इसी का प्रतीक है। परन्तु अध्यात्म-जगत में श्रद्धा, ज्ञान और कर्म से आगे दिव्यानन्द की तन्मयता ही ध्येय है। उस आनन्दलोक में एकरसता है, जड़ और चेतन एकरस हो जाते हैं। इस अवस्था में पहुँचना ही मानव-जीवन का लक्ष्य है।

"समरस थे जड़ या चेतन,
सुन्दर साकार बना था;
चेतनता एक विलसती
आनन्द अखण्ड घना था।"

'कामायनी' में अनेक स्थलों पर प्रकृति का भी बड़ा सुन्दर चित्रण किया गया है। 'रात रानी' के 'प्रथम अभिसार' की कल्पना कितनी मधुर है—

"विकल खिलखिलाती है क्यों तू,
इतनी हँसी न व्यर्थ बिखेर;
तुहिन-कणों, फेनिल लहरों में,
मच जावेगी फिर अंधेर।"

चाँदनी रात कितनी मादकता भर देती है; इसकी ओर कवि का संकेत है। जब रात में यत्र-तत्र मेघ आकाश में दौड़ते हैं तो चाँद झाँकता व छुपता-सा देख पड़ता है। मानों रात घूँघट मे अपना सुन्दर मुखड़ा ढाँप लेती हो। कवि कहता है—

"घूंघट उठा देख मुसक्याती
किसे ठिठकती-सी आती;
विजय गगन में किसी भूल-सी
किसको स्मृति-पथ में लाती।"

तारों भरी रात का और भी सुन्दर चित्र देखिए—

"पगली हाँ सम्हाल ले कैसे
छूट पड़ा तेरा अंचल;
देख, बिखरती है मणिराजी
उठा अरी बेसुध चंचल।
फटा हुआ था नील वसन क्या
ओ यौवन की मतवाली;

देख अकिंचन जगत लूटता,
तेरी छवि भोली-भाली।"

समुद-किनारे की अवशिष्ट थोड़ी-सी धरती का चित्र भी सुहाग-रात की व्यथित स्मृति लेकर सिमटी बैठी 'वधू' के रूप में प्रस्तुत है—

"सिन्धु सेज पर धरा वधू अब
तनिक संकुचित बैठी-सी
प्रलय-निशा की हलचल स्मृति में,
मान किये-सी, ऐंठी-सी !"

प्रसाद जी जड़ को चेतन में और 'मानव' के रूप में देखने के अभ्यासी हैं। यही तादात्म्य-स्थापन की विह्वलता उनकी रहस्यमयी प्रवृत्ति की द्योतक है। रहस्यवादी भी क्या चाहता है ? वह जड़ और चेतन की दुविधा ही मिटा देना चाहता है।

कामायनी में विरह-वर्णन की भावुकता भी उच्चकोटि की है। ऐसी अन्यत्र कहीं मिलनी दुर्लभ है, वास्तव में यह उसकी महामूल्य संपत्ति है, जो साहित्य में एक नई चीज है। उदाहरणस्वरूप दो पद्य देखिए—

"कामायनी कुसुम वसुधा पर पड़ी, न वह मकरंद रहा,
एक चित्र बस रेखाओं का, अब उसमें है रंग कहाँ ?
कहाँ प्रभात का हीन-कला शशि, किरन कहाँ चाँदनी रही ?
वह सन्ध्या थी, रवि शशि तारा ये सब कोई नहीं जहाँ।
एक मौन वेदना विजन की, झिल्ली की भनकार नहीं,
जगती की अस्पष्ट उपेक्षा, एक कसक साकार रही।
हरित कुंज की छाया भर थी वसुधा आलिंगन करती,
वह छोटी-सी विरह नदी थी जिसका है अब पार नहीं।"

प्रेम के द्वारा संचित प्रसाद की लोक-भावना अपने विस्तार को प्राप्त होकर स्थान-स्थान पर सामाजिकता और राष्ट्रीयता के उद्देश्यों को भी भली भाँति प्रदर्शित करती है। उनके ऐतिहासिक नाटकों में, विशेषतः 'जन्मेजय का नागयज्ञ' और 'स्कन्दगुप्त' में, ये उद्देश्य खूब विशद रूप में प्रस्फुटित हुए हैं। कामायनी में भी उन्होंने भारत में विदेशी शासकों की शोषण-नीति और यहाँ प्रसार कराई गई कृत्रिम सभ्यता से उत्पन्न मानसिक अधोवृत्ति का ओजपूर्ण वर्णन किया है। अपने भोग और ऐश्वर्य-मद में भूले हुए मनु की प्रजा उनके मिथ्या समाधानों के उत्तर में विद्रोही बनकर उनको इस प्रकार प्रत्याहूत करती है—

"देखो पाप पुकार उठा अपने ही सुख से !
तुमने योगक्षेम से अधिक संचय वाला,

लोभ सिखाकर इस विचार-संकट में डाला।
हम संवेदनशील हो चले यही मिला सुख,
कष्ट समझने लगे बनाकर निज कृत्रिम दुख!
प्रकृत शक्ति तुम ने यंत्रों से सब की छीनी,
शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर झीनी।
और इड़ा पर यह क्या अत्याचार किया है,
इसीलिए तू हम सबके बल यहाँ जिया है!
आज बन्दिनी मेरी रानी इड़ा यहाँ है!
ओ मायावर अब तेरा निस्तार कहाँ है?"

इसी प्रकार कर्म-लोक के वर्णन में समाज की अधोगति और शासकों की शोषण-नीति का संकेत किया है—

"यहाँ सतत संघर्ष, विफलता
कोलाहल का यहाँ राज है;
अंधकार में दौड़ लग रही
मतवाला यह सब समाज है।"

× ×

"यहाँ शासनादेश घोषणा
विजयों की हुँकार सुनाता;
यहाँ भूख से विकल दलित को
पद-तल में फिर-फिर गिरवाती।

× ×

यहाँ लिये दायित्व कर्म का
उन्नति करने के मतवाले;
जला-जलाकर फूट पड़ रहे
ढुलकर बहने वाले छाले!"

देश-भक्ति की भावना भी प्रसाद जी के हृदय में पर्याप्त मात्रा में विद्यमान थी। किन्तु उसकी अभिव्यक्ति बड़े कलापूर्ण रूप में हुई है। उन्होंने देश-गौरव के बड़े मनोहर गीत लिखे हैं। चन्द्रगुप्त नाटक में उनका भारत-स्तवन तो प्रसिद्ध है—

"अरुण यह मधुमय देश हमारा!
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।
सरस तामरस गर्भ-विभा पर, नाच रही तरु शिखा मनोहर,
छिटका जीवन हरियाली पर, मंगल कुमकुम सारा।।"

प्रसाद जी ने महाराणा का महत्त्व, शेरसिंह का शस्त्र-समर्पण आदि बहुत-सी देश-भक्ति की भावना से पूर्ण कविताएँ लिखी हैं।

प्रगतिवादियों की तरह वे भी 'दीन-दुखियों' के प्रति अपनी भावना उँडेलते हैं—

"दीन दुखियों को देख आतुर अधीर अति,
करुणा के साथ उनके भी कभी रोते चलो।"

सुख, अधिकार और धन के केन्द्रीकरण के प्रति भी उनका स्वरोद्घोष सुन पड़ता है—

"अपने में सब कुछ भर कैसे व्यक्ति विकास करेगा ?
यह एकान्त स्वार्थ भीषण है अपना नाश करेगा!
औरों को हँसता देखो मनु हँसो और सुख पाओ,
अपने सुख को विस्तृत करके सबको सुखी बनाओ।"

क्योंकि जो अपने में सुख को सीमित कर लेता है, वह दूसरों के लिए केवल दुख ही तो छोड़ सकता है। इसीलिए कवि कहता है—

"इतर प्राणियों की पीड़ा लख, अपना मुंह मोड़ोगे ?"

'स्वयं जीवित रहो और दूसरों को जाने दो' में कवि का अटूट विश्वास रहा है—

"क्यों इतना आतंक ठहर जाओ गर्वीले
जीने दे सबको फिर तू भी सुख से जीले।"

वास्तव में प्रसाद ने मानव-जीवन की सभी परिस्थितियों का विश्लेषण किया है। वे मानवीय भावनाओं के कवि हैं। प्रसाद के काव्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें विचार-सिद्धान्त के साथ-साथ भाव भी उतने ही वेग से चलते हैं। अधिकांश कवियों में यह बात कठिनता से ही उपलब्ध होती है। प्रसाद के कवि-कर्म में विचार और भाव दोनों समान रूप से प्रधान होते हुए एक ऐसी भूमि पर आपस में मिलते हैं जहाँ वे एक हो जाते हैं, उनका भेद दूर हो जाता है। उदाहरण के लिए उनके किसी भी गीत को ले सकते हैं—

"ले चल वहाँ भुलावा देकर, मेरे नाविक धीरे-धीरे!
जिस निर्जन में सागर-लहरी, अंबर के कानों में गहरी—
निश्छल प्रेम-कथा कहती हो, तज कोलाहल की अवनी रे!
जहाँ साँझ-सी जीवन-छाया, ढीले अपनी कोमल काया,
नील नयन से ढुलकाती हो, ताराओं की पाँति घनी रे!
जिस गम्भीर मधुर छाया में, विश्व चित्रपट चल माया में—
विभुता-विभु-सी पड़े दिखाई, दुख-सुख-वाली सत्य बनी रे!
श्रम-विश्राम क्षितिज वेला से, जहाँ सृजन करते मेला से,
अमर जागरण उषा नयन से, बिखराती हो ज्योति घनी रे!"

इस गीत में हमें विचार और अद्भुत सामंजस्य मिलता है। विचार और भाव को पृथक्-पृथक् कर देना एक दुष्कर कार्य है। तथापि, इसमें अवश्य एक गहरी भावुकता है, और साथ ही एक सुनिश्चित सिद्धान्त भी। सिद्धान्त के रूप में आदर्शवाद और भाव के रूप में यथार्थवाद का सुन्दर सम्मिलन है।

प्रसाद की विशेषता वास्तव में उनकी पद्धति की विशेषता है। भाव में उद्देश्य ढूँढ़ना इस कवि की विशेष रुचि है। विचार और भाव को एक सूत्र में बाँधने का विशेष साधन बनाती है प्रकृति। प्रकृति अपने मनमोहक रूप में खड़ी होकर जैसे एक इंगित-सा करती हो, जो जीवन को किसी निश्चित दिशा में ले जाने की अथवा जीवन के अभिप्राय को चित्र द्वारा दिखाने की सूचना देता है। यह प्रवृत्ति छायावाद तथा रहस्यवाद की प्रवृत्ति है।

छायावाद को हम काव्य की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति कह सकते हैं। उसमें 'जीवात्मा की दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपने शान्त और निश्छल सम्बन्ध की चेष्टा' मात्र ही नहीं पाई जाती; वरन् स्थूल सौन्दर्य के प्रति मानसिक आकर्षण के उच्छ्वास भी अंकित देखे जा सकते हैं। इस प्रकार छायावाद के लिए अलौकिक सत्ता के प्रकाशन की ही आवश्यकता नहीं है। उसमें व्यष्टि की किसी अभावजनित अन्तर्व्यथा भी झलक सकती है और बाह्य प्रकृति के प्रति आसक्ति भी।

प्रसाद जी छायावाद को काव्य की एक अभिव्यक्ति विशेष ही मानते हैं। वे लिखते हैं—"छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचार-वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषताएँ हैं। अपने भीतर से मोती की तरह अन्तर-स्पर्श करके भाव-समर्पण करने वाली अभिव्यक्ति छाया कान्तिमय होती है।"

प्रसाद जी तथा कतिपय अन्य समीक्षक छायावाद को काव्य की एक शैली तो मानते हैं पर उस शैली के निश्चित तत्त्व भी निर्धारित करते हैं। वे हृदय से स्वभावतः झरने वाले भावों की अभिव्यक्ति मात्र को ही छायावाद के अन्तर्गत नहीं मानते। प्रत्युत अभिव्यक्ति में वक्रता, प्रतीकात्मकता भी आवश्यक समझते हैं। क्योंकि जब छायावाद काव्य की एक शैली-विशेष है तो हमें अनुभूति की अभिव्यक्ति में निरालापन भी दिखाई देना चाहिए। यह निरालापन कई रूप धारण कर सकता है। सरल भाषा में अर्थ-गाम्भीर्य भर और प्रतीकात्मक भाषा में भावसूक्ष्मता का अभाव प्रस्तुत कर हमें कला-सौन्दर्य से विमुख बना सकता है। अतः छायावादी कविता के लिए दो बातें आवश्यक हैं—

१. रचना को आन्तरिक अनुभूतिमय होना चाहिए, और

२. रचना की अभिव्यक्ति में 'निरालापन' होना चाहिए। यह निरालापन शब्दों

की किसी भी 'शक्ति' से प्राप्त किया जाय।

प्रसाद जी की अधिकांश रचनाएँ छायावाद की उक्त व्याख्या के अन्तर्गत आती हैं। उनकी रहस्य-संकेतात्मक रचनाओं की 'छायावादी' शैली ही है। प्रायः प्रतीकों—लक्षणा—के सहारे ही उन्होंने अपनी अन्तर्भावनाओं को प्रकट किया है। उनकी छायावादी पद्धति का उत्कृष्ट उदाहरण नीचे देखिए। कवि वेदना को सम्बोधित करता है—

"सपनों की सुख छाया में, जब तन्द्रालस संसृति है।
तुम कौन सजग हो आई, मेरे मन में विस्मृति है॥
तुम! अरे, वही हाँ तुम हो, मेरी चिर-जीवन संगिनि।
दुख वाले दग्ध हृदय की, वेदने! अश्रुमय रंगिनि॥
जब तुम्हें भूल जाता हूँ, कुड्मल किसलय के छल में।
तब कूक हूक-सी बन तुम, आ जाती रंगस्थल में॥
बतला दो अरे, न हिचको, क्या देखा शून्य गगन में।
कितना पथ हो चल आई, रजनी के मृदु निर्जन में॥"

कवि दुख-विह्वल है। जब सब सुख की नींद सो रहे हैं, तब भी वह जाग रहा है। कौन उसे सजग कर रहा है? वह तो कैसे भूल गया है। सहसा उसे याद आई। यह तो वेदना है, उसकी चिर जीवन-संगिनि! (अश्रुमय रंगिनि)—जैसे प्रयोग वेदना को मूर्त बना देते हैं। उसे आश्चर्य होता है—संसार के सुख-छल में जब वह भूल जाता है, तब भीतर से वेदना की हूक उठती है। इसके पश्चात् वह मूर्तिमान् वेदना से कई प्रश्न करता है जो संसार-व्यापी दुख को भली भाँति व्यंजित कर देते हैं। वेदने! तुम तो रजनी की इस निर्जनता में न जाने कितनी दूर से चलकर यहाँ आई हो। तनिक बताओ तो! उधर शशि-किरणें हँस-हँस कर मकरंद पान करती हैं, इधर कुमुद रोते हैं। प्रेमी जलनिधि आकाशचारी शशि को पाने में असफल है। शैलमालाओं के भीतर भयंकर ज्वाला भरी पड़ी है। यह सब तुमने क्या नहीं देखा? कलियों का रस पान कर कृतघ्नता भूल कर उड़ जाने वाले भौंरों को तुमने देखा है। जिनके आँसू भी सूख गये हैं, उन दुखियों को भी तुमने देखा है? अन्त में वह पूछता है—

"सूखी सरिता की शय्या, वसुधा की करुण कहानी;
कूलों में लीन न देखी, क्या तुमने मेरी रानी?
सूनी कुटिया कोने में, रजनी भर जलते जाना;
लघु स्नेह भरे दीपक का देखा है फिर बुझ जाना?"

इस पृथ्वी पर कैसी-कैसी करुण-कहानियाँ चल रही हैं। ऐसी भी नदियाँ हैं, जिनका जल सूख गया है, वह किनारे समेटे पड़ी हैं। ऐसे भी दीपक हैं, जो सूनी कुटियों के किसी कोने में थोड़ा-सा संबल-मात्र स्नेह जला चुके हैं, फिर अज्ञात हो बुझ

गये हैं—इन प्रश्नों के पीछे कवि की अपनी कथा है। एक नूतन शैली में कवि अपने प्रेमी से कह रहा है—देखो तो! यदि तुम्हें संसार का इतना दुःख, इतनी वेदना, इतना सर्वनाश देखना है, तो इस मेरे हृदय को देखो! व्यंजना की यह नई शैली हिन्दी काव्य को प्रसाद की मूल्यवान देन है। यही उनका 'छायावाद' है।

प्रसाद जी की हमारे साहित्य को बहुत बड़ी देन है। उनकी प्रतिभा से हमारा साहित्य धन्य एवं पवित्र हुआ है। उनकी रचनाओं पर कई विस्तृत ग्रन्थ लिखे जा सकते हैं। उन्होंने काव्य को नई दिशा दिखाई; उन्होंने कहानियों को एक नया और मौलिक रूप दिया और अपने नाटकों द्वारा उन्होंने हमारे साहित्य को बहुत बड़ी वस्तु दी है। ये नाटक केवल नाटक ही नहीं हैं, वरन् उनकी महान् बौद्धिक धारणा और शक्ति के सूचक हैं। ये नाटक ईसा के ५०० वर्ष पूर्व से लेकर ईस्वी सन् की हजारवीं शताब्दी तक अर्थात् १,५०० वर्ष की हमारी संस्कृति और हमारे सामाजिक प्रयोगों के इतिहास हैं। इनमें हमारे जीवन के उतार-चढ़ाव, हमारे सामाजिक संगठन के प्रयत्नों, हमारी विचारधाराओं और हमारे जीवन के विभिन्न अंगों के चित्र हैं। इनमें हम अपना गौरव देखते हैं, अपनी महानता के दर्शन करते हैं और फिर वह महानता किन भूलों के कारण, किन परिस्थितियों में और कैसे नष्ट हो गई, इसको भी देखते हैं। वे उस दर्पण के समान हैं जिनमें हम अपने किशोर यौवन और फिर वृद्धावस्था के जीवन को देख सकते हैं। प्रसाद जी के नाटक पढ़ने के पश्चात् ऐसा प्रतीत होता है जैसे हम एक अत्यन्त सजीव और प्रभावशाली चित्रपट को देखकर बाहर निकले हों। फिर सबसे बड़ी बात तो यह है कि क्या नाटक, क्या उपन्यास, कहीं भी वह भावनाओं को समस्याओं के हल्के रूप में प्रस्तुत नहीं करते। वह चाहते थे कि हम घटनाओं की बारीकियों में उतरें, हम मानवीय प्रवृत्तियों एवं मनोरचनाओं का अध्ययन करें। प्रसाद जी की रचना के पीछे जीवन का एक विशेष प्रयोजन है। यह प्रयोजन निश्चय ही उपदेशक या दार्शनिक का उपदेश या विवेचन नहीं, यह अत्यन्त स्वाभाविक रूप से व्यक्त होने वाली जीवन की कथा है।

हमारे साहित्य में प्रसाद जी ने वस्तुतः उससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण और जबर्दस्त भाग लिया है, जितना साधारणतः समझा जाता है। प्रसाद जी केवल ४७ वर्ष की आयु में संसार से चले गये। उनसे कहीं अधिक आयु वाले, साहित्य के आचार्य और गुरुजन हमारे बीच अब भी विद्यमान हैं। इनमें से अधिकांश ने हिन्दी की बड़ी भारी सेवा की है, और उनके गौरव हैं। पर प्रसाद जी ने हिन्दी की गति को बदलने, उसे मोड़ने और स्वस्थ एवं संतुलित दृष्टिकोण पैदा करने का जो कार्य किया है, वह अन्य किसी से नहीं हो पाया। बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में जो अशुद्ध, अस्वास्थ्यकर, अस्पष्ट और अपने आप में ही उलझा हुआ दृष्टिकोण हिन्दी-साहित्य में प्रधानता प्राप्त कर रहा था, उस नीरस दृष्टिकोण के प्रति प्रथम बार प्रसाद ने विद्रोह किया। उन्होंने प्रथम

बार साहित्य को एक स्वस्थ और सन्तुलित दृष्टि प्रदान की। प्रथम बार उन्होंने शृंगार को जीवन में उसका उपयुक्त और स्वस्थकर रूप दिया। आश्चर्य तो यह है कि इतना महत्त्वपूर्ण कार्य करने पर भी बहुत कम लोग हमारे साहित्य में प्रसाद जी की इस श्रेष्ठ देन को समझते हैं। इसका एक कारण तो यह है कि साहित्य के विकास का बड़ा ही विशृंखल और असम्बद्ध अध्ययन आजकल हो रहा है। दूसरी बात यह कि इस विद्रोह में भी अपनी प्रकृति के कारण प्रसाद जी कोई ऐसा जोर का धक्का साहित्य को न दे सके कि प्रत्येक आदमी समझ लेता कि उथल-पुथल हो गई है। इसका कारण कदाचित् प्रसाद जी का संगठित प्रचार से दूर रहना था।

५

प्रसाद जी की भाषा-शैली

[नामवर सिंह]

हिन्दी-उपन्यासों पर लिखते हुए श्री नलिन विलोचन शर्मा ने प्रसाद की भाषा को 'फीलपाँवी' कहा है। 'फीलपाँवी' शब्द भाषा की अनावश्यक स्फीति और मंथर गति को सूचित करता है। मामूली-सी बात के लिए बड़े-बड़े शब्दों का प्रयोग तथा एक वस्तु के लिए अनेक शब्दों का फिजूल खर्च 'फीलपाँवी भाषा' का लक्षण कहा जा सकता है। नलिन जी ने यह बात प्रसाद के केवल उपन्यासों की भाषा के लिए कही है, क्योंकि प्रसंग भी उपन्यासों का ही था। लेकिन जिन लक्षणों के आधार पर उन्होंने उपन्यासों की भाषा को 'फीलपाँवी' कहा है, उनका चरम रूप प्रसाद की कहानियों, नाटकों और कविताओं में मिलता है। यही नहीं यदि थोड़ी देर के लिए प्रसाद से दृष्टि हटाकर निराला, पंत, महादेवी आदि की भाषा को भी देखें तो भाषा की यह स्फीति कमो-बेश सभी छायावादी कवियों के गद्य-पद्य में मिलेगी। आज का लेखक जहाँ 'साँझ हो गई' कहकर सन्तोष कर लेगा, वहाँ प्रसाद की लेखनी एक जादुई दुनिया खड़ी कर देगी।

"नील पिंगल संध्या, प्रकृति की सहृदय कल्पना, विश्राम की शीतल छाया, स्वप्न-लोक का सृजन करने लगी। उस मोहिनी के रहस्यपूर्ण नील जाल का कुहक स्फुट हो उठा। जैसे मदिरा से सारा अंतरिक्ष सिक्त हो गया। सृष्टि नील-कमलों से भर उठी।"

—आकाशदीप

आज के यथार्थवादी लेखक के लिए यह सम्पूर्ण चित्रकारी उपहासास्पद प्रतीत हो सकती है। वह ऐसी शब्द-योजना करना पसंद न करेगा। लेकिन मेरा कहना यह है कि यदि वह कोशिश भी करे तो ऐसी मुग्ध चित्रकारी और मोहक शब्द-योजना वह नहीं दिखा सकता। यदि वह किसी तरह नकल करके कुछ कर भी डाले तो प्रसाद की भाषा से उसकी भाषा अधिक उपहासास्पद होगी। उसमें वह जादू, वह तन्मयता, वह सजीवता न आ पायेगी। यही नहीं, प्रसाद से पहले के लेखक और कवि भी यह भाषा न लिख सकते थे और न लिख सके। भारतेन्दु ही नहीं आचार्य द्विवेदी भी ऐसी भाषा न लिख पाये। इससे यह मालूम होता है कि प्रसाद की जिस भाषा को नलिन जी ने 'फीलपाँवी' कहा है वह एक ऐतिहासिक आवश्यकता का परिणाम है। उस ऐतिहासिकता को नजर-अंदाज करने के कारण ही विद्वान् आलोचक के 'दृष्टिकोण' में चूक हो उनके 'रिमार्क' से प्रसाद के युग की रुचि नहीं, आज की रुचि प्रकट होती है। इसलिए जिस 'स्फीति' को उन्होंने

बीमारी समझ लिया है, वस्तुतः वह 'अवयव की मांस-पेशियाँ हैं जिनमें 'ऊर्जस्वित था वीर्य अपार', और उनमें ऐसी 'स्फीत शिरायें जिनमें स्वस्थ रक्त का संचार होता था।'

यह ऐतिहासिक आवश्यकता थी छायावाद की स्वच्छंद कल्पना।

तथ्यवादी द्विवेदी-युग की गद्य-पद्य शैली के प्रायः दो प्रकार के नमूने मिलते हैं। एक ओर है—

"अहा ! ग्राम्य जीवन भी क्या है ?
क्यों न इसे सबका मन चाहे ?
थोड़े में निर्वाह यहां है
ऐसी सुविधा और कहां है ?"

दूसरी ओर—

सुरम्यरूपे रसरास-रंजिते
विचित्रवर्णाभरणे कहाँ गई
अलौकिकानंद-विधायिनी महा
कवीन्द्रकान्ते कविते अहो कहाँ !"

ये दोनों नमूने पद्य के हैं, फिर भी इन्हें तत्कालीन गद्य की भाषा का भी प्रतिनिधि कहा जा सकता है, क्योंकि छन्द-बन्धन के होते हुए भी मूलतः ये गद्य ही हैं। दूसरे की पदावली पहले की अपेक्षा संस्कृत-बहुल और समास-गर्भित है। फिर भी वाक्य-घटना और भाव-चेतना की दृष्टि से दोनों ही तथ्यवादी हैं। उदात्त नाद वाले शब्द के बावजूद दूसरा नमूना भी केवल तथ्य-कथन ही करता है; उससे किसी अमर कल्पना-लोक का आभास नहीं मिलता। इसलिए शब्द-चयन की दृष्टि से स्फीत होते हुए भी यह छन्द भाव-चेतना की दृष्टि से कंकाल मात्र है।

कारण साफ़ है। सांस्कृतिक पुनर्जागरण के कारण हिन्दी आदि सभी आधुनिक भारतीय भाषाओं में संस्कृत के तत्सम शब्दों की बाढ़ तो आ गई लेकिन उस पुनर्जागरण के प्रथम चरण ने नये व्यक्ति के मन को उतना भाव-प्रवण और कल्पना-कलित नहीं बनाया था कि ये शब्द नई चेतना से संपृक्त और नई अर्थवत्ता से सजीव हो उठें। इसीलिए सांस्कृतिक पुनर्जागरण के प्रथम चरण के सभी लेखकों और कवियों की भाषा में संस्कृत की तत्सम पदावली के बावजूद केवल निर्जीव तथ्य-कथन मिलता है। हिन्दी में 'प्रिय-प्रवास' के पद्य तथा चंडीप्रसाद 'हृदयेश' की कहानियाँ इस तरह के प्रतिनिधि नमूने हैं। बँगला में बंकिमचन्द्र का संस्कृत-शाद्वल गद्य भी इसी तरह का है। तत्कालीन मराठी तो ऐसे गद्य का खजाना है।

सांस्कृतिक पुनर्जागरण का दूसरा चरण राष्ट्रीय आन्दोलन की नई लहर लेकर आया। समूचे भारतीय समाज में अपूर्व आशा और आकांक्षा का संचार हुआ। कल्पना-

जीवी युवकों का अभ्युदय हुआ। व्यक्तित्व में विराटता आई। व्यक्ति-मन रूढ़ियों से मुक्त होकर ऊँची उड़ान भरने लगा। समाजशास्त्रीय भाषा में यह व्यक्तिवाद का उदय था। इस नये व्यक्ति की अभिव्यक्ति भी नई हो उठी। वह कुछ ऐसी भाषा बोलने लगा जो व्याकरण की दृष्टि से तो पहले की ही तरह थी, फिर भी पुराने वैयाकरणों और साहित्याचार्यों की पकड़ से बाहर हो गई। यह अस्पष्टता उन्हें छाया प्रतीत हुई; कभी-कभी उनके लिए यह रहस्य भी बन जाती है।

लेकिन कवि के लिए—

"भावना रँग गई, भाषा भी रँग उठी।
वह भाषा-छिपती छवि सुन्दर
कुछ खुलती आभा में रँगकर
वह भाव कुटल-कुहरे सा भर कर आया।"

जो जगत जीर्ण अरण्य था, अब कुसुमित उपवन-सा दिखाई पड़ने लगा। तथ्य सत्य हो उठा। ठठरियों पर घास चढ़ आया। वस्तु-जगत् को आत्मीयता ने रँग दिया। वस्तु के बाहरी आकार को पार करके उसके भीतर निहित चेतना से तादात्म्य स्थापित किया गया। यह वस्तुवाद के विपरीत भाववाद की स्थापना थी।

वस्तु जैसी है वैसी ही दिखने की जगह मन में उसकी जैसी मूरत है वैसी दिखाई पड़ने लगी। हर चीज भावनाओं और कल्पनाओं के प्रभामण्डल से युक्त जान पड़ी। दृष्टि जाने से पहले ही कवि का मन हर चीज के चारों ओर ज्योतिर्वलय-सा छा जाने लगा।

"केशर-रज-कण अब हैं हीरे पर्वत-चय-
यह वही प्रकृति पर रूप अन्य
जगमग-जगमग सब वेश वन्य
सुरभित दिशि-दिशि, कवि हुआ धन्य मायाशय।"

जब वस्तुओं का रूप बदला तो नाम भी बदल गया। बुझे शब्दों में नई ज्योति आ गई। जहाँ वह केवल 'अर्थ ग्रहण' कराते थे, अब 'बिम्ब ग्रहण' कराने लगे। भाषा की सूखी नदी उमड़ आई। कवि मुट्ठियाँ खोलकर शब्दों को लुटाने लगा। न भावों में कृपणता, न शब्दों में। सर्वत्र मुक्त-हस्त दान। अब किसी भाव या वस्तु को ठीक-ठीक नपे-तुले शब्दों में कसने की आकांक्षा नहीं रही। अब तो किसी भाव या वस्तु से सम्बद्ध मनोरम अनुषंगों और प्रसंगों के चित्रों की लड़ी ही रचने लगी। विशेषणों की बाढ़ आ गई। मुद्रा-स्फीति की तरह भाषा-स्फीति के लक्षण दिखाई देने लगे। बाजार शब्दों के नोटों से पट गया।

यह दशा हिन्दी की ही नहीं हुई। बँगला, गुजराती, मराठी आदि अन्य भारतीय भाषाओं में भी यही लहर आई। यहाँ तक कि बोल-चाल की मुहावरेदानी का नाज करने

वाली उर्दू भी इससे न बच सकी। यदि रवीन्द्रनाथ, नानालाल और बालकवि की भाषा में स्फीति आई तो इक़बाल में भी उसका उभार दिखाई पड़ा। यह जरूर है कि यह असर हर साहित्य की अपनी परम्परा तथा स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन की प्रकृति के अनुसार कमो-बेश रहा। बँगला में यह असर सबसे ज्यादा रहा और उर्दू में सबसे कम। फिर भी जो लोग हिन्दी-कविता की भाषा के मुक़ाबले उर्दू के चलतेपन की तारीफ़ करते नहीं थकते, उन्हें मीर, ग़ालिब, दाग़ जैसे पुराने शायरों से थोड़ी देर के लिए फ़ुरसत लेकर इक़बाल और जोश की प्रकृति, दर्शन और रोमैंटिक प्रेम की कविताओं की ओर भी मुलाहिज़ा फ़रमाना चाहिए। इक़बाल की कविता से कुछ लाइनें नमूने के लिए दी जा रही हैं—

> "वस्तये-रंगे-ख़सूसियत न हो मेरी ज़बां
> नौए-इन्सां कौम हो मेरी, वतन मेरा जहां
> दीदए-बातिन प राज़े-नज़्मे-कुदरत हो अयां
> हो शनासाये-फलक शमए-तख़य्युल का धुआं
> उक़दए-अज़दाद की काविश न तड़पाए मुझे
> हुस्ने-इश्क़-अंगेज हर शै में नज़र आए मुझे।"

कविता बेशक बहुत ऊँची है, लेकिन कहाँ है इसमें पुराने शायरों की मुहावरेदानी। इसमें शायद ही कोई शब्द हो जिसे पहले के शायरों ने इस्तेमाल न किया हो लेकिन उन्हीं को मिलाकर 'वस्तये-रंगे-ख़सुसियत', 'दीदए-बातिन', 'राज़े-नज़्मे-कुदरत, 'शनासाये-फलक', 'शमये-तख़य्युल का धुआँ', 'उक़दए-अज़दाद' वगैरह इक़बाल ही इस्तेमाल कर सकते थे।—एक रोमैंटिक शायर ही कर सकता है। 'रोमैंटिक' सस्ते 'रूमानी' अर्थ में नहीं, बल्कि 'स्वच्छन्द कल्पना' के समूचे वैभव और व्यापक जीवन-दर्शन के अर्थ में।

प्रसाद की भाषा भी इस स्वच्छन्दतावादी लहर का एक अंग है। इसलिए एक हद तक वह हिन्दी ही नहीं बल्कि समूचे भारतीय साहित्य के स्वच्छन्दतावादी दौर से जुड़ी हुई है। इसीलिए प्रसाद के पद-चयन में एक ओर बहुत दूर तक निराला, पंत और महादेवी के पद-चयन से साम्य है, तो दूसरी ओर प्रत्यक्ष रूप से रवीन्द्रनाथ के पद-चयन की झलक है और परोक्ष रूप से गुजराती और मराठी के स्वच्छन्दतावादी कवियों के साथ-साधर्म्य है। इसी बात को आचार्य शुक्ल ने अपने ढंग से कहा है कि संस्कृत की कोमल कांत पदावली का जैसा सुन्दर चयन बंग भाषा के काव्यों में हुआ है वैसा अन्य देशी भाषाओं के साहित्य में नहीं दिखाई पड़ता। उनके परिशीलन से पद-लालित्य की जो गूँज प्रसाद जी के मन में समाई वह बराबर बनी रही।'

किन्तु यह साम्य एक हद तक ही है। प्रसाद की भाषा-शैली की अपनी विशेषताएँ

हैं जो उसे निराला, पंत और महादेवी की भाषा से अलग करती हैं। भाव-वैशिष्ट्य से भाषा-वैशिष्ट्य स्वाभाविक है। प्रसाद जी के पद-चयन के पीछे विशेष मनोवृत्ति झलकती है। यदि हिन्दी के इन चार प्रमुख कवियों की पदावली में मोटे तौर से एक बात को लेकर भेदक-रेखा खींची जाय तो पंत में 'वायवी' निराला में 'विराट' महादेवी में 'चटकीली' और प्रसाद में 'मधुर' पदावली का बाहुल्य मिलेगा। ये चारों विशेषतायें एक हद तक थोड़ी-बहुत सभी में हैं। जैसे, प्रसाद में 'वायवीपन' और 'विराटता' काफ़ी है; पंत-महादेवी में भी कहीं-कहीं 'विराटता' की झलक मिल जाती है; निराला में भी 'माधुर्य' और 'वायवीपन' कम नहीं है।

'मधु' या 'मधुर' प्रसाद का तकियाकलाम-सा है। आचार्य शुक्ल ने भी इसे लक्षित किया है। उन्होंने प्रसाद जी की प्रतिभा को 'मधुमयी' यों ही नहीं, साकांक्ष भाव से कहा है और आगे चलकर उनकी सारी रहस्य-भावना को 'मधुचर्या' तक कह डाला है। जो हो प्रसाद जी भी बहुत-कुछ उस 'मधुमती-भूमिका' वाले मंडल के अंग थे जिसने कुछ दिनों तक 'रस-सिद्धान्त' को नई दिशा में मोड़ने का प्रयत्न किया। प्रसाद जी ने 'मधु' को आर्ष अर्थ में व्यापकता के साथ स्वीकार किया था। उनके सभी कल्पना-लोकों और आदर्श-चित्रों के मूल में 'मधु' की मिठास है। प्रकृति का मनोरम रूप तो 'माधव' या मधुमास में ही उन्हें दिखाई पड़ता है, उनकी 'चाँदनी' पंत की तरह 'लघु परिमल के घन' या 'स्वप्निल शयन मुकुल'-सी 'अनुभूतिमात्र' नहीं बल्कि मधु से पूर्ण है। जब पहले-पहले प्रिय को उन्होंने देखा तो 'मधुराका मुस्क्याती थी'। 'कामायनी' में तो 'पुटके-पुटके मधु' की छटा है। उनके राष्ट्र की कल्पना भी 'मधुमय देश' की है।

यह आकस्मिक नहीं है और न एक शब्द को पकड़कर रामायणी कथावाचकों-का-सा चमत्कार-प्रदर्शन है। 'मधु' प्रसाद के आनन्दवादी जीवन-दर्शन का अविच्छिन्न कल्पना करना अंग है। जीवन की कटुता और छलना से बिंधे हुए भावुक हृदय के लिए 'मधु' ही स्वाभाविक है। प्रतारणा और छलना का जैसा यथार्थ चित्र और उससे उत्पन्न होने वाली जैसी व्यथा प्रसाद के साहित्य में मिलती है, वैसी किसी छायावादी कवि में नहीं। निराला में खुले संघर्षों और रूढ़ियों के प्रहारों का दर्द है, प्रसाद की तरह आत्मीयों की प्रतारणा का नहीं। यही कटुता मधुमय कल्पना और 'मधुर पदावली' की जननी है।

प्रसाद की पदावली की दूसरी विशेषता है 'इन्द्रजाल'। प्रसाद प्रायः 'इन्द्रजाल', 'जादू', टोना', 'कुहक' आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं। कविता में ही नहीं, कहानियों में भी इन शब्दों का वे निधड़क व्यवहार करते हैं। सृजनशील कल्पना के अनेक व्यापारों-में से ऐन्द्रजालिक रचना भी एक है। यह कौशल छायावादी कवियों में प्रसाद के अतिरिक्त पंत जी में सब से अधिक है। अंतर इतना ही है कि जादू की दुनिया और ऐन्द्रजालिक वातावरण खड़ा करने में प्रसाद अतीत के चित्रों का भी सहारा लेते हैं जबकि पंत केवल

बाल-कल्पना की तरह वर्तमान पर ही ऊँची-से-ऊँची उड़ान भरते हैं। 'आकाशदीप' कहानी-संग्रह की अधिकांश कहानियों में यह जादूगरी देखी जा सकती है। 'कामायनी' में प्रलय के बाद देव-सृष्टि की मीठी याद तथा त्रिपुर-मिलन और कैलास की अतिमानवीय चित्रकारी इसी इन्द्रजाल का नमूना है। सामंतयुगीन वैभव की पुनः सृष्टि करके मायावी प्रभाव पैदा कर देना प्रसाद की पदावली की विशेषता है। कभी-कभी कंजर आदि जरायम-पेशा जातियों की रूमानी जिन्दगी से भी प्रसाद जी यह असर पैदा कर जाते हैं।'

प्रसाद का यह 'इन्द्रजाल' पंत से इस मामले में भिन्न है कि पंत का इन्द्रजाल जहाँ अधिक वायवी, सूक्ष्म, धुँधला और अस्पष्ट है, वहाँ प्रसाद का इन्द्रजाल अधिक मांसल, स्पष्ट, इन्द्रिय-ग्राह्य और ठोस है। कारण साफ़ है। प्रसाद की अनुभूतियाँ पंत के विपरीत प्रौढ़ मन की हैं और उनका सम्बन्ध ऐसे पुरुष से है जिसने खुलकर यौवन के उपादानों का उपभोग किया है। इसलिए प्रसाद के ऐन्द्रजालिक चित्रों में भी स्पष्टता, मांसलता और ठोसपन है। फलतः इसकी सूचक पदावली भी आई है। यदि प्रसाद में अस्पष्टता भी आई है तो चित्रों में नहीं, बल्कि यौवन की अस्पष्ट अनुभूतियों का प्रतिबिम्ब बनकर। वयःसंधि की श्रद्धा में 'लज्जा' सम्बन्धी अनुभूतियों तथा काम-पीड़ित मनु की आत्म-विस्मृति की पदावली ऐसी ही अस्पष्टता का सुन्दर उदाहरण है। एक नमूना—

> "उन नृत्य-शिथिल निःश्वासों की कितनी है मोहमयी माया,
> जिनसे समीर छनता छनता बनता है प्राणों की छाया।
> आकाश-रन्ध्र हैं पूरित से यह सृष्टि गहन-सी होती है;
> आलोक सभी मूर्च्छित सोते, यह आँख थकी-सी रोती है।
> × × ×
> धुतियों में चुपके चुपके से कोई मधु धारा घोल रहा;
> इस नीरवता के परदे में जैसे कोई कुछ बोल रहा।"

शब्द वही हैं जो और लोग भी इस्तेमाल करते हैं लेकिन उनका संघटन मन पर जादू-सा कर जाता है। अनुभूति की पकड़ में पढ़ते-पढ़ते ही सब आ जाता है किन्तु अर्थ बहुतों के लिए कुछ अस्पष्ट हो सकता है। प्रसाद की यह अस्पष्टता ऐसी है जिसे 'कहते न बने सहते ही बने, मन ही मन पीर पिरौबो करै।'

प्रसाद के शब्दकोश में सभी छायावादी कवियों की अपेक्षा आंगिक चेष्टाओं और प्रणय-लीलाओं सम्बन्धी पदावली अधिक मिलती है। विभ्रम, सम्भार, व्रीड़ा, अधरदंशन, नर्ममय उपचार आदि न जाने कितने क्रिया-व्यापार उनके यहाँ शब्दों में चित्रित हो उठे हैं। नारी की विविध चेष्टाओं या सूक्ष्म अंकन करने में प्रसाद जी ने अद्भुत पदविन्यास शक्ति का परिचय दिया है। इसी तरह नाट्य और संगीत सम्बन्धी

उपादानों और पारिभाषिक शब्दों को उपमा की तरह व्यवहृत करने में भी प्रसाद जी की रुचि अधिक देखी जाती है। इस क्षेत्र में निराला ही प्रसाद के निकट खड़े हो सकते हैं। मींड, मूर्छना, विपञ्ची आदि तो उनके यहाँ आम बात है; वहाँ पलकें भी झुकती हैं तो 'यवनिका' की तरह और मनु अपने को 'अधम पात्र-मय-सा विष्कंभ' अनुभव करते हैं।

प्रसंगगर्भत्व प्रसाद की पदावली का विशेष तत्त्व है। वैसे तो प्राचीन आर्ष-काव्यों में प्रयुक्त शब्दों का जीर्णोद्धार निराला, पंत और महादेवी ने भी किया, लेकिन प्रसाद ने संभवतः सबसे अधिक किया। उनके नाटकों ने तो प्राचीन सामंतयुगीन सामाजिक जीवन के उपादानों का जीर्णोद्धार किया ही, उनकी कविताओं और कहानियों में भी अनेक प्रसंगगर्भी शब्दों के द्वारा 'स्मृत्याभास कल्पना' को जाग्रत करने में योग दिया। उद्गीथ, सविता, क्रतु, पुष्पलावी, मंगलखीलज, भूमा, अर्चि, चषक, स्वर्णशालियों की कलमें, सौदामिनि संधि, कादम्बिनी, निनाद, शिला-संधि, वात्या, मज्या, वन्या, कुल्या, शैलेय, अगरु, प्रालेय, अलक, कबरी, रत्नाभि, चमर, अलम्बुषा आदि अनेक शब्द विविध अनुषंगों से अनुस्यूत हैं। यदि कहीं अकेले प्रसाद जी के ही शब्दों का एक कोश बनाया जाय तो हिन्दी शब्दकोश में उनकी अमूल्य देन का ठीक-ठीक मूल्यांकन हो सके। निराला की तरह प्रसाद जी ने नये-नये शब्द नहीं गढ़े बल्कि उन्होंने पुराने प्रचलन-रुद्ध शब्दों को गतिशीलता प्रदान की।

कुल मिलाकर प्रसाद जी की पदावली के विषय में यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि उससे हिन्दी भाषा समृद्ध हुई है। कुछ लोगों का यह अनुमान है कि वे मोहवश यों ही कुछ श्रुतिरंजक और नादानुकृत मधुर शब्दों को एकत्र कर देते थे जिससे कोई न कोई अर्थ निकल ही आता था। यह नितान्त भ्रम है। प्रसाद जी की आरम्भिक रचनाओं में यह प्रवृत्ति थोड़ी-बहुत हो सकती है किन्तु सतर्क कवि और लेखक प्रसाद में यह अंध-मोह कहीं नहीं मिलता। उनके पद-चयन में क्रमिक विकास स्पष्ट रूप से लक्षित किया जा सकता है। '*बभ्रुवाहन*' और '*उर्वशी*' आदि गद्य-खंडों से '*आकाशदीप*' तक का विकास चंडीप्रसाद 'हृदयेश' से ठेठ छायावादी 'प्रसाद' तक का विकास है। इसके बाद 'सालवती' तक जाते-जाते भाषा की अलंकृति वास्तविकता के अधिक निकट तथा यथार्थ से धुल उठती है। विकास की यह सोपान-पंक्ति नाटक और कविता में भी देखी जा सकती है।

अलंकृति-विधान भी पदावली से ही जुड़ा हुआ है। मोटे तौर से इस विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि 'आँसू' तक प्रसाद पुराने ढंग के ही अलंकारों से लदे दिखाई पड़ते हैं और आगे भी वे सभी छायावादी कवियों से अधिक परिपाटी-विहित पाये जाते हैं।

लेकिन पदावली तो वाक्य की एकावली की एक मनका है। इसीलिए वाक्य-

विन्यास को ही भाषा की इकाई माना जाता है। शैली की विशेषता वाक्यों की भंगिमा में ही देखी जा सकती है। जैसा कि प्रसाद ने स्वयं कहा है, समीप के शब्द भी उस शब्द-विशेष का नवीन अर्थ द्योतन करने में सहायक होते हैं। शब्द का वास्तविक अर्थ वाक्य की गति से ध्वनित होता है।

जब प्रसाद के वाक्य-गठन पर विचार करने चलते हैं तो छायावादी कवियों के बारे में कहा हुआ वह कथन याद आता है कि वे वाक्य नहीं, शब्द लिखते थे। निःसन्देह छायावादी कवियों ने खड़ीबोली को कोमल काव्य के अनुकूल बनाने के लिए क्रियापदों का बहिष्कार किया। पंत जी ने तो 'है' को दो सींगों वाला कनक-मृग घोषित करके अपनी पंचवटी के पास फटकने तक न दिया। संयुक्त क्रियाओं की रोकथाम तो और भी हुई। क्रिया-पदों का काम कृदन्तज विशेषणों से लिया जाने लगा। 'है' और 'था' को वाक्य में अन्तर्मुक्त मान लेने की प्रथा-सी चला दी गई। यह कार्य सभी छायावादियों ने किया। प्रसाद लिखते हैं—

"मधुर विश्रान्त और एकान्त-
जगत का सुलझा हुआ रहस्य
एक करुणामय सुन्दर मौन
और चंचल मन का आलस्य !"

इससे खड़ीबोली की खरखराहट तो जरूर दूर हुई लेकिन उसके साथ उसकी जीवंतता भी चली गई। क्रिया-पदों के साथ उसकी क्रियाशीलता भी जाती रही। वह बोलचाल से दूर हो गई। वह गद्य से ही नहीं जीवन से भी दूर जा पड़ी। इस पर वैयाकरणों की कुढ़न उचित थी। कहना न होगा कि इस रोमैंटिक दौर में भी वाक्य-गठन की दृष्टि से उर्दू कविता ने बोल-चाल के गद्य का दामन न छोड़ा। सच कहें तो खड़ी-बोली की कविता का भाषा की दृष्टि से स्वाभाविक विकास उर्दू शायरी में ही मिलता है।

इस निष्क्रिय वाक्य-रचना की बीमारी छुआछूत से गद्य के दायरे में भी पहुँची। वहाँ क्रिया के अभाव में कृदन्तों ने 'कादम्बरी' के वाक्य-विन्यास का छोटा-मोटा उपनिवेश बसा दिया। निराला का 'वर्तमान धर्म' निबन्ध ऐसी ही भाषा के कारण 'साहित्यिक सन्निपात' कहा गया। पंत के 'पल्लव' के 'प्रवेश' में भी इस शैली के नमूने काफ़ी मिल सकते हैं। प्रसाद के 'उर्वशी', 'बभ्रु वाहन' आदि गद्य खण्डों में इनकी बहार है—

"कौं ही पट-पंचानन करते तथा चन्द्रिका में चमत्कृत चनरीक मंजु गुंजित प्रफुल्ल पुष्पावली पर दृष्टिपात करते हुए युवक पथिक मान्धाता के बताये स्थान पर सब वस्त्र और शस्त्र उतारकर सन्ध्यावन्दन के लिए सरोवर के सुरम्य तीर पर गया।"

ऐसे महावाक्य उन उदाहरणों की याद दिलाते हैं जिनमें एक ही वाक्य में आठों कारकों का प्रयोग दिखाया जाता है; लेकिन यहाँ तो पूर्वकालिक, वर्तमान कृदन्त आदि

न जाने कितने प्रयोगों को एक ही वाक्य में जोत दिया गया है; भले ही उसे पढ़ते-पढ़ते पाठक का दम टूट जाय। लेकिन धीरे-धीरे प्रसाद जी में संस्कृत वाक्य-रचना की यह प्रवृत्ति कम हो गई। समासों में भी आरम्भ की 'कोकिल-कण्ठ-विनिर्गत-काकली' छिन्न और छिन्न हुई। फिर भी संस्कृत वाक्य-रचना का जितना प्रभाव प्रसाद पर है उतना निराला के आलोचनात्मक निबन्धों को छोड़कर और किसी छायावादी कवि-लेखक में नहीं मिलता। महादेवी की चक्करदार तथा द्राविड़ प्राणायाम वाली वाक्य रचना कुछ इससे भिन्न है। उसमें नैय्यायिकों की उस सतर्कता की झलक है जो वाक्य को जगह-जगह मोड़कर स्वरूपात्मक गुमड़ी बना देती है।

फिर भी अपूर्ण वाक्य लिखने की जैसी कुटेव प्रसाद जी ने दिखाई वैसी अन्यत्र दुर्लभ है, विशेषतः कविता में। उनकी प्रौढ़तम कृति 'कामायनी' में भी इसके नमूने भरे पड़े हैं। जैसे—

१. मनन करावेगी तू कितना ? *उस निश्चित जाति का जीव।*

२. कर *रहा* वंचित कहीं न त्याग तुम्हें, मन में धर सुन्दर वेश।

पहले उदाहरण में कर्ता-क्रिया दोनों गायब और दूसरे में सहायक-क्रिया ही नदारद। या तो कहीं 'हो' छूट गया है या 'तो'। 'त्याग तुम्हें कहीं वंचित न कर रहा हो' अथवा 'त्याग तुम्हें कहीं वंचित *तो* नहीं कर रहा है।'

अक्सर प्रसाद लम्बे वाक्य लिख जाते हैं लेकिन दो वाक्यों को जोड़ते समय पूर्वापर में काल-सम्बन्ध बैठाने भूल जाते हैं। जैसे—

१. *था* व्यथित सोचता आलस में, चेतना सजग *रहती* दुहरी।

२. करका क्रन्दन करती *गिरती* और कुचलना *था* उसका।

इसी तरह जहाँ 'हो सकता था' लिखने की जरूरत है वहाँ केवल 'हो सकता' से ही वे काम चलता करते हैं। 'था' के अर्थ में 'रहा' प्रयोग भी कामायनी में बहुत है। साधारण बोल-चाल में 'हम आए रहे', 'हम गए रहे' आदि प्रयोगों की तरह वे प्रयोग भी अशुद्ध माने जायँगे। 'चल' और 'जा' दो धातुओं से संयुक्त क्रिया बनाते समय प्रसाद प्रायः 'चल जा', 'चल जाती,' 'चल गई' आदि का निधड़क प्रयोग करते हैं जब कि वहाँ 'चली जा,' 'चली जाती' और 'चली गई' होना चाहिए।

ऐसे ही लुंज-पुंज वाक्यों के कारण प्रसाद के काव्य में अस्पष्टता की शिकायत प्रायः सुनने में आती है। कामायनी से ही उदाहरण लें—

१. उलझन प्राणों के धागों की सुलझन का समझूँ मान तुम्हें।

२. अवगुंठन होता आँखों का आलोक रूप बनता जितना।

३. हो चकित निकल आई सहसा जो अपने प्राची के घर से।
उस नवल चन्द्रिका से बिछले जो मानस की लहरों पर से॥"

अन्वय की यह कठिनाई कभी-कभी 'दूरान्वय' के कारण भी होती है—

"उद्‌वुद्ध क्षितिज की श्याम छटा इस उदित शुक्र की छाया में;
ऊषा सा कौन रहस्य लिये सोती किरनों की काया में।"

'छटा' कर्ता की क्रिया 'सोती' कितने चक्कर के बाद मिलती है। ऐसी गड़बड़ी बहुत कुछ विराम-चिह्नों के भ्रान्त-प्रयोग के कारण भी हुई है।

'परिव्राजक की प्रजा' मे अपने संस्मरणों के बीच श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी ने प्रसाद की भाषा के विषय में जो यह तथ्य लक्षित किया है, वह बहुत-कुछ ठीक है कि 'प्रसाद जी का गद्य विशृंखल और ऊबड़-खाबड़ था। उन्होंने भाषा का अभ्यास नहीं किया था, भाव के आवेग में उनके वाक्य प्रायः लुण्ड-मुण्ड शिलाखण्डों की तरह लुढ़कते रहते थे।'

इतना होते हुए भी प्रसाद रुचिर गद्य के शिल्पी थे। भूखामरी उनके यहाँ कहीं न मिलेगी। सर्वत्र उनकी शैली मे एक प्रकार की अभिजात गरिमा मिलती है। तनिक भी ओछापन वहाँ नहीं है। उनकी स्थापना में तुंगता और वैभव है, तो विरोध और खण्डन में भी भव्यता और ऊर्जस्विता। स्वच्छता उतनी नहीं जितनी उज्ज्वलता है। प्रायः लोगों ने उनके 'प्रसाद' नाम का लाभ उठाकर उनकी शैली में प्रसाद-गुण बतलाया है, लेकिन यह कथावाचकी चमत्कार की अपेक्षा और कुछ नहीं है। प्रसाद की भाषा उतनी प्रसन्न और विशद नहीं है जितनी 'प्रसाद' गुण के लिए होनी चाहिए। लालित्य उनके यहाँ अवश्य है; वर्णों की भास्वरता भी है; पदों के अनुरणन में हल्की मिठास से भरी मंजुल गूँज भी सुनाई पड़ती है। लेकिन सर्वत्र एक रस मध्ययुगीन मंथरता-सी है; क्षिप्रता बहुत कम है। उनमे निराला की भाषा-शैली की तरह विविधता नहीं है; नाटक, कहानी और उपन्यास सर्वत्र पात्रों की भाषा एक-सी है। हर जगह एक ही जबान चलती है और वह प्रसाद की है। लेकिन भाषा के इस सिक्के पर प्रसाद के अपने व्यक्तित्व की इतनी गहरी छाप है कि उसे कोई अपने नाम से चलाते हुए तुरन्त पकड़ जायगा। कुल मिलाकर प्रसाद की भाषा-शैली मे रचनात्मक संभावनायें न्यूनतम हैं। इसीलिए वह निर्वंश गई। 'रचनात्मक संभावना' तो उस युग के एक ही साहित्यकार की भाषा में थी और वे थे प्रेमचंद।

६

प्रसाद और हिन्दी-साहित्य में नया यथार्थवाद

[रामविलास शर्मा]

अप्रैल १९३७ में 'हंस' में प्रसाद जी का एक लेख छपा है—'आदर्शवाद और यथार्थवाद'। इसका पहला ही वाक्य है—"हिन्दी के वर्तमान युग की दो प्रधान प्रवृत्तियाँ हैं जिन्हें छायावाद और यथार्थवाद कहते हैं।"

प्रेमचन्द को संसार छोड़े अभी एक साल पूरा न हुआ था।

प्रसाद का दूसरा उपन्यास 'तितली' चार साल पहले छप चुका था। 'तितली' के प्रकाशित होने से कुछ पहले निराला 'देवी' और 'चतुरी चमार' की सृष्टि कर चुके थे। छायावादी कवियों की इन नई कृतियों के प्रकाश में आने के बाद 'गोदान' जनता के सामने आया।

सन् '३० के बाद हिन्दी-साहित्य के विकास-क्रम में जो परिवर्तन हो रहे थे, उन्हें समझने के लिए प्रसाद और निराला की इन कृतियों की प्रकाशन-तिथि याद रखनी चाहिए। उस समय प्रगतिशील लेखक संघ का जन्म न हुआ था; उस समय गांधीवाद को चुनौती देने के लिए कोई विरोधी विचारधारा सामने न आई थी। लेकिन इन दो प्रमुख छायावादी कवियों ने हिन्दी-साहित्य को एक नई दिशा में मोड़ना आरम्भ कर दिया था और यह दिशा एक नये यथार्थवाद की थी।

यह नया यथार्थवाद अज्ञात कुलशील न था; उसकी अपनी एक परम्परा थी। प्रसाद ने उसका सम्बन्ध भारतेन्दु युग के साथ राष्ट्रीय जागरण से जोड़ा था। उन्होंने अपने उसी निबन्ध में लिखा था—"श्री हरिश्चन्द्र ने राष्ट्रीय वेदना के साथ ही जीवन के यथार्थ रूप का भी चित्रण आरम्भ किया था।" और—"यद्यपि हिन्दी में पौराणिक युग की भी पुनरावृत्ति हुई और साहित्य की समृद्धि के लिए उसके लेखकों ने नवीन आदर्शों से भी उसे सजाना आरम्भ किया, किन्तु श्री हरिश्चन्द्र का आरम्भ किया हुआ यथार्थवाद भी पल्लवित होता रहा।"

प्रसाद भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को ही हिन्दी-साहित्य में नये यथार्थवाद का सूत्रपात करने वाला समझते थे। सन् '३० के बाद प्रसाद और निराला ने 'तितली', 'देवी', 'चतुरी चमार' आदि रचनाओं में जिस यथार्थवाद को प्रतिष्ठित किया, वह भारतेन्दु युग से चली आती हुई स्वाधीनता-प्रेमी साहित्य-परम्परा का अगला विकास था।

नये यथार्थवाद की विशेषताएँ बताते हुए प्रसाद ने लिखा था—"यथार्थवाद की

विशेषताओं में प्रधान है लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात।''

लेकिन साहित्य में राजकुमारों को नायक बनाने के बदले लघुता की तरफ़ निगाह क्यों उठी? प्रसाद ने अपने निबन्ध में दिखलाया है कि यह नया यथार्थवाद सामन्तों के रोबदाब और धर्म के आडम्बर को भेदकर साहित्य में जनसाधारण की प्रतिष्ठा कर रहा था।

उन्होंने लिखा था—''भारतीय नरेशों की उपस्थिति भारत के साम्राज्य को बचा नहीं सकी। फलतः उनकी वास्तविक सत्ता में अविश्वास होना सकारण था। धार्मिक प्रवचनों ने पतन में और विवेक दम्भपूर्ण आडम्बरों ने अपराधों में कोई रुकावट नहीं डाली। तब राजसत्ता कृत्रिम और धार्मिक महत्त्व व्यर्थ हो गया और साधारण मनुष्य जिसे पहले लोग अकिंचन समझते थे वही क्षुद्रता में महान् दिखलाई पड़ने लगा। उस व्यापक दुःख संवलित मानवता को स्पर्श करने वाला साहित्य यथार्थवादी बन जाता है। इस यथार्थवादिता में अभाव, पतन और वेदना के अंश प्रचुरता से होते हैं।''

प्रसाद ने मानो इन्हीं वाक्यों को चित्रमय रूप देने के लिए 'तितली' की रचना की थी। 'तितली' एक अकिंचन नारी है जिसकी सम्पत्ति छिन गई है, पति जेल चला गया है, गाँव के लोग उसे कलंकिनी कहकर उसके विरुद्ध प्रचार करते हैं लेकिन वह अकिंचन अपनी लघुता से ज़मींदार, पुलिस, कचहरी, कानून की फ़ौज के सामने अडिग रहती है। तितली हिन्दी कथा-साहित्य की एक वीर नारी है। वह प्रेमचन्द की सुमन और धनिया जैसी स्वावलम्बी और दृढ़ चरित्र वाली नारियों में है। नये यथार्थवाद की वह एक भव्य प्रतिमा है।

और मानों यह दिखाने के लिए कि धार्मिक प्रवचनों ने पतन में कोई रुकावट नहीं डाली, उन्होंने 'तितली' में सूदखोर महन्त का चित्र खींचा है जो अपनी शोषण-कला पर धर्म की रामनामी उसी कौशल से डालता है जिस कौशल से 'कर्मभूमि' का महन्त। इसके सिवा वह विलासी भी है, वेश्याएँ ही नहीं; कुलवधुओं पर भी हाथ उठाते उन्हें लज्जा नहीं आती।

'तितली' का मधुबन 'प्रेमाश्रम' के बलराज और 'कर्मभूमि' के लड़ाकू किसानों का प्रतिनिधि है। उसकी वीरता, स्वाभिमान, निःस्वार्थ पर-सेवा आदि गुण उसे कथा-साहित्य का अनुपम पात्र बना देते हैं। मधुबन में कोई अवगुण है तो यह कि वह निष्क्रिय नहीं है, भाग्यवादी नहीं है, उसके कष्ट सहने की सीमा है, वह सीमा पार होते ही उलट कर हमला करने के लिए तैयार हो जाता है।

मधुबन और तितली—स्वाभिमान और अपनी भूमि के लिए दृढ़ता से लड़ने वाले हिन्द प्रदेश के वीर किसान हैं। प्रसाद ने जनता के नैतिक गुण उनमें चमत्कारी ढंग से व्यक्त किये हैं। हिन्दुस्तानी किसान के हृदय में अन्याय देखकर लाठी उठा लेने की जो स्वाभाविक लालसा है, उसे मधुबन में साकार कर दिया है।

सन् '३० के बाद 'तितली', 'देवी', 'चतुरी चमार' का प्रकाशन कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। ग़ुलामी की चक्की में पिसते-पिसते हिन्दुस्तानी जनता का जीवन भार-स्वरूप हो गया था। सन् '३० के आन्दोलन ने उसके जीवन में कोई परिवर्तन न किया, ग़ुलामी का जुआ उतार फेंकने के लिए काँग्रेस का बताया हुआ रास्ता बेकार साबित हो रहा था। इसलिए हिन्दी के समर्थ कलाकार साहित्य में ऐसे पात्रों की सृष्टि कर रहे थे जो पुराना रास्ता छोड़कर बाहुबल का भरोसा करना सीख रहे थे। नया यथार्थवाद इस नये इन्सान को चित्रित करता था, जो भाग्य के बदले अपना भरोसा करता था, जो धर्म के आडम्बर के भीतर उसके असली स्वार्थ को पहचान लेता था, जो सामाजिक रूढ़ियों को रौंदता हुआ सच्चे मानव-प्रेम को जीवन का आदर्श मानता था।

प्रसाद ने 'तितली' में प्रेमचन्द की तरह महन्तों के धर्म, जमींदारों के अत्याचार, नौकरशाही, पुलिस और क़ानून की हक़ीक़त जाहिर कर दी है। 'तितली' एक सुन्दर कलापूर्ण उपन्यास ही नहीं है, वह जनता को शिक्षित करने का अपूर्व ग्रन्थ भी है। इसी उपन्यास में प्रसाद ने दिखाया है कि मुट्ठी भर आदमी लाखों आदमियों का शोषण विलायत में भी करते हैं। उनकी स्वाभाविक सहानुभूति ब्रिटेन में पीड़ितों के साथ है।

प्रसाद ने जमींदार इन्द्रदेव को वैराग्य लेते दिखाया है लेकिन तितली को उससे कोई लाभ नहीं होता। उसका बेटा मोहन उपन्यास के अन्त में अपने पुराने घर और जमीन के लिए लड़ने की तैयारी करता हुआ दिखाई देता है। 'तितली' में प्रसाद ने दिखलाया है कि जब तक किसान जमीन का मालिक नहीं होता तब तक ग्राम-सुधार की सब योजनाएँ व्यर्थ होंगी।

ग्राम-सुधार योजनावालों से तितली कहती है—"जमींदार साहब के रहते वह सब कुछ नहीं हो सकेगा। सरकार कुछ कर नहीं सकती। उन्हें अपने स्वार्थ के लिए किसानों में कलह करानी पड़ेगी। अभी-अभी देखिये न, घूर के लिए मुकदमा हाईकोर्ट में लड़ रहा है। तहसीलदार को कुछ मिला। उसने वहाँ के एक किसान को उभाड़कर घूरान फेंकने के लिए मारपीट करा दी। वह घूर फेंकना बन्द कराकर उस टुकड़े को नज़राना लेकर दूसरे के साथ बन्दोबस्त करना चाहता है। यदि आप लोग वास्तविक सुधार करना चाहते हो तो खेतों के टुकड़ों को निश्चित रूप में बाँट दीजिये और सरकार उन पर मालगुज़ारी लिया करे।"

इस पर त्यागी जमींदार ने कहा—"अरे, मैं तो अब जमींदार नहीं हूँ।"

तितली ने छूटते ही जवाब दिया—"हाँ, आप जमींदार नहीं हैं तो क्या, आपने त्याग किया होगा। किन्तु उससे किसानों को तो लाभ नहीं हुआ।"

तितली के मुँह से यह कटु टिप्पणी कराके प्रसाद ने जमींदारों के त्याग को व्यर्थ साबित कर दिया। मानों भूमिदान पर वह सन '३४ ही में अपनी सम्मति लिख गये थे।

ग्रामसुधारक कहते हैं—"किन्तु तुम तो ऐसा स्वप्न देख रही हो जिसमें आँखें खुलने की देर है।"

तितली जवाब देती है—"यह ठीक है कि मरने वाले को कोई जिला नहीं सकता पर उसे जिलाना ही हो, तो कहीं अमृत खोजने के लिए जाना पड़ेगा।"

यानी जमीन किसान को मिलनी ही चाहिए। भूमि-समस्या हल किये बिना ग्राम-सुधार मृत शरीर में संजीवनी नहीं डाल सकते।

तितली में गंगा के कछार, वसन्त के उत्सव, महन्तों के अत्याचार, कलकत्ते में रिक्शा खींचने वाले का जीवन मनुस्मृति सुनाकर व्याख्यान देने वाले वीरू की धूर्त लीला, मजदूरों को पशुतुल्य जीवन बिताने पर बाध्य करने वाली व्यवस्था, जगह-जगह व्यंग्य और हास्य की अद्भुत छटा प्रसाद को नये यथार्थवाद के एक महत्त्वपूर्ण चितेरे के रूप में प्रस्तुत करते हैं। उन्होंने जिस लघुता की ओर दृष्टिपात करने की बात कही थी, उसके महत्त्व को उन्होंने सरल ढंग से व्यक्त किया है।

कथा-साहित्य में जनसाधारण की प्रतिष्ठा के काम को प्रसाद ने और आगे बढ़ाया। भारतेन्दु और प्रेमचन्द की परम्परा और बलवती हुई। प्रतिक्रियावाद खूब शोर मचा रहा है।—धर्म गया, अहिंसा गई, भारतीय संस्कृति का सत्यानाश हो गया लेकिन प्रसाद के मधुवन ने स्वत्व-रक्षा का प्रण कर लिया है, उसे कौन रोक सकता है? और उसके साथ जो तितली है वज्र की बनी है, जिस में नियति को भी चुनौती देने का साहस है।

प्रेमचन्द, प्रसाद और निराला ने कथा-साहित्य में नये यथार्थवाद को प्रतिष्ठित किया। यह यथार्थवाद भारतीय जनता के संघर्ष को चित्रित करता है, उसे संघर्ष की प्रेरणा देता है, अपने शत्रुओं को पहचानने की निगाह देता है। भारत की जनता उन दिनों से आज और भी त्रस्त है जब 'तितली', देवी', 'चतुरी चमार', और 'गोदान' रचे गये थे।? इसीलिए प्रेमचन्द-प्रसाद-निराला के शुरू किये हुए यथार्थवाद की ऐतिहासिक अनिवार्यता अभी समाप्त नहीं हुई। इसीलिए तमाम भ्रमजाल फैलाने के बावजूद हिन्दी-कथा-साहित्य तितली और गोदान की परम्परा को आगे बढ़ा रहा है और तब तक बढ़ायेगा जब तक मधुवन, तितली, होरी, चतुरी और उन जैसे करोड़ों मानव अपनी धरती पर खड़े होकर स्वाधीनता से साँस न लेंगे।

धर्म, अहिंसा और भारतीय संस्कृति की दुहाई जनता को रोकने में असमर्थ हो रही है। इसीलिए दुहाई देने वालों का कोलाहल बढ़ रहा है। फिर भी जनता एक होकर आगे बढ़ने को तैयार हो रही है।

७

प्रसाद का गीति-काव्य

[रामेश्वर लाल खण्डेलवाल]

'प्रसाद' की गीत-सृष्टि पर विचार करने से पूर्व 'गीत' नामक विशिष्ट कोटि की एक सूक्ष्म साहित्यिक रचना के स्वरूप का संक्षिप्त विश्लेषण करना कुछ उपयोगी होगा।

स्थूल दृष्टि से छंदोबद्ध रचना में भावात्मकता, अन्त्यानुप्रास, छन्द-विधान आदि गुणों की समानता के कारण गीत भी कविता के ही अन्तर्गत रखा जाता है किन्तु विचार करने पर वह अपने कुछ विशिष्ट गुणों के कारण कविता से सहज ही पृथक् किया जा सकता है। यद्यपि कविता अपने मूल व परिष्कृत रूप में अनुभूति-प्रधान रचना है फिर भी वह विषयाभिमुख (Objective) ही अधिक रहती है। इसीलिए उसमें व्याख्यात्मक, बौद्धिकता, विस्तार, विष्यात्मकता और तथ्य-निरूपण आदि का कुछ-न-कुछ अवकाश बना ही रहता है। प्रसिद्ध अंग्रेज समालोचक मैथ्यू ऑर्नेल्ड (Matthew Arnold) ने 'कविता जीवन की समालोचना है।' (Peotry is the criticism of life) कहकर मानों इसी बात की ओर संकेत कर दिया है। किन्तु गीत एक अपेक्षाकृत अधिक अनुभूतिनिष्ठ (Subjective) आत्मसंवेदनात्मक व सूक्ष्म रचना है। उसमें विषय या तो निमित्तमात्र होता है या होता ही नहीं। गीतों के जितने प्रकार होते हैं उनमें से कुछ प्रकार के गीत अपनी गेयता के कारण गीत भले ही कहलायें किन्तु विषयप्रधानता, वर्णनात्मकता, व्याख्या आदि के कारण उनमें अवश्य ही उन तत्त्वों का अभाव होता है जो गीत में समाविष्ट होकर उसके मार्मिक प्रभाव को हृदय के गूढ़तम स्तरों तक पहुँचने में समर्थ होते हैं। यह बात दूसरी है कि लोक-हृदय या किसी सामयिक रुचि का प्रतिनिधित्व करने के कारण वे जनता में व्यापक प्रचार पा जाते हैं। संभवतः इसी व्यापकता के कारण ही ये भी लोक-गीत कहे गये हैं। इसके विपरीत वे कविताएँ भी, जो लम्बी व विश्लेषणात्मक भले ही हों, गीति-काव्यों के तत्त्वों से सम्पन्न होने के कारण गीति-काव्य ही कहलायेंगी—जैसे कालिदास का 'मेघदूत', जयदेव का 'गीत गोविन्द' और प्रसाद का 'आँसू' आदि। अभिप्राय यह कि कविता एक विषय-प्रधान ही रचना है और गीत शुद्ध अनुभूति-प्रधान। गीत का प्रमुख लक्षण उसकी संकेतात्मकता, प्रतीकत्व, ध्वन्यात्मकता (Suggestiveness), अनुभूति की सूक्ष्मता व कोमलता, लाघव तथा अन्विति आदि हैं। कोमल-काय शुद्ध गीत कविता की व्याख्यात्मकता या विषय-विवेचना का भार उठाने में असमर्थ

नहीं होता। गीत-वर्ग में गीत व प्रगीत का भी आगे और अन्तर किया गया है। गेय मुक्तक, अपनी व्यंजना से जब समस्त मानव-हृदय का प्रतिनिधित्व या समर्थन प्राप्त कर लेता है, गीत कहलाता है। किन्तु यदि यह व्यक्तिगत अनुभूति का वैचित्र्य या वैलक्षण्य मात्र ही प्रकट करके रह जाता है तो प्रगति कहलाने लगता है।

गीत-रचना का कोई एक निश्चित तंत्र (Technique) या विधि-विधान नहीं है। भावोच्छ्‌वास की सहज-स्वाभाविकता, निश्छलता, तीव्रता व गम्भीरता तथा उसकी मार्मिक अभिव्यक्ति ही बहुत-कुछ उसके स्वरूप को निर्धारित कर देती है। उसकी सफलता का यदि कोई निर्णायक हो सकता है तो यही कि वह *अनायास* ही हमारे *अस्तित्व* को झंकृत कर दे, हृदय के गम्भीरतम स्तरों में निवास करने वाली वृत्तियों को जाग्रत करके उन्हें तृप्त, पुष्ट व स्वस्थ करदे, आन्तरिक विषाद व क्लांति का प्रक्षालन कर दे, हमारी चेतना को प्रबुद्ध करके उसे प्रकाश स्नान करा दे तथा कुछ क्षणों के लिए हमारी अन्तः-सत्ता को रस से सराबोर कर दे।

गीत कई प्रकार के हो सकते हैं। बा० गुलाबराय जी ने चतुर्दशपदी, सम्बन्ध-गीत, शोकगीत, व्यंग्यगीत, विचारात्मक गीत, उपदेशात्मक गीत आदि भेद करते हुए छाया-वाद-रहस्यवाद में प्रकृति-सम्बन्धी, आध्यात्मिक विरह-मिलन सम्बन्धी, गांधीवाद से प्रभावित राष्ट्रीय गीत व लौकिक प्रेमगीत का अस्तित्व माना है। श्री कन्हैयालाल सहल ने अपने 'आलोचना के पथ पर' नामक ग्रन्थ में गीत के धर्ममूलक, स्वदेश-प्रेममूलक, प्रेममूलक, प्रकृतिमूलक, चतुर्दशपदी, स्तवनगीत, दर्शनमूलक, शोक-गीति व मधु गीत आदि भेदों का उल्लेख किया है। संक्षेप में ये सब भेद मोटे तौर पर इन वर्गों में रखे जा सकते हैं—*वीर-गीत, दार्शनिक गीत, शोक-गीत, देश-प्रेम के गीत, प्रकृति-विषयक गीत,* भक्ति-गीत व प्रेम-गीत। गीत-रूप व विषय-भेद की दृष्टि से इनका मनचाहा विस्तार किया जा सकता है। वीर-गीतों में वीरपूजा की भावना में वीरों की प्रशस्ति होती है। दार्शनिक गीतों में प्रपंचात्मक जगत् व संघर्षपूर्ण जीवन के घात-प्रतिघातों से उत्पन्न सुख-दुःखमूलक बहुमुख अनुभवों की शृंखला में प्राप्त गम्भीर जीवन-तथ्यों का रागात्मक अभिव्यंजन होता है। शोक-गीतों में अपने प्रियजन के नाश अथवा अनिष्ट-प्राप्ति पर उत्पन्न भावावेग का करुण निरूपण होता है। देश-प्रेम के गीतों में अपनी मातृभूमि के प्रति या उसकी रूप-माधुरी का पावन ध्यान मुखरित हो उठता है। प्रकृतिविषयक गीतों में प्रकृति के चित्र अंकित किये जाते हैं और प्रकृति-दर्शन से हृदय से जो मुक्ति की आनन्द-तरंग उमड़ती है, उसका अभिव्यंजन होता है। भक्ति-गीतों में अपने आराध्य देवता के प्रति स्थापित पावन प्रेम-सम्बन्धी की एकांतिक भावधारा उमड़ पड़ती है। प्रेम-गीतों से प्रणयीजनों के द्वारा अनुभूत विरह-मिलन की मर्ममधुर अनुभूतियों का चित्रण होता है। गीतों का यह भेद ही साहित्य में सर्वाधिक व्यापक रहता है।

सृजन-प्रेरणा या कामवृत्ति सृष्टि की मूल प्रेरणा है जो मानव-हृदय की भित्तियों में अनादि वासना के रूप में विद्यमान है। एकोऽहं बहुस्याम् तथा 'स एकाकी'। आदि उपनिषद् की उक्तियों में निराकार ब्रह्म को इसी भावना की मूल प्रेरणा से सगुण रूप प्रदान कर सृष्टि की आनन्दमूलकता प्रतिपादित की है। यही परिष्कृत कामवृत्ति जो हमें 'रसो वै सः' की अनुभूति कराती है, हमारे जीवन के सुखात्मक व दुःखात्मक सभी क्रिया-कलापों के मूल में है और जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में सदा उनका नियमन या संचालन कर रही है। इसी वृत्ति को हम साहित्य में रतिभाव कहते हैं। यह भाव अपने मूल रूप में बड़ा ही परिष्कृत व उदात्त है और हृदय को शृंगार की सर्वोच्च अवस्था अथवा रस में निमग्न कर आनन्दानुभव कराता है। यह रतिभाव हृदय की सत्ता के मूल में है अतः इसका क्षेत्र मानव-जीवन में सबसे व्यापक है। यही रति हमारे प्रणय सम्बन्ध, ईश्वर-सम्बन्ध, देश-सम्बन्ध आदि में अपने प्रोज्ज्वल रूप में तत्त्व रूप से परिव्याप्त है। अपने-अपने क्षेत्र में यही वृत्ति अपने सुचारू क्रिया-कलाप से मानव को आनन्दानुभव कराती है। रति-मूलक सभी प्रेम-सम्बन्ध अपने-अपने क्षेत्र में अपनी विशिष्ट मर्यादाओं के साथ हृदय को भाव या रस की अनुभूति कराते हैं किन्तु प्रणयमूलक रति का विस्तार सामान्य मानव-हृदय पर सर्वाधिक है। अतः जिन गीतों में प्रणयमूलक रतिभाव को जाग्रत करने की सर्वाधिक क्षमता है वे सर्वाधिक आनन्द या रस का अनुभव कराते हैं। इसीलिए साहित्य में आचार्यों ने प्रणयमूलक रतिभाव पर आधारित शृंगार रस को रसराजत्व प्रदान किया है।

इस व्यापक दृष्टि से देखने पर परिष्कृत काम-वृत्ति ही अनुभूतिमूलक गीतों की मूल प्रेरणा है। यों बाह्य अथवा स्थूल रूप से गीतों की मूल प्रेरणा बाह्य जगत् के दुःख-द्वन्द्व ही दिखाई पड़ते हैं। अपने शून्य क्षणों में कवि जब जीवन के प्रवाह से कुछ क्षणों के लिए कटकर जीवन की नश्वरता व संसार की क्षणभंगुरता पर विचार करके दार्शनिक उद्‌गार व्यक्त कर उठता है तब भी गीत का जन्म हो जाता है। कभी वह आत्मा की अमरता की आनन्दमयी भावना में डूबकर जन्म-मृत्यु के बन्धनों को तोड़ फेंकता है और प्रभात के प्रथम विहग की तरह रोम-रोम से पुलकित व उल्लसित होकर रस-विभोर हो चहक उठता है तब भी रसमय गीत की सृष्टि हो जाती है। कभी जब वह इस भावना से खिन्न हो उठता है कि प्रकृति का कण-कण यहीं रह जायगा और मैं सब दिनों के लिए समाप्त हो जाऊँगा तब भी कवि की प्राण-विपंची से गीत के स्वर फूट पड़ते हैं। यथा—

"कलिके ! मैं चाहता तुझे उतना जितना यह भ्रमर नहीं !
वरी तटी की दूब ! मधुर तू उतनी जितना भ्रमर नहीं !
किसलय ! तू भी मधुर, चन्द्रवदनी निशि ! तू मीठी रानी,
दुख है, इस आनन्द-कुंज में मैं हो केवल भ्रमर नहीं !"

—दिनकर (रेणुका)

संसार में किसी न-किसी रूप में हमारा अस्तित्व इस भूमण्डल पर बना रहे—मानव-हृदय की यह एक परम मधुर लालसा है। कितने कवि आज तक न जाने इस भावना के प्रवाह में बहकर अपने अनमोल गीत छोड़ गये हैं। कोरी कीर्ति की कामना व धन की कामना से भी प्रेरित होकर गीत लिखे गये हैं किन्तु उनमें वैसा स्पन्दन कहाँ मिल सकता है?

यह है गीत का द्रव या तत्त्व जिसे हम अनुभूति कहते हैं। यही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है किन्तु व्यावहारिक अभिव्यक्ति के क्षेत्र में तो इस सामग्री के सफल विन्यास पर ही गीत का सारा सौन्दर्य निर्भर करता है। इसके लिए रमणीय कल्पना, भावानुकूल भाषा व उपयुक्त छन्द-विधान की आवश्यकता होती है। गीत में अनुभूति-तत्त्व ही प्रमुख रहता है। जहाँ कल्पना ही प्रमुख हो जाती है वहाँ हम सूत्रों पर ही रीझकर रह जाते हैं, रस में मग्न नहीं होते। कल्पना, भाव या अनुभूति को पाठक के हृदय तक पहुँचाकर उसमें रमणीयता उत्पन्न करने का महत्त्वपूर्ण साधन है। गीत की भाषा में ऐसी स्निग्ध, सुचिक्कण, प्रवाहपूर्ण, कोमलकान्त पदावली अपेक्षित होती है जो वर्ण-कटु वर्णों, द्वित्व वर्णों, लम्बे समासों आदि से रहित हो और छन्द-प्रवाह में बिना खड़-खड़ किये यह चलने वाली हो। प्रतीकों के बल से थोड़े में अधिक व्यंजित करने का कार्य भी शब्दों द्वारा ही लिया जाता है। यद्यपि गीत हृदय की वेगवती अनुभूतियों का निश्छल और आडम्बरहीन प्रकाशन है किन्तु श्रेष्ठ गीतिकार कवि अपनी भाषा में पर्याप्त साहित्यिक संयम से काम लेते हैं। छन्द भी गीत की प्रभाव-सिद्धि का महत्त्वपूर्ण साधन है। भावना के आरोह-अवरोह के अनुरूप ही छन्द के चरणों की द्रुतमन्थर गति योजना नादानुरंजकता उत्पन्न कर गीत के प्रभावोत्कर्ष में अत्यधिक सहायक होती है। तुक, वर्णानुप्रास, छन्द-रूप व लय-प्रवाह पर गीतों की सुकुमार भावना की प्रेषणीयता बहुत कुछ निर्भर रहती है।

रचना-कौशल में इन सब बातों पर ही ध्यान देने मात्र से गीत सुन्दर नहीं बन पड़ता। सब अवयवों का यथास्थान सन्निवेश होने पर भी यह आवश्यक है कि गीत की भावना में आद्यन्त एक अन्विति (Unity) या तारतम्य हो जिसमें सब भावना-तन्तु बड़ी दृढ़ता व स्निग्धता से संगुम्फित हों। यदि गीत की मूल या केन्द्रीय भावना के बीच तुक आदि मिलाने या किसी सुन्दर शब्द या पदावली के प्रयोग के लोभ का संवरण न कर सकने के असंयम के कारण जान या अनजान में किसी विरोधी, असंगत या अवांछित भाव-सूत्र या विचार का प्रवेश हो गया तो गीत के प्रभाव में व्याघात पड़ जायगा। यदि इस दृष्टि से भी गीत में कोई त्रुटि न रही तो फिर भी अन्तिम आवश्यकता यह बनी रहेगी कि सारा गीत समस्त मानव-हृदय की उसी भावना को वाणी दे रहा हो जिससे कि उस गीत के सम्य कवि के समानान्तर या समानधर्मा हृदय का भी पूर्ण साधारणीकरण हो जाय।

मानव-हृदय का प्रतिनिधि होते हुए भी उसमें सांस्कृतिक उदात्तता का गम्भीर स्वर हो। इसके लिए यह आवश्यक है कि उसमें साहित्यिक शालीनता, मार्दव व सौष्ठव पूर्णरूपेण प्रदर्शित हो। यों गीत में प्रत्यक्ष व्यावहारिक बुद्धि की कहीं गुंजाइश नहीं, क्योंकि वह आत्मविभोर अस्तित्व का भाव-स्फोट है पर कला-पक्ष के सुविन्यास व सुचारुता के लिए परोक्ष रूप में—शब्द-चयन, अलंकार-विधान, छन्द-योजना, भाषा-लालित्य, अन्विति-निर्वाह आदि में—उसका पूर्ण उपयोग होता ही है। गीत पागल का प्रलाप मात्र नहीं है, वह जाग्रत व रसविभोर क्षणों की अत्यन्त संयत व गम्भीर वाणी है।

यों तो शास्त्रीय दृष्टि से गीत में मुख्यतः किसी एक संचारी भाव या मानसिक अवस्था मात्र का ही अभिव्यंजन होता है जो समस्त रस-चक्र का एक अंशमात्र है किन्तु गीत की लय, सुर, सहायक वाद्य-यन्त्र (यदि रंगमंच पर गाया जाय तो मंच-सज्जा व वातावरण) प्राकृतिक परिस्थिति, गायक का रूप-सौन्दर्य व मुद्रा आदि सब मिलकर एक ही सफल व सुन्दर गीत में उस पूर्ण रसवत्ता की स्थापना कर सकने में समर्थ माने जा सकते हैं जो किसी काव्य या नाटक में ही सम्भव कही जाती है। आनन्दवर्धनाचार्य ने अपने ध्वनि-सिद्धान्त से मुक्तकों में भी पूर्ण रसात्मकता का अनुभव करने का मार्ग प्रशस्त कर दिया है, यह सर्वविदित है। गीत में तो, उपरोक्त सहचारी उपकरणों के कारण रसानुभूति की ओर भी अधिक सम्भावना है। गीत एक लघु सृष्टि अवश्य है किन्तु अपने लाघव, शुभ्रता, विन्यास-चारुता व निर्दोष गठन में एक आत्मपूर्ण भव्य सृष्टि है—शुभ्र ओसकण की तरह। विद्वज्जन इस विषय पर और भी विचार करेंगे, ऐसी आशा है।

इस प्रकार गीत एक उच्च कोटि की साहित्यिक सृष्टि है जो कवि के समग्र अस्तित्व की संगीतमयी वाणी है। उसमें कवि की आन्तरिक भाव-विभूतियों तथा अभ्यास-प्राप्त या अर्जित कला-कौशल के एक ही साथ दर्शन होते हैं। जीवन-संघर्ष की मर्म-मधुर अनुभूतियों के ताप से जब कवि का सारा अस्तित्व पिघलकर उबलने लगता है और वह तरल रस बरबस छन्दों के साँचों में ढल जाना चाहता है तब हमें एक गीत मिलता है। गीत में ही कवि की सारी मनोग्रन्थियाँ स्वतः खुल पड़ती हैं। गीत-रचना के क्षणों में मानों कोई अज्ञात शक्ति ही कवि से गीत लिखवा जाती है।

> To him the mighty Mother did unveil
> Her awful face : the dauntless Child
> Stretched forth his little arms, and Smiled.
> This pencil take (She said, whose colours clear
> Richly paint the vernal year :
> Thine, too, these golden keys, immortal Boy !
> This can unlock the gates of Joy ;
>
> T. Gray : (Progress of Poesy)

शेक्सपियर को प्रकृति ने अपना रूप प्रकट करके दिखा दिया। उसने उसे अपनी लेखनी भी दे दी। गीत-रूपिणी वह कुंजी दे दी जो आनन्द के अक्षय भण्डार का द्वार खोलती है!

गीत-रचना के क्षणों में कवि का भौतिक जड़ अस्तित्व, अलौकिक चैतन्यपूर्ण और रसमय हो जाता है। उसका हृदय उन क्षणों में विश्व का सबसे सुन्दर व प्रकाशवान हृदय होता है। वह अपने व्यावहारिक जीवन-प्रवाह को विश्राम देकर कुछ क्षणों के लिए अपने हृदय को विश्व-हृदय के सामने इस प्रकार खोलकर रख देता है मानो अनन्त आकाश के सामने खुला हुआ उर्मिल महासिन्धु! ऐसे धन्य क्षणों में ही कवि के जीवन का द्वन्द्व छन्द और शोक श्लोक बन जाता है। गीत के लावण्य-सिन्धु में मिलकर उसके जीवन की समस्त कटुताएँ, विरोध, अभाव, क्रन्दन, पाप-ताप आदि रसमय हो ही जाते हैं। उसके व्यावहारिक, धार्मिक, दार्शनिक साहित्यिक खण्ड-अस्तित्व सब पिघलकर अखण्ड रस मात्र रह जाते हैं। वह अपने क्षुद्र अस्तित्व का लोक-हृदय में निःशेष विसर्जन करके सुख की साँस लेता है। इस आत्माभिव्यंजन का उसे तात्कालिक पुरस्कार मिलता है—स्फूर्तिशील उज्ज्वल, रसमय प्रकाशपूर्ण आत्म-सत्ता की अनुभूति। ऐसे एक गीत को पढ़ने या तन्मय होकर सुनने का लाभ पाठक के लिए अनन्त सुख का साधन है।

गीत के इस स्वरूप-विश्लेषण को ध्यान में रखकर अब हम प्रसाद के गीति-काव्य पर एक दृष्टि डालें।

'प्रसाद' के गीति-काव्य के अन्तर्गत उनके नाटकों में पात्रों के द्वारा गाये जाने वाले गाने तथा कविता-संग्रहों में संकलित गीत में दोनों ही प्रकार की रचनाएँ सम्मिलित हैं। ये सभी रचनाएँ शुद्ध साहित्यिक हैं अतः आलोच्य विषय के अध्ययन का आधार प्रस्तुत करती हैं। राज्यश्री, विशाख, अजातशत्रु, कामना, जनमेजय का नागयज्ञ, स्कन्दगुप्त, एक घूँट, चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी आदि नाटकों में 'झरना' और 'लहर' नामक कविता-संग्रहों तथा 'आँसू' नामक प्रबन्धात्मक मुक्तक काव्य में 'प्रसाद' के गीति-काव्य की सामग्री उपलब्ध है। अकेले नाटकों में ही १००-१२५ के लगभग गीत संकलित हैं। गीत प्रायः सभी प्रकार के हैं—शृंगारिक, दार्शनिक, भक्तिपरक, राष्ट्रीय व प्रकृति-सौन्दर्य-मूलक, किन्तु प्रधानता शृंगारिक गीतों की है। नाटकों में राज्यश्री के 'आशा विकल हुई है मेरी'; 'सँभाले कोई कैसे प्यार'; विशाख का 'आज मधु पीले यौवन वसन्त खिला!', अजातशत्रु के 'अली ने क्यों भला अवहेला की!', 'मीड़ मत खिंचे बीन के तार', 'बहुत छिपाया उफन पड़ा अब, सम्हालने का समय नहीं है!', 'चला है मन्थर गति से पवन रसीला नन्दन कानन का', कामना के 'गहन वन-वल्लरियों के नीचे', 'पीलो प्रेम का प्याला', 'छटा कैसी सलोनी निराली है', 'छिपाओगी कैसे', 'पृथ्वी की श्यामल पुलकों में'; जनमेजय का नागयज्ञ के 'अनिल भी रहा लगाये घात', 'मधुर माधव ऋतु की रजनी',

स्कन्दगुप्त के 'न छेड़ना उस अतीत स्मृति से खिंचे हुए बीन-तार कोकिल', 'संसृति के वे सुन्दरतम क्षण यों ही भूल नहीं जाना', 'भरा नैनों में मन में रूप', 'घने प्रेम-तरु तले', 'अगरु धूम की श्याम लहरियाँ उलझी हों इन अलकों से', 'आह! वेदना मिली विदाई!'; चन्द्रगुप्त के 'तुम कनक किरण के अंतराल में लुक-छिपकर चलते हो क्यों', 'आज इस यौवन के माधवी कुंज में कोकिल बोल रहा', 'कैसी कड़ी रूप की ज्वाला', 'सखे! वह प्रेममयी रजनी'; और ध्रुवस्वामिनी के 'यौवन! तेरी चंचल छाया!', 'अस्ताचल पर युवती सन्ध्या की खुली अलक घुँघराली है!' आदि शृंगारिक गीत बहुत मार्मिक, भावनापूर्ण व मादक प्रभाव उत्पन्न करने वाले हैं। संग्रहों में 'झरना' के 'खोलो द्वार', 'कौन, प्रकृति के करुण काव्य सा, वृक्ष पत्र की मधु छाया में', शून्य हृदय में 'प्रेम जलद-माला कब फिर घिर आवेगी?' तथा लहर के 'निज अलकों के अन्धकार में तुम कैसे छिप आओगे!', 'बीती विभावरी जाग री!', 'ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक! धीरे धीरे', 'आह रे वह अधीर यौवन', 'वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे!', 'मेरी आँखों की पुतली में तू बनकर प्राण समा जा रे!', 'काली आँखों का अन्धकार' आदि प्रेम-गीत बहुत ही मार्मिक हैं। इनमें से अधिकांश गीत बहुत लोकप्रिय हो चुके हैं। 'आँसू' विप्रलंभ शृंगार का सुप्रसिद्ध प्रेम-काव्य है जिसमें कवि की प्रेम-वेदना विश्व-व्यापी बनकर उदात्त व उज्ज्वल रूप धारण कर लेती है। दार्शनिक व भक्तिपरक गीतों में देवसेना का गीत 'सब जीवन बीता जाता है धूप-छाँह के खेल सदृश' (स्कन्दगुप्त); 'सखी री; सुख किसको हैं कहते?' तथा 'हृदय के कोने-कोने से' (विशाख); खेल लो नाथ विश्व का खेल' (कामना); 'जीने का अधिकार तुझे क्या ..', 'नाथ! स्नेह की लता सींच दो (जनमेजय का नाग यज्ञ); 'चंचल चन्द्र, सूर्य है चंचल' (अजातशत्रु) व 'कितने दिन जीवन-जलनिधि में' (लहर) आदि गीत पूर्ण रसात्मक व गम्भीर हैं। राष्ट्रीय व वीरत्वपूर्ण गीतों में 'हिमाद्रि तुंग शृंग से', 'अरुण यह मधुमय देश हमारा' (चन्द्रगुप्त); 'माँझी! साहस है खेलोगे', 'हिमालय के आँगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार' (स्कन्दगुप्त); 'पदवलित किया है जिसने भूमण्डल को' (जनमेजय का नागयज्ञ) तथा प्रकृति-सौन्दर्य के गीतों में 'छाने लगी जगत में सुषमा निराली' (विशाख); 'अस्ताचल पर युवती सन्ध्या की खुली अलक घुँघराली है' (ध्रुवस्वामिनी); 'तू आता है फिर जाता है', 'झील में' (झरना) जैसे गीत बहुत ओजपूर्ण व रमणीय हैं। किन्तु जिन गीतों में हृदय की कसक, तड़प, मसोस, दाह और अवसाद व्यक्त हुआ है, वे गीत हृदय पर गहरी रेखा खींच देते हैं। 'कामायनी' के 'निर्वेद' सर्ग में गीत की साकार प्रतिमा श्रद्धा गाती है—

"तुमुल कोलाहल कलह में मैं हृदय की बात रे मन!
जहाँ मरु-ज्वाला धधकती, चातकी कन को तरसती;
उन्हीं जीवन-घाटियों की, मैं सरस बरसात रे मन! तुमुल .."

इन पंक्तियों में मानो गीत का स्वरूप ही स्पष्ट हो गया है। हृदय की बात ही-भाव या अनुभूति है। यही अनुभूति गीत का प्राण या हृत्कम्पन है। इसके अभाव में कोरी कल्पना या अनूठी-से-अनूठी अभिव्यंजना-शैली भी राजनर्तकी-सी जान पड़ती है। यह कहे बिना नहीं रहा जायगा कि 'प्रसाद' का सारा गीति-काव्य अनुभूति के रस से ओत-प्रोत है। बौद्धिकता या दार्शनिक पुट तो काव्य को सुदृढ़ या टिकाऊ बनाने का सीमेण्ट है। डॉ० रामकुमार वर्मा ने ठीक ही लिखा है कि 'प्रसाद' जी इस युग के सबसे अधिक अनुभूतिशील कवि थे। वस्तुतः उनके काव्य का स्नायुजाल इसी जीवन-सुलभ व मानवीय अनुभूतियों के रक्त से पोषित व अनुप्राणित है। प्रणय-वेदना या विरहावस्था के प्रसंगों में यह अनुभूति अत्यन्त प्रगाढ़ हो उठती है। 'आँसू' में इस अनुभूति का चरमोत्कर्ष हो गया है। लहर के 'मधुप गुनगुनाकर कह जाता कौन कहानी यह अपनी', 'ले चल वहाँ भुलावा देकर', 'वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे', 'अरे कहीं देखा है तुमने', 'मधुर माधवी संध्या में जब रागारुण रवि होता अस्त' आदि गीतों में कवि की रहस्याकुल चिन्तनशील रसमयी आत्मा की एकांत करुण स्वर-लहरी निनादित हो उठी है। नाटकों में तो, जहाँ गीत रूप में पात्रों के हृदय के उद्‌गार उनके जीवन की गतिविधियों की व्यापक पृष्ठ-भूमि में व्यक्त किये जाते हैं, अनुभूति का संवेदन और भी तीक्ष्ण व मर्मस्पर्शी होता है। जहाँ प्रणय-वंचिताओं, असफल प्रेमियों, जीवन-पथ के श्रांत-क्लांत किन्तु कर्मठ वीरों, जीवन-संग्राम के व्रणों को सहलाते हुए अतीत की स्मृतियों के सम्बल पर जीने वाले सदाशय पात्रों, जगत् व जीवन का तटस्थ सिंहावलोकन करने वाले दार्शनिकों और चोट खाकर तड़पने वाले आर्त हृदयों की पुकारें उठती हैं वहाँ प्रसाद के हृदय की अनुभूति का सारा स्रोत खुल पड़ता है। आदर्शों के कलानीड़ में निवास करने वाली देवोपम देवसेना अपनी राशि-राशि कोमल कामनाओं का ढेर लिये जब जीवन के भावी सुख, आशा और आकांक्षा सबसे सदा के लिए विदा लेती है तब यह गीत पाठक या श्रोता के हृदय को मसलकर और मथकर डाल देता है—

> 'आह ! वेदना मिली विदाई।
> मैंने भ्रमवश जीवन-संचित मधुकरियों की भीख लुटाई।
> छल छल थे सन्ध्या के श्रमकण
> आँसू से गिरते थे प्रतिक्षण।
> मेरी यात्रा पर लेती थी नीरवता अनन्त अँगड़ाई।"

अथवा, मातृगुप्त का यह गीत हृदय में

"संसृति के वे सुन्दरतम क्षण यों ही भूल नहीं जाना"

अजातशत्रु में श्यामा (मागन्धी) के इस गीत में कितनी मर्म-वेदना है—

"बहुत छिपाया, उफन पड़ा अब, सम्हालने का समय नहीं है।
अखिल विश्व में सतेज फैला, अनल हुआ यह प्रणय नहीं है॥

× × ×

चपल निकलकर कहाँ चले अब, इसे कुचल दो मृदुल चरण से।
कि आह निकले दबे हृदय से, भला कहो यह विजय नहीं है ?"

ऐसे गीतों में प्रसाद के हृदय की अनुभूति ही आकाश में नीलिमा की तरह सर्वत्र समरस होकर घुली हुई है। निर्वेद, दैन्य, मद, मोह, स्मृति, विषाद, अमर्ष, उन्माद आदि हृदय की गम्भीर भावनाओं (संचारी भाव) की व्यंजना बहुत ही मार्मिक हुई है। सम्भोग-शृंगार से अधिक मार्मिकता विप्रलंभ शृंगार के गीतों में है। इन गीतों में कवि के हृदय की पूर्णता का पता चलता है, क्योंकि विभिन्न जीवन-स्थितियों के स्त्री-पुरुष-पात्रों के हृदय में उतरकर उनकी अनुभूतियों को वाणी देना एक अत्यन्त दुष्कर कार्य है।

दार्शनिक, राष्ट्रीय व प्रकृति-प्रेम के गीतों में भी अनुभूति की यह सहजता और गम्भीरता प्रकट हुई है। 'स्कन्दगुप्त' के इस गीत में दार्शनिक भावना का सुन्दर चित्रण हुआ है—

"सब जीवन बीता जाता है, धूप छाँह के खेल सदृश।
समय भागता है प्रति क्षण में,
नव अतीत के तुषार कण में
हमें लगाकर भविष्य रण में आप कहाँ छिप जाता है !"

'चन्द्रगुप्त' की कार्नेलिया के द्वारा गाया गया देश-प्रेम का यह गीत अर्थ-गरिमा, भावों की उदात्तता, कल्पना की रमणीयता व सौन्दर्य-चित्रण की दृष्टि से 'प्रसाद' के सर्वश्रेष्ठ गीतों में से है—

"अरुण यह मधुमय देश हमारा।
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा॥
सरस तामरस गर्भ विभा पर, नाच रही तरुशिखा मनोहर।
छिटका जीवन हरियाली पर, मंगल कुंकुम सारा॥
लघु सुरधनु से पंख पसारे, शीतल मलय समीर सहारे।
उड़ते खग जिस ओर मुँह किये, समझ नीड़ निज प्यारा॥
हेम कुम्भ ले उषा सवेरे, भरती ढुलकाती सुख मेरे।
मदिर ऊँघते रहते जब, जग कर रजनी भर तारा॥"

'चन्द्रगुप्त' में ही अलका के द्वारा गाया जाने वाला यह गीत भी छन्द-प्रवाह, पद-सौष्ठव, ओजगुण तथा वीरत्वभावना की दृष्टि से प्राणसंचारकर है—

"हिमाद्रि तुङ्ग शृङ्ग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती—
स्वयं प्रभा समुज्ज्वला स्वतन्त्रता पुकारती—
'अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़-प्रतिज्ञ सोच लो,
प्रशस्त पुण्य पन्थ है—बढ़े चलो, बढ़े चलो।'
असंख्य कीर्ति-रश्मियाँ, विकीर्ण दिव्यदाह-सी।
सपूत मातृभूमि के—रुको न शूर साहसी!
अराति सैन्य-सिन्धु में—सुवाडवाग्नि से जलो,
प्रवीर हो जयी बनो—बढ़े चलो, बढ़े चलो।"

'चन्द्रगुप्त' के 'हिमालय के आँगन में उसे...' गीत भी बड़ा ही भव्य व ओजपूर्ण है।

प्रकृति-सौन्दर्य का मुक्त उल्लास व्यक्त करने वाला—जैसे 'साकेत' में 'मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया' या 'गुंजन' के अधिकांश गीत—कोई स्वतन्त्र गीत प्रसाद में कदाचित् कोई नहीं। हाँ, कुछ गीत अवश्य ऐसे हैं जिन पर कवि की मानव-निरपेक्ष रागमयी दृष्टि पड़ी है। यथा ध्रुवस्वामिनी का गीत—'अस्ताचल पर युवती सन्ध्या की' या झरना का 'तू आता है, फिर जाता है।' आदि। प्रबन्ध के क्षेत्र में अवश्य 'कामायनी' (विशेषतः प्रथम, द्वितीय व अन्तिम सर्गों मे) इसका अवसर निकल आया है। गीतों में प्रकृति प्रायः 'उद्दीपन' रूप में ही गृहीत हुई है।

'प्रसाद' की कल्पना सर्वत्र भावानुसारिणी है। कोरी कल्पना का स्थूल व चमत्कारक कौशल कहीं देखने को नहीं मिलता। अनुभूति की प्रेषणीयता के लिए ही कल्पना की सहायता ली गई है। नाटकों में इतिवृत्त के जोड़-तोड़ में व्यावहारिक कल्पना का प्रचुर प्रयोग हुआ है किन्तु गीतों मे जिस कल्पना के दर्शन होते हैं वह रसमूलक अतः रमणीय है। प्रभात की किरणों से सराबोर सुनहली छिन्न-कोमल बदलियों से अनेक कल्पना-चित्र पाठक के मन को मोह लेते हैं। मदिरालय या केलिगृह के रूपक वाले 'ध्रुवस्वामिनी' के इस गीत में कवि-कल्पना का सुन्दर सौष्ठव दिखाई पड़ता है—

"अस्ताचल पर युवती सन्ध्या की खुली अलक घुँघराली है।
लो, मानिक मदिरा की धारा अब बहने लगी निराली है॥
भरली पहाड़ियों ने अपनी झीलों की रत्नमयी प्याली।
झुक चली चूमने वल्लरियों से लिपटी तरु की डाली है॥
यह लगा पिघलने मानिनियों का हृदय मृदु प्रणय रोष भरा।
वे हँसती हुई दुलार भरी मधु लहर उठाने वाली हैं॥"

'विजया' के इस गान में काल्पनिक सौन्दर्य का चित्र कितना मोहक है—

"प्रगद-धूम की श्याम लहरियाँ उलझी हों इन अलकों से,
मादकता-लाली के डोरे इधर फँसे हों पलकों से।
व्याकुल बिजली-सी तुम मचलो आर्द्र-हृदय-घन माला से,
आँसू - बरुनी से उलझे हों अधर प्रेम के प्याला से।"

'बीती विभावरी जाग री!' गीत में भी पनघट के रूपक की कल्पना सुन्दर है जो 'माघ' के इस सूर्योदय वर्णन की याद दिलाती है—

"वितत पृथु वरत्रा—तुल्यरूपैर्मयूखैः
कलश इव गरीयान् दिग्भिराकृष्यमाणः।
कृत चपल विहङ्गालापकोलाहलाभि-
र्जलनिधि जलमध्यादेव उत्तार्यतेऽर्कः॥"

'तुम कनक किरण के अन्तराल में', 'कितने दिन जीवन जलनिधि में', 'आँखों में अलख जगाने को' जैसे गीतों में भी कल्पना की प्रौढ़ता व रसात्मकता के दर्शन होते हैं। भावोत्कर्ष में कवि-कल्पना कल्पना के अतीन्द्रिय लोक में ही जाकर विश्राम करती है। 'ले चल मुझे भुलावा देकर' नामक गीत में उसी अतीन्द्रिय सुदूर लोक के प्रति बड़ा ही रमणीय संकेत है। 'आह कल्पना का सुन्दर यह, जगत मधुर कितना होता' इन गीतों में पूर्णतः चरितार्थ हो रहा है।

रूप-विधान व अलंकार-विधान में 'प्रसाद' की कल्पना खुलकर खेली है किन्तु उसमें कहीं उच्छृंखलता या छिछलापन नहीं आई है। कल्पना की विशालता और प्रौढ़ता की दृष्टि से 'प्रसाद' कोमल कल्पनाशील (Fanciful) कवि कीट्स के उतने निकट नहीं जितने मिल्टन, शैली व पन्त, जिनकी कल्पना व्यापक व विराट् है। 'प्रसाद' का कल्पना-प्रेम देवसेना जैसे पात्रों की सृष्टि में पूर्णतः प्रकट हुआ है। 'देवसेना' के निर्माण में मानो 'प्रसाद' की रोमांटिक कल्पना को पूर्ण विश्राम मिल गया है! कल्पना की उदात्तता 'प्रसाद' को सुदूर लोकों में उड़ा ले जाती है। वर्तमान से असन्तुष्ट 'प्रसाद' शैली या पंत की तरह भविष्य की मधुर कल्पना में लीन न होकर या तो कीट्स की तरह अतीत की स्वर्णोज्ज्वल प्राची में पंख मारते हुए उड़े जाते हैं या अपने ही मनोजगत् के सूक्ष्म-धूमिल रहस्य-लोकों के छायाकुञ्जों में प्रेम-सौन्दर्य के शिल्पपूर्ण नीड़ रचते हैं। किन्तु वे शैली की तरह कभी हवाई नहीं होते। उनकी ऊँची-से-ऊँची उड़ान में भी यथार्थ व वास्तविकता का आधार रहता है और इसी कारण वह हृदय का सत्य बनकर मन को पुष्टिकारक खाद्य प्रदान करता है। कल्पना का रहस्यात्मकता या जिज्ञासा-कुतूहल की भावनाओं में पर्यवसान प्रबन्ध के क्षेत्र में 'कामायनी' के 'आशा' सर्ग में 'गहन नील इस परम व्योम के अन्तरिक्ष में ज्योतिर्मान।' आदि और गीति-काव्य में 'ले चलो मुझे भुलावा देकर' या 'हे सागर संगम अरुण नील' जैसे गीतों में व्यक्त हुई है। निश्चय ही इन गीतों में कहीं

भी कोई रूढ़ि-ग्रस्त साम्प्रदायिक भावना नहीं है । पंत जी के 'दूर उन खेतों के उस पार जहाँ तक गई नील झंकार' (गुंजन) अथवा 'न जाने नक्षत्रों में मौन, मुझे इंगित करता है कौन' (पल्लव) या महादेवी जी के 'कौन तम के पार, रे कह !' आदि गीतों में जैसी स्वाभाविक रहस्य-भावना या जिज्ञासा-कौतूहल प्रकट हुआ है वैसी ही स्वाभाविक भावना 'प्रसाद' के गीतों में हुई है। कहीं-कहीं यह भावना बहुत गूढ़ भी हो जाती है जिसका सौन्दर्य हृदयंगम करने के लिए वेदान्त की ब्रह्म-भावना का ज्ञान आवश्यक-सा हो जाता है। 'निज अलकों के अन्धकार में तुम कैसे छिप आओगे ?' आदि गीत पर्याप्त दुर्बोध हैं।

उद्दीपन, मानवीकरण, रहस्य भावना, प्रतीक-विधान, अलंकार-विधान, पृष्टभूमि व वातावरण-निर्माण आदि के लिए 'प्रसाद' ने प्रकृति का प्रचुर प्रयोग किया है किन्तु वस्तुतः उद्दीपन व अलंकार-विधान में ही उसका सर्वाधिक प्रयोग हुआ है। छोटे-छोटे गीतों में प्रकृति के आलम्बनगत संश्लिष्ट चित्रण का अवकाश कहाँ ? गीतों में पपीहा, रजनी, प्याली, उषा, लहर, चन्द्र, बिजली का प्रतीक रूप में प्रयोग हुआ है । ये ही प्राकृतिक पदार्थ रूपक उपमा आदि में उपमान रूप में भी बहुत प्रयुक्त हुए हैं । प्रकृति के प्रति मानव-निरपेक्ष छलछलाते हुए सहज उल्लासपूर्ण मुक्त प्रेम की जैसी व्यंजना पन्त व व वर्ड्सवर्थ में हुई है वैसी 'प्रसाद' में कहीं नहीं। महादेवी जी की कविता में भी प्रकृति प्रायः ड्राइंग रूम के सजावट के पदार्थों के रूप में ही चित्रित हुई है। 'प्रसाद' का अलंकार-विधान प्रौढ़ रस-साधक किन्तु सहज-स्वाभाविक है। रीतिकालीन प्रवृत्तियाँ झलकती हैं किन्तु केशव या पद्माकर की तरह आपत्तिजनक 'फिटिंग' का प्रयत्न कहीं नहीं मिलता। अनेक उपमाएँ नवीन व मौलिक हैं। उपमाओं में साधर्म्य पर ही मुख्य दृष्टि रहती है। 'आँसू' में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा व मुद्रा का सौन्दर्य दार्शनिक है ।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है गीत में भावना का सहजोद्रेक और कौशल-पूर्ण विधान ही पर्याप्त नहीं। उसमें एक अन्विति का आद्यन्त निर्वाह आवश्यक है। इसी पर उसकी अपील की शक्ति बहुत-कुछ निर्भर करती है। कवि का प्रकृत प्राण-प्रवेश, भाव-सत्यता, अनुभूति की मार्मिकता व गम्भीरता स्वतः गीत की अभिव्यंजना में एक स्वाभाविक अन्विति प्रतिष्ठित कर देती है । शब्द-विधान कौशल लय-माधुर्य आदि से गीत सुदृढ़, स्निग्ध व चमकीले रेशमी तारों से बुने हुए सिल्क-सा उतरता है। 'प्रसाद' के गीतों में अनुभूति की अन्विति ही गीत के सब तत्त्वों को बहुत दृढ़ता से गूँथे रखती है। यह अन्विति महादेवी जी के गीतों में उतनी स्पष्टता के साथ नहीं मिलती । शब्द-शिल्प और 'फिनिश' में तो शायद उनकी टक्कर का कोई कवि हिन्दी में हुआ ही नहीं।

'प्रसाद' जी के गीतों की भाषा संस्कृतनिष्ठ परिष्कृत खड़ी बोली है। लाक्षणिकता के बल पर थोड़े से चुने हुए शब्दों में भाव या स्थिति को झलकाते हुए पाठक के हृदय में एक गूँज या तड़प उत्पन्न करने की कला में वे हमारे युग के सर्वश्रेष्ठ कलाकारों में से

हैं। जहाँ तक शब्द-शिल्प मात्र का सम्बन्ध है वहाँ तक शायद महादेवी जी उनसे बढ़ी-चढ़ी हों। कोमल स्निग्ध शब्दों का चयन, पद-योजना, छन्द-प्रवाह उनकी अपनी ही वस्तु है। उनके फिसलते स्निग्ध गीत-चरणों को सुनकर या पढ़कर ऐसा अनुभव होता है मानों हिम के आँगन में किशोरी किन्नरियाँ चाँदी के पायल बाँधे चाँदनी में लास कर रही हों। किन्तु, 'प्रसाद' जी यहीं तक नहीं रहते। वे पाठक के हृदय मे भाव का प्रकृत स्वरूप तीव्रता व गति का संप्रेषण करने के लिए ध्वनि-काव्य की सांकेतिक शैली का प्रयोग करते हैं। प्रतीयमान अर्थ या ध्वन्यर्थ पर ही उनकी दृष्टि रहती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि उनकी इस शैली का पूर्ण रसास्वादन विदग्ध व मार्मिक हृदय ही कर सकते हैं। प्रसाद जी ने छायावादी शैली की इसी में विशेषता मानी है (दे० काव्य-कला व अन्य निबन्ध में 'यथार्थवाद और छायावाद' नामक लेख)। स्पृहणीय आभ्यन्तर वर्णन के लिए—आन्तरिक स्पर्श से पुलकित भावो के अभिव्यंजन के लिए—रम्यच्छायान्तरस्पर्शी वक्रता के प्रयोग से जो लावण्य उत्पन्न होता है वही छायावादी अभिव्यक्ति का लक्ष्य है। इसी गम्भीर लक्ष्य की सिद्धि के लिए वे बड़े ही विवेक, सयम और कौशल से भाषा का निर्णय करते हैं। केशव, पद्माकर या 'रत्नाकर' की तरह ('रत्नाकर' जी मे भाषा व भाव का सामञ्जस्य अवश्य रहता है) आनुप्रासिकता या नादानुरंजकता उत्पन्न करना भी उनकी सुरुचि को नहीं रुचता। सहज रूप मे ही यदि संगीतात्मकता या वर्ण-मैत्री स्थापित हो जाय तो बहुत भला! गीतो की लय या छन्द-प्रवाह भी सहज-साध्य ही होता है। हाँ, छन्द कहीं-कहीं टूटता अवश्य है। यथा—

"इतना सुख जो न समाता *अन्तरिक्ष में* जल-थल में।"—आँसू

इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भारी-भरकम शब्दों का प्रयोग भी हो जाता है जिन्हें कोमलकाय गीत सँभाल नहीं पाते। विनम्र, अस्तित्व (ध्रु वस्वामिनी); तरुणाब्ज, कल्पनावली, नयनेन्द्रियश, आवृत (विशाख); तारा-मधप-मण्डली (कामना); द्वेषा (जनमेजय का नागयज्ञ) आदि शब्द कोमल भावना की अभिव्यक्ति के प्रसंग में असह्य हैं। हाँ, द्वित्व वर्ण, संयुक्त वर्ण समस्त पदावली आदि ओजगुण के प्रदर्शन के सर्वथा उपयुक्त जान पड़ते हैं। जैसे—

"जगे हम, लगे जगाने विश्व लोक में फैला फिर आलोक।
व्योम तम पुंज हुआ तब नष्ट अखिल संसृति हो उठी अशोक।
विमल वाणी ने वीणा ली कमल-कोमल-कर में सप्रीत।
सप्तस्वर महासिन्धु में उठे छिड़ा तब मधुर साम संगीत।
× × ×
जातियों का उत्थान पतन, आँधियाँ झड़ीं, प्रचंड समीर।
खड़े देखा झेला हँसते, प्रलय में पले हुए हम वीर।"

'प्रसाद' की प्रतिनिधि भाषा का स्वरूप यह जान पड़ता है—

"दिनकर हिमकर तारा के दल, इनके मुकुर वक्ष में निर्मल,
चित्र बनायेंगे जब चंचल, आशा की माधुरी अवधि में।

× × ×

सुरधनु रंजित नव जलधर से भरे क्षितिज-व्यापी अम्बर से,
मिले चूमते जब सरिता के हरित कूल युग मधुर अधर से।"

'अगरु धूप की श्याम लहरियाँ', 'मधुर माधवी सन्ध्या में' और 'तुम कनक किरण के अन्तराल में' आदि गीतों में तथा आँसू के छन्दों में 'प्रसाद' की भाषा का सबसे निखरा हुआ-रूप मिलता है।

'प्रसाद' के गीतों का स्तर बहुत उच्च है। शरदाकाश में डोलती झीनी बदलियों सी हल्की-फुल्की भावनाओं को प्रचलित या व्यावहारिक पदावली में कहकर सस्ती ख्याति के लिए जनता का स्थूल मनोरंजन करना उनके लिए मानों सम्भव नहीं। अब इसे आप चाहे 'प्रसाद' का गुण कहें चाहे दोष। मिल्टन अपनी काव्य-शैली की कठिनता व ब्राउनिंग की गम्भीर दार्शनिकता व धूमिलता उनके वास्तविक मूल्यांकन के मार्ग में कोई बाधक नहीं। जनता हिन्दी-भाषा के प्रचार की व्यापकता के साथ-साथ प्रसाद की यह भाषा जनसाधारण के लिए शायद उसी प्रकार स्पष्ट होती जायगी जिस प्रकार तारे उदय होकर उत्तरोत्तर उज्ज्वल व स्पष्ट होते जाते हैं। अस्तु। जब तक कोई अनुभूति किसी विशेष परिस्थिति के संघात से प्रसूत होकर किसी विशिष्ट प्राण-प्रवेग से उच्छ्वसित होकर दमक नहीं उठती तब तक वह मानों अभिव्यक्ति के योग्य नहीं। 'प्रसाद' के सभी प्रकार के गीतों पर यह बात लागू होती है। इसलिए ये गीत प्रायः उन्हें ही छू पाते हैं जिनका मानसिक या सांस्कृतिक धरातल उच्च हो या जो अन्तर्साधना के द्वारा हृदय की गहराइयों में से होकर निकले हों। 'प्रसाद' के प्रेमगीत केवल छिछली विलासिता के उद्‌गारमात्र नहीं हैं। घनीभूत एक आँख वाले के लिए मांसल रस तत्त्व का प्रकाशन विलास है और दो आँख वाले के लिए राग। प्रेमतत्त्व का जब वसन्त-विकास होता है तब उसकी पदावली, भाषा व अभिव्यंजन-शैली स्थूल विलास-सी भी लग सकती है। कामायनी का 'आनन्द सर्ग' व भागवत की रासपंचाध्यायी में एक ही प्रेमतत्त्व का निरूपण है—एक काव्यात्मक, दूसरा धार्मिक या भक्ति-परक। 'प्रसाद' रूप और विलास के कवि कहे गये हैं। साधारण पाठकों के लिए इसमें भ्रांति की गुंजायश है। वस्तुतः 'प्रसाद' के गीति काव्य की पृष्ठ-भूमि में एक विशाल मानसिक साधना है जिसके अनुरूप होकर ही पाठक उनकी व्यंजनाओं की गम्भीरता और सूक्ष्मता, अनुभूति की उदात्तता और अर्थ-गरिमा का सौन्दर्य पकड़ पा सकता है। प्रकृति का सबसे सात्विक धर्म यही है।

वास्तव में इन गीतों का धरातल न मानवीय है, और न दानवी। मौलिकता

और आध्यात्मिकता के दो कूलों के बीच में से ही यह मानवीय प्रेम-धारा बही है जिसमें दोनों कूलों का सौन्दर्य प्रतिबिम्बित हो रहा है। इसमें विलास और तप का सम्मिश्रण है। 'प्रसाद' प्रेम को सांस्कृतिक धरातल पर उठा ले गये हैं। यदि कहीं भौतिकता व मांसलता उभरी भी है तो अन्त में सूक्ष्म व उदात्त में उसका पर्यवसान हो गया है। इस दृष्टि से 'प्रसाद' की साधना कालिदास के समकक्ष है। मेघदूत, कुमारसंभव व रघुवंश में काम पर पावन प्रेम की विजय हुई है। आँसू और 'कामायनी' में भी ठीक यही बात चरितार्थ हुई है। आँसू का भौतिक विरह आध्यात्मिक पावनता में परिणत हो जाता है। निम्न काम को उच्च प्रेम तक उठा ले जाने का यह प्रयत्न 'प्रसाद' के काव्य को सांस्कृतिक गौरव प्रदान करता है। 'प्रसाद' प्रेम के पूर्ण समर्थ कवि हैं। प्रेम का उदात्त चित्रण स्वस्थ हृदय, संयत बुद्धि व सधे हाथ से ही हो सकता है। भौतिक प्रेम किस प्रकार पवित्र प्रेम का संजीवन बनकर मन के लिए तृप्तिदायक बनता है, यह प्रसाद के काव्य में दिखाई पड़ता है।

प्रेम के स्वरूप की गम्भीरता के कारण स्वभावतः ही उसके चित्रण में दार्शनिकता का समावेश हो गया है। यह दार्शनिकता एक ओर तो कवि के काव्य को चिरंजीवी या टिकाऊ बनाती है और दूसरी ओर पाठक को कोरे शैलीगत चमत्कार से बहुत ऊँची वस्तु, कवि की आत्मा का उज्ज्वल वैभव, परिपुष्ट विचारधारा और प्राणवान, गरिष्ठ और तृप्तिदायक आत्मिक खाद्य प्रदान करती है। कोरे वाग्वैचित्र्य या अभिव्यक्ति की भंगिमा से यह सब कुछ कदापि प्राप्त नहीं हो सकता। दार्शनिकता से सर्वथा शून्य काव्य केवल उच्च कोटि का मनोरंजन हो सकता है, नवीन जीवन-स्फूर्ति, प्राणोष्मा व आलोक नहीं। हाँ, दर्शन भाव पर जहाँ हावी होने लगता है वहाँ परिस्थिति अवश्य चिंत्य हो उठती है। हर्ष है कि 'प्रसाद' के गीति-काव्य में दर्शन को न्यायसंगत अनुपात ही प्राप्त हुआ है। हाँ, 'कामायनी' में (मुख्यतः अन्तिम सर्गों में) प्रत्यभिज्ञा या त्रिकद्र्शन घनीभूत हो उठा है।

'प्रसाद' अभिव्यक्ति के क्षेत्र में स्वच्छन्दतामूलक छायावाद के प्रवर्तकों में होते हुए भी सर्वथा रूढ़ि-मुक्त नहीं हैं। संभवतः किसी महाकवि के लिए जो अपनी जाति का सांस्कृतिक चित्र प्रस्तुतः करता है, परम्पराओं से सर्वथा कटकर अपना अस्तित्व बना रखना सम्भव भी नहीं होता। पर गीति-काव्य में उसे पर्याप्त स्वच्छन्दता होती है। भाव-निरूपण व शैली दोनों में ही वे अतीत के न्यूनाधिक रूप में उपजीवी हैं। 'श्यामा का नखदान मनोहर मुक्ताओं से ग्रथित हुआ।' में कामशास्त्रीय व रीतिकालीन संस्कार हैं। आँसू में अनेक उपमान रूढ़ हैं—केशों के लिए जंजीर, ओठ के लिए विद्रुम, दाँत के लिए मोती, मुख के लिए कमल, कान के लिए किसलय, भौंहों के लिए अनंग के धनु की शिंजिनी, स्तन के लिए कुंभ आदि।

गम्भीर-से-गम्भीर भाव सरल-से-सरल भाषा में अभिव्यक्त होकर भी मार्मिक

संवेदनाएँ उत्पन्न कर सकने में पूर्ण समर्थ होते हैं। 'बच्चन' के अनेक गीत इसका उदाहरण हैं। इस दृष्टि से 'प्रसाद' के गीत अवश्य ही कठिन कहे जायेंगे। डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने 'प्रसाद' के नाटकों में प्रयुक्त गीतों में कुछ अनौचित्य व त्रुटियाँ भी बताई हैं। वे हैं—"(१) गीतों का अतिरेक जिसके कारण संगीत भी अरुचिकर हो जाता है, (२) गीतों का लम्बा व अव्यावहारिक होना जिसके कारण रंगमंच पर उनकी अनुपयुक्तता फिर भी 'प्रसाद' के गाने अवश्य ही साभिप्राय दिखाई पड़ते हैं और अधिक गाने ऐसे हैं जिनके विषय नाटक की कथा के मेल में हैं।"

हिन्दी-साहित्य में 'प्रसाद' का गीति-काव्य अवश्य ही सदा उच्च कोटि का काव्य समझा जाता रहेगा। माना कि इनमें विद्यापति की सी कोमलकान्त पदावली, पैनी मादकता व शृंगार की प्रफुल्लता नहीं, मीरा, सूर, तुलसी व भारतेन्दु हरिश्चन्द्र-की-सी सुबोधता नहीं; कबीर का सा खरापन व चुटीलापन नहीं; 'निराला' की सी निर्बन्ध स्वच्छन्दता व मस्ती नहीं; पन्त की सी मुक्तकण्ठता, आत्मविभोरता व स्वर्गिक आत्मोल्लास की वेगवती तरंग नहीं, महादेवी का सा शिल्प नहीं 'बच्चन' की सी स्पष्टता, सरलता व सहज-स्वाभाविकता नहीं, किन्तु इनमें अनुभूतितत्त्व ऐसी आश्चर्यजनक मात्रा में विद्यमान है कि काव्य मे अनुभूति को ही टटोलने वाले हृदयों को ये सदा उनकी वांछित वस्तु प्रदान करते रहेंगे।